ॐ अर्हम्

सुविहित आचार्यश्री विजयनेमिसूरीश्वरपादपद्मेभ्यो नमः॥
युगधर महाप्रभावशाली शासनप्रभाकर आचार्यश्री—

मुनिसुन्दरसूरीश्वरमहाराजविरचित

अध्यात्मकल्पद्रुम

हिन्दीभाषानुवादक
कु० सूर्यमल्लसिंह लोढा-जैन-मोडीलोड (मेवाड)

प्रकाशक—

श्री वर्द्धमान-सत्य-नीति-हर्षसूरि जैनग्रन्थमाला के मन्त्री

धर्मरसिक शेठ भोगीलाल साकलचंद

रीचीरोड—अमदावाद

वीर सं २४६४	प्रथमावृत्ति प्रत १०००	विक्रम सं १९९४
सत्य सं २१८	मूल्य २-८-०	सन १९३८

मुद्रक—

शेठ देवचंद दामजी—आनंद प्रिन्टिंग प्रेस—भावनगर

ग्रन्थको प्रकाशित करनेमें आर्थिक सहायता देने

दानवीर सद्गृहस्थोंकी शुभ नामावली

२००) शेठ फोजमलजी कपूरचंदजी-शिवगंज

३००) शेठ [illegible]चंदजी अमीचंदजी-शिवगंज

२००) शेठ देवीचंदजी श्रीचंदजी-पादरली (हाल कोल्हापुर)

२००) शेठ चुनीलालजी भीसाजी-थांवला मारवाड़

२००) शा. पेनाजी पुनमचंदजी ह. कालुरामजी-रतलाम

२५०) मुंबई-कोट शान्तिनाथजीके उपाश्रयके ज्ञानद्रव्यमेंसे पंन्यासश्री कल्याणविजयजीगणीके उपदेशसे मिले

१००) शेठ छगनलाल गणपतदास-पुनासिटी

ता०क०-इसमें बाकीके खुटते रुपये ग्रन्थमालाकी ओरसे दिये गये हैं।

पुस्तक मिलनेका पत्ता-

महेता नागरदास प्रागजीभाई

ठे० दोशीवाडानी पोळमां-डेलाना उपाश्रय नीचे

मु० अमदावाद



तीर्थोद्धारक—



आचार्य श्री विजयनीतिसूरीश्वरजी महाराज

આનંદ પ્રેસ-ભાવનગર

द्वितीयः स्त्रीममत्व–मोचनाधिकारः

तृतीयोऽपत्यममत्वमोचनाधिकारः

चतुर्थो धनममत्वमोचनाधिकारः

पंचमो देहममत्वमोचनाधिकारः

षष्ठो विषयप्रमादत्यागाधिकारः

अष्टमः शास्त्रगुणाधिकारः

नवम चित्तदमनाधिकारः

दसवाँ वैराग्योपदेशाधिकार

एकादशो धर्मशुध्धुपदेशाधिकारः

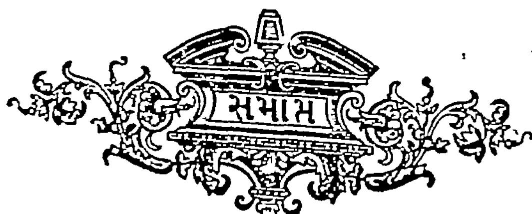
द्वादशः देवगुरुधर्मशुद्धयधिकारः

त्रयोदशो यतिशिक्षोपदेशाधिकार.

चतुर्दशो मिथ्यात्वादिनिरोधाधिकारः

पंचदशः शुभवृत्तिशिक्षोपदेशाधिकारः

षोडशः साम्यसर्वस्वाधिकारः



निवेदन

प्रिय पाठकवृन्द !

एक साधारण एवं सांसारिक विषयवासनाओंसे अन्धे प्राणिके लिये ईश्वर एवं आत्मिक प्राप्तिका पथ दूढ निकालना बहुधा कठिन ही नहीं अपितु अशक्यसा है। उसके उस कार्यमें केवल उसकी अज्ञानता ही बाधक नहीं होती अपितु कई अन्य लेडे भी उसके मार्गमें अडे रहते हैं जो उसके ध्येयकी प्राप्तिमें बाधक सिद्ध होते हैं। ऐसी दशामें उसका कार्य तबतक सम्पन्न नहीं होता जबतक कि कोई एक ऐसी महान् विभूति, जो कि उस मार्गपर प्रयाण कर चुकी है, आकर उसका हाथ पकड कर उसे उठावें और उसका पथप्रदर्शक बन उसे सांसारिक विषयवासनाओं एवं मोह—मायाके निविड वनके टेढेमेढे मार्गोंसे निष्कंटक निकाल कर उसके वांछित स्थानको न पहुंचा दें, जहां पर उसकी खोज समाप्त हो जाती है और सब प्रकारके दु:खोंका अन्त हो जाता है। यह प्राप्ति या आत्मिकप्राप्ति अन्य शब्दोंमें अपने आपको पहचानना मात्र है (Knowing of the Self as the Real Self कण्ठभूषणवत् नित्य प्राप्तिकी प्राप्ति)

जिज्ञासु प्राणियोंके लिये मुनिसुन्दरसूरिकी यह अद्‌भूत कृति एक अचूक एवं सच्चा पथप्रदर्शक है। इस ग्रन्थमें उस महान विभूतिने वह मंत्र कूट२ कर भरा है जो कि एक सच्चाईके पूजारी को सच्चे आत्मिक सुख एवं आनन्दकी असीम सीमा तक पहुंचानेमें सहायक हो सकता है।

इस अध्यात्मकल्पद्रुमके मूल कर्त्ता परमपूज्य सहस्रावधानी युगप्रधान आचार्यश्री मुनिसुन्दरसूरीश्वरजी महाराज हैं जो जगत्में असाधारण विद्वान् माने जाते हैं। इस ग्रन्थका विषय जितना गम्भीर और गहन है उतना ही उपयोगी भी है। श्रीयुत मोतीचंद गिरधरभाई सोलिसिटरने इस ग्रन्थरत्नका गुर्जर भाषामें विवेचन सहित अनुवाद किया है। इसे आपने बड़ी ही सुन्दर पद्धतिसे लिखा है। तथापि हिन्दी भाषा जाननेवाले उससे जितना चाहे उतना लाभ नहीं उठा सकते। यह ग्रन्थ कई दृष्टियोंसे विशेष उपयोगी जानकर अनुयोगाचार्य पूज्य पंन्यासजी महाराज श्री मान-विजयजी गणिने मुजे इस ग्रन्थका हिन्दीमें अनुवाद करनेका कहा और ग्रन्थ देखनेसे मेरे हृदयमें यह उत्कण्ठा जागृत हुई कि इस अमृतके रसास्वादनसे मेरे केवल देवनागरी भाषाके अल्पज्ञ बन्धु भी क्यो वंचित रहें अतएव मैंने मेरी यथाशक्ति पारिभाषिक और कठिन शब्दोंसे लेखनीको बचानेका व भाषाको सरल, सादी व सामान्य बुद्धिगम्य बनानेकी ओर पूर्ण लक्ष्य दिया है; क्यों कि ऐसे कठिन शब्दादिका उपयोग करनेसे साहित्यप्रचारका यथार्थ लाभ नहीं मिल सकता। भले ही लेखक महाशय अपनेको विद्वान् तरीके मना लेवें परन्तु पाठकहितका साध्य तो प्राय: दूर ही रहता है, और हिताहितको लक्ष्यमे रखना तो प्रत्येक लेखकका सर्वप्रथम कर्त्तव्य होना चाहिगे। यद्यपि हमे खेद है कि प्रेसकी तकलिफोके कारण हम इसे शिघ्रतया प्रकाशित न कर सके। महात्माके ग्रन्थस्थित उपदेश जिज्ञासु प्राणियोके लिये एक सच्चा पथप्रदर्शक बन उनको सच्चे एवं शाश्वत आत्मिक सुखकी प्राप्ति करावे। इतिशम्।

विनीत

कु० सुमित्रसिंह लोढा–जैन



सुविहितनामधेय परमपूज्य प्रातःस्मरणीय

आचार्यश्री विजयहर्षसूरीश्वरजी महाराज

जिनागमरहस्यवेदी सुविहितनामधेय पूज्यपाद, आचार्यश्री विजयहर्षसूरीश्वरजी महाराजकी संक्षिप्त जीवनप्रभा.

मरुधर देशमें जोधपुर राज्यान्तर्गत जालोर प्रान्तमें थावला नामक एक प्राचीन ग्राम है। ग्रामके ईर्दगीर्द खुदाइका काम करते समय भूगर्भसे निकली हुई कई प्राचीन भव्य जैन-प्रतिमायें एव जैन-मन्दिरके अवशिष्ट भाग दृष्टिगोचर होते हैं। इस ग्राममें पंचपरमेष्ठी महामंत्रस्मारक ओसवालवंशभूषण असलाजी नामक एक सद्गृहस्थ रहते थे। उनके शीलवती जैनधर्मपरायण पतिव्रता भूरादेवी नामक सद्गुणी भार्या थी। यथाशक्ति देवगुरुधर्मके आराधना करते भूरादेवीकी कुक्षीसे वि. सं १९४१ का फाल्गुन शुक्ला पंचमी को एक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। नवजातशिशुका नाम हुक्माजी रक्खा गया। हुक्माजी पर उनके माता-पिताका अगाढ प्रेम था, किन्तु क्रूर कालसे यह प्रेम न देखा गया और उसने जब हुक्माजी केवल दस ही वर्षके थे कि उनके पिताको उनसे सदाके लिये पृथक कर उन्हें पितृ-स्नेहसे वंचित कर दिया। हुक्माजीके तीन भाई एव दो बहिने और थी। वक्ताजी व मूताजी दो बड़े भाई थे जो कुंकण-देशमें रत्नागिरीमें ताम्बे-पितलके बर्तनोंकी दुकान चलाते थे, तथा साथ मोतियोंका व्यौपार भी करते थे। तीसरे छोटे भाईका नाम कपुरजी था।

थावलामें विद्याभ्यासके पर्याप्त साधनके अभावमें हुक्माजीकी शिक्षा रत्नागिरीमें (जो श्रीपालचरित्रमें रत्नद्वीपके नामसे प्रसिद्ध है) होने लगी। वहां उन्होंने एक मराठी स्कूलमें शिक्षा प्राप्त की व

व्यौपार सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर व्यौपार करने लगे। उनके सोलहवे वर्षमें पैर रखते ही उनका सम्बन्ध (Betrothal) मवरसावाले मोतीलालजीकी सुपुत्रीके साथ करदिया गया किन्तु पाणि–ग्रहण अभी तक अवशेष था।

वैराग्य और दीक्षा.

वहा बीजापुरनिवासी वाडीलालभाईकी दुकान थी जहां व्यौपार करनेकी इच्छासे विजापुरनिवासी डायाभाईका उस अवसर पर आना हुआ। उनका धार्मिक अभ्यास अच्छा होनेसे वह रात्रिके समयपर अपने दैनिक कार्यसे निवृत हो वैराग्यकी सज्झाये गाया करते थे जिससे आस–पासके रहनेवाले वहां उनको सुननेके लिये एकत्रित होजाया करते थे। हुकमाजीको भी वहां जाकर वैराग्य–सज्झायेंकि सुननेका अवसर हाथ लगा। उनकी प्रवृत्ति पहले ही उस ओर झूकी हुई होनेसे उनको उन्होने बड़े ध्यानसे सुना एवं मनन किया। जब उन्होंने धनाशालिभद्रकी सज्झाय सुनी और उसमें कहे धनाशालीभद्रकी ऋद्धि और त्यागपर मनन किया तो उनके मनमें चिर–स्थित वैराग्य–भावनाको उत्तेजना मिली और उन्होंने धीरे २ संसारत्यागका दृढ निश्चय किया और अपना दीक्षा लेनेका विचार डाह्याभाईके सामने प्रकट किया। डाह्याभाईके कुटुम्बमें भी एक माता, एक भाई तथा दो पुत्रिये थीं। उनकी स्त्रीके स्वर्गवास हो जानेसे उनका संसार–बन्धन तो प्रायः हलका हो गया था; किन्तु उनके कुटुम्बीजन उनसे पुनः विवाह करने निमित्त बारंबार आग्रह करते रहते थे परन्तु वह पुरुष तो धर्मके रंगसे रञ्जित तथा संसारकी असारतासे पूर्णरूपसे परिचित था अतः उसने फिरसे ससार बन्धनमें न जकडा जा कर भागवती दीक्षा लेनेका निश्चय किया किन्तु उनकी माताका उनपर विशेष स्नेह था इसलिये

दीक्षाकी आज्ञा मिलना कठिन था। सो उन्होंने कुटुम्बियोंको न जनाते हुए अपने दीक्षा–ग्रहणके विचारको गुप्त रक्खा और चतुर्मासकी समाप्ति पर रत्नागीरीसे वापीस अपने ग्रामको न लौट कर सीधे सुरत पहुंचे और वहां पूर्वपरिचित पूज्य पंन्यासजी महाराज श्री भावविजयजीसे तथा पूज्य मुनिराज श्री नीतिविजयजी महाराज-साहबसे भेट और उनके सामने अपने दीक्षा–ग्रहणके विचारको प्रगट किया। विहारमें पूज्य मुनिराज श्री नीतिविजयजी महाराज साहबने छगनभाईको दीक्षित कर उनका नाम मुनि दानविजयजी रक्खा (जो पंन्यास पदवीसे विभूषित हैं) तत्पश्चात् मुनि श्री दानविजयजी गुरु साथ विहार करते २ छाणी आये और बडी दीक्षाके योगमें प्रवेश किया। बडी दीक्षाका मुहूर्त्त निश्चय हो जाने पर मुनिश्री दानविजय-जीने बडी दीक्षामें सामील होनेके लिये वाडीलालभाईको रत्नागीरी पत्र भेजा। पत्र पढ कर वाडीलालभाईने दीक्षा–महोत्सवमें सामील होनेके लिये तैयारी की और हुकमाजीको इसकी सूचना दी। हुकमाजी भी उपरोक्त महोत्सवमें सामिल होनेको तैयार हुए परन्तु उनके बडे भाई दल्लाजीने उनको जानेसे मना किया तिस पर भी हुकमाजी मोटके मन्दर तक आ पहुंचे। बहुत झगडा होनेके बाद दल्लाजीने वाडीलालसे कहा कि तुम मेरे भाईको वापीस यहां ले कर आवोगे तब खर्चेके रुपये दूंगा अत वाडीलाल अपने निज खर्चसे हुकमाजीको छाणी लेगया। मुनि श्री दानविजयजीकी बडी दीक्षा होने के पश्चात् पूज्य मुनिराज श्रीनीतिविजयजी महाराज साहेबने छाणीसे मालवेकी तरफ विहार किया। मार्गमें श्रावकोंके घर कम होनेसे महाराजश्रीकी प्रेरणासे वाडीलाल तथा हुकमाजी विहारमें साथ रहे। मार्गमें महाराजश्रीकी ओरसे वैराग्यरसके सिंचनसे वाडीलालभाईकी दीक्षा लेनेकी भावना जागृत हुई अतएव महाराजश्रीने

उनको पूज्य मुनिराजश्री कान्तिविजयजीके नामसे दीक्षाप्रदान कर श्रीवीरविजयजी नामसे भूषित किया। कुछ समय व्यतीत होने पर महाराजश्रीके उपदेशके प्रभावसे हुक्मानीको दीक्षा ग्रहण कर लेनेकी भावना उत्पन्न हुई, अतएव उनको दाहोद नगरमें सम्वत् १९५८ के फाल्गुन शुक्ला ६ को शुभ मुहूर्तमें दीक्षाप्रदान कर उनका नाम मुनिश्री हर्षविजयजी रक्खा गया।

कुटुम्ब-मिलाप व मुनिश्रीकी धैर्यता.

तत्पश्चात् मुनिराजश्री हर्षविजयजी अपने पूज्य गुरुमहाराजके साथ साथ विहार करते हुए अनुक्रमसे जावुवे पहुंचे। वहांपर दीक्षाका समाचार पाकर उनके वडे भाई भुताजी तथा मुनि वीरविजयजीके संसारी जेष्ट भ्राता दलसुखभाई मुनिश्री हर्षविजयजीको वापिस अपने नगरको लौटा लेजाने निमित्त आये, किन्तु पूज्य महाराजश्रीके सुन्दर उपदेशसे सन्तुष्ट हो वे शान्तिपूर्वक वापीस अपने नगरको लौट गये। पश्चात् महाराजश्रीने विहार करते करते इन्दोर शहरमें प्रवेश किया। वहां भी मुनिश्री हर्षविजयजीके संसारी भ्राता भुताजीने उनके मातुश्रीकी प्रेरणासे दो तीन अन्य साथियों को लेकर तथा एक--दो किरायेके पुलिसमेंन (policemen) की मददसे मुनिश्री हर्षविजयजीको उनकी इच्छाके विरुद्ध भी जबरजस्ती लेजानेका भरसक प्रयत्न किया किन्तु इन्दोरनिवासी धर्मप्रेमी जैन गृहस्थोंकी सहायतासे उनके सब प्रयत्न विफल हुए और पूज्य महाराज साहबके समझानेसे शान्तिपूर्वक वापीस लौट गये। वहांसे पूज्य महाराजश्री उज्जैनकी तरफ विहार किया तथा उज्जैनके श्रीसंघके अनुनय विनंति करने पर पूज्य महाराजश्रीने उस वर्ष उज्जैन नगरमे चातुर्मास करना स्वीकृत किया। वहां भी मुनिश्री हर्षविजयजीकी मातुश्री भुरांने अपने जेष्ट पुत्र दलाजीको संग ले आ पहुंची और मुनिश्री हर्षविजयजीको

अपने साथ लोटा लेजानेका भरसक प्रयत्न किया किन्तु सब व्यर्थ। तब उसने उज्जैनके श्रीसंघसे अपने पुत्रको उसे दीक्षा देनेकी प्रार्थना की। इस प्रार्थनाने श्रीसंघके समक्ष उस समय एक जटील समस्या उपस्थित कर दी। एक ओर पूज्य गुरुमहाराज व धार्मिक समस्या थी व दूसरी ओर मातृ हृदय। कई विद्वान् व अनुभवी पुरुषोंने अपने अपने विचारोंको भाषणके रूपमें समस्त श्रोताओंके सामने रक्खे व अन्तमें इस निर्णय पर पहुँचे कि स्वयं मुनि श्रीहर्षविनयजीसे प्रार्थना की जाय कि दोनों पक्षोंमेंसे जिसको अच्छा समझते हो श्रीसंघके सामने उसीकी तरफ जा कर बैठ जाय। इस निर्णयको सुनकर मुनिश्रीका हृदय-कमल खिल उठा। वे जो वैराग्यरंगमें पूर्णरूपसे रंग चुके थे जिनको संसारकी निस्सारताका सच्चा भान हो गया था, भला फिर सांसारिक मोहरूपी सर्पणीके चंगुलमें क्यों कर फँस सकते थे। ? उन्होंने अपने सच्चे उच्च आत्मिक ध्येयके सामने मातृ-मोहकी कुछ भी परवाह न की। वे निर्ममतापूर्वक सर्व दर्शकोंके सामने अपने गुरुमहाराजके चरणोंमें बैठ कर अपने धर्मरत्ति होनेका परिचय दिया। फिर क्या था ? न्यायकी पूर्णाहुति हुई और उनकी मातुश्री तथा भ्राता वला-मीको निराश हो वापीस अपने घरके मार्गका अवलम्बन लेना पड़ा।

विद्याभ्यास—

मुनिश्री हर्षविनयका विद्याप्रेम भी आश्चर्यजनक था। उन्होंने सम्वत् १९९८ के उज्जैन नगरमें होनेवाले चतुर्मासमें ही गुरुमहाराज द्वारा पंचप्रतिक्रमण, पाक्षिक सूत्र, जीवविचार, नवतत्त्व, दंडक, लघु-संघयणी आदि धार्मिक पुस्तकोंका अभ्यास कर अपनी तीक्ष्ण बुद्धिका परिचय दिया। चतुर्मासकी अवधि समाप्त होने पर उन्होंने गुरुमहा-राजके संग अहमदाबादवाले झवेरी छोटाभाईके संघकी शोभा बढ़ा-

नेको उसके साथ पालीताणे पदार्पण किया। वहांसे यात्रा करते हुए अहमदाबाद पधारे और सम्वत् १९५९ का चातुर्मास अहमदाबादमें किया। इस चतुर्मासमें उन्होंने हेमलघुप्रक्रिया व्याकरणका अध्ययन शुरु किया और चतुर्मासकी समाप्ति पर गुरुमहाराजके सग सुरत पधारे तथा सम्वत् १९६० का चातुर्मास वहां किया और उत्तराध्ययनसूत्र तथा आचारांगसूत्रका योग किया। वहांसे प्रस्थान कर पालीताणेमें पदार्पण किया तथा सम्वत् १९६१का चातुर्मास पालीताणेमें व्यतीत किया।

विद्याभ्यास निमित्त विहार—

मुनिश्री हर्षविजयजीको संस्कृत भाषाके अभ्यास करनेकी उत्कट अभिलाषा थी किन्तु गुरुमहाराजके संग उनका बहुतसा समय विहारमें लग जाता था इससे उनको संस्कृत भाषाके अभ्यासका समय बहुत कठिनतासे मिल सकता था। इसलिये उन्होंने गुरुमहाराजसे अलग विहार करनेकी आज्ञा-प्रदान करनेकी विनति की। विनतिकी स्वीकृति प्राप्त कर उन्होंने महेसाना नगरको विहार किया तथा सम्वत् १९६२ व ६३ का चातुर्मास वहां बिताकर यसोविजयजी नामक पाठशालाके एक पंडितके पास हेमलघुप्रक्रिया व्याकरणको साथे समाप्त किया और अभिधानचिंतामणी कोष को भी साथे कंठस्थ किया। तत्पश्चात् वे गुरुमहाराजके पास गये। और सम्वत् १९६४ का चातुर्मास उनके साथ राधनपुरमे किया। सम्वत् १९६५ का चातुर्मास अहमदाबादमें किया। तथा इस सालमें उन्होंने काव्यका अभ्यास शुरू किया व कल्पसूत्र तथा महानिशीथका योग किया। वहांसे गुरुमहाराजके साथ विहार करते हुए भोयणी, पानसर आदि नगरोंमें होते हुए विसनगर पधारे और वहांपर गुरुमहाराजकी आज्ञा पाकर मुनिराजश्री दानविजयजीके साथ अहमदाबाद

पधारे और सम्वत् १९६७का चातुर्मास वहां किया। यहां भगवानदास पंडितके पास धर्मग्रन्थकी टीका आदिका अभ्यास किया, पश्चात् गुरुमहाराजके पास विसनगरमें जाकर जगदीश्वर पंडितके पास न्यायका अभ्यास किया। फिर गुरुमहाराजके साथ वीरमगाम पधारे। थोडे समय बाद गुरुमहाराजकी आज्ञासे अहमदाबाद पधारे तथा आत्मप्रबोध ग्रन्थपर उपदेश देना प्रारम्भ कर सम्वत् १९६८का चातुर्मास यहां किया।

दीक्षादान—

चातुर्मासकी समाप्तिपर सम्वत् १९६९के कार्तिक कृष्णा ४ के दिन रतलामनिवासी मीश्रीमल चेनाजी पोरवालको अहमदाबाद-रामपुरमें भागवती दीक्षा प्रदान कर अपने शिष्यरूपसे शोभित किया और दीक्षितका नाम मुनिश्री मानविजयजी रक्खा। तत्पश्चात् वहांसे विहार कर वे वीरमगाम पधारे। कुछ काल तक वहां विराम कर बादमें राधनपुरनिवासी कानजी मूरदासको भागवती दीक्षा देने निमित्त अहमदाबादको विहार किया और वहांसे थलथर जाकर कानजी मूरदासको महा वदि १० के दिन अपने नामकी दीक्षा प्रदान कर दीक्षितका नाम मुनिश्री कल्याणविजयजी रक्खा। तत्पश्चात् वहांसे विहार कर उन्होंने संखेश्वर पार्श्वनाथकी यात्रा करते हुए राधनपुरमें पदार्पण किया।

गणिपद और पंन्यासपद—

सम्वत् १९६९ के चातुर्मासमें सुयगडांग, स्थानांग, समवायांग, तथा भगवती सूत्रके योगवहनकी क्रिया की और नैयायिक पंडितके पास षड्दर्शनसमुच्चयकी नीलकंठ टीकाका अभ्यास किया। तत्पश्चात् पूज्य पंन्यासजी महाराजश्री भावविजयजी गणिवर तथा पूज्य पन्यास

श्री नीतिविजयजी गणिवरने उनकी योग्यता तथा विद्वत्ताको देखकर संवत् १९७० के मार्गशिर्ष शुक्ला १३ के दिन उनको गणिपद अर्पण किया और पूर्णिमाके दिन पंन्यास पद अर्पण किया। उस सुअवसर पर राधनपुरके संघकी ओरसे अट्ठाई महोत्सव तथा पावा-पुरी व मेरुपर्वतकी रचना हुई। पूर्णिमाके दिन अष्टोत्तरी स्नात्र हुआ व सायंकालको नवकारसी हुई। तत्पश्चात् वहांसे पूज्य गुरु-महाराजके साथ साथ विहार करते हुए आपश्रीका पालीताणे पधा-रना हुआ। वहां कुछ समय तक विराजकर तीर्थयात्रा कर फिर सिहोर, वला, भोयणी आदि नगरोंमें होते हुए वीरमगाममें पदार्पण किया। वहां अहमदाबादके श्रावकोंने वारंवार विनति करनेपर पूज्य गुरुमहाराजकी आज्ञा लेकर पंन्यासश्री हर्षविजयजी गणीवर अहम-दावाद पधारे और सम्वत् १९७० का चातुर्मास वहींपर किया। इस चातुर्मासमें आपने प्रज्ञापनासूत्र तथा वस्तुपाल चरित्रपर कई सारगर्भित व्याख्यान दिये। चातुर्मासकी समाप्ति पर आप गुरु-महाराजको वन्दना करनेके लिये पानसर पधारे और वहांसे विहार कर पीछे अहमदाबाद पधारे तथा सम्वत् १९७१ का चातुर्मास गुरुमहाराजके साथ वहीं पर किया। वहांसे कपडवंज पधारना हुआ। वहां आगमवाचनासे आवश्यकसूत्र उत्तराध्ययन पाई टीका और अनुयोगद्वारसूत्रका अध्ययन किया। वहांसे विहार कर पेथापुर पधारे और सम्वत् १९७२का चातुर्मास वहांपर किया। इस चातु-र्मासमें व्याख्यानके उपरान्त समय मिलनेपर विशेषावश्यक महा-भाष्यका अध्ययन किया। वहांपर शकरचन्द कालीदासकी ओरसे अट्ठाई महोत्सव तथा समवसरणकी रचना की गई। वहांसे विहार होनेपर चाणस्मा होते हुए पाटण पधारना हुआ, जहांपर एक या दो महिने विराजना हुआ।

पुनः दीक्षादानका प्रसंग—

पाटणसे पानसर होते हुए भोयणी पधारना हुआ। यहांपर सम्वत् १९७१के फाल्गुन कृष्णा ३के दिन शुभ मुहूर्तमें वीरमगांवके रहीश शा मणीलाल उत्तमचन्दभाईको उनके माताकी आज्ञासे भागवती दीक्षा प्रदान कर उनको अपने शिष्यरूपसे ग्रहण किया और दीक्षितका नाम मुनिश्री मंगलविजयजी रक्खा। वहांसे विहार कर सारंगामी होते हुए वीसनगर पधारे। वहांपर अहमदाबादनिवासी सफरचन्द बालाभाईका दीक्षा ग्रहण करनेका विचार होनेसे वे स्वयं पंन्यासजी महाराजके समीप विनति करनेके लिये आये अतः महाराजश्री वहांसे विहार कर अहमदाबाद पधारे और सम्वत् १९७१के जेठ शुक्ला १०के दिन शुभ मुहूर्तमें बड़ी धामधूमसे शेठ हठीभाई की वाडीमें सफरचन्द बालाभाईको भागवती दीक्षा प्रदान कर अपना शिष्य बनाया और दीक्षितका नाम मुनीश्री सुमतिविजयजी रक्खा। यहां ऊंझाके संघकी ओरसे कई आदमियों द्वारा विनति होनेपर महाराजश्रीने ऊंझाकी ओर विहार किया और चातुर्मास वहींपर किया और चातुर्माससें उपधान तपकी क्रिया शुरू की और माला पहिनाने पश्चात् महाराजश्रीने विहार कर चाणस्मा होते हुए पाटणमें पदार्पण किया।

विहार और तीर्थयात्रा—

मरुधर प्रान्तकी ओर विहार करने निमित्त अपनी जन्मभूमिके लोगोंकी कई वर्षोंसे आग्रहभरी विनति होनेसे पंन्यासजी माहाराज अपने पूज्य गुरुमहाराजकी आज्ञासे पाटणसे विहार कर पालनपुर होते हुए आबू गिरिराजकी यात्रा करते हुए जावाल होकर धांवला पधारे। सम्वत् १९७२का चातुर्मास संघ-

क आग्रहसे वही पर किया। इस चातुर्मासमें अठाई महोत्सव तथा पूजा-प्रभावना आदि धार्मिक कार्य भी भलीभांति पूर्ण हुए। वहां से विहार कर तख्तगढ, खीवान्दी होते हुए वरकाणाजी, नांदोल, नांदलाई, घाणेराव, राणकपुर तीर्थोंकी यात्रा कर शिवगंज पधारे। वहां से कुंभारीयाजी, तारंगाजी आदिके दर्शन करते हुए पाटण पधारे और वहां पर दादागुरु वयोवृद्ध पूज्य पंन्यासजी महाराज श्रीभावविजयगणिवरको वन्दन किया। तत्पश्चात् वहांसे विहार कर श्रीसंखेश्वर पार्श्वनाथकी यात्रा कर भोयणी होते हुए पूज्य गुरुमहाराजके पास अहमदावाद पधारे। सम्वत् १९७५का चातुर्मास वहीं पर हाजापटेलकी पोळमें संवेगी उपाश्रयमें किया। इस चातुर्मासमें पंन्यासजी महाराजने व्याख्यानमें लोकप्रकाश नामक महाग्रन्थका वांचन किया। तत्पश्चात् पूज्य गुरुमहाराज श्रीविजयनीतिसूरिश्वरजीकी आज्ञासे विहार कर भोयणी, शंखेश्वर होते हुए राधनपुर पधारे और सम्वत् १९७६का चातुर्मास वहींपर किया और साधुको भगवतीसूत्र पढ़ाया। वहांसे विहार कर पालीताणे पधारे वहां सिद्धगिरिराजके दर्शन कर भावनगर महुवे होते हुए जूनागढ पधारे, वहां रैवतगिरीपर नेमिनाथके दर्शन कर वंथली, वेरावल होकर प्रभासपाटण पधारे, वहां चन्द्रप्रभस्वामी के दर्शन किया। वहांसे मांगरोल, जूनागढ, अमरेली होते हुए पूज्य गुरुमहाराजके समीप पालीताणे पधारे। सम्वत् १९७७का चातुर्मास वहां पर किया और साधुओंको प्रज्ञापना तथा अनुयोगद्वार-सूत्रकी वाचनां प्रदान की। तत्पश्चात् पंन्यासश्री वहांसे विहार कर बोटाद, लीमडी होते हुए वीरमगांव पधारे, वहां पर अहमदावाद-वालोंकी विनति होनेसे रामपुरा, भोयणी, कडी होते हुए अहमदावाद पधारे व सम्वत् १९७८का चातुर्मास वहां पर किया।

इस चातुर्मासमें पहले के शेष रहे लोकप्रकाश ग्रन्थको व्याख्यान-में सम्पूर्ण किया। पर्युषणके पश्चात् वादीवेताल शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययनकी टीका प्रारम्भ की जिस से लोगोंमें अत्यन्त धर्म-भावना की जागृती हुई। चातुर्मासकी समाप्ति पर वहां से विहार कर पानसर, सारंगा, महेसाणा आदि नगरोंमें होते हुए ऊंझा पधारे और संघकी विनतीसे सम्वत् १९७९का चातुर्मास ऊंझा में किया। तत्पश्चात् वहां से विहार कर उनावा, देउ, महेसाणा, पानसर होते हुए पूज्य गुरुमहाराजके साथ अहमदाबाद पधारे और सम्वत् १९८०का चातुर्मास पंन्यासजी महाराजने अहमदाबाद-में संवेगीयोंके उपाश्रयमें किया और शेष रही उत्तराध्ययनकी टीकाको सम्पूर्ण किया। उस समय शेठ साकलचन्द मोहनलालभाई ने पूज्य गुरुमहाराजके साथ पंन्यासजी महाराजका भी चातुर्मास करवाया और उपाश्रयमें त्रगडाकी रचना कर अट्ठाई महोत्सव किया। फिर शिवगञनिवासी शेठ फोजमल बालाजी की विनति होनेसे महाराजने पूज्य गुरुमहाराजकी आज्ञा लेकर विहार करते हुए आबू गिरिराजकी यात्रा कर शिवगञमें पदार्पण किया। वहां पोसमहिने के कृष्णपक्षमें शा फोजमल बालाजीकी तरफसे उपधानतपकी क्रिया प्रारम्भ कराई जिसमें श्रावक-श्राविकाये सब मिला कर करीब २३४ पुरुष-स्त्रियोंने लाभ उठाया और माल महोत्सवके प्रसंग पर करीब पांच हजार पुरुष-स्त्री एकत्र हुए। उपधानतपकी समाप्ति पर पंन्यासश्री सिवान्ची होकर तख्तगढ पधारे और संघके आग्रहसे सम्वत् १९८१का चातुर्मास वहींपर किया। इस चातुर्मासमें भवानमल कस्तुरचन्दकी तरफसे उपधान तपकी क्रिया शुरू हुई इस में श्रावक-श्राविका कुल मिला कर करीब २६९ स्त्री-पुरुषोंने लाभ उठाया और मालोत्सव के प्रसंग

/

पर करीब नवहजार स्त्री-पुरुष एकत्रित हुए। वहां से गजमल परकाजीने केशरीयाजी का संघ निकाला उस में महाराजसाहब को साथ आनेका बहुत आग्रह किया गया इस से संघमें गये और केसरियाजीकी यात्रा कर रतलामके श्रावकोंकी विनती होनेसे उनके साथ रतलाम पधारे और वहां करीब पचीस दिवस बिराजे। वहांसे वडनगर होकर उज्जैन पधारे वहां अवंती पार्श्वनाथके दर्शन किये। वहां शरीरकी अस्वस्थता होनेसे दो मास तक बिराजना हुआ। तत्पश्चात् वहांसे विहार कर वडनगर पधारे। वहां इन्दोरकी विनति आनेसे इन्दोर पधारे। वहां नवीननिर्मित अष्टापद पर्वतकी प्रतिष्टा कराई। उस प्रसंगपर अष्टाह महोत्सव तथा शान्तिस्नात्र हुए फिर संघकी विनति होनेसे सम्वत् १९८२का चातुर्मास वहां किया। वहांसे विहार कर मांडवगढ, भोपावरकी यात्रा कर राजगढ, दाहोद, गोधरा, होकर कपडवंज पधारे। वहांपर अहमदावादवालोंकी विनति आई इसलिये पंन्यासश्री वहांसे विहारकर आंतरसुबा, वहीयल, नरोडा होकर अहमदावाद पधारे और सम्वत् १९८३का चातुर्मास वहां किया। व्याख्यानमें स्थानंगसूत्रकी वाचना शुरू की। फिर वहांसे विहार कर श्रीशंखेश्वर पार्श्वनाथजीकी यात्राकर पूज्य गुरु महाराजके साथ राधनपुर पधारे और सम्वत् १९८४ का चातुर्मास वहां किया। इस चातुर्मासमें साधुओंको लोकप्रकाश, नंदीसूत्र तथा प्रकरणोंकी वाचना प्रदान कर वहांसे गुरुमहाराज के साथ साथ विहार कर जुनागढ, पालीताने होते हुए अहमदावाद पधारे और सम्वत् १९८५का चातुर्मास डेलाके उपाश्रयमें किया और व्याख्यानमें समवायांगसूत्रकी वाचना शुरू की। वहांसे विहार कर पानसर, महेसाणा, तारंगाजी होते हुए खेरालु पधारे। वहां सीपोर गांवकी विनति आइ इसलिये पंन्यासश्री सीपोर पधारे और वहां संघका अत्यन्त आग्रह होनेसे

सम्वत् १९८६का चातुर्मास वहांपर किया और व्याख्यानमें श्री भगवतीसूत्रका उपदेश दिया। सम्वत् १९८७के कार्तिक कृष्णा अष्टमीको मुनिश्री मानविजयजीगणिको पंन्यासपद अर्पण किया। इस अवसर पर हठीसिंह पटवाकी ओरसे अट्ठाई महोत्सव, श्रीफलकी प्रभावना तथा नवकारसी भोजन हुआ। तत्पश्चात् पन्न्यासजी सार-गानी पधारे। वहां सीपोरवालेकी ओरसे आंगी, पूजा तथा नवका-रसी भोजन हुआ। वहांसे टेंबा, नागरमोरिया, पालनपुर होकर आबूकी यात्रा करते हुए शिवगंज पधारे। सम्वत् १९८७का चातुर्मास वहीं पर किया। इस चातुर्मासमें पंन्यासश्रीके उपदेशसे श्री महावीर विद्यापीठकी स्थापना हुई। चातुर्मासकी समाप्ति पर विहार कर खिवान्दी, तखतगढ होते हुए पंचतीर्थकी यात्रा कर पाली पधारे। वहांपर पूज्य गुरुमहाराजका फलोदी शीघ्र पहुंचने-का पत्र पाने पर वहांसे विहार कर पाली, जोधपुर, ओसिया होते हुए फलोदी पधारे। वहां आचार्य श्रीविजयनीतिसूरीश्वरजी महाराजने उनको सम्वत् १९८८ की जेठ शुक्ला ६को आचार्य-पदसे विभूषित किया। इस अवसरपर अठाई महोत्सव, समवसरण रचना, उजमणा, शान्तिस्नात्र, नवकारसी भोजन आदि धार्मिक कार्य बडे धूमधामसे हुए और उस वर्षका चातुर्मास भी वहींपर किया और साधुओंको प्रज्ञापना तथा सूर्यप्रज्ञप्तिसूत्रकी वाचना प्रदान की। चातुर्मासकी समाप्तिपर विहार कर बिकानेर पार्श्वनाथ फलोदी, मेडता, सोजत होकर शिवगंज पधारे। वहां तखतगढके संघकी विनति आई इसलिये सम्वत् १९८९का चातुर्मास आचा-र्यश्रीने तखतगढमें किया। चातुर्मासके बाद शिवगंज, मढार, पालनपुर होकर साधुसम्मेलनमें अहमदाबाद पधारे और सम्मेलन-की समाप्तिपर आचार्यश्रीने बम्बईकी ओर विहार किया और

गुरुपरम्परा और शिष्यपरिवार:—

प्रभु महावीरकी ६१ वे पाट पर:—

आचार्यदेव श्रीविजयसिंहसूरीश्वरजी महाराज हुये। तत्पट्टे संविग्नशाखाप्रवर्तक क्रियाउद्धार करतें

अनुयोगाचार्य पंन्यास श्री सत्यविजयजी गणिवर हुए.
पंन्यास श्री कर्पूरविजयजी गणिवर
पंन्यास श्री क्षमाविजयजी गणिवर
पंन्यास श्री जिनविजयजी गणिवर
पंन्यास श्री उत्तमविजयजी गणिवर
पंन्यास श्री पद्मविजयजी गणिवर
पंन्यास श्री रूपविजयजी गणिवर
पंन्यास श्री अमीविजयजी गणिवर
पंन्यास श्री सौभागविजयजी गणिवर
पंन्यास श्री रत्नविजयजी गणिवर
पंन्यास श्री भावविजयजी गणिवर



शान्तमूर्ति बालब्रह्मचारी प्रातःस्मरणीय परमपूज्य
स्वनामधन्य गुरुदेव अनुयोगाचार्य पंन्यासजी महाराज
श्री भावविजयजी गणिवर



गुरुस्तुति

सुशीलगुणाकीर्ण प्रशान्तश्च जितेन्द्रिय ।
पंन्यासप्रवरो जीयात् श्रीभावविजयो गणी ॥

"आनंद" प्रेस-भावनगर.

आचार्य श्री विजयनीतिसूरीश्वरजी महाराज

|

आचार्य श्री विजयहर्षसूरीश्वरजी महाराज

|

पं मानविजयजी गणि — पं कल्याणविजयजी गणि — पं मंगलवि० गणि — मुनिसुमतिवि०

- पं मानविजयजी गणि: मु धर्मवि०, मुनि तीर्थवि०
  - मुनि तीर्थवि०: मु विनयवि०
- पं कल्याणविजयजी गणि: मु जशवि०, मु कुसुमवि०, मु दुर्लभवि०
- पं मंगलवि० गणि: मुनि रामवि०
- मुनिसुमतिवि०: मुनि भरतवि० — मुनि हिम्मतवि०



उपोद्घात.



द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग इन चार विभागोंमें धर्मशास्त्रका समावेश होता है। इन चार अनुयोगोंमेंसे धर्मकथानुयोग बहुत सरल रीतिसे उपदेश करके विशेषतया बालजीवोंकी कल्पनाशक्तिपर अवलम्ब प्रभाव डालता है और उसके प्रभावसे चरणकरणानुयोगद्वारा होनेवाली क्रियाओंके नैतिक प्रभावसे जीवनको उसके द्वारा सफल बनाता है, परन्तु हेत्वाभासोंवाली युक्तियों अथवा कुयुक्तियोंके श्रवणगोचर होनेपर तथा इसी प्रकार आत्माका अस्तित्व, पृथ्वीका चलास्थित्व और सृष्टिकर्तृत्वनिरास आदि प्रश्नोंके प्रसंगोंके उपस्थित होनेपर घबरा जाते हैं, हताश हो जाते हैं और कईवार केन्द्रमेंसे हट जाते हैं। इस समय चरणकरणानुयोग जिसका विषय क्रियाकाण्डका है, जिसका अभ्यास द्रव्यानुयोग अथवा कथानुयोगके अभ्यासीको चुस्त बनानेमें सहायभूत हो सकता है, उसकी आवश्यकता बहुत कम रहती है। नवीन अभ्यास आरम्भ करनेवालेको चरणकरणानुयोगका विषय बहुत उपयोगी सिद्ध नहिं होता है। गणितानुयोगका विषय बहुत कठिन और शुष्क है। जिसको इस विषयपर स्वाभाविकतया प्रीति होती है उसको यह बहुत आनंद देता है और सावधान बनाता है, परन्तु यह विषय कभी भी सीधी रीतिसे सर्वथा लोकप्रिय नहीं होता है, न कभी हो सकेगा।

चार प्रकारके अनुयोग

द्रव्यानुयोगके विषयकी हकीकत इससे द्रव्यानुयोग तद्दन भिन्न ही है। यह विषय बहुत ही उपयोगी है और इसके अनेकों विभाग हैं। बुद्धिबलको मजबूत बनानेवाला और उसीमेंसे उत्पन्न होनेवाले इस विषयपर शास्त्रकी महत्ता, गंभीरता, उदारता और गहनताका आधार रहता है। मानसिक शक्तियोंमेंसे कल्पनाशक्तिका पोषण कर भाग करनेवाला तो बालजीवोंपर ही असर डाल

द्रव्यानुयोग

सकता है, परन्तु तर्क-बुद्धिप्रजापर प्रभाव डाल कर कार्य्य कर-
नेवाला कदाच थोडे समयके लिये अल्पांशमें या अधिकांशमें विजय
प्राप्त करे, परन्तु परिणाममें तो उसीकी सम्पूर्ण विजय होती है
इसके स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है, कारण कि बालजीवोंका
वर्ग अज्ञानी होता है और उनका धार्मिक तत्त्वज्ञान, कथाश्रवण
और ईश्वरस्मरणमें परिपूर्ण होता है, जबकि बुद्धिमानोंका कर्त्तव्य
तत्त्वज्ञानके गूढ रहस्योंको पढ़कर, मननकर, समझकर उनके
तात्पर्यको ढूंढकर समझनेमें होता है। सामान्य नियमानुसार ऐसी
दृढ नींवपर बन्धे हुए शास्त्रकी ही जय होना सम्भव है, परन्तु
वह कार्य्य उसका द्रव्यानुयोग किस स्थितिमें है, किसने बतलाया
है, किस प्रकार बतलाया है, उसका अन्तिम साध्यबिन्दु क्या है
और उसमें अरस्परस रूपसे कोई विरोध है या नहीं यह (इन) प्रश्नोंपर
अवलम्बित है। अतएव किसी भी धर्मकी महत्ताको समझनेके
लिये उसके द्रव्यानुयोगकी महत्ताको समझनेकी आवश्यकता होती
है और उसकी किमत भी उसीसे होती है। इस द्रव्यानुयोगकी
महत्ता कितनी है यह विचारने योग्य है। कर्मकी शक्ति, उसके बंध-
उदयादि चतुष्टय, उसके उद्वर्तन, संक्रमण, अपवर्तनादि प्रकार परमा-
णुका स्वभाव, निगोदका स्वरूप, आत्मद्रव्यका स्वरूप आदि प्रश्न
इस अनुयोगमें किये गये है। शास्त्रकारका कथन है कि शुद्ध
देव, गुरु और धर्म ऊपर श्रद्धा हो तब ही समकितकी प्राप्ति हो
सकती है और समकितरहित क्रिया तो बिना अंकोंवाली शून्यों
(Zero) के बराबर है। इस श्रद्धाको स्थिर रखनेवाला तत्त्वज्ञान-
तत्त्वबोध ही है। तत्त्वज्ञानसे भाग्यहीन हुआ प्राणी सहजमें ही श्रद्धा-
से भ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि उसकी श्रद्धाकी नींव गहरी नहीं
होती है, जबकि बुद्धिमान् विद्वानके सम्बन्धमें ऐसा नहीं हो सकता
है। अनेक उपयोगी विषयोंका वर्णन करनेके उपरान्त श्रद्धाको स्थिर
रखनेवालेके रूपमें द्रव्यानुयोग ही अधिक उपयोगी है।

द्रव्यानुयोगका विषय बहुत विशाल है। इसके पेटे विभाग में
अनेकों उपयोगी विषयोंका समावेश हो जाता है। प्रत्येक धर्मका
व्यवस्थापूर्वक अभ्यास, उन सबका परस्पर
द्रव्यानुयोगमें विषय समतोल, तर्क, मीमांसा, धर्मशास्त्र आदि विषय
इसीप्रकार वस्तुस्वभावशास्त्र Metaphysics

और नीतिशास्त्र Ethics का समावेश भी द्रव्यानुयोगमें होता है। वस्तुस्वभावशास्त्र यह हमारा सच्चा द्रव्यानुयोग है। बाह्य वस्तु और आत्मिक वस्तुओंका परस्परसे सम्बन्ध, एक दूसरेपर होने वाली उसकी असर और उसका वास्तविक स्वरूप द्रव्यानुयोगमें बताया हुआ होता है। एक जीवका निगोदमेंसे निकल कर निवृति प्राप्त करने तक किस प्रकार विकास होता है, किस किस गतियोंमें कैसे कैसे वेश धारण करता है, कैसे कैसे प्राणियोंके विविध प्रकारके सम्बन्धमें आता है और इन सब वेश और सम्बन्धका वास्तविक कारण क्या है कर्म और पुरुषार्थमें परस्पर क्या सम्बन्ध है यह सब बातें द्रव्यानुयोग बतलाता है। व्यवहारनीतिका विषय इस ही अनुयोगमें आता है। इससे मालूम होगा कि द्रव्यानुयोग वाम् बहुत विशाल है और उसमें अनेकों विषयोंका समावेश होता है।

द्रव्यानुयोगमें सम्मलित होनेवाले जिन विषयोंको हम देख चुके हैं उनमें एक बहुत अगत्यका विषय अध्यात्म शास्त्रका है।

अध्यात्मका स्थान

'आत्मानमधिकृत्यत्येत्यध्यात्मम्' अथवा 'आत्मनी त्यध्यात्मम्' आत्मा क्या है? कौन है? उसका विषय कैसा है? उसका पौद्गलिक वस्तुओंके साथ क्या सम्बन्ध है? कैसा है? कितने समय तकका है? उसके सगे-स्नेहियों, मित्रों और सम्बन्धियोंका योग किस कारणोंसे हुआ है और उस सबमें वस्तुस्वरूप यथास्थित क्या है? कैसा प्रतीत होता है? खोटा स्वरूप सत्य जैसा प्रतीत होता है इसका क्या कारण है? आत्माकी शुद्ध दशा कैसी है? वैसी कब हुई? नहीं होती तो कैसे प्राप्त हो सकती है? उसके लिये कैसा पुरुषार्थ करना पड़ता है? आत्मा और कर्मका सम्बन्ध कैसा है? कब तकका है? ये सब अध्यात्म ग्रन्थके मुख्य विषय हैं। इसके

अध्यात्मके विषय

सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी शिक्षायें सद्गुण ग्रहण करनेके प्रसंग त्याग और कारण, कममलको दूर करनेके उपाय और वैराग्यवासित हृदय करनेके अनेक साधन अध्यात्मके विषयमें वर्णित होते हैं। माय माका स्वरूप, ममकी पीड़ा, पौद्गलिक पदार्थोंकी अस्थिरता, राग

द्वेषका विचित्रपन, कामका अन्धपन, क्रोधका दुर्जयपन, कषायका कलिष्टपन, विषयोंका विरसपन, पापस्थानकोंका अधोगमनपन, प्रेमका अनित्यपन, जीवनको क्षणिकपन, आदि अनेक विषय अध्यात्मशास्त्रमें बतलाये हुए होते हैं। मनुष्यकी मनोवृत्तिको बराबर अंकुशमें रखनेवाला यह अध्यात्म विषय बहुत अगत्यका है। द्रव्यानुयोगके अनेकों विषयोंमेंसे हमारा प्रस्तुत विषय अध्यात्मका है। इससे वह क्या है? उसके अधिकारी कौन हैं? उनके लक्षण क्या हैं? इस जमानेमें इस विषयकी किसी भी प्रकारसे आवश्यकता है या नहीं? इन बातोंपर विचार करना यहां प्रस्तुत है। आत्मा सम्बन्धी और उसको उद्देश करके जो ज्ञान होता है वह अध्यात्मज्ञान कहलाता है।

आत्माका स्वरूप

आत्मा कौन है और कैसा है? ऐसा प्रश्न सहज ही में उत्पन्न हो सकता है। इस विषयमें विशेष उतरनेसे बहुत विस्तार हो जाता है, परन्तु जैन शास्त्रकार इसके सम्बन्धमें क्या कहते हैं उसको बहुत संक्षेप रूपसे ध्यानमें रखना यह इस ग्रन्थको समझनेकी प्रथम सिद्धी है। अपने शरीरमें गमन करनेकी शक्ति पैरमें नहीं है, देखनेकी शक्ति चक्षुओंमें नहीं है, सुंघनेकी शक्ति नाकमें नहीं है परन्तु एक अंतरंग शक्ति ऐसी है जो इन सबोंको नियममें रखती है। यदि ऐसा न हो तो मृत शरीरके भी पैर, नाक और चक्षु होते हैं तो फिर वह उसका उपयोग क्यों नहीं कर सकता है? इस अन्तरंग सत्ताको ही आत्मा कहते हैं। वह [illegible] निर्लेप अवस्थाको प्राप्त करती है तब तो तद्दन शुद्ध है और उसके प्रदेश निर्मल और अरूपी है, परन्तु कर्म पुद्गलके अनादि सम्बन्धसे वह विचित्र वेशोंको धारण करती है और इसलिये उसका मनुष्य, तिर्यंच, देवता और नारकी आदि नाम रक्खा जाता है, कर्मके सम्बन्धसे ही वह कामक्रोधादिक करती हैं और सुख दुःख सहन करती है। उसके साथ लगे हुए और जो लग रहे हैं वे सब कर्म पौद्गलिक ही हैं, उनको शक्तिसे आत्माकी शक्तिका ह्रास हो जाता है और वह संसारमें भटकती है। वस्तुतः आत्माका स्वरूप-लक्षण ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय है। सर्व वस्तुओंको तथा स्वरूपसे प्रत्येक

समय देखना जानना और स्थिरता रखना, यह आत्माके लक्षण हैं अथवा उन गुणों और आत्माका अभेद है यह शुद्ध दशा कर्म-के कारण दबा दी गई है; आच्छादित हो गई है, ढक गई है–जैसे दीपकपर पर्दा डालनेसे उसका प्रकाश कम पड़ता है और अधिक पर्दे डालनेसे प्रकाश अधिक कम पड़ता है परन्तु जब देखो तब अन्दर तो दिपक प्रकाशित ही है, एक मात्र पर्देके हटानेकी आवश्यकता है इसीप्रकार आत्माके सम्बन्धमें भी समझे। इस पर्दोंको हटानेका फलरूप प्रत्येक प्राणीका है। अब ये कर्म हटकर दूर हो जाते हैं तब इस आत्माने मोक्ष प्राप्त कर लिया ऐसा कहा जाता है। एक बार सब कर्मोंके साथका सम्बन्ध छूट जाय और उसको मोक्ष प्राप्त हो जाय तो फिर उस आत्माको यहाँ फिरसे नहीं आना पड़ता है; इससे मोक्षका सुख अव्याबाध कहलाता है। जब तक यह जीव संसारमें है तबतक इसका स्त्री, पुत्र, घर आभूषण पर ममत्वभाव है और कामक्रोधादिक करता है, यह सब विभाव दशा है, परन्तु कर्मावृत्त स्थितिके कारण यह स्वभावदशा हो जाती है। परम वीर्यस्फुरणा करनेसे यह जीव अपना शुद्ध स्वभाव प्रगट कर सकता है। इस मनुष्य जीवनका मुख्य उद्देश सर्व कर्मोंको हटाकर दूर करनेका अथवा ऐसा होना अशक्य प्रतीत होता हो तो कर्मका भार जितना हो सके उतना कम करना है अथवा अधिक स्पष्ट शास्त्रोंमें कहा जाय तो इसप्रकारका प्रयास होना चाहिये; क्यों कि इस कार्य्यकी फलहपर ही जिन्दगीकी फलहका आधार है। यदि कर्म और आत्मा दोनों पृथक् पृथक् न हों और इनका पूर्वभवके साथ सम्बन्ध न हो तो भिन्न भिन्न प्राणियोंमें जन्मसे दिखाई देनेवाला अलग विशेष श्रीमंतपन, धनवान निर्धनपन शरीरका आरोग्य और रोगीपन, मानसिक स्थिरपन और अस्थिरपन आदि अनेक भिन्नताओं और उनके अन्दरकी तरतमताओंका खुलासा दूसरी ओर किसी भी प्रकारसे होना असंभव है। इसी प्रकार यदि पुनर्जन्म न हो तो इस भवमें नीतिके नियमोंको अनुसरण करनेकी कोई भी लालच नहीं रहती है, केवल व्यवहारमें ठीक दिखाई देनेके लिये नीतिका बरताव करनेकी आवश्यकताके सिवाय अन्य कोई विशेष आवश्यकता ऐसा करनेके लिये बाध्य नहीं कर सकती है।

कर्मसे आवृत आत्माका विकास इसप्रकार होता है। वह अपने कर्मानुसार ऊपर चढ़ती जाती है। अनादि निगोदमेंसे निकल कर, व्यवहारराशिमें आकर पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पतिपन पाकर, दो तीन और चार इन्द्रियें प्राप्त कर, पांच इन्द्रियोंवाला तिर्यंच होता है और जब भवितव्यताकी कृपा होती है और कर्मविवर हो तब मनुष्य होकर कार्य सिद्ध करती है। सर्व कर्मोंसे मोक्ष मनुष्यगतिमें ही प्राप्त होता है। Evolution विकास सिद्धान्त और जैनकी गति-आगतिके सिद्धान्तमें एक बड़ी भारी भिन्नता यह है कि विकासवादवाले ऐसा मानते हैं कि " इस जीवके एक समयपर अमुक हद तक पहुंच जानेके पश्चात् यह चाहे जैसे भी कार्य क्यों न करें किन्तु फिर भी वह नीचे नहीं उतर सकता है। अपनी उसी स्थितिमें यह चाहे जितना कालक्षेप भी क्यो न करे परन्तु पिछा नहीं जासकता है। एक जीव चढ़ते चढ़ते मनुष्य हो गया तो वह फिर तिर्यंच नहीं हो सकता है, चाहे जैसे पापकर्म क्यो न करे तो भी वह मनुष्य तो है ही; वहां वह जो सुखदुःख भोगता है वह सब कर्मानुसार भोगता है। जैन शास्त्रकार इस हकीकतके सम्बन्धमें कुछ और भिन्न ही बात बतलाते हैं। उनका कहना है कि " विकास और अपक्रान्ति साथ ही साथ है। अशुभकर्म करनेसे इस जीवका पतन होता है और यदि मनुष्य महापापात्मक कार्य्य करे तो पंचेन्द्रिय तिर्यंच तो कहा रहा परन्तु एकेन्द्रिय जैसी अधम गतीमें भी चला जाता है। " इसप्रकार जैन शास्त्रकार आत्माकी शक्ति और उसका कर्मजन्य विकास, अपक्रान्ति और मोक्षकी प्राप्ति होने पर सर्व कर्मोंका नाश होना मानते हैं। आत्मामें अनन्त शक्ति होनेसे यह सब कार्य्य वह स्वयं ही करता है। उसे उसमें किसीकी मदद, प्रेरणा या इच्छाकी आवश्यकता नहीं रहती है, परन्तु जो मदद या प्रेरणा होती है वह निमित्तकारणरूप है। इसकी भी कितनेक अंश तक ही आवश्यकता होती है और इसी हेतुसे इस ग्रन्थका प्रयास किया गया है। निश्चयनयकी अपेक्षाए आत्मा कर्मसे निर्लेप है और यह ही उसका स्वभाव है। स्वर्णमें जैसे स्वर्णत्व तीनों कालोंमे भी रहता है, जब वह मिट्टीसे आच्छादित खानमें था तब भी उसमें स्वर्णत्व था और जब उसके

आत्माका विकास.

साथसे मिट्टी अलग करदी जाती है तपा कर साफ किया जाता है पासा पाड़ा जाता है तब भी उसमें स्वयत्व मौजुद ही रहता है। इसीप्रकार आत्मामें भी उसका शुद्ध आत्मत्व तीनों कालमें रहता है, परन्तु वह अपूर्व वीर्यस्फुरणासे ही प्रगट हो सकता है। जहांतक प्रगट न हो तबतक उसको खानमें रहे स्वर्णके समान समझना चाहिये। इस जीवका शुद्ध स्वरूप यह सब कर्मोंसे मुक्त होता है तब प्रगट होता है, यह दशा मोक्षदशा कहलाती है। इस स्थितिमें जीवका मूल स्वभाव-अनन्तज्ञान दर्शन, चारित्रादि अनन्त गुण प्रगट हो जाते हैं। इस स्थितिको एक बक्त प्राप्त करलेनेके पश्चात् उसमेंसे किसीका पतन नहीं होता है कर्मके साथ फिरसे सम्बन्ध नहीं होता है और संसारके दुःख फिरसे नहीं भोगने पड़ते हैं कारण कि कारणका आत्यंतिक नाश हुआ होनेसे फिरसे संसार परिभ्रमणरूप कार्य्य निष्पन्न हो ही नहीं सकता है। आत्माको निगोद् अवस्थामें जो दुःख अव्यक्तपनसे भोगने पड़ते हैं और नारकी तथा तिर्यंच गतिमें व्यक्तपनसे जो दुःख भोगने पड़ते हैं उनके साथ यदि मोक्षमें जो अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त होता है उसकी समानता की जाय तो मोक्षकी महत्ता सहज ही न समझमें आ सकती है। आत्माका विकास इसप्रकार होता है।

इस आत्माके सम्बन्धी ज्ञानको प्राप्त करना, उसके नित्यत्व, अनित्यत्व, आदि धर्मोंका विचार करना, उसके गुणोंको समझना, उनके और पुद्गलके सम्बन्धका विचारना, पुद्गल और आत्मामें बाह्य दृष्टिसे मालूम होनेवाले अभेद अथवा ऐक्य भावको स्मझना, उसके मूल स्वरूपको यथास्थित आकारमें समझना, उसके सम्बन्धके अनित्यत्वका विचारना, जीवका और अन्य लगे सम्बन्धियोंके सम्बन्धका विचारना, उसके अनित्यपनका समझना, घर, पैसा और दूसरी पौद्गलिक वस्तुओंके साथके सम्बन्धका विचार करना, आदि आदि अनेक विषयोंका समावेश अध्यात्मशास्त्रमें हो जाता है। साराशमें कहा जाय तो आत्मा सम्बन्धी सीधा विचार करनेका स्थान अध्यात्मशास्त्र है। यह द्रव्यानुयोगके पेटेका विषय है जैसा कि हम पहिले लिख चुके हैं। कितने ही चार्वाक

(Margin note: अध्यात्म शास्त्रका साध्य)

तो आत्माके अस्तित्वको भी स्वीकार नहीं करते हैं, उनसे अध्यात्म ग्रन्थ वादविवाद करना नहीं चाहता है। अध्यात्मग्रन्थ आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करके ही आगे बढ़ता है। इसके सम्बन्धका वादविवाद करनेका योग्य क्षेत्र तर्क-न्यायके ग्रन्थ हैं। आत्माके नास्तित्वको माननेसे कितने हेत्वाभास होते हैं, कुदरतके कितने आविर्भाव इससे खुलासा हुए विना ही पड़े रहते हैं-आदि बातों पर तर्कशास्त्रकी दलीलपुरःसर विवाद न्यायग्रन्थोंमें चलता है। यह ग्रन्थ अध्यात्मका ही होनेसे इसमें भी आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करके ही चलनेकी रीतिका अनुकरण किया गया है। आत्मवाद इतना लम्बा है कि यदि इसका उपोद्घातमें वर्णन किया जाय तो ग्रन्थगौरव बहुत हो जाता है, इसलिये इसको छोड़ देना पड़ता है। यहां तो केवल मात्र एक ही बातको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है और वह यह है कि आत्मा विना हम न गति कर सकते हैं, न बोल सकते हैं और न शुभाशुभ फलोंका अनुभव ही कर सकते हैं। अलग पड़े पत्थरमें अथवा शुष्क काष्ठमें और प्राणियोंमें लगी सम्बन्धी जो भिन्नता है वह भी एक मात्र आत्माकी अनुपस्थिति और उपस्थिति ही के कारणभूत है। इस गूढ़ विषयमें अध्यात्मग्रन्थ प्रवेश नहीं कर सकते हैं, कारण कि ऐसा करनेकी उनको आवश्यकता भी नहीं होती है। अपनी निर्मित हदको लांघ कर आगे बढ़ना यह व्यर्थ कालक्षेप है। आत्मवाद समझने योग्य है; तर्कशास्त्रकी रुचिवालोंको इसे न्यायके ग्रन्थोंसे जान लेना चाहिये। अध्यात्मके ग्रन्थोंमें ऊपर लिखित मुख्य विषयोंपर विस्तारसे अथवा संक्षेपसे उल्लेख किया गया होता है और विषयकी योग्यताको देख कर उसकी हद बांधी हुई होती है। इन सर्व विषयोंका उद्देश बहुधा आत्मा और पुद्गलका सम्बन्ध और भेद बतानेका होता है। इसमें पुद्गल द्रव्यका स्वरूप, कर्मप्रकृतिका स्वरूप, कर्म वर्गणाका स्वरूप, उसके बंधादि चतुष्टय (बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता), इसकी आठ मूल और एक सो अट्ठावन उत्तरप्रकृतियें, उनका भिन्न भिन्न गुणस्थानोंमें न्यूनाधिकपन-बढ़ना घटनापन, कर्मका और आत्माका सम्बन्ध, उदय क्रियाके समय जीवको होनेवाला क्लेश, भिन्न भिन्न प्रकारके सुख-दुःखके कारण, मोहनीय आदि कर्मोका स्वरूप, उनकी प्रेरणासे

खेला जानेवाला संसार-खेल, पौद्गलिक पदार्थोंका अस्थिरपन, सगेसम्बन्धियोंका अशरणपन, आदि आदि अनेक विषयोंका वर्णन किया हुआ होता है। मुख्य विषयोंके साथ साथ गौणरूपसे इस जीवको संसारसे वैराग्य हो, वस्तुस्वरूप समझमें आ जाय, और भेदज्ञान प्राप्त हो इसके लिये अन्य अनेक शिक्षाके विषय अध्यात्म शास्त्रमें भी वर्णित होते हैं। इन सबका केवल मात्र एक ही उद्देश होता है और वह यह कि आत्मा जो अपना सच्चा स्वरूप भूल बैठा है उसको प्रगट करनेके लिये भरसक प्रयत्न करना है।

इससे यह भी निर्णय हो जाता है कि अध्यात्म ग्रन्थके अधिकारी कौन है? जिन्होंने आत्मशक्तिको पहचान लिया उसके शुद्ध स्वरूपका प्रगट करनेका निर्णय किया है ग्रन्थके अधिकारी अर्थात् जिनको हम मुमुक्षु जीव कहते हैं वे ही इस ग्रन्थके प्रथम श्रेणीके अधिकारी हैं और विशेषतया उन्हींको उद्देश कर ऐसे ग्रन्थ लिखे जाते हैं। सामान्य अधिकारियोंके दो विभाग हैं जो आत्माके अस्तित्वका स्वीकार करते हों, परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप और उसके पुद्गलके साथके सम्बन्धको न समझते हों उनमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये ऐसे ग्रन्थ यथोचित कार्य्य करते हैं। ऐसे प्राणी इस प्रकारके ग्रन्थोंका अध्ययन कर तथा विचार कर वैराग्यभाव धारण करते हैं जिसके परिणामस्वरूप अल्प कालमें ही प्रथम वर्गमें प्रवेश कर सकते हैं। ऐसे मनुष्य भी ग्रन्थ पढ़नेके अधिकारी हैं। दूसरे विभागमें धर्मसे विमुख नास्तिकोंका समावेश होता है। वे ऐसे ग्रन्थके अधिकारी नहीं हैं, उनको ऐसे ग्रन्थोंसे बहुत कम लाभ होना संभव है। उनको गुरुमुखसे अथवा स्वतः अभ्याससे आत्माका अस्तित्व, उसके मोक्ष और कर्मका स्वरूप प्रथम समझ कर बादमें ही अध्यात्म ग्रन्थका अभ्यास या अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकारसे किया हुआ अध्ययन ही उनको अधिकारी बना सकेगा।

अब हमको सबसे आवश्यक विषयपर ध्यान देना चाहिये। वह यह है कि ऐसे अध्यात्म-वैराग्य ग्रन्थोंकी इस जमानेमें कुछ आवश्यकता है या नहीं? अध्यात्मके अलावा

ऐसे ग्रन्थकी आवश्यकता

द्रव्यानुयोगके विषय गौणरूपसे आत्माके साथ सम्बन्ध रखते हैं तो फिर आत्मा स्वयं कौन है ? उसकास्वरूप क्या है? उसका विषयकषायादिके साथ क्या सम्बन्ध है ? कितने समय तकका है ? आत्माका साध्य क्या है? वह कैसे और कब प्राप्त हो सकता है ? आदि अनेक अत्यावश्यक आत्मा सम्बन्धी विषय अध्यात्मशास्त्रमें चर्चित हैं, इसलिये वह आत्माको सहजमें बहुत उपयोगी है। गणितानुयोगसे बुद्धि विकस्वर होती है, कथानुयोगसे हुई श्रद्धा द्रढ होती है और शुद्ध चारित्रवानका अनुकरण करनेकी इच्छा होती है, चरणकरणानुयोगसे आत्मा स्वस्वरूप प्राप्त करनेके प्रयासमें उद्यमवंत होता है-ये सब आत्मिक उन्नतिमें गौणरूपसे सहायक होते हैं; परन्तु अध्यात्मशास्त्र तो आत्माके लिये प्रत्यक्षरूपसे उपयोगी हो सके ऐसी वस्तुओ और वस्तुतत्वोंको निरन्तर उसके सामने लाके पेश करता है। अध्यात्मशास्त्रका मुख्य विषय वैराग्य है। सांसारिक सर्व वस्तुओपरसे रागको दूर कर देना यह वैराग्यका मुख्य विषय है। सांसारिक पदार्थोंमें किन किनका समावेश होता है यह विचार कईबार आता है। इसमें सर्व पौद्गलिक वस्तुओका समावेश हो जाता है। इस जीवको घडी तथा आलमारी तथा कांच देख लेनेपर उनको खरीदने की इच्छा होगी, यदि वे मिल भी जावेंगे तो उनपर पालिस करानेकी इच्छा होगी, पालिस होजानेपर यदि कोई उनको छुयेगा अथवा उनको खराब करेगा तो यह उसे बर्दास्त न कर सकेगा। इसप्रकार अजीव पदार्थपर रागदशाके कारणसे ममत्व पैदा होता है। इसी प्रकार अपने निजके कपड़े आभूषण और धनपर ममत्व होता है। यह ममत्व इतना द्रढ होता है कि बहुधा शरीरपरके ममत्वसे भी यह अधिक बढ़ जाता है। धनके ममत्वसे प्राणी चाहे जैसा दुर्वचन बोलता है, चाहे जिससे भी लडाई झगडा करनेको तैयार हो जाता है, अपनी प्रशंसा करता है और चाहे जैसे अकृत्य, अप्रमाणिकपन या हिंसा करनेमें आगा पिछा नहीं सोचता है। इसीप्रकारका ममत्व अपने पुत्र, स्त्री और अन्य सम्बन्धियोंपर होता है। इसके परिणामस्वरूप जीव अनेक प्रकारके नाटक खेलता है, खेल करता है और बालचेष्टा करता है। इसीप्रकारका परन्तु सबसे अधिक सख्त अपने

स्वयं परका ममत्व है। इसी ममत्वके लिये जीव मानसिक तथा शारीरिक अनेक उपाधियें सहन करता है इस और ममताका वास्तविक स्वरूप समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। सर्व पौद्गलिक पदार्थ पराई हैं इनमें और आत्मामें किसी भी प्रकारका संबन्ध नहीं है। आत्माको इनपरके ममत्वसे और उल्टा सहन करना पड़ता है-इत्यादि विषयोंको अपने अन्तःकरणमें स्पष्टतया ज्ञान लेनेकी आवश्यकता है। ऐसा होनेपर ही समझमें आसकता है कि आत्म व्यतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुपर ममत्व रखना नितान्त मूर्खता है, संसार है, परिभ्रमण है। यह स्थिति वैराग्य कहलाती है।

'विगतो रागो यस्मात् विरागः तस्य भावः वैराग्य' अर्थात् जिसमेंसे रागका लोप हो गया वह विराग और उसका भाव वह वैराग्य कहलाता है। राग और ममत्व ये पर्याय वाची शब्द हैं, लगभग एक ही अर्थवाले हैं। राग और द्वेष अत्यन्त निकट सम्बन्धवाले होनेसे इस विषयमें जहां जहां राग शब्द आवे वहां द्वेष शब्द भी साथ ही समझलें। यह राग प्राणीको सचमुच फँसानेवाला है। इसमें दुःखकी बात यह है कि राग करते समय बहुत वार प्राणीको यह खबर नहीं पड़ती है कि मैं पौद्गलिकदशामें-विभावदशामें वर्त रहा हूं, सारांशमें कहा जाय तो राग इस जीवका अपना बना कर मारता है। इसलिये राग को उपमिति भवप्रपंचके कर्त्ता श्री सिद्धर्षिगणि केशरीका उपनाम देते हैं। इस मोह-ममत्वरागका दूर करनेका उद्देश वैराग्यका होता है। इस रागको दूर करनेका एक ही कारण है और वह यह है कि इस जीवको संसारमें भटकानेवाला यह ही है। इसके कारण जीव वस्तुस्वरूपका यथार्थरूपसे नहीं समझ सकता है और बहुत नीची हदमें रह कर गोते खाया करता है इसका आधिपत्य होता है तब तो जीव अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यका भान भी भूल जाता है। ऐसी स्थितिमें यह बहुत कर्मबन्ध करता है और रेंटकी मालाके तुल्य संसार अरघट्टमें फिरता रहता है, एक पानीमेंसे दूसरेमें और तीसरेमें इसप्रकार भटकते हुए उसका अन्त कभी नहीं आता है। इस ममत्व-रागको दूर करनेके अनेकों साधन हाथे हैं, उनमेंसे मुख्यतया करके वस्तुस्वरूपका चिन्तवन (भावना भाना आदि)

वैराग्य ममत्व

है और यह वैराग्य ग्रन्थों में अथवा अध्यात्म ग्रंथोंमें विशेषतया बताया हुआ होता है ।

इस जमानेकी कितनी ही विशेषतायें हैं । वस्तुस्वरूपका सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता है और शिक्षण वातावरण नवीन पद्धति अनुसार मिलता है इसलिये शिक्षितवर्गका एक बहुत बड़ा भाग आधुनिक वातावरण. जड़वादी (Materialist) बन जाता है । स्पेन्सर, मील, हीगल आदि के लेख इसकी पुष्टि करते हैं । इसप्रकार का वाद उन्नति का विरोधक है, क्योंकि जहां आत्माका अस्तित्व ही स्वीकृत न किया जाता हो वहां उसकी उन्नति तथा अवनतिका विचार ही क्यों कर आ सकता है? आत्मिक ज्ञान जब अनुभवपूर्वक लिया जाता है तब ही सचमुच लाभदायक सिद्ध होता है और वैसे ज्ञानकी ही बहुत आवश्यकता है । नवीन संस्कारवाले प्रणी तो इस भवके जंजालमें इतने अधिक लिप्त हो जाते हैं कि उनको परभवके लिये विचार तक करनेका अवकाश नहीं मिलता है, कहीं कहीं जीवनकलह भी बढ़ता जाता है, जिससे उदरपूर्तिके व्यवसायमें ही सुबहकी शाम और शाम को सुबह हो जाती है । कुदरतके सामान्य नियमके विरुद्ध अधिक समय तक काम करना पड़ता है और बरसके बारह महिनेमें एक या दो महिने भी निवृत्ति नहीं मिल सकती है । इसप्रकार पचास पिचोत्तर वर्षका जीवन पूर्ण होता है और बिना किसी भी साध्यको सिद्ध किये ही जीवनका अन्त हो जाता है। बड़े २ शहरोंमें यह स्थिति विशेषतया दृष्टिगोचर होती है । छोटे छोटे शहरोंकी प्रवृति भी इसी ओर होती जाती है, तथा ग्रामोंमें आलस्यका साम्राज्य होने से वहां भी आत्मिक उन्नति बहुत कम होती है । इसप्रकार शिक्षित समुदायके आत्मिक ज्ञान प्राप्त करनेके मानसिक और स्थूल प्रसंग कम होते हैं यह स्पष्ट ही है । उनको वस्तुस्वरूपके ज्ञानकी बहुत आवश्यकता है । जो शिक्षित हों, नियमानुसार कार्य्य करनेवाले हों उनके लिये कोई भी उपयोगी बाबत एक मात्र समझनेकी ही आवश्यकता है । यदि उनके ध्यानमें यह आजाय की आत्मिक ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता है तो फिर चाहे जो भी क्यों न करना पड़े परन्तु वे उसके लिये समय अवश्य निकाल सकते हैं । इसलिये इस वर्गको

वैराग्य ग्रन्थोंमें बतलाया हुआ वस्तुस्वरूपका बोध बहुत ही उपयोगी है।

सामान्यतया देखा जाय तो आधुनिक कालमें साधनका बहुत अभाव जान पड़ता है। सामान्य पुरुषोंकी प्रवृत्ति मेहनतकरनेकी ओर नहीं होती है और उनको मौज शौक बहुत प्रिय होता है। इस बाबतके अपवादभूत कई पुरुष होते हैं, परन्तु जो मौजशौकका स्वरूप नहीं समझते हैं। पौद्गलिक भावकी वृद्धि व्यर्थ और झूठी है इसको समझनेके लिये ऐसे ग्रन्थोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। दूसरा कम परिश्रम करनेवालोंको अपनी भाषामें सरल और समझ में आसके इस प्रकार यदि उपदेश किया जाय तब ही ये किसी ग्रन्थको पढ़नेका विचार करते हैं अन्यथा कदापि नहीं। इसलिये उनकी भाषामें अमुक साध्य लक्ष्यमें रखकर इस ग्रन्थ और इसके विवेचनमें वैराग्य विषयको प्रतिपादन किया गया है। धनाढ्य धनका उपार्जन और रक्षण इतनी अधिक सावधानीसे करनेमें तत्पर रहते हैं कि धनका वास्तविक स्वरूप क्या है? वह किसका है और कब तक रहने वाला है? इन सर्व बातोंको भूल जाते हैं ऐसा धनवान् वर्ग प्राचीनकालमें भी था और वे बहुधा धनप्राप्तिके प्रयास में ही अपना जीवन व्यतीत करते थे। इसलिये धनवानोंके लिये अध्यात्मग्रन्थोंकी उपयोगिता प्राचीनकाल में भी थी और आधुनिक कालमें भी है। धनी और निर्धनियोंका भेद दिनप्रतिदिन अत्याधिक बढ़ता जाता है और भी ज्यों ज्यों मील आदि उद्योग बढ़ते जावेंगे त्यों त्यों यह भी बढ़ता जायगा। ऐसे समयमें निर्धन प्राणियोंको तो सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त कठिन परिश्रम करते पर भी पूरा उदरपोषण अत्यन्त कठिन हो रहा है। ऐसे प्राणियोंके लिये वैराग्यका विषय अत्यन्त लाभकारी है। वैराग्यके विषयमें मुख्यतया यह ध्यानमें रखना चाहिये कि यह दुनियामें सर्व प्रकारका वैराग्य उपजाकर केवल उसको त्याग करनेका ही उपदेश नहीं करता है, परन्तु जिस प्रकार हो सके उसप्रकार आत्मविभाव कम करनेका विशेषतया उपदेश करता है। पौद्गलिक भाव संयोगोंके कारण कदाच छोड़ा न जा सकता हो तो फिर उसमें आसक्ति कम रखना चाहिये यह ही मुख्य कर्तव्य है। इस भवमें हो जहां सब मुख लेनेका उपदेश मिलता हो, शिक्षण

वर्तमान परिस्थिति

मिलता हो और व्यवहारमें देखा जाता हो, उस सुखका वास्तविक स्वरूप, पुण्यपापके कारण, भवान्तरमें उसके द्वारा होनेवाले परिणाम, और यहांपर करने योग्य मुख्य मुख्य कर्तव्योंका भान कराना यह अध्यात्म ग्रन्थोंकी बहुत बड़ी सेवा है। वास्तविक बात यह है कि कई पुरुष संसारका सर्वथा त्याग नहीं कर सकते हैं और धन, स्त्री, पुत्रादिपर बहुत ममत्व रखते हैं। दुनियाके अनुभवियोंके लिये इसमें कोई नवीनता नहीं है। ममत्व कितने हद तक कार्य करता है इसका चित्रण करते हुए एक विद्वानने कहा है कि यदि मौतके गट्ठे बांधे जाते हो और गट्ठेवाला दो रुपया मांगता हो तो यह जीव उसके साथ खींचातानी करके भावको कम करनेका प्रयत्न करे, और रुपया सवा रुपया देनेकी बातचीत करे और जितना कम हो सके उतना खर्च कर शेष बालबच्चोंके लिये छोड़जाना चाहे। ऐसी हमारी स्थिति है और हम स्वयं इसका सदैव अनुभव करते हैं इसलिये किस प्रकार इस धनका स्वरूप समझमें आसके, किस प्रकार यह ममत्व कम हो, किस प्रकार यह आसक्ति घटे, और किस प्रकार आत्माके सत्य स्वरूपको प्रगट करनेकी इच्छा हो इसके साधनोंको ढूंढनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। वर्तमानकालमें यह आवश्यकता हमारे समक्ष बड़े आकारे स्वरूपमें आ पड़ी है क्योंकि साध्यबिन्दु धार्मिक तत्त्वचिन्तवनका रहना अत्यन्त कठिन है। जीवनके सख्त कलह और भावनाओंका वैचित्र्यपन ये इस कालके विपरीत पड़नेवाले लक्षण हैं। हमारी [illegible] कुछ आधिभौतिक, कुछ राजकीय, कुछ इन्द्रियार्थरत और कुछ वेढंगी होजाती है ऐसी मुझोंकी धारणा है, व्यसन है और [illegible] अपेक्षासे इनसे हतोत्साह भी होजाते हैं ऐसे समयमें अध्यात्म ग्रन्थ अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होते हैं।

हमारी भावनाकी (अथवा लक्ष्यार्थ की) स्पष्टता नहीं है। इस हकीकतको अधिक स्पष्टतासे समझने की आवश्यकता है।

लक्ष्य स्पष्टताकी आवश्यकता.

भावना (Ideal) को प्रत्येक मनुष्यको स्पष्ट रखना चाहिये। जैसी भावना रक्खी जाती है वैसा बनने का सर्व प्राणियोंका उद्देश्य होता है और इसमें जितने अंश तक अस्थिरपन अथवा व्याप-

रया हो जाती है उसने अश तक यह गोते खाया करता है। इस जीवनका क्या हेतु है ? उत्पन्न होना, मिट्टीमें खेल-कूद करना, स्तनपान करना, अभ्यास करना, धनोपार्जन करना, शादी विवाह करना, मौजशौक करना, और मर जाना यह तो एक सामान्य बात हुई। जीवनका महान् हेतु क्या है ? इसका विचार कर तदनुसार भावना-भावनामूर्ति निर्मित करनी चाहिये। इस मूर्तिके ? निर्माण होजानेपर उस मूर्तिके वर्तमानुसार अनुकरण होता है। इसप्रकार का विचार इस जमानेमें नहीं होता है अथवा बहुत कम होता है इसलिये जागृति पैदा करने की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसे समयमें इसप्रकारके ग्रन्थ बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। ऐसे ग्रन्थ जीवको आक्षेप कर सूक्ष्मतासे भाषण कर, समझा कर अनेक प्रकारका सत्य उपदेश करते हैं ऐसा उपदेश बहुत उत्तमतासे होता हो तो सत्संग से प्राप्त हो सकता है। जो वस्तुस्वरूपको पहचान कर उससे विराम पाकर आत्मिक उन्नति करनेमें ही जीवन व्यतीत करते हों उनके निकट रहकर सत्य स्वरूप को समझने की अत्यन्त आवश्यकता है। सत्संगकी अत्यन्त महिमा है। जिनमें गुण उत्पन्न हो गया हो वे ही गुणका वास्तविक बोध करा सकते हैं और सच्चा प्रभाव भी उन्हींके बोधका पड़ सकता है। दृष्टान्तरूप जिन प्राणियोंको समता गुण प्राप्त हुआ हो और जिन्होंने उस गुणका विकास किया हो उनके संसर्गमें यदि आध घड़ी मात्र भी रहनेका अवसर प्राप्त हो जाय तो उस समय अन्तर आत्मा जिस अनिर्वचनीय सुखका अनुभव करता है और उसे जो आत्मिक आनंद होता है वह अतीव है, महान् है और अवर्णनीय है। ऐसे महात्माओंकी यदि निरन्तर सेवा करनेका सुअवसर प्राप्त हो जाय तो अल्पकालमें ही कार्यकी सिद्धि हो सकती है परन्तु इस सम्बन्ध में इस जमाने में दो प्रकार की बाधायें आती है। ऐसे महात्मा बहुत कम हैं और उनसे लाभ उठानेवालों का अवकाश भी बहुत थोड़ा मिलता है। बाह्य दिखावका कार्य अधिक बढ गया है कि सत्य महात्मा कौन है ?, और कहां है ? ऐसे अत्यन्त विकट प्रश्न आ खड़े होते हैं। इनके निर्णय करनेके लिये जिनके पास अवकाश और इच्छा होगी वे तो उनको कदाच ढूंढते होंगे और उनसे लाभ उठाते होंगे, परन्तु बहुधा इस समयमें

कुछ नहीं हो सकता है। इसलिये व्यवसायी पुरुषों के लिये पुस्तकसंग भी सत्संग जितना ही लाभदायक है; यदि वे पढ़नेके पश्चात् उस पर उचित मनन किया करें। प्राचीन कालमें प्राकृतमें वाचनशक्ति अल्प थी और इसके साधन भी बहुत कम थे, इस, लिये पुस्तकसंग होना अति कठिन था, परन्तु आधुनिक कालमें प्राथमिक शिक्षाके विशेष प्रचार और मुद्रणकलाके कारण विशेष सुविधा होने मात्रसे ही ऐसे ग्रन्थोंके लिखने की आवश्यकता हुई हो इतना ही नहीं अपितु ये आत्मिक विषय की एक बड़ी भारी कमीको पूरा करनेका साधन है। ऊपर लिखे अनुसार ऐसे ग्रन्थोंकी आवश्यकता सिद्ध करने के पश्चात् अब वैराग्य और अध्यात्म के विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

वैराग्य।

वैराग्यके विषय का मुख्य उद्देश स्ववस्तु पहचान करानेका. उसपर प्रेम उत्पन्न कराने का और पर वस्तु क्या है उसको

विचार-कर्तव्य.

ढूढ़कर उसका सम्बन्ध कम करा के धीरे धीरे उसका विच्छेदन कराने का है। कौनसी वस्तु अपनी है और कौनसी पराई है, इस सम्बन्धमें बहुत विचार करनेकी आवश्यकता है। हम प्रचलित व्यवहाररूपसे, शरीर, धन अथवा स्त्री पुत्रादिक को अपना मानते हैं। इन [illegible] वास्तविक स्वरुप कैसा है? उसमें और इस [illegible] क्या सम्बन्ध हैं? कितना हैं? कब तक का है? किन [illegible] उत्पन्न हुआ है? ये सब विचार अध्यात्मके ग्रन्थों में वैराग्य उत्पन्न कराने के हेतु से बहुत मुख्यतया [illegible] भी बारंबार चर्चित किये हुए होते हैं। वैराग्यका [illegible] ही उदासीनता है। सांसारिक सर्व वस्तुओं और सम्बन्धियों की वास्तविक स्वरूप बतलाकर उनको 'पर' रूपसे देखा जाता है। वे हमारे नहीं हैं, हम उनके नहीं हैं, उनके साथका सम्बन्ध आकस्मिक है, अल्पकाल तक रहनेवाला है। इसप्रकार परवस्तुपर उदासिनता उत्पन्न की जाती है। अब इस सबमें वास्तविक क्या हैं यह विचारने योग्य है। हजारों रुपये व्यय करके निर्मित किया हुआ महल भी नष्ट होजाता है, नष्ट होने की स्थिति को पहुंचने के पूर्व ही उसका इस संसारसे कुंच कर जाता है, यह कहां जाता है, यह कोई भी

नहीं आन सकता है। परम प्रिय मित्र, प्राणाधिक पत्नी, प्राणोंसे प्रिय पुत्र, पुत्रप्रेमी पिता और वात्सल्य भरपुर माता जब इस संसारसे विदा होकर चले जाते हैं तब जानेके पश्चात् वे उनके मित्र, पति, पिता अथवा पुत्रकी क्या दशा है इसको देखनेको भी नहीं आते हैं। यह बात जीवोंके स्नेह सम्बन्धी विचित्रता और अस्थिरताकी द्योतक है। इसप्रकारका वैराग्यभाव उत्पन्न करनेका ही सम्पूर्ण ग्रन्थका मुख्य उद्देश्य होने से इस पर विशेष विवेचन करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। यहां एक मात्र यही बतलाना है कि वैराग्यका विषय परवस्तुओंके साथका सम्बन्ध उसक यथास्थित स्वरूपमें बता कर उसपर होनेवाले झूठे ममत्व को त्याग करनेकी शिक्षा देता है। इस ममत्व त्याग करनेका कोई अकारण नहीं कहा जाता है, सकारण कहा जाता है। सच्ची बात तो यह है कि इस जीवको संसारअटवीमें भ्रमण करानेवाला ममत्वभाव ही है। जिनको यह जीव अपना समझता है, जिन वस्तुओंको अपनी समझता है, वे वस्तुतः वैसी नहीं हैं। उनका और इस जीवका सम्बन्ध अनित्य है। निकटसे निकट स्नेही चले जाते हैं, प्रियमें प्रिय स्त्री दूर भग जाती है, प्रियसे प्रिय वस्तु छिन्नभिन्न हो जाती है, टूट जाती है, नष्ट हो जाती है-इस सबका क्या कारण है? जो अपनी वस्तु होती है वह किसी भी दिन पराई न होनी चाहिये। इस बातमें कोई मतभेद न होना चाहिये परन्तु फिर भी हम स्वयं सदैव देखते हैं कि हमारी अपनी मानी हुई वस्तुएं पराई हो जाती हैं और सदैवके लिये कष्टप्रद सिद्ध होती हैं। अब अपनी कौनसी है इसके समझनेका प्रयास करते हुए प्रथम तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिन वस्तुओंको अपनी समझी जाती है वे वास्तवमें हमारी नहीं, और दूसरा यह प्रतीत होता है कि अपनी वस्तु कौनसी है इसको यह जीव अभी तक बराबर नहीं समझता है। यदि इस स्वपरको समझ लिया जाय तो अत्यन्त लाभ होनेकी सम्भावना है, क्योंकि अपना क्या है और क्या नहीं यह यदि स्पष्टतया समझमें आजाय तो अपना जो है उसको प्रगट करने-प्रकाशित करनेके लिये प्रयास किया जाय, जिसके किये जानेसे साध्य स्पष्ट होजाय और साध्यके स्पष्ट होने

पर प्रयास भी योग्य रीतिसे योग्य दिशामें पूर्ण जोशके साथ किया जा सके। आजकल साध्यरहित बहुधा व्यर्थ प्रयास किया जाता है और उसके परिणामस्वरूप ये वस्तुएं विशेषतया प्राप्त की जाती हैं; जोकि हमारी नहीं हैं। अपनी और पराई वस्तुके समझनेके ज्ञानको जैन शास्त्रोंमें भेदज्ञान कहा गया है। इस भेदज्ञानको समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है तथा समझकर तदनुसार यत्न करनेकी भी उतनी ही आवश्यकता है। केवल समझने मात्रसे बहुत लाभ नहीं होता है, परन्तु समझकर उसे कार्यरूपमें प्रणित करनेकी -ज्ञानको व्यवहारमें रखनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। इस ज्ञान-क्रियासे साध्यकी प्राप्ति होती है। यह साध्य क्या है? इसके विचारनेसे पहिले इतना जानलेना अत्यन्त आवश्यक है कि वैराग्यका विषय उक्त भेदज्ञानका कारण और कार्य्य दोनों ही है। जब वैराग्यके विषयमें प्रवेश किया जाता है तब उससे जीवका स्वरूप, स्पर्शेन्द्रियोंका स्वरूप, प्रिय पदार्थों, गृह, आभूषण, सामान (Furniture) का स्वरूप और उन सबके साथ, जीवका सम्बन्ध आदि समझमें आजाता है, और इसके समझमें आजानेपर भेदज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा भेदज्ञानके प्राप्त हो जानेपर सर्व पदार्थोंपरसे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

जिस जीवको वस्तुस्वरूप समझनेसे भेदज्ञान प्राप्त होता है उसको एक महान् तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, उसका व्यवहार एक बहुत उत्तम श्रेणीका होजाता है, वह व्यर्थ सांसारिक कार्य्योंमें नहीं फँसता है, यदि फँसना है तो उनमें बहुत ममत्व नहीं रखता है, परन्तु निरन्तर उनसे मुक्त होनेकी अभिलाषा रखता है। संक्षेपमें कहा जाय तो वेदान्ती जिसे "साक्षीभाव" कहते हैं इसीकी रखकर अति उदात्त स्थितिको प्राप्त करता है। ऐसी स्थितिको प्राप्त करलेने पश्चात् कितने ही संयोगके वशीभूत कदाच उसे व्यवहारमें रहना पड़े फिर भी उसके अन्तःकरणमें ऐसे मिथ्याव्यवहारोंपर आसक्ति नहीं होती है, प्रेम नहीं होता है, एकाग्रता नहीं होती है। वह सर्व कार्योंको ऊपर ऊपरसे करता है, परन्तु किसी भी कार्यको अपना समझ कर नहीं करता है, और जिसप्रकार कारागृहमें रहनेवाला बन्दी उसमेंसे छूटनेका प्रयत्न करता है उसी प्रकार यह संसाररूपी

साक्षीभाव.

कारागृहरूपिसे छुटकारा पाकर आत्मिक भूमिमें प्रवास करनेकी अभिलाषा रखता है और जबतक वह भूमि प्राप्त न हो तब तक अविश्रान्तरूपसे पुरुषार्थ किया करता है।

यह साध्य क्या है यह भी अब देख लेना चाहिये। एक बातका निर्णय है कि सर्व प्राणियोंको सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। सुखके लिये जितना प्रयास करना चाहिये उतना यह जीव करता है और दुःखसे छुटकारा पानेके लिये भी भरसक प्रयत्न करता है। जो विशेष समझदार न हो वे भी चाहे जितने अपढ़ क्यों न हो परन्तु सुखको साध्य मानते हैं। साध्य सर्व प्राणियोंका एक ही है, केवल मात्र उसको पहचाननेके लिये ज्ञानकी कसौटीको आवश्यकता है। कितने ही प्राणी स्त्रीसौन्दर्यके उपभोगमें, कितने ही पुत्रके प्रेममें, कितने ही लक्ष्मीके भण्डारमें, कितने ही भव्य भवनों में, कितने ही रम्य बागबगीचोंमें, कितने ही सुन्दर पदार्थों (Furniture) में और कितने ही मनोहर गाड़ीघोड़ोंमें सुखकी कल्पना करते हैं, कितने ही परोपकारके कायकर, देशसेवा, जातिसेवा, मनुष्यसेवा तथा प्राणीसेवा करके अथवा उनके निमित्त धनव्यय करके उसमें सुख मानते हैं, कितने ही प्रेमके लिये अपने आपका भोग कर देते हैं, कितने ही अपने आपको तप, जप, ध्यानमें लगा कर संतोषी समझते हैं, कितने हो पठनपाठन मनन, निदिध्यासनमें समय व्यतीत कर जब उन विषयोंमें रमण करते हैं तब अत्यन्त सुखका अनुभव करते, हैं कितने ही प्राप्त हुये इन्द्रियोंके भोगोंको अस्वीकार कर उनके त्यागमें सुख मानते हैं—इसप्रकार भिन्न भिन्न बातोंमें सुख माना जाता है। इस सुखके वास्तविक स्वरूपको यह जीव नहीं समझता है इस लिये ऊपर लिखे अनुसार कितने ही सच्ची बातोंमें और कितने ही झूठी बातोंमें सुख मानते हैं। अध्यात्मग्रन्थ येमे प्राणियोंको उपदेश करते हैं कि तुम सुखप्राप्तिकी अभिलाषा करनेसे पहिले सच्चा सुख क्या है और यह कहाँ मिल सकता है, इसका विचार करो, अभ्यास करो, मनन करो, प्रयत्न साध्य निश्चय करके फिर आगे बढ़नेका प्रयत्न करो। बहुधा देखा जाता है कि सत्य बातके अभावमें यह प्राणी तात्कालिक हुए सुखमें सन्तोष मानकर परि

साध्यका स्वरूप

णाममें उससे होनेवाले आगामिकालकी और दृष्टि नहीं जान सकता है । अपितु सुख दुःख कर्मोंका उदय है और परभव भी दुःख समा-पिका स्थान है । जब कि वास्तविकतया तो इसमें भी सामान्यकी कमी हो है—इस बातका पता स्वर्गादि सुखका पूर्ण संविधि समझ लेनेपर चलता है ।

मोक्ष एक ऐसा सुख है कि जिस सुखके पश्चात् दुःख कभी भी आही नहीं सकता है, अपितु यह पौद्गलिक नहीं परन्तु आत्मिक आनन्द निरन्तर निवास करता है । इस सके ध्रुवाधिपारदी. स्थितिमें न तो यहां के स्वर्गादि पौद्गलिक सुख कल्पित सुख ही है, न संसारी प्राणीके सदृश दुःख ही है । यह मोक्ष हमारा परम साध्यबिन्दु होना चाहिये, तथा इसकी प्राप्तिके लिये चाहे जितना भी प्रयास क्यों न करना पड़े अवश्य करना चाहिये । इसके कारण बहुत विचारने योग्य हैं । हमको शुभ कार्य करने चाहिये । प्रश्न होगा दान, ध्यान, क्रिया, तप आदि करनेका क्या हेतु है ? उत्तर मिलेगा कि आत्महित । फिर प्रश्न होगा कि आत्महित करनेका क्या कारण है ? इस प्रकार प्रश्नोत्तर होते होते अन्तमें इन सबका हेतु मोक्षप्राप्ति होगा ! सबका अन्तिम साध्य यह ही होता है कि आत्मा सर्व व्यवहारिक उपाधियोंसे मुक्त होकर स्थिरताको प्राप्त करे अतः सब इसीके लिये प्रयास करते हैं और करना भी चाहिये । तात्कालिक सुखमें आनन्दकी कल्पना करनेवाला प्राणी न मोक्षसुखका अनुभव समझ सकता है, न कल्पना करता है और न उसकी प्राप्तिके लिये लालायित ही हो सकता है । इसलिये ग्रन्थकार उस सुखके स्वरूपको बतलानेका प्रयत्न करते हैं । वे सर्व प्रथम समताका स्वरूप बतला कर जीवको समझाते हैं कि स्वर्गसुख और मोक्षसुख तो बहुत दूर रहे हैं, परन्तु तुझे यदि उनकी बानगी (Sample) चखनी हो तो समतासुखमें चखले । यह ग्रन्थका विषय वस्तुस्वरूप और प्राणियोंका उत्तरदायित्व समझाकर इसीप्रकार इस जीवके आचार, व्यवहार, वर्तन आदि बातें अत्यन्त गूढ आशयसे और स्पष्टतया बतलाते हैं । उस विषयके अन्तर्गत कौन कौनसे मुख्य विषयोंका समावेश होता है उनको पढ़िये ।

पुत्र, स्त्री, लक्ष्मी और शरीरका प्रेम क्या वस्तु है और

यह किसका और कैसा हानिलाभकर्त्ता है यह वैराग्यके विषयमें अत्यन्त उत्तमरूपसे बतलाया हुआ होता है। इसके आंतरिक मन और कर्मग्रहणका सम्बन्ध, चित्त दमनकी आवश्यकता, उससे होनेवाला महान् लाभ कषायोंका स्वरूप, विषयप्रमाद आदिकी रचना आदि अनेक विषयोंका वर्णन किया जाता है। इन सबका एक ही हेतु है और वह यह है कि वस्तुस्वरूपको ठीक ठीक समझ कर स्ववस्तुपर प्रेमभाव रखना और उसको प्रगट करनेका प्रयास करना तथा साथही साथ परवस्तुका स्वरूप समझकर उसका हो सके उतने प्रमाण में त्याग करना और न होसके उसके लिये विचार कर योग्य प्रयास करना और शनैःशनैः उसका भी परित्याग करना। वैराग्य के विषयका यह हेतु है, यह उसका लक्षण है, और यह उसका अन्तिम साध्य है। इस विषयकी पुष्टि करनेमें और अन्तिम साध्य प्राप्त करनेकी शिक्षा देते समय दूसरी अनेक प्रकारकी व्यवहारीक और धार्मिक शिक्षायें अपने आप आजाती हैं। वैराग्यका विषय इतना विस्तृत होता है कि इसका सम्बन्ध हमारे जीवनके छोटे बड़े सर्व विषयोंके साथ होता है। इसी कारण इस विषयकी अत्यन्त विशालता है। एक बात बहुत ध्यान देने योग्य है और वह अनुभवहीसे समझमें आ सकती है। वह यह है कि वैराग्यके किसी भी विषयपर विचार करते समय अन्तरआत्माको जो आल्हाद होता है वह अपूर्व ही है और उससे यह जान पड़ता है कि आत्मा की स्वाभाविक स्थिति तो यह ही है। एकमात्र प्रकृति सम्बन्धके कारण यह जीव दूसरी स्थितियोंका अनुभव करता है और कभी कभी परवस्तुके सम्बन्धमें आनंद मानता है। हम एक बातका विचार करते हुए दुविधामें पड़े हों और उस बातका निर्णय हो जाय, एक गणितका कठिन प्रश्न निकालते हो और उसका उत्तर मिलजाय, एक पुस्तक पढ़ते हो और उसमेंसे किसी महान् सत्यकी प्राप्ति हो जाय अथवा आजाये उस समय बड़ा आनंद होता है और सुखकी प्राप्ति होती है वह स्थिति ठीक ठीक समझने योग्य है, इसको आत्मिक सन्तोष (Consceious satisfaction) कहते हैं। इस स्थितिको प्राप्त करना वैराग्यके विषयका साध्य है और सदैवके लिये (अविनाशी दशा) प्राप्त करना यह परम साध्य है। इस कारणके लिये

प्रेमाविभाव पर विचार.

वैराग्यके विषयकी अत्यन्त महत्ता है। अध्यात्मशास्त्रका उद्देश वैराग्य उत्पन्न करने का ही है। सांसारिक भावोंकी ओर जो इस जीवको वैराग्य होना है वह आत्मिक जागृतिके साथही होता है इसलिये अध्यात्मग्रन्थ वैराग्यके विषयकी पुष्टि करते हैं। इससे आपको अच्छीतरहसे समझमें आगया होगा कि वैराग्यके विषयमें और अध्यात्मके विषयमें परस्पर क्या सम्बन्ध है। इन दोनोंमें सम्बन्ध है ऐसा कहनेके स्थानमें यह दोनों एक दूसरेके अंग है ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा। आत्मा सम्बन्धि विचार करनेवाले अध्यात्म-शास्त्र आत्माको अनादि सम्बन्धसे हुए कुटे प्रेम और ममत्वसे दूर हटाकर उनकी प्रीतिको तोड़नेका उपदेश करते हैं जिसको अन्य शब्दोंमें कहा जाय तो वैराग्य है।

इसके साथ साथ एक बात पर और विचार करनेकी आवश्यकता है। इस जमानेमें वैराग्यके विषयके उपदेशकी आवश्यकता है, किन्तु इस बातका ध्यान रखते कि आडंबरकी विपुलता वैराग्य-अध्यात्मके ढोंगी भी कितने हो होते हैं। मुँहसे 'हे चेतन! हे चेतन!' करना और जीवनके किसी भी भागमें व्यवस्था नहीं, समानता नहीं, विवेक नहीं और व्यवहारशुद्धि नहीं, ऐसा उनका स्वरूप अत्यन्त धिक्कारने योग्य है। अध्यात्मका मुख्य स्वरूप व्यवहारमें प्रगट होना चाहिये। आत्मा, परभव, वैराग्य आदिकी बड़ी बड़ी बातें बनाना सहज है जैनधर्मका सामान्य स्वरूप समझनेवाला भी ऐसी बातें कर सकता है; परन्तु ऐसी बातों मात्रसे कुछ लाभ नहीं हो सकता है अपितु बहुधा हानि होनेकी संभावना है। हानि इसलिये होती है कि बात करनेवाले बातें करनेमें ही सम्पूर्णता समझते हैं; इससे अध्यात्म ज्ञानसे होनेवाली आत्मिक उन्नति नहीं है किन्तु बहुधा उसके स्थानमें दंभ-माया-कपट-बाह्य देखाव आदि महा दुर्गुण प्रवेश होते हैं। जो आत्मिक बातें इसप्रकार निर्जीव रूपसे ग्रहण करते हैं और उनको प्रवेश होने देते हैं, उनका विकाश बहुत थोड़ा और होता है और बहुधा अपकीर्ति होती है। अध्यात्मि होनेका आडम्बर करनेके कई कारण हैं। संसारमें कई पुरुष प्राकृत व्यवहारमें होकर मध्यम प्रवाहपर या कनिष्ट प्रवाह पर ही बहते रहते हैं। फिर भी जनस्वभावकी यह एक विशेषता है कि आ-

त्मिक गुण प्राप्त करनेवाले अथवा प्रगट करनेकी बातें करनेवालेको बहुत आदरसत्कार करते हैं, उसकी ओर पूज्यबुद्धिसे देखते हैं और उसके सम्बन्धमें उच्च विशेषणोंसे बात करते हैं। विना मूल्य मिलनेवाली ऐसी स्थिति प्राप्त करनेकी अभिलाषा कोईवार इरादा-पूर्वक उत्पन्न होती है और कईवार अनजानरूपसे ऐसा आडम्बर करनेकी वृत्ति उत्पन्न होती है इन दोनों प्रकारके आविर्भावोंसे महान् दुःख प्राप्त होते हैं और आत्मिक अवनति होती है।

भगत ' पर विवेचन

वैराग्यके आडम्बर करनेकी अभिलाषा हो तब यह विचार करना चाहिये कि दंभीकी क्या दशा होती है? इन दंभियोंसे अन्य प्राणियोंको भी बहुत सचेत रहना चाहिये। ऐसे प्राणी समस्त समाजकी आत्मिक उन्नतिको पीछे हटा देते हैं, कारण कि लोगोंको उनसे वैराग्यकी ओर अरुचि हो जाती है। ऐसे प्राणियोंको लोग ' भगत ' का उपनाम देते हैं। अज्ञातरूपसे चाहे जो भी कारण क्यों न हो परन्तु प्रगटरूपसे उक्त शब्द जो अत्यन्त तिरस्कारका पात्र हुआ है वह केवल अध्यात्मका ढोंग करनेवालोंके ही कारणसे है। ऐसे ढोंगियों को ' शुष्क अध्यात्मी ' कहते हैं। एक विद्वान् महात्माके साथ अध्यात्म सम्बन्धी बात करते समय उन्होंने इसकी हंसी उड़ाते हुए कहा था कि " कलावध्यात्मिनो भान्ति फाल्गुने बालका यथा। " ' कलियुगमें अध्यात्मी पुरुष फाल्गुन महिनेके बालकोंके समान प्रतीत होते हैं। ' ऐसा कहनेका यह तात्पर्य है कि जैसे फाल्गुन महिनेमें छोटे छोटे बालक खेल-कूदमें विना सोचे समझे अश्लिल शब्दोंका उच्चारण करते हैं उसी प्रकार कलियुगमें अध्यात्मी पुरुष जो कुछ कहते हैं वह विना सोचे विचार कहा हुआ प्रतीत होता है। अन्य प्रकारसे देखा जाय तो यद्यपि ये आयुमें बड़े अवश्य हैं परन्तु अध्यात्म विषयमें तो उनके वचनोंका विषय एक बालकके समान ही है। इस बातके रहस्यको ठीक ठीक समझ लेनेकी आवश्यकता है। सारांशमें सच्ची बात तो यह है कि इस युगमें जो अध्यात्मी होनेका आडम्बर करते हैं उनमें से वस्तुतः सब अध्यात्मी नहीं होते हैं।

ऐसी दशामें यह एक बड़ा विकट प्रश्न हमारे सामने आता है कि हम सच्चे अध्यात्मी तथा आडम्बरीको क्योंकर खोज कर

सकते हैं; परन्तु इससे हमको विह्वल न होजाना चाहिये इसका एक बहुत ही सरल उपाय है। कोई पुरुष अध्यात्मकी चाहे जितनी भी बातें क्यों न करता हो परन्तु उसकी बातों मात्रसे उसको अध्यात्मी या वैरागी न समझलें। उसका व्यवहार कैसा है, उसका वर्तन कैसा है, उसकी समता कैसी है-इसपर बारीकीसे गुप्तरूपसे दृष्टि रक्खें। युक्तिसे व्यवहार चलानेवाले अन्तरंगमें चाहे जितना क्रोध क्यों न हो परन्तु अपनी मुखमुद्रापर लेशमात्र भी लालाईको दृष्टिगोचर नहीं होने देते हैं। परन्तु मुख्य प्रसंगोंमें अध्यात्मकी बातें करनेवालेकी वृत्ति कैसी रहती है, इन्द्रियोंके विषयोंकी ओर उसकी रुचि कैसी होती है, विकट संकटोंके उपस्थित होनेपर मनकी स्थिरता कैसी होती है और इनके भी अतिरिक्त यदि वह गृहस्थी हो तो पैसे सम्बन्धी उसका व्यवहार नीतिमय, प्रामाणिक और सत्यपरायण है या नहीं इनपर बहुधा अध्यात्मीपनका आधार होता है। इसकी जांच करने; देखभाल करने और उससे अनुमान करनेमें अधिक समयकी आवश्यकता नहीं होती है। इसीप्रकार साधुके सम्बन्धमें भी उसकी पुस्तकादिपर ममता, शिष्यवृद्धिकी योग्यता अयोग्यता सम्बन्धी पुरी जांच किये बिना ही उनको ग्रहण करनेकी अनिवार्य इच्छा, गृहस्थोंके सांसारिक कार्य्योंमें प्रवेश आदि अनेक प्रकारसे परीक्षा की जा सकती है।

उपरोक्त विषयमें दो बातों पर विशेषतया ध्यान देनेकी आवश्यकता है। प्रथम तो स्वयं शुष्क अध्यात्मी न बनें और दूसरा शुष्क अध्यात्मियोंकी संगति कभी न करें। इन दोनों बातों पर मुख्यतया धैर्य और दीर्घदृष्टिसे विचार करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। संसारका ऐसा नियम है कि ओछे दुर्गुणोंमें फँसा हुआ प्राणी शीघ्रतया सहजहीमें उनसे छुटकारा नहीं पा सकता है और अध्यात्मी होना यह एक अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है; अतएव होनेवाले और इस ओर झुकनेवाले दोनोंको बहुत सचेत होनेकी आवश्यकता है। वैराग्यके विषयका इतना भूमिकामें निरूपण करके अब ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता तथा उनके समयपर प्रस्ताव किया जायगा।

अमुक साम्य हृदयमें होनेसे विशेष हेतुसे विस्तारपूर्वक भी रचना वैराग्यका विषय, अधिकारी, आवश्यकता और उसके तत्त्वों-पर प्रास्ताविक उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थके

'अध्यात्म' उपोद्घातको लिखते हुए प्रथम 'अध्यात्मकल्पद्रुम' ऐसा इस ग्रन्थका नाम क्यों रक्खा गया है और इसका क्या अर्थ है इसपर विचार करना पड़ता है। इस ग्रन्थके कौन कौनसे विषय हैं और वैराग्यके विषयकी वे किस युक्तिसे पुष्टि करते हैं इसका विचार कर अन्तमें ग्रन्थकर्त्ता, उनका समय, उस समयकी मुनियोंकी स्थिति, ग्रन्थकी शैली, भाषा, उद्देश आदि विषयोंके साथ साथ ग्रन्थकर्त्ता द्वारा रचित और बतलाये हुए अन्य ग्रन्थोंकी सूक्ष्म परन्तु सारांशमें आलोचना की जायगी। अध्यात्म शब्दका अर्थ हमारे उपरोक्त पदके अनुसार आत्मा सम्बन्धी विवेचन करनेवाला विषय ऐसा होता है। 'अध्यात्मोपनिषद्' ग्रन्थमें श्रीमान् यशोविजयजी महाराज अध्यात्म शब्दका यौगिक और रूढ़ दोनों अर्थ करते हैं। वे लिखते हैं कि—

आत्मानमधिकृत्य स्याद्यः पञ्चाचारचारिमा ।
शब्दयोगार्थनिपुणास्तदध्यात्मं प्रचक्षते ॥ १ ॥
रूढ्यर्थनिपुणास्त्वाहुश्चित्तं मैत्र्यादिवासितम् ।
अध्यात्मं निर्मलं बाह्यव्यवहारोपबृंहितम् ॥ २ ॥

'अध्यात्म शब्दका व्युत्पत्तिके विचारसे अर्थ किया जाय तो आत्माको उद्देश कर पंचाचार(ज्ञानाचार, दर्शनाचार चारित्रा-चार, तपाचार और वीर्याचार)में व्यवहार-वर्तन करना होता है, और इसका रूढ़ अर्थ किया जाय तो बाह्य व्यवहारसे महत्ता प्राप्त किये हुए मनका मैत्री, प्रमोद आदि भावनासे वासित करना होता है।' ये दोनों अर्थ बहुत विचारने योग्य हैं। शब्दार्थ तो सहज ही में हमारे समझमें आ सकता है, परन्तु रूढ़ार्थ समझने की बहुत आवश्यकता है। बाह्य-व्यवहार-सांसारिक व्यवहार अथवा धार्मिक व्यवहारका छोड़नेका यहां उद्देश नहीं है, परन्तु उस व्यवहारके स्वरूपको समझ कर उससे मनको आगे बढ़ाना, इससे

मनको विशाल बनाना और कुछ उन्नति करना चाहिये। इस प्रकार उन्नत किया हुआ मन सर्व जीवोंकी ओर प्रेमभाव लाकर उसमें आनन्दका उपभोग करता है और इस प्रकारके अध्यात्मको श्रीयुत उपाध्यायजी निर्मल कहते हैं। वे ही महात्मा अध्यात्मसारके द्वितीय अधिकारमें कहते हैं कि—" गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या। प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्मं जगुर्जिनाः ॥१॥" जिस महात्माका मोह नष्ट हो गया हो और जो आत्माका आश्रय लेकर शुद्ध क्रिया करके अन्तरात्मामें प्रवृत हो जाय उनकी क्रियाका नाम तीर्थंकर महाराज अध्यात्म बतलाते हैं। अध्यात्मके शब्दार्थको ग्रन्थकर्त्ताने कितनी हद तक योग्य सिद्ध कर बतलाया है यह हम और आगे पढ़ेंगे।

जैनशास्त्रकार प्रत्येक वस्तुके चार निक्षेप मानते हैं। ये किसी भी वस्तुको भिन्न भिन्न दृष्टिसे देखनेके भिन्न भिन्न द्वार हैं।

चार निक्षेपसे अध्यात्म

अध्यात्मके भी उसी प्रकार चार निक्षेप हो सकते हैं। नाम अध्यात्म, स्थापना अध्यात्म, द्रव्य अध्यात्म और भाव अध्यात्म। केवल मात्र 'अध्यात्म' शब्द उच्चारण करना किन्तु उसका अर्थ न समझना, यह नाम अध्यात्म कहलाता है। इसी प्रकार अध्यात्मका आडम्बर करनेवाले शुद्ध वर्तनरहित प्राणी नाम अध्यात्मी कहलाते हैं। आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करनेवालेकी मूर्ति स्थापित करना अथवा अध्यात्मका अक्षरचिन्ह रोपन करना स्थापना अध्यात्म कहलाता है। अध्यात्म उत्पन्न करनेवाले उपदेश अथवा द्रव्य या अन्य कारणोंको द्रव्य अध्यात्म कहते हैं, अथवा रेचक, पूरक, कुंभकादि करके बाह्य वृत्तिसे ऐसा ध्यान बतलावे कि जिससे लोगोंको ऐसा जान पड़े मानो इसने अन्तरवृत्तिसे आत्माका स्वरूप प्रत्यक्ष कर लिया है, परन्तु स्वयं तो कोराका कोरा ही होता है। यह भी द्रव्य अध्यात्म कहलाता है और निज स्वरूपसहित क्रियाकी प्रवृति होना भाव अध्यात्म कहलाता है। ये चार निक्षेप मुख्यतया विचारने योग्य हैं। इनमें से प्रथम तीन परित्याग करने योग्य हैं और उपरोक्त श्लोकमें जैसा आचरण बतानेको कहा गया है वैसा ही बनानेका प्रयत्न करना लाभप्रद है। इस स्थिति-

को भाव अध्यात्म कहा जाता है। स्थापना और द्रव्य अध्यात्म भी साधनके रूपमें उपयोगी है परन्तु ऐसा न कर बैठे कि साधनको साध्य ही मानने लग जाय। साधनको साध्य माननेकी भूल प्राय: देखी जाती है कि जिससे साधनमें ही जीवन पूर्ण हो जाता है। दृष्टान्तके रूपमें व्याकरण अभ्यासका साधनमात्र है, साध्य भाषाज्ञान अथवा धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंको पढ़ना है, फिर भी कई प्राणी व्याकरणके अभ्यासमें ही कई वर्ष अथवा सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देते हैं। इसप्रकार अनेकों प्राणी साध्य को बिना विचारे ही अथवा उसे निरन्तर दृष्टि में रखे बिना ही साधनधर्मोंमें ही अपने सम्पूर्ण जीवनकी आहुति दे देते हैं। विशेषतया इस बातको अवश्य लक्ष्यमें रखना चाहिये कि यदि साधनधर्मोंमें जीवन स्वाहा भी होजाय तो कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि पुनर्भव माननेवालेको तो उसका लाभ अन्य भवमें आगे भी प्राप्त हो सकता है, किन्तु कहनेका तात्पर्य यह है कि साध्य धर्मपर जो बहुत कम ध्यान दिया जाता है उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य होना चाहिये। श्री आनन्दघनजी महाराज अध्यात्मके चार निक्षेपोंका अत्यन्त उपयुक्त विवेचन श्री श्रेयांसनाथजीके स्तवनमें करते हैं। उसमें वे उपरोक्त चार निक्षेपोंके नाम देनेसे पहिले कहते हैं कि—

निज स्वरूप जे किरिया साधे, तेह अध्यातम लहीये रे।
जे किरिया करी चौगति साधे, ते न अध्यातम कहीये रे॥

अध्यात्म उसीका नाम समझे कि जिससे उपरोक्त अध्यात्म भाव सिद्ध हो, निज स्वरूपमें रमणता हो और निजस्वरूपमें स्थिरता हो, अन्यथा जिस क्रियासे चार गतियोंमेंसे कोई शुभ या अशुभ गतिकी सिद्धि हो वह अध्यात्म नहीं कहा जा सकता है। यदि हम शुभ क्रियायें करें तो उससे देव अथवा मनुष्यगतिकी प्राप्ति होती है, परन्तु इस क्रियाको शास्त्रकार महत्ता नहीं देते हैं। शुभ कर्मबंध करानेवाली अथवा स्वस्वरूपरमणता कराकर निर्जरा करानेवाली ऐसी दो प्रकारकी क्रियायें होती हैं। अध्यात्मरसिक जीवोंको अन्य सर्व प्रकारकी क्रियाओंका परित्याग कर स्वस्वरूपमें रमणता करानेवाली क्रियाओंका ही अनुसरण करना चाहिये। इस कड़ीके पश्चात् चार निक्षेपोंका स्वरूप बतलाते हैं, जिसपर हम पहिले

ही विवेचन करचुके हैं। अध्यात्मके साथ ही साथ वस्तुविचारणा करनेका आग्रह किया गया है तथा अन्य सब साधनोंको निरर्थक सिद्ध किये गये हैं।

अध्यात्म शब्दका अर्थ इतना विशाल है। यह अध्यात्म स्वयं ही कल्पवृक्ष है। कल्पद्रुम अथवा कल्पवृक्ष। कल्पवृक्षका कार्य

'कल्पद्रुम'

उसके पास आकर याचना करनेवालेको इच्छित पदार्थ देनेका है। कल्पवृक्षमें पुद्गल स्कंध ही ऐसे होते हैं कि जो मनोवर्गणा के अनुसार अभिलाषाकी पूर्ती कर देते हैं। कितने ही कल्पवृक्ष देवताधिष्ठित भी होते हैं जिनके पास जाकर मिठाइ, मेवा, फल, वस्त्र, तांबूल, पलंग, अनेक प्रकारकी सुखसामग्री आदिके लिये प्रार्थना करनेपर उन सब पदार्थोंकी शिघ्र हा प्राप्ति होजाती है। केवल जैन शास्त्रकार ही कल्पवृक्षका ऐसा वर्णन नहीं करते हैं परन्तु अन्य शास्त्रकार भी कल्पवृक्षका स्वरूप इसीसे मिलताझुलता वतलाते हैं। कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि रत्न आदि शब्द प्रसिद्ध ही है। यहां इन शब्दोंका प्रयोग अलंकारिक भाषामें किया गया है। जिस प्रकारका कल्पवृक्षके पास जाकर किसी चिजकी याचना करनेसे उसकी प्राप्ति हो सकती है उसी-प्रकार यह अध्यात्म ग्रन्थरूप कल्पवृक्ष है, इससे आत्मिक दृष्टिसे सम्बन्ध रखनेवाले यदि किसी पदार्थके लिये प्रार्थना की जायगी तो वह याचकको यहीं पर प्राप्त होसकेगा। आत्मिक व्यवहारके साथ उससे सम्बन्ध रखनेवाला और दूर करने योग्य सांसारिक व्यवहार और उसका दुष्ट स्वरूप भी साथ ही साथ वतलाया गया है इसलिये अध्यात्मसे सम्बन्ध रखनेवाले कइ उपयोगी विषयोंका इस ग्रन्थमें मिलजाना सम्भव है। यह ग्रन्थका शब्दार्थ हुआ।

इन वाञ्छित पदार्थों और सुखोंको देनेवाले महान वृक्षकी सोलह शाखायें होनेकी ग्रन्थकर्त्ताने कल्पना की है। सोलह शाखों-

सोलह शाखायें

वाला वृक्ष एक छोटा वृक्ष नहीं हो सकता अपितु विशेष पत्रपुष्पादिके कारण यदि वह भव्य प्रतीत हो तो इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं है। ग्रन्थकर्त्ताने अध्यात्मके विषयको अत्यन्त उपयोगी समझ कर उसका अनेक प्रकारसे उल्लेख किया है। इस ग्रन्थकी योजना अत्यन्त नवीन रक्खी गई है। सर्व जीवोंका अन्तिम साध्य मोक्ष है और

इसका प्रथम कारण समता है । सांसारिक स्थितिमें रहनेवालेका तो मुख्य साध्य समताप्राप्तिका ही होना चाहिये, इसलिये यह बात ग्रन्थके अन्तमें आनी चाहिये किन्तु इसके स्थानमें मुख्य बात को बहुत बढ़ा कर कहनेमें कई बार पाठकोंको घबराहट हो जाती है ऐसा समझ कर ये प्रथम अधिकारमें ही समताका विवेचन करते हैं और अन्तिम अधिकारमें भी फिर उसीका विवेचन करते हैं । इसके बीचके सब अधिकार समताके अन्तर्गत आते हैं । कितने ही तो समताको परम साध्य माननेके कारणभूत हैं कितने ही उसके साधनोंकी पूर्ती करते हैं और कितने ही उसके मार्गको प्रदर्शित करते हैं । इस ग्रन्थके सोलह अधिकारोंमें कौन कौनसे विषय किस किस प्रकार बतलाये हैं उसमें प्रवेश करनेके लिये यथोचित अत्यन्त संक्षिप्त रूपसे यहां उनका खुलासा प्रस्ताविक रूपमें किया गया है, विशेष हकीकत अनुक्रमणिका तथा प्रत्येक अधिकारके अन्तिम भागमें लिखे हुए ' अन्तिम विवेचन ' से मालुम होगी ।

प्रथम अधिकारमें समताके स्वरूपपर विचार किया गया है । समता प्राप्त करनेके साधन बतलानेका मुख्य उद्देश इस अधिकारमें रक्खा गया है । इस विषयका अत्यन्त उत्तम रूपसे विवेचन किया गया है । संसारके सब व्यवहारोंमें समता रखनेकी अत्यन्त आवश्यकता है । समता नहीं रखनेवाले प्राणीकी प्रकृति अत्यन्त अव्यवस्थित हो जाती है । वह चाहे जितने भी धर्मसाधन व पुण्य के कार्य क्यों न करे, परन्तु ये सब साध्यहीन, विवेकहीन और रसहीन होते हैं । जब तक ऐहिक तथा आमुष्मिक कार्यमें समानतया समताका प्रवाह ठस ठस कर नहीं समाजाता तब तक अपरिमित शरीर प्राण रहित हाड्पिंजरके सदृश है । मनुष्य चाहे जितनी सम्पत्ती एकत्रित करे, चाहे जितने वैभवका उपभोग करे, चाहे जितनी प्रतिष्ठा प्राप्त करे, परन्तु वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टिसे तो यदि उसमें समता न हो तो सब शून्य है, अधम है और इस में अधिक हानिकारक है, क्यों कि वे सब कारण अत्यन्त गर्वोत्पादक हैं, दाहक हैं, हानिकारक हैं और परभवमें अधोगतिमें पतन करा देते हैं । समतामय जीवनकी खूबी इतनी उत्तम और विशिष्ट है

१ समता

कि उसकी हवामें, उसके वातावरणमें उसके पड़ोसमें भी अखण्ड शांतिका साम्राज्य फैला हुआ रहता है और एक वार ऐसे जीवनके सम्बन्धमें आया हुआ प्राणी उसके हेतु, क्रिया या क्रम न समझता हो, न पहचान सकता हो, न पृथक्करण कर सकता हो, तिस पर भी वह अत्यन्त सुखका अनुभव करता है और ऐसा सत्संग करनेकी सदैव अभिलाषा रक्खा करता है अथवा ऐसे सम्बन्धमें व्यतीत हुये आनन्ददायक क्षणोंको अत्यन्त प्रेमसे वार-म्वार स्मरण करता रहता है। समता ऐसी पवित्र वस्तुओंको जन्म देनेवाली है और स्वयं शुद्ध है इसलिये उसे प्राप्त करने वास्ते प्रयास मुमुक्षु जीव करते रहते हैं। इसकी प्राप्तिके अनेक साधनोंमें से यहां चार भावनायें, इन्द्रियोंके विषयोंपर समभाव, आत्मस्वरूपका विचार और स्वस्वार्थको पहचान कर उसकी सिद्धिमें निमग्नता इन चार साधनोंपर ग्रन्थकर्त्ताने अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। समता सम्पूर्ण ग्रन्थका परम साध्य होनेसे और उससे रहित किये हुए शुभ कार्य्य भी संसारफल देनेवाले होनेसे इस अधिकारपर अत्यन्त विचारकर विस्तारपूर्वक विवेचन करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई थी अतः उस आवश्यकताकी पूर्तीके लिये यथोचित प्रयास किया गया है। समताके दृष्टान्त अत्यन्त विचारणीय हैं अतएव वीर परमात्मा, अनाथी मुनि, गजसुकुमाल, शालिभद्र, स्कंदकाचार्य्य आदिके दृष्टान्तोंपर भलिभांति मनन करना चाहिये। यह अधिकार अत्यन्त अगत्यका है।

द्वितीय स्त्रीममत्वमोचन अधिकार: ऐहिक पदार्थमें आसक्ति होनेके मुख्य कारणोंकी ओर लक्ष्य खींचता है। इस संसारमें असत्य व्यवहार करनेके कारण स्त्रीरूप उपाधिसे ही उत्पन्न होते हैं। मनस्वी पुरुष यदि अकेला हो तो वह अत्यन्त आनन्दपूर्वक अपना निर्वाह करनेके लिये आवश्यकीय वस्तुओंका संग्रह पांच, पन्द्रह दिन में कर सकता है, परन्तु उसको विशाल, भव्य महलात वनवानेकी, रुपये-पैसे एकत्रित करनेकी, और भी जो अन्य अनेकों व्यवहार करनेकी आवश्यकता होती है इन सबका एक मात्र कारण यदि गहरे दिलसे विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि स्त्री ही है। सांसारिक व्यवहारको देखने पर पत्ता चलेगा कि खून बहाने जैसे प्रसंग तक बहुधा स्त्रियोंके

२ स्त्रीममत्व

कारणसे ही उद्भवित होते हैं । स्त्रीका प्रेम ऐसा विचित्र रागका है कि इससे स्पर्शनेन्द्रियको अवश्य कोई, न कोई अवसर अपना मार्ग ढूंढ निकालनेका मिल ही जाता है । जिसके परिणामस्वरूप कल्पनाशक्ति पर, सुन्दर दिखाई देनेवाली किन्तु परिणाममें भयंकर हानिवाली मूर्तियें बनती रहती हैं और अन्तमें कल्पनाशक्ति इतना शक्तिहीन होजाती है कि मानसिक बल और तर्क-विचारणाका उस पर किसी भी प्रकारका अधिकार नहीं रहने पाता है । यह स्थिति इतनी खराब है कि उसका ख्याल हो सकता है । स्त्रियांके साथ ममत्व रखनेकी ही जब यहां मना ही की गई है तो फिर परस्त्री सम्बन्धमें तो कितना तिरस्कार होना चाहिये यह मुख्यतया विचारने योग्य विषय है । स्त्रीको जो ग्रन्थकर्त्ताने हीन वस्तुके साथ उपमा दी है इस भलीभांति विचारनेकी आवश्यकता है । ये सब बातें अनुभव और सम्पूर्ण विचारणा तथा तत्त्वजागृतिसे ही समझमें आने योग्य है । व्यवहारदृष्टिसे देखनेपर कदाच ऐसा प्रतीत होगा कि धार्मिक वृत्तिवाले पुरुष तो सब कुछ त्याग देनेका उपदेश करते हैं परन्तु ऐसा कैसे होसकता है ? किन्तु आपको ऐसा कभी भी विचार हृदयमें न लाना चाहिये । अत्यन्त उपयोगपूर्वक संसार चक्रका निरीक्षण किये बिना ही ऊपर ऊपरके हावभावमें तल्लीन होजाना सम्भव है ऐसे समयमें इस अधिकारका रहस्य समझना और प्राप्त करना अत्यन्त कठीन है । यह सम्पूर्ण अधिकार पुरुष वर्गको ही उद्देश कर लिखा गया है, क्योंकि जैन शास्त्रकार पुरुषप्रधान धर्म कहते हैं, इसलिये स्त्रियोंको शब्द रचनामें यथोचित परिवर्तन कर स्त्री ममत्वमोचन अधिकारको पुरुष ममत्वमोचन अधिकारके रूपमें पढ़ना चाहिये । यह और इसके बादमें आनेवाले तीन अधिकार बाह्य सम्बन्धोंको आश्रयित कर लिखे गये हैं, परन्तु ये सम्बन्ध विभावदशाके कारण धार्मिक बन्धक समान होगये हैं, इसलिये उन सम्बन्धोंका स्वरूप, स्थिति और परिणाम अत्यन्त बारीकीसे देखनेकी आवश्यकता है। यह अधिकार मोहनीय कर्मके साम्राज्यकी प्रबलताको प्रदर्शित करता है ।

तीसरा पुत्रममत्वमोचन अधिकार, अत्यन्त संक्षेप रूपसे किन्तु आवश्यकीय विषय पर लिखा गया है । कई भावी पुत्रपुत्रीरूप

संसारमें आसक्त होकर " वच्चे मेरे स्वामीवत्सल" ऐसा करते हैं अर्थात् अपने गृहमें ही सम्पूर्ण संसारका समावेस होजाना समझकर वे अन्य किसी भी प्रकारके सामाजिक विचार नहीं करते हैं। कइवार अपत्यममत्वमोचनसे सम्वन्ध रखनेवाले कर्त्तव्य आदिके टेढ़े प्रश्न भी उत्पन्न होजाते हैं इन प्रश्नोंको भी इस अधिकारमें प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे वहुत अच्छी तरहसे हल किया गया है। यद्यपि यह अधिकार श्लोक संख्यामें अन्य सर्व अधिकारोंसे छोटा है परन्तु इससे यह कदापि न समझ वैठें की इसकी अगत्यता भी किसी कदर कम हो।

३ पुत्रममत्व

चौथे धनममत्वमोचन अधिकारमें वहुत उपयोगी विषयोंका उल्लेख किया गया है। इस संसारका वहुत वड़ा भाग-लगभग सम्पूर्ण भाग ' पैसा मेरा परमेश्वर ' इस ही वृत्तिवाला है। पैसा पैदा करनेका मार्ग, उसका चिन्तवन, उसका विचार, उसकी वातें-आदिमें इस जीवको जितना आनन्द आता है उतना अन्य किसी भी पदार्थमें या पदार्थके सम्वन्धसे नहीं आता है। अनादि अभ्यास इस प्रकार मोहनीयकर्मके उदयसे पैसेको ग्यारहवां प्राण कहा जाता है, और इसकी शक्ति इतनी अधिक मानी जाती है कि प्रसंग आनेपर यह अन्य दश प्राणोंका भी परित्याग करा देता है। धनका ममत्व एकदम छुड़ा देना कई पुरुषोंको असहनीय होगा अतएव दीर्घदृष्टिवाले ग्रन्थकर्त्ताने यह भी वतला दिया है कि धनका व्यय किस प्रकार करना उचित है। इस विषयमें उनश्रीके कहनेका मुख्य उद्देश्य यह जान पड़ता है कि पैसोंके विचार और झलझलाहटमें छिलने ही प्राणियों आत्मिक साधन छोडदेनेका [illegible] है इसलिये इस विषयमें वहुत विचार करनेकी जरूरत है। जो नितान्त स्थूल वस्तु है, पौद्गलिक है, चल है, मरणपर्य्यन्त कदाच किसीके पास रह भी जावे जिसपर भी अन्तमें तो जो यहींपर रहनेवाली है, ऐसी वस्तुपर ममत्व कर प्राप्त हुई अनुकूलताओंका लाभ लेनेसे कदापि न चुकना चाहिये। पैसा एकत्रित करना तद्दन निर्हेतुक प्रवृत्ति है। एक अंग्रेजी कविका कथन है कि—

४ धनममत्व.

Take thou no thought for aught save Right and Truth,
Life holds for finer souls no equal prize;

Honours and wealth are bubles to the wise.

"यद्यपि इस जीवनमें विशुद्ध जीवोंका यथोचित प्रतिकार नहीं होता है, संयोगानुसार न्यूनाधिकरूपमें मिलता है परंतु तुझे तो सत्य और उचित बातके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुका विचार नहीं करना चाहिये। बुद्धिमान पुरुषोंके मन तो मान-धाम और पैसे आदि सुन्दर दृष्टिगोचर होनेवाले किन्तु मूल्य रहित अनुपयोगी वस्तुओंके सदृश हैं।" यह छोटासा वाक्य अत्यन्त रहस्यमय है, धनममत्वमोचन अधिकार अत्यन्त विचारपूर्वक पढ़ने योग्य है।

५ देहममत्व

पांचवां देहममत्वमोचन अधिकार भी दूसरे अधिकारसे प्रारम्भ हुए लय(Spirit)का चालु रक्खा गया है। इस शरीर-पर असाधारण प्रेम रख कर उसका प्रत्येक समय नाजुक बनानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये अथवा उसे शोभित वस्तुओंके आडम्बरसे आभूषित न करना चाहिये। इसको आत्मिक धर्मोंके पालन करनेमें सहायभूत समझ कर इससे जितना हो सके उतना शुभ कार्य्य कर लेना चाहिये। इन शुभ कार्य्योंके करने योग्य मात्र उसकी उत्तम स्थिति होना चाहिये। इससे यह तात्पर्य्य कदापि नहीं है कि शरीरकी ओर सर्वदा उपेक्षाभाव रखना, परन्तु उसकी ही ओर अत्यन्त ध्यान लगाकर उसके भीतर-उसमें चैतन्य स्वरूपसे रहनेवाले आत्माको भूल जाना ऐसा कभी नहीं होना चाहिये। इस अधिकारमें स्वदेह और परदेह दोनोंपर ममत्व न रखनेका गर्भित आशय होना प्रतीत होता है। शरीरको अशुचिमय समझनेसे और इस पर योग्य विचार करनेसे उसका वास्तविक स्वरूप और उससे सम्बन्ध रखनेवाला उसके साथ व्यवहार करनेका योग्य मार्ग उस समय ध्यानमें आ जाता है। इस पांचवें अधिकारका विषय इस शारीरिक सुखमें मस्त बनानेवाले वर्तमान युगमें पसंद न आना सम्भव है, परन्तु इसके बदले सूरिमहाराज तो वस्तुस्वरूपका समझानेके अपने कर्तव्यको कदापि नहीं भूल सकते हैं। वर्तमान कालकी खान-पाने तथा व्यवहारमें लानेकी रीति शरीरको निर्बल करना होना सिखलाती है कि जो वस्तुस्थितिसे नितान्त विरुद्ध

है, ऐसा हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है। संसारमें जो जो हकीकतें होती
है उनका एक मात्र ऊपर ऊपरसे ही विचार कर लेनेकी हमारी
टेव पड जानेसे कई जीव इसका गहरा विचार नहीं कर सकते
हैं। एक पुत्रकी मृत्यु पर कई पुरुष कहेंगे कि बहुत बुरा हुआ
आदि, परन्तु क्या बुरा हुआ? इसका विचार भी नहीं करेंगे।
शरीर और आत्माका वियोग जो कि स्वाभाविक धर्म है वह ही
हुआ है ऐसा पृथक्करण करनेकी उनकी अभिलाषा कदापि न होगी।
संसारकी सामान्य बातोंमें भी ऐसा अन्तिम रहस्य शोधनेकी टेव
डालना अत्यन्त आवश्यक है।

६ प्रमाद.

छट्ठे प्रमादत्यागाधिकारमें पंचेन्द्रियके विषयोंका स्वरूप अत्यन्त
विद्वत्तासे बतलाया गया है। यह जीव स्थूल इन्द्रियसुखोंमें आ-
सक्त हो जाता है। अच्छे अच्छे पदार्थ खानेमें,
सेन्ट लवन्डर सुंघनेमें, हार्मोनियम पीयाना सुननेमें,
सुन्दर स्त्रियोंका रूप विकार दृष्टिसे देखनेमें और
उनके साथ विषयसेवन करने में आनन्द मानता है। पांच इन्द्रि-
योंके विषय अनेक प्रकारके हैं, जिनका अनुभव दिनप्रतिदिन होता
रहता है। इनमें क्या सुख है? क्या माना गया है? उनमें सच्चा
तत्त्व क्या है? सच्चे सुखका क्या स्वरूप है? वह इस जीवकी
समझमें क्यों नहीं आता है? इन स्थूल सुखोंको भोगते समय
कितना और कैसा सुख देते हैं? परिणाममें इनसे क्या होता है?
आत्मिक सुख और स्थूल सुखमें क्या भिन्नता है? इस विषयका
अत्यन्त प्रभावकारक विवेचन इस अधिकारमें किया गया है।
इन्द्रियोंके विषयमें इस जीवकी कितनी अधिक आसक्ति होती है
कि इसके किसी भी प्रसंगके आजानेपर यदि खुदको विशेष ज्ञान
और दृढ श्रद्धा न हो तो यह उनमें मग्न हो जाता है। उस प्रसंग
पर इसे इतना भी भान नहीं रहता है कि संसारमें प्रतिष्ठा प्राप्त
करनेवाला मेरे जैसा प्रतिष्ठित माना जानेवाला पुरुष ऐसी बाल-
क्रिडायें क्यों कर करता है? एक समझदार पुरुष भी एकान्त
स्थानमें स्त्रीके साथ किस विचित्रता के साथ व्यवहार करता है
उसकी पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं। ऐसी स्थिति मे उस
समय और भविष्यमें इस जीवको अत्यन्त हानि उठानी पड़ती है
जिसको दूर करनेका ही यहां उपदेश किया गया है। ऐसे विषयोंमें

वस्तुस्वरूपको विचारनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। प्रमादके विषयमें यहां अधिक नहीं लिखा गया है। अन्तिम रहस्यमें और भूमिकामें उसका विशेष उल्लेख किया गया है।

सातवां कषायनिग्रह अधिकार है। इस अधिकारमें लिखी हुई हकीकत हमारे हररोजके अनुभवमें आती है और कर्मप्रकृतियोंके ग्रहण करनेके मुख्य द्वारोंमेंसे यह एक द्वार है।

७ कषाय कषायसे ही संसारका काम और उसकी पुष्टि होती है और यह इस जीवके सम्बन्धमें एक बड़ा भारी फेरफार कर सकता है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये उसके चार भेद हैं। प्रातःकालसे लेकर रात्रीतक कषाय करनेके अनेकों प्रसंग उपस्थित होते हैं; किसीपर क्रोध आजाता है, किसी समय अपनी बड़ी बड़ी डींग (आत्म-प्रशंसा) हांकनेमें आनन्दका अनुभव होता है, किसी समय बगवृत्ति धारण की जाती है और कभी पैसोंकी माला फेरी जाती है। ये चारों कषाय अनेक रूपोंमें प्रगट होकर इस जीवको किस किस प्रकारसे नचाते रहते हैं इन सबका विशेष विवेचन इस अधिकारमें किया गया है। इन चारों कषायोंमें ऐसी असाधारण शक्ति होती है कि यदि इनमेंसे एक भी अपने पूर्ण जोशमें हो तो यह जीव चाहे जितनी धर्मक्रियायें क्यों न करे, चाहे जितनी विद्या क्यों न प्राप्त करें, चाहे जितने भी तप क्यों न कर डाले, परन्तु यह सबको निरर्थक बना देता है और अन्तमें जीवका अधःपात कराता है। इन कारणोंसे कषायके निग्रह करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। मनोविकारके वशीभूत होनेवाले प्राणीका जीवन लगभग निरर्थक ही है, ऐसा ऊपर ऊपरकी दृष्टिसे हमको प्रतीत होता है, परन्तु मनोविकार कैसे और किस प्रकारसे काम करनेवाला होता है, इसका जबतक कुछ गहरे उतरकर हम स्वयं स्वरूप न देखलें तबतक यह सत्य हकीकत भी एकमात्र बातके रूपमें ही रहती है। कषायको ठीकठीक समझ कर, उसके करनेके प्रसंगोंकि उपस्थित होनेपर उसका निग्रह करना और उसमें न जीते जाकर उनपर अपना आधिपत्य जमा लेनेका ही लक्ष्य निरन्तर अपने हृदयमें रखना चाहिये। कषायके प्रत्येक विषयपर बड़े बड़े लेख लिखे जासकते हैं और अन्यत्र ऐसा प्रयास भी किया गया है, इसलिये इस अधिकारके विवेचनमें ग्रन्थके

प्रमाणसे पूरता विवेचन होजानेसे इस स्थानपर तो इस अधिकारमें कौन कौनसे विषय आते हैं एकमात्र उनका ही दिग्दर्शन कराया गया है। कषाय हमारे जीवनमें एक बड़ा कार्य्य करनेवाला है अतएव इसके सम्बन्धमें सदैव सचेत रहनेकी आवश्यकता है ऐसा ग्रन्थकर्ता वारम्वार फरमाते हैं।

इसके पश्चात् आठवां शास्त्राभ्यासका अधिकार आता है। यह अधिकार अत्यन्त व्यवहारिक आकारमें लिखा गया है।

८ शास्त्र, गति

शास्त्रका अभ्यास कर यदि विद्वत्ता प्रगट करनेकी अभिलाषा रहे तो उससे बहुत लाभ नहीं होता है, अभ्यासके अनुसार ही व्यवहार रखनेकी आवश्यकता है। पण्डितके नामसे ही खुश न हो जाना चाहिये परन्तु मतिके अनुसार बुद्धि भी होनी चाहिये और उन दोनोके अनुसार प्रवृत्ति भी होनी चाहिये। विषयप्रतिभास, आत्मपरिणतिमत् और तत्वसंवेदन ज्ञानका स्वरूप जो अष्टकजीमें वतलाया गया है उसके मनन करनेकी आवश्यकता है यह हकीकत विवेचनमें मुख्यतया चिताकर्षक है। शास्त्राभ्यासका क्या उद्देश्य है इसे विचारनेकी आवश्यकता है और इस विषयपर ग्रन्थकर्त्ताने अत्यन्त प्रभाविक रीतिसे ध्यान खींचा है। इस विषयमें बहुधा गफलत हो जाती है। वहुधा ज्ञानके देखावमें ही जो सम्पूर्णता मानी जाती है उसके विषयमें योग्य विचार वतलाये गये हैं। इस विषयके साथ साथ अभ्यासके सम्बन्धमें समझमें आनेवाले चतुर्गतिके क्लेशका वर्णन किया गया है। नरक और तिर्यंच गतिमें दुःख है यह तो यह जीव समझता है परन्तु मनुष्य और देवगतिमें भी सुख नहीं हैं परन्तु दुःख हैं इस वातको स्पष्ट करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। जिस क्रियाके करनेसे चउगतिकी सिद्धि हो वह अध्यात्म नहीं है ऐसा श्रीश्रेयांसनाथजीके ग्यारहवें स्तवनमें आनन्दघनजी द्वारा कहा गया है और कदाच् किसी क्रियासे शुभगतिका वन्ध हो सके तो वह भी इष्ट नहीं है ऐसा अवश्य समझना चाहिये। अध्यात्मकी व्याख्या करते हुए भी हम देख चुके हैं कि जिस अध्यात्ममें चउगतिमेंसे किसी भी शुभ एवं अशुभ गतिका वन्धन हो वह अध्यात्म ही नहीं कहला सकता।

सम्पूर्ण ग्रन्थके मध्यबिन्दुरूप नवमा अधिकार चित्तदमनका

है। चाहे जितनी भी क्रिया क्यों न की जाय, चाहे जितना ज्ञान क्यों न प्राप्त किया जाय, चाहे जितनी तपस्या की जाय और चाहे जितना योगसाधन किया जाय, परन्तु जबतक मनकी अस्थिरता हो, चित्त आकुल-व्याकुल हो, मानसिक क्षोभ हो तबतक साध्य प्राप्त नहीं हो सकता है, इसको मुख्यतया लक्ष्यमें रखना चाहिये। ज्ञानका, तपका अथवा क्रियाका आशय मनपर अंकुश लगानेका होना चाहिये। यह शुद्ध दृष्टिकी अपेक्षासे यथातथ्य है कि मनकी अव्यवस्थित स्थिति होनेसे प्राणीके कार्य्य कोई फल नहीं दे सकते हैं। इस सम्बन्धमें हमारे विचार साधारणतया अव्योकस होते हैं। सामान्य प्रकृति बाह्य देखाव पर बहु मत बांध देती है परन्तु वस्तुत ऐसा नहीं होना चाहिये। अमुक प्राणीके सम्बन्धमें मत बांधनेसे पहिले उस प्राणीके मनपर कितना अंकुश है उसपर अच्छी तरह विचारकर लेना चाहिये। चाहे जैसे भी कठिनसे कठिन कार्य्य करनेको उद्यत हुए प्राणीको मन किस प्रकार अपने कर्त्तव्यपथसे विचलित कर देता है इसका अनुभव विचार करनेसे सहज ही समझमें आ सकता है। क्रियाकी अवहेलना कर मनको ही शास्त्रकारोंने मोक्ष और बंधका कारण क्यों बतलाया है इसका रहस्य इस अधिकारमें अत्यन्त स्पष्टतया समझाया गया है। इस अधिकारमें ग्रन्थकर्त्ताने प्रथम अधिकारके समान अपनी विद्वत्ता प्रगट की है और विवेचनको भी अत्यन्त विचारपूर्वक लिखनेका प्रयास किया गया है। इस अधिकारका विषय अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होनेसे हम पर विशेषतया ध्यान दिलानेकी और मनन करनेकी भावना की गई है।

९ चित्तदमन

दसवा अधिकार वैराग्यका है। इस अधिकारमें इस संसारसे ऊपरसे राग उठ जाय और वस्तुस्वरूप उसके यथास्थित आकारमें समझमें आ सके इसलिये विद्वान् ग्रन्थकर्त्ताने भिन्न भिन्न विषयोंको लेकर वैराग्य होनेके साधनोंको प्रदर्शित किये हैं। मृत्युका दौर दौरा लोकरंजनके लिये किया हुआ श्रम इस लोकमें प्राप्त हुए अनेक प्रकारके संयोग, उनसे उनके लेने योग्य लाभ, धर्ममें होनेवाला दुर्लक्ष्य, सुखका वास्तविक स्वरूप, प्रमादसे होनेवाले दुःख,

१० वैराग्य

इन्द्रियोंके विषयोंमे प्रवृत्ति करनेमे दुःख, उनके दृष्टान्त और इस जीवके वर्तन और उद्देशके बीचमें विसंवाद आदि अनेक भिन्न भिन्न विषयोंको लेकर उन पर अत्यन्त प्रभाविक भाषामें प्रकाश डाला गया है। इस प्रकाशका स्वरूप अत्यन्त मनन करने योग्य है। एक प्रसंगपर अजादिकके दृष्टान्त भी अत्यन्त युक्तिपूर्वक दिये गये हैं। जबतक सांसारिक-पौद्गलिक विषयोंपरसे इस जीवका राग नहीं हटता तबतक यह धर्म सन्मुख नहीं हो सकता है ऐसी स्पष्ट हकीकत होनेसे सर्व विषयोंका यहां पृथक्करण और स्पष्टीकरण करनेमें अन्तिम हेतु, उसके परिणाममें होनेवाले दुःखमय स्वरूपको समझकर उससे दूर रहते हुए, समताको प्राप्त करनेका रक्खा गया है। यह अधिकार भी अत्यन्त मनन करने योग्य है। इसके प्रत्येक श्लोकमेंसे एक एक अथवा इससे भी अधिक महान् सत्य दृष्टिगोचर होते हैं वे ढूंढनेवालेको और साधकको प्राप्त हो सके ऐसा स्पष्टतया बतलाया गया है।

ग्यारवां अधिकार धर्मशुद्धिका है। इस कालमें धर्मके सम्बन्धमें लिखना मात्र ही कई जीवोंको अप्रासंगिक ज्ञात पड़ता है। बाह्याडम्बरों और पुद्गलमस्त रहनेवाले युगमें धर्म शब्दका अभाव जोरशोरसे प्रवेश कर रहा था, उसमें अब कुछ फेरफार होना दृष्टिगोचर हो रहा है। अब धर्मकी आवश्यकताको प्रायः सब स्वीकार करते हैं। उस धर्ममें किस प्रकारकी शुद्धि होनी चाहिये वह यहाँ बतलाई गई है। धर्ममें किस किस प्रकारके दोषोंका प्रवेश होता है उनकी यथोचित सूचि (list) देकर स्वगुणप्रशंसाके दुर्गुण और जनस्तुतिपर विद्वत्तापूर्ण उल्लेख ग्रन्थकर्त्ताने किया है। इस हकीकतपर प्रत्येक पाठकको विशेष ध्यान देना चाहिये। अन्तमें भावशुद्धिका उपदेश किया गया है। भावशुद्धिपूर्वक क्रिया कितना अल्प फल देनेवाली है इसका यहां विस्तारपूर्वक उल्लेख पढ़नेमें आयगा। इस अधिकारमें लोकस्तुतिपर जो व्यवहार विवेचन किया गया है वह विशेषतः पढ़ने योग्य है।

११ धर्मशुद्धि

बारहवां अधिकार गुरुशुद्धिका है। इस अधिकारमें गुरुमहाराज कैसे होने चाहिये इस विषयपर सूरिमहाराजने अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन किया

१२ गुरुशुद्धि.

है। अधिकारमें कई आगमके विषयोंका भी समावेश किया गया है। गुरुपरीक्षामें अत्यन्त विचार करनेकी आवश्यकता बतलाई गई है तथा इस विषयमें क्वचित् स्थानोंपर कर्कश भाषाका भी प्रयोग किया गया है। इस अधिकारमें सम्पत्ति तथा विपत्तिके कारण बतलाये गये हैं उसपर विशेष लक्ष्य देनेकी आवश्यकता है।

तेरहवां अधिकार यतिशिक्षाका है। यति नामसे भूषित संसार त्यागी सब महानुभावोंको उद्देशकर लिखे हुए इस अधिकारको अत्यन्त धैर्य्यतापूर्वक पढ़नेकी आवश्यकता है।

११ यतिशिक्षा वेशमात्रसे कुछ लाभ नहीं होता, जनरंजनपनकी कोई किमत नहीं, यतिपनके उच्चश्रेणीके कर्त्तव्य क्या क्या हैं, व्यर्थ वस्त्रपात्रका परिग्रह भाररूप है, परीषहका क्या स्वरूप है, संयमके कितने भेद हैं, चरणसित्तरी और करण सित्तरीके भेद कौन कौनसे और कितने हैं आदि अनेकों उपयोगी हकीकताका समावेश इस अधिकारमें किया गया है। यह अधिकार सबसे अधिक विस्तृत है इसकी भाषा शिक्षा देनेयोग्य कठिन शब्दोंमें है परन्तु भव्यजीव उसपर क्रोध न लाकर उसके आन्तरिक स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करते हैं। सूरि महाराजने अपने अद्भुत चारित्रगुणमें बाल्यकालसे ही आसक्त होनेके कारण बहुत उत्तम रीतिसे हृदयकी भावना द्वारा उपदेश किया है। यह उपदेश साधु और श्रावक आदि सर्वोको मान्य करने योग्य है, इस उपदेशमें साधु-धर्मको अत्यन्त विकट समझकर इसकी उपेक्षा न होजानेकी ओर मुख्यतया लक्ष्य रक्खा गया है। यद्यपि इस अधिकारका रहस्य समझना और समझाना अत्यन्त दुर्लभ प्रतीत होता है, तिस पर भी जो प्रयास किया गया है उसके द्वारा किसी व्यक्तिको अथवा समष्टिको किसी भी प्रकारका कष्ट पहुंचानेका बिलकुल ध्येय नहीं है। अपितु ऐसा प्रसंग उपस्थित न होजाय इस भयसे अधिकार मुनिमहाराजाओंको विवेचनके साथ बतला कर उनकी सम्मति लेली गई है; तिसपर भी यदि किसी स्थानपर कोई दूषण रह गया हो तो उसके लिये अन्तःकरणसे क्षमा याचना है। यदि साधुवर्गसे बाहरका कोई पुरुष ऐसे गम्भीर विषयपर लिखनेका प्रयत्न करे तो उसमें उसकी नादानीका होना स्वाभाविक ही है, अतएव सम्पूर्ण ग्रन्थके लिये

सामान्य दोष क्षमा मांगनेकी प्रस्तावनाकी प्रचलित रूढ़ीके अनुसरण करनेके उपरान्त भी बारहवें और तेरहवें अधिकारके लिये विशेषतया ऐसा करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई है। सूरिमहाराजने जिस गंभीरता और ऊर्मीसे इस अधिकारको लिखा है उसके समझनेका प्रयत्न करनेके लिये विशेषतया निवेदन है।

चौदहवां अधिकार मिथ्यात्वादि संवरका है। पांच प्रकारके मिथ्यात्वका स्वरूप बतलाकर फिर मन, वचन और कायाके योगोपर अंकुश लगानेका उपदेश किया गया है। मनयोगपर तन्दुलमत्स्य और प्रसन्नचन्द्रकी कथायें विचारने योग्य हैं, वचनयोगपर वसुराजाका दृष्टान्त मनन करने योग्य है, तथा काययोगपर कछुयेकी कथा चिन्तन करने योग्य है। तत्पश्चात् इन्द्रियसंयमपर पुष्कल विवेचन कर कषाय संवर करनेका उपदेश करते हैं जिस पर कुरट और उत्कुरट मुनिका दृष्टान्त देकर अत्यन्त उपयोगी बोध किया गया है। अन्तमें निःसंगता प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा की जाती है।

१४ संवर

पन्द्रहवां अधिकार शुभवृत्तिशिक्षाका है। प्रतिदिन दोनो समय छ आवश्यक करने, तपस्या कर कर्म निर्जरा करना, सातंग धारण करना, योगरुंधन करना, उपसर्ग सहन करना, स्वाध्याय ध्यान करना, उपदेश देना, आत्म निरीक्षण करना आदि शुभप्रवृत्तिके अनेक शुभ प्रकार बतलाकर वैसा करनेवालेको भविष्यमें किस प्रकारके लाभ होते हैं उसकी ओर विशेषतया ध्यान खिंचा गया है। इस अधिकारमें जो जो प्रकीर्ण (छुटक) (misllaneous) विषय बतलाये गये हैं वे भी अत्यन्त उपयोगी और मनन करनेके योग्य हैं।

१५ शुभवृत्ति

सोलहवें और अन्तिम साम्यसर्वस्व अधिकारमें सम्पूर्ण ग्रन्थका साररूप समताको रखनेका उपदेश किया गया है। समताके परिणाममें किस प्रकार सुख मिलता है और वह सुख भी किस प्रकारका है यह सब अत्यन्त उत्तम रीतिसे बतलाया गया है। मोक्षके स्वरूपको विवेचनमें बतलाकर यह सिद्ध किया गया है कि इसके प्राप्त करनेका एकमात्र साधन समता है। इस अधिकारमें समतारसकी वानकी

१६ साम्य

बतलाकर फिर इसके अधिकारी कौन हो सकते हैं यह भी स्पष्ट तया बतलाया गया है। तत्पश्चात् बिना किसी आडम्बरके इस ग्रन्थकी समाप्ति की गई है।

कृतिका समय

इस बातका निर्णय होना अत्यन्त कठिन है कि सूरिमहाराजने इस ग्रन्थको कौनसे वर्षमें लिखा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सूरिमहाराजने उपदेशरत्नाकर आदि ग्रन्थोंको बनानेके पश्चात्[1] अपने जीवनके अन्तिम कालमें अपने स्वअनुभवका रहस्य इस ग्रन्थद्वारा बाहर डाला है और इस ग्रन्थके सर्व श्लोक एक साथ नहीं, किन्तु समय समय पर जब जब मनमें स्फुरणा हुई होगी तब तब लिखा होगा ऐसा ज्ञात पड़ता है। सातवें कषायनिग्रह अधिकारमें क्रोध, मानके स्वरूपमें बीचमें मायाके श्लोक आते हैं, अपितु लोभ त्यागके उपदेशके पश्चात् क्रोध त्यागका स्वरूप आता है। मुनि सुन्दरसूरि महाराज जैसे बड़े लेखकने जब उपदेशरत्नाकरमें ऐकसी शैली द्वारा एक विषयको एक सिरेसे दूसरे सिरे तक नियमपूर्वक लिखा है तब उनके इसप्रकार तितर-बितर सम्बन्धरहित श्लोकोंके लिखनेका एक ही प्रकारसे खुलासा हो सकता है। इसीप्रकार देवगुरु धर्मशुद्धि अधिकारका विषय बहुधा गुरुशुद्धिपर ही लिखा गया है। इसप्रकार अनुमान किया गया है परन्तु यदि यह सच्चा हो तो इससे ग्रन्थकी किमत बहुत वृद्धि होना सम्भव है। कुदरती तौरसे अवलोकन करने पर हृदयमेंसे जो सद्गार निकलते हैं वे कृत्रिम उद्गारोंसे कई अंशोंमें विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं। अपितु उपदेशरत्नाकर ग्रन्थके आदिमें मंगलाचरणमें कई श्लोक लिखे गये हैं; परन्तु यहां उनमेंसे एकका भी पत्ता नहीं मिलता,

---

१ श्रीधनविजयगणिजी भी इस हकीकतका समर्थन करते हैं। ग्रन्थके प्रारम्भमें 'अथ' शब्द पर नोट लिखते हुए कहते हैं कि यह शब्द अन्तराधिकार सूचक है जिससे यहां यह समझना चाहिये कि यह ग्रन्थ उपदेशरत्नाकर आदि ग्रन्थोंके लिखनेके पश्चात् बनाया गया है। वे इसका कोई कारण नहीं बतलाते हैं, परन्तु सूरिमहाराजके पश्चात् वे इनके नजदीकके समयमें हुए हैं इससे उनसे सुनी हुई हकीकत कदाच सम्प्रदायसे उनको मालूम हुई होगी।

यह भी साम्यदशाका द्योतक है, और यह दशा वृद्धावस्थामें सविशेष रूपसे प्राप्तव्य है। मेरी मान्यतानुसार यह ग्रन्थ सम्वत् १४७५ से १५०० के लगभग लिखा होगा ऐसा प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थकी शैली बहुत उत्तम है। किसी किसी स्थानपर पुनरावर्तन जान पड़ता है परन्तु उपदेशके ग्रन्थमें पुनरावर्तन दोषरूप नहीं है ऐसा उमास्वाति महाराजके कथनसे

भाषाशैली

स्पष्ट है (प्रथम श्लोकके विवेचनको पढ़िये)। जिन जिन विषयोंको सूरिमहाराजने लिये हैं उन उनको उन्होंने अत्यन्त प्रभावकारक शब्दोंमें लिखा है। संस्कृत भाषापर उनका पूर्ण अधिकार था इतना ही नहीं किन्तु किसी किसी स्थान पर तो उन्होंने अलंकारोंका अत्यन्त उत्तमतया उपयोग किया है। उनके दृष्टान्त और उपनाम अत्यन्त स्पष्ट और यथोचित हैं तथा उनका वाक्यरचना मार्मिक है। उनकी भाषामें उपदेशकी सर्व प्रकारकी भाषाओंका समावेश हो चुका है। उपदेशकी भाषामें कई वार अति नम्र भाषाका उपयोग किया जाता है, विषयकी मधुरता तथा प्रियता प्राप्त करानेके लिये ऐसी भाषाकी आवश्यकता होती है। कभी आक्षेपक भाषाका उपयोग करना पड़ता है कभी कठोर शब्दोंका भी प्रयोग करना पड़ता है। सूरिमहाराजने भी इस जीवको किसी किसी समय विद्वान् और कभी कभी 'मूढ़' कहा है, इसीप्रकार [illegible] लेखे अनुसार सर्व प्रकारकी भाषाशैलीका उपयोग किया गया है, जिससे पढ़नेवाले तथा सुननेवालेको आनन्द और विचार दोनों स्वाभाविक ही है। इसप्रकार सर्व प्रकारकी भाषाशैलीपर अधिकार प्राप्त करना यह एक सामान्य विद्वानके लिये बड़ी टेढ़ी खीर है। यतिशिक्षा अधिकारमें भी किसी किसी स्थानपर तो उन्होंने सामान्य कठोर शब्दोंका उपयोग किया है और कहीं कहीं अत्यन्त कठोर शब्दोंका उपयोग किया है। ऐसा करनेमें चाहे कुछ शैलीदोष हो या न हो परन्तु उनका आशय अतिशय महान् था यह तो इससे स्पष्टतया सिद्ध ही है।

अधिकारोंका चुनाव अत्यन्त विचारने योग्य है। एक एकके पश्चात् दूसरा अधिकार अधिकसे अधिक उपयोगी हकीकत बतानेवाला लिखा गया है और उसका चुनाव

चुनाव

इस ढंगसे किया गया है कि ध्यानपूर्वक पढ़नेवालेको अत्यन्त आनन्द देनेवाला है। प्रत्येक श्लोक-

की भाषा मधुर और स्पष्ट होनेके उपरान्त शैली भी अत्यन्त साधारण और प्रभावकारक है।

प्रचार

यह ग्रन्थ मुनिजीवन और श्राद्धजीवनके मार्गदर्शकके रूपसे अत्यन्त उपयोगी होना प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ व्याख्यानमें कई स्थानोंपर वारम्वार पढ़ा जाता है इसके उपरान्त अनेक मुनिमहाराज इस ग्रन्थको सार्वंत कठस्थ करते हैं और इसका निरन्तर पाठ भी करते हैं ऐसा हमारे अनुभवसिद्ध है। इस ग्रन्थकी महत्ता और उपयोगिताके सम्बन्धमें इतनी हकीकत ही काफी होगी।

हेतु

जिस महान् हेतुसे यह ग्रन्थ लिखा गया है उसको विशेष तया ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है। समताप्राप्तिके नजदीकका हेतु और मोक्षप्राप्तिके परपरागत हेतु है ये दोनों अनन्तर और परम्पर हेतु प्राप्तकर सके ऐसी शैलीसे और ढंगसे ग्रन्थ लिखा गया है।

टीका

इस ग्रन्थपर धनविजयगणीने अधिरोहिणी नामकी टीका लिखी है, यह टीका अत्यन्त उत्तम और विस्तारवाली संस्कृत भाषामें है। टीकाकार महान् विद्वान् ज्ञात पड़ते हैं। यहां ग्रन्थार्थ लिखनेमें इस टीकाका वारम्वार उपयोग किया गया है। विवेचनमें भी कई स्थान पर उनके विचार उद्धृत किये गये हैं। जिस स्थानपर उनका नाम नहीं लिखा गया है वहाँ भी उन्हीकी छाया ही होगी। मैं प्रत्येक श्लोकपर विवेचन लिखनेमें पहिले उस टीकाका पढ़ता था।

क्षमायाचना

इस ग्रन्थका विवेचन लिखते समय ग्रन्थकर्त्ताका क्या आशय है इसका प्रत्येक समय यथोचित विचार किया गया है। अन्य विद्वान लेखकोंके इसी विषयपरके विचार और पाश्चात्य शिक्षाके संस्कारसे प्राप्त हुए विचार आदिको लिख कर सरसक विवेचनको उपयोगी बनानेका प्रयत्न किया गया है, जिसपर भी मन्द अभ्यासके कारण मति दोषका रहजाना सम्भव है, जिसके लिये उचित स्थानपर क्षमा याचना की गई है तथा पुनः यहांपर भी क्षमायाचना की जाती है।

इस ग्रन्थपर संस्कृतमें धनविजयगणीजीकी टीका है। तदुपरांत रत्नचंद्रगणीजीकी भी है। इस ग्रन्थकी काव्यचमत्कृति और उपदेश-

योजना

पद्धति इतनी प्रभावकारक और उत्तम है कि जिसका जिस तरहमें होसके उसीतरह प्रचार करनेकी आवश्यकता है। अध्यात्मकेविषयपर यदि लोगोंका आदर होगा तो इसके पश्चात् एक दो अपूर्व ग्रन्थोंपर भी इसीप्रकार विवेचन करनेके सम्बन्धमें योजना करनेकी अभिलाषा है। अब इस ग्रन्थके रचनार युगप्रधान तुल्य तपगच्छाधिपति श्रीमन्मुनिसुन्दरसूरि महाराजके चरित्रपर गवेषणा कर ऐतिहासिक नोंधोंका संग्रह कर उपोद्घातकी समाप्ति की जायगी।

मुनिसुन्दरसूरि और उनका समय

इतिहास सम्बन्धी दुर्लक्ष्य

इतिहासके सम्बन्धमें हिन्दुस्तानमें पहिले हीसे बेपरवाही बतलाई है ऐसी साधारण पुकार है। अपना नाम प्रसिद्ध करजानेकी प्रबल अभिलाषा न होनेके कारण या इस विषयसे [1]भविष्यकी प्रजाको विशेष लाभ होनेके कारणको विचार न करनेके कारण अथवा अन्य किसी प्रकारके कारणसे इस सम्बन्धमें बहुत पुकार मचानेका कारण उपस्थित हुआ है। जिसके कारण आर्य्यावर्तकी प्राचीन कालमें क्या स्थिति थी इसका पूरा पूरा हाल जाननेमें अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। सच्ची हकीकत इस विषयमें भाग्यसे ही उपलब्ध हो सकती है। जो मिलती हैं वे ग्रन्थपर गिरती हुई इधर-उधरकी परछाइरूप अथवा प्रकाशकी किरणे हैं कि जिसीके उपरसे अनुमान करना पड़ता है। अमुक ग्रन्थ किस समय लिखा गया है ऐसा यदि किसीको मालुम होजाता हो तो

---

१ मेरे एक विद्वान् मित्रने कहा कि यह बात भ्रमपूर्ण है। उनका कहना है कि मुनिपुंगवोंका साध्यबिन्दु ही भिन्न होता है, इससे अपनी महिमा बढ़ानेके लिये अथवा मान-प्रतिष्ठाके लिये बहुधा अपना हाल नहीं लिखते हैं, परन्तु भविष्यकी प्रजाके उपकारकी बात उनके ध्यानके बाहर होजाना अवास्तविक है। यदि बराबर खोज-खोज की जाय तो सम्वत् १००० से अब तकके धर्मराज्य और राज्योंका इतिहास बराबर लभ्य है। नष्ट होनेवाले ऐतिहासिक ग्रन्थों, प्रतिमाओंके उपरके लेखों, मन्दिरोंके लेख, तथा सिक्के आदि इस हकीकतकी पूर्ती करते हैं। शोधकदृष्टिकी उत्कण्ठासे और प्रबल अभिलाषासे यदि कोई व्यक्ति कार्य करनेवाला होतो लगभग प्रत्येक वर्षका इतिहास उपलब्ध है।

इससे सब खुलासा हो सकता है, उस समयकी समाज (Society)का बंधारण, व्यवहारपद्धति विचारपद्धति और शिल्परचना किस प्रकारके थे इसके जाननेका साधन प्राप्त होजाता है जिसके आदर्श रूप वह हकीकत वर्तमानकालके जनसमूहके लिये अत्यन्त लाभ दायक सिद्ध हो सकती है। ऐसे ऐतिहासिक लेखोंके अभावसे बहुधा ग्रन्थके अर्थ करते समय भी अनेकों असुविधाओंका सामना करना पड़ता है। और बहुधा अनुमानके अधुरे आधार पर ही कार्य करना पड़ता है। ऐतिहासिक लेख स्वयं कितना लाभ पहुँचाते हैं यह अत्यन्त अगम्य और विचारने योग्य विषय है, परन्तु यहां वह प्रस्तुत नहीं है। अभीतक तो इतना ही उल्लेख करना प्रस्तुत होगा कि भारतवर्षमें इतिहासका अत्यन्त अभाव प्रतीत होता है।

हिन्दुस्तानके सम्बन्धमें यथोचित ऐतिहासिक लेखोंका जित-ना अभाव दृष्टिगोचर होता है उतना ही जैनीयोंके सम्बन्धमें भी समझलें, परन्तु इनकी स्थिति कुछ ठीक है।

यावन हिन्दुस्तानका थोड़ा बहुत समय समय पर जो इतिहास उपलब्ध होता है वह बहुधा जैन ग्रन्थोंके आधारपर ही लिखा हुआ है। हेमचन्द्राचार्य तथा उनके पश्चात् होनेवाले कई जैन विद्वानोंने इतिहासके रूपमें जो कुछ थोड़ा बहुत लिख दिया है और उसमेंसे जो कुछ न्यूनाधिक समय समय पर उपलब्ध हो जाता है उसीका उपयोग किया जाता है। यह उत्तम स्थिति है जिससे हमको कुछ आनन्द मिलता है। तिसपर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि जैनग्रन्थोंमें भी नियमपूर्वक शृङ्खला-बद्ध इतिहासका अभाव है, परन्तु तितर-बितर और यत्रतत्र बिखरे हुए लेखोंके रूपमें वह बहुधा लभ्य है। इतिहासके सम्बन्धमें इतना उपकार जैन प्रजाने अपने ऊपर और दूसरोंके ऊपर किया हो इतना ही नहीं, परन्तु अपनी जातिके महान् आचार्योंके सम्बन्धमें भी अनेक ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों द्वारा प्रकाश डाला है। हेमचन्द्राचार्यके पूर्वके आचार्योंके लिये तो चतुर्विंशति प्रबन्ध आदि ग्रन्थोंमें इतिहास मिलते हैं और उनके पश्चात्के आचार्योंके लिये तो तपागच्छ पट्टावलियें प्राप्य हैं। यह इतिहास भी प्रायः धार्मिक इतिहासके सदृश ही होता है। अमुक आचार्यके विषयमें कुछ भी मालूम न हो उससे तो थोड़ा बहुत हाल मालूम होना ही अच्छा

है, इस दृष्टिसे इस विषयमें कुछ कुछ संतोष होता है, परन्तु अमुक आचार्यका जीवनचरित्र लिखना हो तो एक दो अपवाद (मेरी मान्यतानुसार हेमचन्द्राचार्य और हीरविजयसूरि)के अतिरिक्त अन्यके विषयमें कुछ भी मिलना असम्भव है[1]। स्थिति इस प्रकार है अतएव इस महान ग्रन्थके कर्त्ताके लिये बहुत इतिहास मिलना तो कठिन है, परन्तु खोज करनेसे जो अल्पाधिक प्राप्त हुआ है उसे यहां दिया गया है।

इस ग्रन्थके कर्त्ता मुनिसुन्दरसूरि महाराज हैं। उनका जन्म विक्रम सम्वत् १४३६ में (सन् १३८० ई. स. में) हुआ था। उनका जन्म कौनसे नगरमें हुआ था; उनके मातापिता कौन थे और वे किस जातिके थे इसके सम्बन्धमें हमको कुछ भी पता न चल सका। उन्होने सात वर्षकी छोटीसी वयमें सम्वत् १४४३के सालमें जैनधर्मकी दीक्षा ली थी[2]। ऐसी छोटीसी उम्रमें दीक्षा लेनेके सम्बन्धमें अथवा देनेके सम्बन्धमें अभीतक दोनों ओरसे वादविवाद चलता है, किन्तु इस सम्बन्धमें पूर्वकालके विचार बहुत भिन्न ही प्रकारके थे। आजकल अनुभवरहित छोटी वयवालेको दीक्षा देनेमें कई पुरुष बड़ी भारी भूल करना समझते हैं, पूर्वकालमें सर्वानुमते ऐसा विचार था कि इन्द्रियस्वादमें पड़ जानेके पश्चात् इस प्राणीका इससे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन होजाता है अतएव पूर्वके शुभ संस्कारसे किसी भी प्राणीको लघु वयमें यदि चारित्र ग्रहण करनेकी अभिलाषा हो तो उसमें विलम्ब न करना, अन्तराय न देना और उसको संसारमें आसक्त होनेका अवसर नहीं देना चाहिये। इतिहाससे भी ऐसा विदित है कि जैन शासनानुसार अन्य दर्शनोंमें भी जिन जिन महात्माओंने अपनी कीर्ति फैलाई है, जो अद्-

---

१ यह हकीकत ठीक नहीं है। अगले पृष्ठके नोटको पढें। शोधखोलसे कई आचार्योंके चरित्र मिलना सम्भव है। हीरसौभाग्यकाव्य, गुरुगुणरत्नाकर, सोमसौभाग्यकाव्य, जयानन्दचरित्र, विजयप्रशस्तिकाव्य, आदि अनेक ग्रन्थ ऐतिहास चरित्रोंकी पूर्तिके सहाय्यरुप हैं, तदुपरान्त अनेक ग्रन्थोंमें लिखित प्रशस्तियें भी उपयोगी साधकके रूपमें सहाय्यभूत हैं।

२ बहुधा ऐसा सम्प्रदाय सुना जाता है कि एकी वर्षमें दीक्षा नहीं दी जा सकती है तो कदाच आठवें वर्षमें पैर रखते ही उनको दीक्षा दी जाना सम्भव है।

मुत ग्रन्थकर्ता, तर्कवेत्ता या व्याख्यानकार हुए हैं, वे सब छोटी वयमें ही दाक्षित हुए थे। वज्रस्वामीने छयुवयमें ही दीक्षा ग्रहण की थी, अभयदेवसूरिको सोलह वर्षकी वयमें तो आचार्यपद दिया गया था, हेमचन्द्राचार्य नव वर्षके थे तब ही उनको दीक्षा दी गई थी, इस ग्रन्थके कर्त्ताके पूर्वपुरुष सोमसुन्दरसूरि जब सात वर्षके थे तब ही उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी और यशोविजयजी महाराजके सम्बन्धमें भी ऐसा ही सुना गया है। श्रीमान् हेमचन्द्राचार्यके सम्बन्धमें इस रचनापर टीका करते हुए प्रो० पीटरसन लिखता है कि " देवचन्द्रने ऐसे छोटेसे बालक (चंगदेव-हेमचन्द्र)को अपना शिष्य बनाया यह किसीको नवीन प्रतीत होगा, परन्तु वास्तवमें इसमें कुछ भी नवीनता नहीं है। ऐसी प्रथा इस देशमें तथा अन्य देशोंमें सदासे चली आती है और चल रही है। बड़ी वयको प्राप्त करनेवाले पुरुषको ही साधु बनाया जा सकता है यद्यपि यह पद्धति उत्तम है, परन्तु अन्य सर्व धर्मोकी ओर दृष्टि दौड़ाई जाय तो इसीप्रकार नये आचार्योंको पसन्द किया जाता है। जहां आचार्यको लग्नादिकका प्रतिबंध हो वहां अपने स्थानको ग्रहण करनेके लिये आचार्य बनानेके लिये इस प्रकार किये बिना छुटकारा मिल ही नहीं सकता है। " प्रो० पीटरसन जैसे विद्वान् इस हकीकतको व्यवहारदृष्टिसे बतलाते हैं, परन्तु तदुपरान्त ऐसे प्रसङ्गके विषयमें मनको एक आरकी निर्णय पर लानेसे प्रथम धार्मिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिसे साधुओंकी व्यवस्थापर और उस सस्थाकी आवश्यकताओंके विषयपर विशेष ध्यान देना चाहिये। अभ्यासकाल बाल्य अवस्थामें ही प्रारम्भ है और आज कल जैसे B A, M A. (बी. ए, एम ए.) होनेसे जैसे लगभग तेरह वर्षके बद्धिश अभ्यासकी आवश्यकता है इसी प्रकार धार्मिक ज्ञानमें भी एम ए. (M. A) होनेके लिये कई वर्षोंकी आवश्यकता होनी चाहिये। ऐसा सहज ही समझमें आ सकता है। प्रत ससार पर उपकार करनेके सयोग तो बाल्यवयमें दीक्षा लेनेवालेको ही प्राप्त होना सम्भव है। मुनिसुन्दरसूरि महाराजने कैसे कैसे चमत्कार किये हैं उनको जब हम आग पढ़ेंगे तब इस सम्बन्धका ख्याल स्पष्टतया हमारी समझमें आजायगा।

मुनिसुन्दरसूरि महाराजको दीक्षा देते समय किसके शिष्य

बनाये थे इसका कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। आगे लिखे अनुसार वे सोमसुन्दरसूरिके पट्टधर हुए इससे उन्हींके शिष्य होना माना जाता है, परन्तु इन सोमसुन्दरसूरिका जन्म सम्वत् १४३० में हुआ था और उन्होंने सात वर्षकी आयुमें सम्वत १४३७ में दीक्षा ग्रहण की थी, अतः सम्वत् १४४३ जो मुनिसुन्दरसूरिका दीक्षाकाल है उस समय उनकी आयु तेरह वर्षकी ही होनी चाहिये और इस छोटी आयुमें उनके शिष्य बनाना सम्भव नहीं हो सकता है। अपितु मुनिसुन्दरसूरिकी गुर्वावलीमें देवसुन्दरसूरि जो उस समय तपगच्छके मूल पाटपर थे और गच्छाधिपति थे उनके विषयमें लगभग सीत्तर श्लोक लिखे हुए हैं अतएव कदाच मुनिसुन्दरके दीक्षागुरु वे ही हो ऐसी कल्पना की जा सकती है।[1]

देवसुन्दरसूरि जो उग्रपुण्य प्रकृतिवाले थे वे संवत १४४२ मे [2]गच्छाधिपति हुये और उन्होंने सम्वत् १४५७ में कालधर्मको प्राप्त

---

१ ऐसा मानने का एक और दूसरा प्रबल कारण है-गुर्वावली ग्रन्थ मुनिसुन्दरसूरिने संवत् १४६६ में पूर्ण किया था।। उस समय देवसुन्दर-सूरिको काल किये आठ नौवर्ष हो गये थे और पाटपर सोमसुन्दरसूरि थे, तिसपर भी ग्रन्थके अन्तमें वे अपने आपको देवसुन्दरसूरिके शिष्यके रूपमें प्रकट करते हैं। यह सम्पूर्ण पेराग्राफ (Paragraph) आगे उद्धृत कर दिया गया है जिससे स्पष्टतया समझमें आ जायगा। इस सम्बन्धमें ठीक ठीक निर्णय होना असम्भव है, कारण कि इसी गुर्वावलीके ४२० वें श्लोकमें लिखते हैं कि "उन सोमसुन्दरसूरिका शिष्य' मेरे जैसा गुणरहित प्राणी उपाध्याय माना जाता है।" यहां पर उनका शिष्य ये शब्द सामान्य हैं या विशेष हैं इनका समझना कठीन है। दोनों ओरकी बातोंको देखते हुए वे देवसुन्दरसूरिके शिष्य थे ऐसा माननेका विशेष कारण है, परन्तु इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। अपितु अन्य प्रकारसे देखा जाय तो उनको कदाच देवसुन्दरसूरिने सोमसुन्दरसूरिकी लघुवयमें भी उनके नामसे दीक्षा दी हो ऐसा होना सम्भव है। सोमसुन्दरसूरिको २० वर्षकी वयमें तो उपाध्याय पद मिला था इससे यदि १३ वे वर्षमें उनको शिष्य दिया गया हो तो भी इसमें कोइ विरोध जैसी बात नहीं है।

२ उपोद्घातमें लिखा गया था कि देवसुन्दरसूरिको आचार्यपद सम्वत १४४२ में मिला था, परन्तु यह बात अभी भ्रमपूर्ण है। जयानन्दसूरिने सम्वत् १४४१-४२ में काल किया तब सम्वत् १४४२ में देवसुन्दरसूरि

किया था और ये सुधर्मास्वामीसे पचासवें गच्छाधिपति थे ऐसा मुनिसुन्दरसूरिजी अपनी गुर्वावलीके श्लोक ३९८ में लिखते हैं। इन आचार्यश्रीके पाटपर श्रीसोमसुन्दरसूरि आये। इन सोमसुन्दरसूरिका इतिहास विशेषतया पढ़ने योग्य है और यह 'सोमसौभाग्यकाव्य' मेंसे प्राप्त हो सकता है। यहां तो उनका और मुनिसुन्दरसूरिका इतिहास आवश्यकतानुसार एकत्रित कर संक्षेपमें बतलाया गया है। ये सोमसुन्दरसूरि जयानन्दसूरिके शिष्य थे और उनको १४५० में वाचक (उपाध्याय) पद प्राप्त हुआ था। इस जमानेमें श्रीमन्त सेठिये सूरिपदकी प्रतिष्ठाका महोत्सव बड़े आडम्बरसे करते थे और गुरुमहाराज संघके अग्रणी गृहस्थोंकी विनतिपर अपने शिष्योंमेंसे योग्य शिष्यको सूरिपद प्रदान करते थे। इसीप्रकार सोमसुन्दर सूरिने छ शिष्योंको सूरिपद प्रदान किया ऐसा सोमसौभाग्यकाव्यसे जाना जाता है। देवराज शेठके आग्रहसे मुनिसुन्दरको, गोविन्दशेठके खर्चेसे जयचन्द्रको, नींबशेठके खर्चपर भुवनसुन्दरको, गुणराजशेठके आग्रहसे मधुवामें जिनसुन्दर वाचकको, विशलशेठीके पुत्र चम्पकके आग्रहसे जिनकीर्तिको और राणपुरमें धरणेन्द्र शेठके आग्रहसे सोम देव वाचकको सूरिपद दिये गये थे और ये सर्व महोत्सव बड़े भारी खर्चोंसे, अत्यन्त आडम्बरसे श्रीसोमसुन्दरसूरिके समयमें हुए थे। इसप्रकार सूरि चाहे जितने भी क्यों न हों, परन्तु गच्छाधिपति तो एक ही सूरि होता था ऐसी पद्धति थी। इस नियमानुसार नरसिंह शेठके आग्रहसे अद्भुत महोत्सवके साथ सोमसुन्दरसूरिको सम्वत् १४५७ में सूरिपद प्राप्त हुआ[1] था। उस शेठकी गुरुभक्ति कितनी उत्तम श्रेणीकी थी और उस समयमें साधुओंका और सामान्यतया भी कैसा प्रेम था यह बहुत विचारने योग्य है। सोमसुन्दरसूरि कब गच्छाधिपति हुए उस समयका पता नहीं

गच्छाधिपति हुये। जब गच्छाधिपति हुवे तब भी वे देवसुन्दरसूरिके नामसे ही प्रसिद्ध थे इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनको सूरिपदवी तो इस समयके पहिले ही मिल गई थी।

१ सोमसौभाग्य काव्यके ५ वे सर्गके ५१ वे श्लोकको और गुर्वावलीके १९१ वें श्लोकको पढ़िये। यह सूरिपद अणहिलपुरपाटणमें प्रदान किया गया था।

चलता है, परन्तु उन्होंने कई वर्षों तक गच्छका भार वहन किया था ऐसा अनुमान किया जाता है। वे सम्वत् १४९९ में काल-धर्मको प्राप्त हुए, अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने गच्छा-धिपतिपन लगभग तीस या पैंतीस वर्ष तक तो किया ही होगा। उपरोक्त 'सोमसौभाग्यकाव्य' ग्रन्थ काव्यका एक नमूना है इस-लिये इसरूपमें भी वह प्रधानतया पढ़ने योग्य है, तदुपरान्त सोम-सुन्दरसूरिके शिष्यरत्न प्रतिष्ठासोमने उसे सम्वत् १५२४ में बनाया है, अतः जितनी हद तक वह ऐतिहासिक हकीकतको पूरी करता है उतने हद तक वह बहुत आधारभूत समझा जाता है। यह ग्रन्थ कई हकीकतोंपर सहायभूत होता है। अतः उपोद्घातके ऐति-हासिक विभागमें इसका आधार बारम्बार लिया गया है—

मुनिसुन्दरसूरिको वाचक पदवी (उपाध्यायकी पदवी) विक्रम सम्वत् १४६६ में दी गई थी और उस समयसे वे मुनिसुन्दर उपा-ध्यायके नामसे प्रख्यात हुये थे। उस समय गच्छाधिपति सोम-सुन्दरसूरि थे। इस बातका प्रधानतया नोट करलेनेकी आवश्यकता है। इन्हों महात्माओंको देवराज शेठके आग्रहसे विक्रम सम्वत् १४७८ में सूरिपद मिला और उसके पश्चात् वे मुनिसुन्दरसूरिके नामसे पृथ्वीतलपर प्रसिद्ध हुए। इस सूरिपदका महोत्सव सोमसौभाग्य काव्यमें अत्यन्त उत्तमताके साथ वर्णन किया गया है, वह यहां

---

१. यह सोमसौभाग्य काव्य श्री प्रतिष्ठासोमका बनाया हुआ है, परन्तु हीरसौभाग्यकाव्य जो देवविमलगणिने बनाया है उसके चौथे सर्गके ११ श्लोकमें वे कहते हैं कि 'तथा सुमतिसाधुसूरिकृत सोमसौभाग्य-काव्य' अर्थात् देवविमलगणि जिसने इस ग्रन्थको सम्वत् १६७१ से ८१ तकमें बनाया हुआ जान पड़ता है उनके मतानुसार सोमसौभाग्य काव्यके कर्त्ता सुमतिसूरि थे ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु सोमसौभाग्य काव्यके दशवें सर्गके ७८ वें श्लोकमें लिखते हैं कि "साधुना सुमतिसाधुनादरात् नवं काव्यं निर्ममे" अर्थात् सुमतिसाधुके आदरसे यह नवीन काव्य बनाया है ऐसा होना चाहिये। इसीप्रकार इसी सर्गके ७३ वे श्लोकसे यह ग्रन्थकर्त्ता प्रतिष्ठासोम हैं ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। देवविमलगणि बहुत नजदीकके समयमें होनेपर भी वे इसप्रकार लिखते हैं इससे यह हकीकत विचारने योग्य है। सुमतिसाधुसूरि तपगच्छकी गादीपर ५४ वीं पाटे हुए थे। उसीके दशवें सर्गका ७४ वां श्लोक क्षेपक जैसा प्रतीत होता है।

मोट कर देने योग्य है। वर्णन करनेवाले स्वयं देखनेवाले थे इससे इसमें अतिशयोक्तिका होना बहुत कम सम्भव है। यह हकीकत सोमसौभाग्य काव्यके छट्टे सर्गमें बतलाई गई है। उसके प्रारम्भिक भागका सारांश निम्न लिखितानुसार है—

देवसुन्दरसूरिके स्वर्गारोहणके पश्चात् गच्छका भार सोमसुन्दर सूरिके सिरपर गिरा। ये महाप्रतापी विद्वान् थे। इन सूरिराजके दर्शन करनेसे पूर्वके गौतम, जम्बू, स्थूलभद्र आदि महात्माओंका स्मरण हो जाता था। गुरुमहाराजने घूमते फिरते एक बड़े नगरमें पदार्पण किया (*नगरका नाम समझमें नहीं आसकता, कदाच यह* 'वृद्ध नामका नगर हो तो भी कुछ शंका नहीं है, परन्तु इस नामसे आजकलका नाम नहीं समझा जा सकता है) यह नगर बड़ा रमणीय था (कविने इस नगरका अद्भुत वर्णन किया है) इस नगरमें आदीश्वर प्रभु तथा महावीर परमात्माके दो भव्य विहार थे। इन्द्रकी अमरावती जैसे इस श्रेष्ठ और सम्पत्तिके निवा-सरूप नगरमें लक्ष्मीवान् और अपनी बुद्धिसे पूजित एक देवराज नामक सेठ निवास करता था। इस सेठके हेमराज नामका लघु

---

१ यह वृद्ध नामक नगर गुजरातमें वीसनगरके समीपस्थ आधुनिक वडनगर शहर है ऐसा मेरे एक विद्वान् मित्रने कहा है। उसकी पुष्टिमें उसने जो जो कारण बतलाये हैं वे बहुत विश्वासजनक हैं। वे निम्न लिखित हैं। मूल श्लोकमें जो हकीकत है इससे यह भाव प्रदर्शित होता है। ' स वृद्ध' गुरुराट् वृद्धं नगरं आजगाम ' इस ग्रन्थके छठे सर्गके तेरहवें श्लोकमें लिखे अनुसार वडनगरके मध्यभाग में अब तक भी आदीश्वर भगवान् तथा जीवितस्वामीके दो चैत्य मौजूद हैं और वह सम्प्रति राजा द्वारा निर्मित कराये हुये कहे जाते हैं। अपितु सातवें श्लोकमें ' समेला ' तालाबकी बात कही है वह तालाब भी इस समय तक मौजूद है। वह बहुत बड़ा है और उसका नाम भी समेला ही है, वह पत्थरोंका बना हुआ है और उसके चारों ओर वेदिकायें हैं, तालाबपर अनेकों आमराव हैं। तदुपरान्त उसी ग्रन्थके उसी सर्गके पन्द्रहवें श्लोकमें कहे अनुसार वडनगरमें १९० तालाब हैं परन्तु समयान्तरसे वे छिछले होगये हैं। अपितु अनेक कुवें भी हैं। वर्णनमें लिखा अनुसार आम और केलके भी यहाँ अनेकों वृक्ष हैं। इसप्रकार सब वर्णन मिलनेसे वृद्धनगर आधुनिक वडनगर ही होगा ऐसा माननेके अनेकों कारण हैं।

भ्राता था और दूसरा धटसिंह नामका भाई था। ये दोनों भाई भी बहुत श्रेष्ठ थे और बड़े भाईके लिये दोनों सुखदायी थे। उस समय देवराज सेठने अपने भाइयोंसे कहा, " हे बन्धुओं ! यह नाशवान लक्ष्मी किसीके घरमें स्थिर नहीं रही है। अनेक चक्र-वर्ती और सार्वभौम राजा लोग इस धनसे प्रधान होगये हैं, उसी प्रकार वासुदेव भी इसकी स्तुतिनिधिमें प्रसिद्ध हैं, तथा ये क्रमशः नल, मुंज, और भोज राजा पृथ्वी प्रख्यात हो गये हैं, ऐसे पुरुष-पुंगवोंके गृहमें भी लक्ष्मीने स्थिरता प्राप्त नहीं की, तब श्रेष्ठ पुरुष लक्ष्मीका दान कर कृतार्थ होते हैं। अतएव यदि तुम दोनों मनमें विचार कर सम्मत हो तो मैं इस लक्ष्मीद्वारा सूरिपदकी प्रतिष्ठा करूं।" दोनों भाइयोंने बहुत प्रसन्नतापूर्वक सम्मति उनके चरणोंमें भेट की, तो देवराज सेठ हर्षसे गद्गद् होकर सोमसुन्दर सूरि महाराजके निकट आया और गुरु महाराजको वंदन किया (आगेका भाग विशेष उपयुक्त है इसलिये विस्तारपूर्वक सम्पूर्ण दिया जाता है।)

अथाजितपतिरतिशिरोमणिश्च गच्छाधिपं स्वच्छमतिप्रसादम् ।
श्रीसूरिविद्यापदभूमिविक्रदयस्त निर्माप्यतां प्रसादात् ॥ ३१ ॥

अर्थ-चतुर पुरुषोंमें श्रेष्ठ उस सेठने स्वच्छ बुद्धिवाले सूरिमहाराजसे विनति की कि " आप किस सूरिपदके स्थानमें प्रसन्न होकर मेरे पैसोंका व्यय करावें।" अर्थात् मेरे खर्चसे किसी मुनिको सूरिपदकी प्रतिष्ठा कराइये।

ततो गुरुः सौधविनेयवृन्दे, ददौ सर्वोदयदृगुत्ं स्वदृष्टिम् ।
श्रीवाचकेन्द्रे मुनिसुन्दराख्ये, विशेषतो योग्यतया तया च ॥ ३२ ॥

अर्थ-इसके पश्चात् उत्साहमें हुए वे गुरुमहाराज अपने शिष्य समू-हकी ओर दृष्टि डाली और विशेषतया वाचकेन्द्र श्रीमुनिसुन्दर आप विशेष योग्यताके कारण उनकी दृष्टि पड़ी।

अखण्डयन्तर्क्ष सविकल्पजालं, सदाप्यनुस्मृतमतिप्रभूतम् ।
अलंकृतं धीमदवादिवृन्दं, ननाश यस्मिन् किलकाकनाशम् ॥ ३३॥

अर्थ-जब मुनिसुन्दर उपाध्याय अति बुद्धिसे व्याप्त तर्क शास्त्रको वचनमार्गद्वारा प्रकाशित करते हैं तब संस्कारवाले उन्मत्त वादि-योंका समूह कौओंके समान शीघ्रतया कूच कर जाता है। अर्थात् वे वादविवादमें वादियोंको शीघ्र ही वाणीद्वारा परास्त कर देते हैं।

स्वसाध्यसिद्ध्यै सति यत्र हेतू-पन्यासमातन्वति वादभूमौ ।
प्रायाद्वकोन्मादभरः शरीरे, स्वेदेन सार्द्धं किल जाग्जीति ॥ १४ ॥

अर्थ-जो वाचकपति वादभूमिमें अपने साध्यकीसिद्धिके लिये हेतुका उपन्यास करते हैं (साध्य और हेतु दोनों तर्कके पारिभाषिक शब्द हैं) तब उनप्रवादियोंके उन्मादका समूह शरीरमें जैसे पसीना शुष्क हो जाता है वैसे शुष्क हो जाता है ।

यन्निर्मिता श्रीगुरुभव्यकाव्य, विज्ञप्तिगंगा गुणमत्तरंगा ।
प्रक्षालयन्ती कलिकल्मषौघं प्रमोदकार्यीत्सुमनः समूहान् ॥ १५ ॥

जिन वाचकेन्द्रकी रची हुई श्री गुरुकी भव्य कवितारूप गंगानदी गुणरूप तरंगोंसे उछलती हुई कलिकालके पापके समूहको धो डालती थी और अनेक विद्वानोंको हर्षित करती थी (यह काव्य विज्ञप्तितरंगिणी जिसका एक भाग गुर्वावली है उसको सूचित करता होगा ऐसा प्रतीत होता है । यह काव्य इन्होंने सूरिपद प्राप्त कर लेके पूर्व सम्वत् १४६६ में लिखा था ऐसा हम आगे पढ़ेंगे ।)

येन प्रक्लृप्ता स्तुतय स्तवाश्च, गाम्भीर्यभृन्नव्यमनूर्यसार्थाः ।
श्रीसिद्धसेनादिमहाकवीनां कृतीर्मतीद्धा अनुषक्तिरे ताः ॥ १६ ॥

अर्थ-जिनके द्वारा रची हुई गंभीरतासे परिपूर्ण नवीन उत्तम अर्थवाली स्तुतियें और स्तवन श्रीसिद्धसेन दिवाकरादि महाकवियोंद्वारा रची हुई बुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त हुई कृतियोंका अनुसरण करते थे, अर्थात् काव्यचमत्कृति, रस और अलंकारसे भरपूर थी । (यह श्लोक 'स्तोत्ररत्नकोष' नामक उनके प्रसिद्ध स्तोत्रों तथा अन्य अप्राप्य स्तवनोंको सूचित करता हो ऐसा ज्ञान पड़ता है ।

सद्युक्तिपूर्णसंस्कृतजल्पशक्तिः, सहस्रनाम्नां कथनैकशक्तिः ।
तात्कालिकी नव्यकवित्वशक्ति-र्न यं विनाऽन्यत्र समीक्ष्यतेऽघ ॥१७॥

अर्थ-सुयुक्तिसे भरपूर संस्कृत बोलनेकी शक्ति, एक सहस्र नामोंका एक साथ उच्चारण करनेकी ताकात और तात्कालिक नवीन कविता बनानेका सामर्थ्य इनके अतिरिक्त अन्य किसीमें नहीं पाई जाती । (संस्कृत भाषापर अधिकार, सहस्रावधानीपन और शीघ्रकवित्व-इन तीनों विषयोंका यहाँ प्रतिपादन होता है ।)

विद्या न सान्मे निरवद्यनाम्नकस्या न सा चास्ति परा परायाम् ।
यस्यां न यस्याऽऽसिमानिमस्य, बुद्धिर्विशुद्धा प्रसरीसरीति ॥१८॥

अर्थ-विश्वमें ऐसा कोई भी निरवद्य विद्या नहीं है और ऐसी कोई

भी उत्तम कला नहीं है कि जिसमें अनेक मनुष्य समूहोंसे पूजित इन मुनिसुन्दर वाचकेन्द्रकी बुद्धि भली भांति प्रसारित न होती हो; अर्थात् उनश्रीकी बुद्धि सर्व विद्याकलाओंमें प्रवेश कर सकती थी।

मेधाविनः सन्ति परे सहस्रा, अदूष्यवैदुष्यधरा धरायाम।
परं न यस्य प्रसरत्प्रकर्ष. प्रज्ञस्य वितस्य तुलाभृतः स्यु॥ ३९॥

अर्थ-इस संसारमें किसी भी प्रकारके दूषणों रहित विद्वत्ताको धारण करनेवाले सहस्रों बुद्धिमान पुरुष हैं परन्तु प्रसारित होनेवाली उत्कर्षवाली बुद्धिको धारण करनेवाले विद्वान् मुनिसुन्दर उपाध्यायकी बराबरी करनेवाला तो अलभ्य है।

तं वाचकं सूरिपदार्हमर्हन्मतोन्नतिस्फातिकरं विमृश्य।
वचोऽनुमेने सुमना महेभ्यराट् श्रीदेवराजस्य गणाधिराज॥ ४०॥

अर्थ-इन वाचकेन्द्र मुनिसुन्दरको आर्हत मतकी उन्नति करनेवाले और सूरिपदके योग्य समझकर शुभ मनवाले गच्छपति सोमसुन्दरसूरिने उस महान् शेठ देवराजके वचनोंको अंगीकार किया।

अगाद्सौधामनिकाममन्त-श्चित्तं प्रहृष्टः कृतिनां गरिष्ठः।
आक् प्राहिणोत् कुङ्कुमपत्रिकाश्च, कीर्त्या समं भूमितलेऽखिलेऽपि॥४१॥

अर्थ-तत्पश्चात् कृतार्थ पुरुषोंमें श्रेष्ठ वह देवराज शेठ हृदयमें आनन्दसे गद्गद् होकर स्वगृहको लौटा और तत्काल अपनी कीर्तिके साथ मनसे सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलपर कुंकुमपत्रिकायें (कंकोत्रियें) भेजी।

समागमत्संङ्घजनाश्च तेना,-हूताः प्रभूताः परिपूतचित्ताः।
तवो च रूपास्तसुपर्वगर्वस्तैस्तत्पुरं स्वःपुरवद्विरेजे॥ ४२॥

अर्थ-उस शेठको निमंत्रण पाकर कई पवित्र चित्तवाले संघके पुरुष आ एकत्रित हुए। रूपमें देवताओंके गर्वको भी पानी भरानेवाले इनएकत्रित हुए जनसमुदायने वह नगर स्वर्गलोकके सदृश शोभायमान हो गया।

मेर्यादिवाद्यानि जगर्जुरूर्ज-स्वलानि माङ्गल्यरवातुलानि।
समं च तैः प्राक् सुकृतानि तानि, पुराकृतानि प्रथितानि तस्य॥४३॥

अर्थ-मांगलिक शब्दोंसे अतुल्य भेरि आदि वाजिंत्र उग्ररूपसे ऊँचे स्वरसे बजने लगे जिसके साथ ही साथ उस शेठके पूर्व (पूर्वभवमें) किये हुए सुकृत्योंका नाद होने लगा। (इस भवमें जो लक्ष्मी प्राप्त हुई है वह गत भवके सुकृत्योंकी सूचक है।)

ध्वजाभिरुच्चैर्वरमन्दिराणि, निकेतनानि व्यवहारिणां तु ।
बभासिरे तस्य गुणान्वितस्य, प्रभाप्रमोदानीव समन्ततोऽसि ॥४०॥

अर्थ-पवनकी तरंगोंसे जब सेठके मन्दिरोंकी ध्वजा फरफराती थी तब वे मन्दिर ऐसे शोभायमान होते थे मानो वे उस गुणवान् सेठक मनमें उत्पन्न हुए हुए मन हो ऐसे शोभते थे ।

तदा च सुत्रामपुरस्य शोभां शुभां पिबन्तिस्म पुरे तदुच्चैः ।
पदे पदे सन्मनुजप्रणाली निरीक्ष्यतेऽलंसुपर्वराजिः ॥ ४१ ॥

अर्थ-उस समयकी उस नगरकी शोभा अमरावतीकी उत्तम शोभाको सहज थी, क्योंकि ठौरठौर पर देवताओंकी श्रेणियें हर्ष उत्पन्न करनेवाली दृष्टिगोचर हो रही थी; अर्थात् मनुष्योंकी पंक्तिके समान शोभित थी । (सुपर्व अर्थात् देवतागण अथवा पर्वोत्सव, यह शब्द श्लेष है जिससे अत्यन्त सुन्दर अर्थचमत्कृति पैदा करता है)।

सर्वाङ्गसर्वाभरणाभिरामा, रामाः सकामा ब्रजन्तिस्म तदानीम् ।
न केवलं लोचनानि सर्वं, श्रोत्रसुतीनामपि च प्रमोदम् ॥ ४२ ॥

अर्थ-सम्पूर्ण शरीरपर पहिने हुए रमणीय चमत्कारिक आभूषणोंसे सुन्दर दिखाई देनेवाली सकाम रामायें उस समय केवल चपल चक्षुरादिसे नेत्रोंको आनन्दित करती हो इतना ही नहीं अपितु वे अपने चपलमंगलादिसे श्रोताओंकी श्रवणेन्द्रियको भी तृप्त करती थीं।

महोत्सवेषु प्रथितेषु तेषु, समन्ततः सन्ततमद्भुतेषु ।
संस्कारवर्येण पुरात् पुराणः, शोकास्तदानीं निरकासि सद्यः ॥४३॥

अर्थ-इसप्रकार वे अद्भुत महोत्सव जब चारों ओर हर्षके उत्कर्षसे हो रहे थे तब पुराने सुने शोकको शीघ्र ही इस नगरसे देश निकाला मिल चुका था ।

मुहूर्तपक्षेऽथ रमासनाथ, युगादिनाथस्य पृथूच्चचैत्ये ।
समर्थिः मन्दिरमिन्दिरास्वामी-मुर्वां च गुर्व्यां स्वयशः समृद्धि ॥४४

अर्थ-मुहूर्तके निमित्तके आने पर शोभायमान भी आदिनाथके ऊंचे और विशाल चैत्यमें गुरुने बड़ी पृथ्वीपर यशकी समृद्धिरूप नन्दी बनाई । (यह नन्दी चतुर्मुख जिन स्थापनारूप है और दीक्षाके अवसरपर समवसरणकी जो रचना की जाती है यह वही है । इसके समक्षमें सब क्रियायें होती है) ।

महामहोर्पे प्रसरत्यमन्दे, मान्यवनजावदेऽखिलवाम्बिनां च ।
श्रीवाचकानां वरसूरिमन्त्रं, प्रदागमुदा श्रीतपगच्छनाथः ॥ ४५ ॥

अर्थ-जब बड़े बड़े महोत्सव हो रहे थे और सर्व वंदियें मांगल्य ध्वनि कर रहे थे उस समय श्री तपगच्छके स्वामीने श्रीमुनिसुन्दर वाचकको हर्षपूर्वक उत्तम सूरिमंत्र दिया।

सङ्घाधिप· श्रीयुतदेवराजः, सदावदातैरवदातकीर्तिः।
उत्कर्षतो दानजलं प्रवर्षन्, प्रावृड्घनाभो ददृशे तदानीम्॥ ५० ॥

अर्थ-उस समय निरन्तर शुद्ध कार्य करनेसे जिस संघपति देवराज शेठकी कीर्ति उज्ज्वल हो गई थी वह शेठ उत्कर्षपूर्वक दानरूप वर्षाको बरसाता हुआ वर्षाऋतुके मेघके सदृश प्रतीत होने लगा।

माणिक्यरत्नैः प्रवरैश्च चीरैर्-विभूषणैर्व्यक्तकृतदूषणैश्च।
प्रचक्रिरे तेन नरेन्द्रकल्पाः, कल्पांह्रिपाभेन वनीपकौघाः॥ ५१ ॥

अर्थ-कल्पवृक्षके समान उस उत्तम सेठने उत्तम माणिक्य रत्नोंसे और निर्दोष आभूषणोंसे याचकोंके समूहको राजाके सदृश बना दिया।

मुक्ताफलैर्निर्मलकान्तिकान्ता, चिरत्नरत्नैर्विशदाक्षतैश्च।
वर्धापयामासुरसीमरूपाः, स्त्रियः श्रियः सद्युतिभिर्गुरूंस्तान्॥ ५२ ॥

अर्थ-अत्यन्त रूपसौन्दर्यवाली ललनाओंने तेजवाले मुक्ताफलोंसे, निर्मल कान्तिवाला कान्ताके योग्य रत्नोंसे और उज्ज्वल अक्षतोंसे उन गुरुमहाराजको उस समय वधाया।

गर्जत्यूर्जितवर्यतूर्यनिकरे दिक्चक्रकुक्षिम्भरि—
ध्वाने सद्धवलध्वनौ च नितरां प्रोत्सर्पति स्त्रीमुखात्।
हूहूतुम्बरुजैत्रगायनगणैर्विस्तार्यमाणे च सद्—
गीते श्रीगुरवो विनयसहिताः श्रीधर्मशालां ययुः॥ ५३ ॥

अर्थ-ऊग्र और उत्तम वाजित्रोंका समूह गर्जना कर रहा था, स्त्रियोंके चन्द्रमुखोंसे दिशासमूहके अन्तरको पूर्ती करती हुई धवल मंगलोंकी ध्वनि अवच्छिन्नरूपसे प्रसारित हो रही थी और हू हू तथा तुंबरु नामके गंधर्वोंको भी परास्त करनेवाले गायकों (गानेवालों) का समूह उत्तम गायनोंकी गुन्जार चारों और फैला रहे थे-उस समय श्री गुरुमहाराजने अपने शिष्यों सहित धर्मशालामें पदार्पण किया।

भास्वत्पेशलखाण्डिका मृदुलसन्नर्मप्रतिष्ठानिका,
श्रीखण्डोज्ज्वलपट्टमुख्यांसचयैश्चञ्चत्प्रमासञ्चयैः।
रम्य श्रीयुतसोमसुन्दरमहासूरीश्वराणां व्यधात्,
पूजां श्रीश्रुतदेवराजमहिमा श्रीदेवराजस्तदा॥ ५४ ॥

अर्थ-स्फुरणायमान कान्तिवाला कोमल और उज्ज्वल कपड़े आदि

यक्षोंसे यह देवराज शेठ जो लक्ष्मीके कारण देवराज (इन्द्र)की महिमाका आश्रय लेता था। इसने जब दूर तक सुनाई देने वाले मधुर गायन गाये जा रहे थे तब श्रीयुत् सोमसुन्दरसूरीश्वरकी पूजा की अर्थात् कपड़े आदि वस्त्र भेट दिये (आजतक भी पन्यास पदवी सूरि पदवीके महोत्सवके समय इसीप्रकार वस्त्र बहरानेकी प्रथा प्रचलित है।)

पक्वान्नैर्विविधै स धीरमुकुट सद्गन्धकूरोत्करै-
र्दालिस्फातितते ससौरभघृतैर्घोलामृतैर्भ्रामितै।
श्रीसङ्घं सकलं कलङ्करहितश्रीर्बैभ्रपामास तत्,
पूजां चीरचयैर्व्यधाच्च गणनातीतैः प्रतीतैर्गुरो ॥ ५५ ॥

अर्थ—धीर पुरुषोंमें मुकुटरूप और निष्कलंक लक्ष्मीवान् उस शेठने विविध प्रकारके पकवानोंसे पुष्कल दालके साथ सुगंधित कूर (धान्य)के समूहसे और सुगन्धित घीसे भरपूर ऐसे घेबररूप अमृतसे सम्पूर्ण श्रीसंघको भोजन कराया और गुरुओंसे प्रख्यात अपरिमित चीर(वस्त्रों)से उसकी पूजा की।

श्रीमान् सूरिपदे पदेऽथयशसां कारापिते श्रीगुरो-
रादेशान्मुनिसुन्दरप्रतिवरश्रीसूरिणा संयुत ।
युक्तः पञ्चशतीमितैश्च शकटैरुद्यद्भटैर्भूयसा,
संङ्घेनाप्यनघेन तूर्णमचलत् श्रीतीर्थयात्रां प्रति ॥ ५६ ॥

अर्थ—श्रीमान् श्रेष्ठीने यशके स्थानरूप सूरिपदपर उनको स्थापन करानेके पश्चात् श्रीगुरुजीकी आज्ञासे प्रतधारियोंमें उत्तम श्रीमुनिसुन्दरसूरिके साथ पांचसो गाड़ियें और अनेकों सुभटोंको लेकर व महान् निर्दोष संघ निकाल कर शीघ्र तीर्थयात्राके लिये प्रयाण किया।

मेर्योघैर्व्रजदश्वपादपतितैर्व्योमाङ्गणं गर्जयन्,
उद्यत्तुङ्गतुरङ्गमक्रमखुराघातैः क्षितिं कम्पयन् ।
चञ्चद्वर्णसुवर्णदण्डकलशैर्देवालयैरुन्नतै,
शोभां बिभ्रदयमग्रुत्रयशसा शुभ्रं सृजन् क्ष्मातलम् ॥ ५७ ॥

श्रीशत्रुञ्जयपर्वतेऽपि च गिरौ श्रीरैवते दैवतं,
श्रीनाभेयजिनं जिनस्तवभृज्जिनं नेमीश्वरम् भास्वरम् ।

नत्वा तत्र महोत्सवानभिनवान् कृत्वा च दत्त्वा धनं,
भूत्वा सङ्घपतिः कृती निजगृहं चागात्समग्रोऽनघः ॥ ५८ ॥

अर्थ—भेरि आदि उग्र और मनोहर वाजित्रोंके शब्दसे आकाशको गुञ्जित करते हुए, चलनेवाले चलते हुए बड़े बड़े अश्वोंके चरणोंके खुरोंके आघातसे पृथ्वीको कम्पायमान करते हुए, सुन्दर वर्णवाले ध्वजोंके दण्ड और कलशयुक्त ऊँचे जिनालयोंसे शोभाको धारण करने और धवल अति उज्ज्वल यशसे पृथ्वीको उज्ज्वल करते इन देवराज सेठने श्री शत्रुञ्जय गिरिपर रहनेवाले, पापको नाश करनेवाले और प्रकाशवान श्रीऋषभदेव प्रभुको और रैवताचल (गिरनार) पर रहनेवाले उल्लासकारकके श्री नेमिनाथ प्रभुको नमस्कार कर, उसके पश्चात् नये नये अनेकों उत्सवोंको करके, पुष्कल धनका दान देकर और सचमुच संघपति होकर सम्पूर्ण निर्दोष संघको साथ लेकर फिर अपने घरको आया।

श्रीगच्छेन्द्रशिरः सुधारसकिरा शिष्यांशकैः संयुता,
गर्वान्धप्रकुवादिदन्तिघटाविघातपञ्चानना ।
पूर्णेन्दुप्रतिमानना जनजनाह्लादप्रकर्षप्रदाः,
श्रीमन्तो मुनिसुन्दरास्यसुधाः श्रीशा विहारं व्यधुः ॥ ५९ ॥

अर्थ—फिर गर्वसे भरपूर ऐसे बड़े कुवादिरूप गजेन्द्रोंकी घटाको शासित करनेके लिये केशरीसिंहके समान, पूर्णचन्द्र समान मुखवाले और अनेकों लोगोंको उत्कृष्ट आनन्द देनेवाले उन श्रीमान् मुनिसुन्दर मुखसे अमृतरसको टपकानेवाली श्री गच्छपति (सोमसुन्दरसूरि) की आज्ञासे शिष्योंके समूह सहित उस स्थानसे अन्यत्र विहार किया।

इस अद्भुत रीति द्वारा इस ग्रन्थके कर्त्ता श्रीमुनिसुन्दरसूरिके आचार्यपदका अभिषेक किया गया। इस श्लोकनके पढ़नेसे अत्यन्त आनन्दाश्चर्य उत्पन्न होता है। गच्छाधिपति सोमसुन्दरसूरिका स्वर्गगमन सम्वत् १४९९ में होना धर्मसागर उपाध्याय अपनी पट्टावलीमें लिखते हैं। इस समय सर्व आचार्योंमें श्रेष्ठ मुनिसुन्दरसूरि गच्छके अधिपति हुए। उनका स्वर्गवास सम्वत् १५०३ में हुआ। जब वे ६३ वर्षके हुए तब उन्होंने स्वर्गवास किया। उन्होंने ६० वर्ष दीक्षापर्यायका पालन किया; २० वर्ष आचार्यपद में प्रसिद्ध हुए

और गच्छाधिपतिका भार मात्र ४ वर्ष ही ग्रहण किया, यद्यपि यह सम्भव है कि गुरुकी वृद्धावस्थामें उन्होंने ही गच्छकी व्यवस्थापर गुरुमहाराजके समीप रहकर पूर्णतया लक्ष्य दिया होगा।

ये सूरिमहाराज असाधारण विद्वान् थे। उनकी स्मरणशक्ति बहुत तेजस्वी और ज्ञानका विकास अद्भुत था। वे एक सहस्र अवधान कर सकते थे। एक ही साथ भिन्न भिन्न एक हजार बातोंपर ध्यान देना और उनमेंसे यदि किसी भी भागको पूछा जावे तो उसे बतलादेना यह ज्ञानावरणीय कर्मके प्रबल क्षयोपशमसे प्राप्त हुई अद्भुत स्मरणशक्ति और मानसिक बलका नमूना है। इस जमानेमें अधिकसे अधिक सौ अवधान करनेवाले सुने जाते हैं। जब कि कई आठ दश या पन्द्रह अवधान ही करनेवाले पाये जाते हैं, उनको ओर भी विद्वान् लोग अपूर्व मानकी दृष्टिसे देखते हैं, तो फिर ऐसे हजार अवधान करनेवालेकी कैसी अद्भुत शक्ति होगी उसका ध्यान आना भी अति कठिन है। आजन्म ब्रह्मचर्य और मनपर अपूर्व काबू बिना ऐसी शक्ति प्राप्त होना अति कठिन है। वे ग्रन्थोंमें ' सहस्रावधानी ' के रूपमें प्रसिद्ध हुये हैं। उनका ज्ञान कितना अपूर्व था इसका विचार करनेके लिये इतिहासमें अन्य हाँ, तुकीकर्ताका वर्णन है। दक्षिण देशके कवियोंने उनको ' काली सरस्वती '[१] का नाम दिया था। अन्य कोमके विद्वानों द्वारा बिना अपूर्व विद्वत्ताके ऐसा उपनाम प्राप्त करना असम्भव है, अपितु दक्षिणके विद्वान् तो बहुत सोच विचार करके ही किसीको पदवी प्रदान करते हैं। दक्षिण देशके कवियोंकी प्रख्याति भर्तृहरिके समयसे हो चली आती है। वे एक स्थानपर कहते हैं कि " अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वतो दाक्षिणात्य " (मुरके सामने गीत गाये जाते हों और दोनों ओर दक्षिण देशके कवि विरुदावली बोलते हों आदि)। यह बराबर समझमें नहीं आता कि इस उपाधिका क्या अर्थ है ? परन्तु कवित्व शक्तिमें अद्भुत चातुर्य्य बतानेवालेका यह पदवीप्रदान की जाती है ऐसा प्रतीत होता है। ये जिसमें कवित्वशक्तिमें निपुण थे उससे कई

१ सरस्वतीका वर्ण श्वेत है, परन्तु मुनिसुन्दरसूरि महाराजका वर्ण श्याम था इससे मानो साक्षात् सरस्वती श्यामार श्याम वर्णमें हों ऐसी उपाधि उनको मिली थी ऐसा पं० गंभीरविजयजीका अभिप्राय है।

अधिकगुणे तर्कन्यायमें भी निपुण थे। उनको मुजफरखान बादशाहकी ओरसे 'वादी गोकुलषंढ' की उपाधि मिली थी। वादियें रूप गोकुलके समूहमें वे पतिरूप थे अर्थात् वे अनेकों वादियोंको अपने आधिन रखकर परास्त करनेमें शक्तिशाली थे ऐसा इस उपाधिसे सूचित होता है। इसीप्रकार उनकी स्मरणशक्ति, कवित्वशक्ति और तर्कशक्ति बहुत विकसित थी ऐसा जान पड़ता है। स्मरणशक्ति, कल्पनाशक्ति और न्यायशक्ति (Imagination and Reasoning Faculty) ये तीनों मानसिक शक्तियें हैं और ये तीनों एकही पुरुषमें विशेषरूपसे विकस्वर हो ऐसे दृष्टान्त विरले ही देखनेमें आते है, लगभग देखे ही नहीं जाते। यदि ऐसा भी कह दिया जाय तो कुछ अनुचित न होगा तीनोंमेंसे एक आध न्यूनाधिक विकसित हो ऐसा तो बहुधा देखा जाता है, परन्तु तीनोंका एकत्र योग बहुत अल्प स्थानोंमें होता है।

इन महात्मा सूरिमहाराजकी अद्भुत शक्तियोंके सम्बन्धमें उनके समयके आसपास होनेवाले विद्वान कैसे २ अभिप्राय बतला गये हैं उनका जानना प्रासंगिक हो जाता है। उन्हींके समकालीन श्री प्रतिष्ठासोम नामके साधु सोमसौभाग्य काव्यके दशवें सर्गमें लिखते हैं कि—

श्रीसोमसुन्दरयुगोत्तमसूरिपट्टे, श्रीमान् रराज मुनिसुन्दरसूरिराजः।
श्रीसूरिमन्त्रवरसंस्मरणैकशक्ति-र्यस्याभवद् भुवनविस्मयदानदक्षा ॥
श्रीरोहिणीति विदिते नगरे ततीति, पश्चात्कृते किल चमत्कृतहृत्पुरेशः।
ऊरीचकार मृगयाकरणे निषेधं, प्रावर्तयन्निखिलनीवृति चाप्यमारिम् ॥
प्रागेव देवकुलपाटकपत्तने यो, मारिरूपद्रवदलं दलयांचकार।
श्रीशान्तिकृत्स्तवनतोऽवनतोत्तमाङ्गभूपालमौलिमणिघृष्टपदारविन्दः ॥
श्रीमानदेवशुचिमानसमानतुङ्ग[illegible]ः प्रभाविकगुरून् स्मृतिमानयद्यः।
श्रीशासनाभ्युदयप्रथितावदातैस्तैस्तैश्चमत्कृतिकरैः कुमुदावदातै ॥

अर्थ—युगप्रधान श्री सोमसुन्दरसूरिके पाटपर मुनिसुन्दरसूरि आरोहित हुए उनकी प्रधान सूरिमन्त्र स्मरण करनेकी शक्ति तीनों भवनोंको विस्मयका दान देनेमें दक्ष थी। श्री रोहिणी नगरमें[1] मरकीके उप-

---

१. रोहिणी नगरसे आबुके निकटतरस्थ रोहिता—रोहिडा नामक वर्तमान नगरका बोध होता है (गंभीरविजयजी).

द्रयको प्रशीभूत कर देनेसे (रोक देनेसे) आश्चर्य पाकर उस नग रके राजाने शिकार करनेका त्याग किया और सम्पूर्ण देशमें हिंसा बन्द कराई। इन सूरिराजको नमस्कार करते हुए राजाओंके मुकुटमें जड़े हुए मणियोंसे जिनके चरणकमल घिसते हैं ऐसे उन आचार्य महाराजने प्रथम देवकुलपाटक[1] नगरमें शान्तिको फैलानेवाले शान्तिकर स्तोत्रसे महामारीके उपद्रवको नष्ट किया था। जैन शासनका अभ्युदय करनेवाले, कमलके समान उज्ज्वल और चमत्कार उत्पन्न करनेवाले, उज्ज्वल चारित्रोंसे इन सूरिमहाराजने मानदेव और पवित्र हृदयवाले मानतुंग आदि प्रभाविक गुरुओंका स्मरण कराया था।

इस बातसे जाना जाता है कि उस समयमें वे अद्भुत चमत्कारिक पुरुष के रूपमें प्रसिद्ध थे। इस श्लोकसे यह सिद्ध होता कि देवकुलपाटकमें महामारीका बड़ा भारी उपद्रव था, जिसको शान्तिकर स्तोत्र (संतिकरं)को बनाकर दूर किया गया था। तत्पश्चात् यह शान्तिकर स्तोत्र इतना अधिक लोकप्रिय होगया कि यह नवस्मरणमेंसे एक गिना जाता है। उसकी बारहवीं गाथामें सूरि स्वयं श्री शान्तिनाथकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि—

एवं सुदिट्ठिसुरगणसहिओ संघस्स संतिजिणचंदो ।
मज्झवि करेउ रक्खं, मुणिसुन्दरसूरिथुअमहिमा ॥

सम्यग्दृष्टिवाले देवसमूह सहित हे शान्ति जिनचन्द्र! श्रीसंघका रक्षण करो और मेरी रक्षा करो। इन शान्तिनाथ महाराजकी मुनियोंमें सुन्दर श्रुतकेवलीयोंने और आचार्योंने स्तुति की है। यहां विद्वान् स्तोत्रकर्त्ताने अपना नाम भी गर्भित रीतिसे देदिया है।

उसी स्तोत्रके चौदहवें श्लोकमें जिसको क्षेपक माना जाता है लिखा है कि—

तवगच्छगयणदिणयरजुगवरसिरिसोमसुन्दरगुरूण ।
सुपसायलद्धगणहरविज्जासिद्धिभणइ सीसो ॥

---

[1] —यह देवकुलपाटक वर्तमान उदयपुरके निकटस्थ देलवाडा नगर है। यह आबूके ऊपरका देलवाडा नहीं है। अथवा रामसमुद्र नामक गामका होना भी सम्भव है (पं. गंभीरविजयजी).

' तपगच्छरूप गगनमें सूर्य्य समान युगप्रधान श्री सोमसुन्दर गुरुके प्रसादसे प्राप्त हुई गणधर विद्यासिद्धिको प्राप्त किये हुए मुनिसुन्दरसूरि पढ़ते हैं । इस अन्तिम श्लोकका पाठ बहुधा नहीं किया जाता है । महामारीके उपद्रवका नाश करनेके लिये इस स्तोत्रको बनाकर व्याधिका नाश किया था ऐसी ही घटना श्रीमानदेवसूरिके समयमें हुइ थी और उन्होंने भी लघुशान्ति बनाकर उपद्रवका नाश किया था । मानतुंगाचार्य भक्तामरके कर्त्ता हैं और उन्होंने श्लोकके उच्चारणके साथ साथ बन्ध आदि तोडे थे ऐसा कहा जाता है । ऐसे चमत्कारिक पूर्वाचार्योका श्री मुनिसुन्दरसूरिने फिरसे स्मरण कराया था अर्थात् इन महात्माको देखकर उनका भी स्मरण हो आता था । मतलब यह कि ये सूरिमहाराज उन्होंके समान थे ऐसा प्रतिष्ठासोमका अभिप्राय है ।

इन सूरिमहाराजके समयके पश्चात् १२५ वर्षमें ५९ वे पाटे श्री हीरविजयसूरि हुये; उन्होंने अकबरके दरबारको जैन धर्मका बोध कराया था और तीर्थ सम्बन्धी अनेको अधिकार प्राप्त किये थे । इन आचार्यके जीवनकालका चरित्र लेखक श्री हीरसौभाग्य नामक महाकाव्यके कर्त्ता पूर्वाचार्योंके सम्बन्धमें लेख लिखते हैं वे भी मुनिसुन्दरसूरिके आसपास ही हुए हैं । अतः उनका मुनिसुन्दरसूरिके सम्बन्धमें क्या कहना है यह भी जान लेना प्रासंगिक हो जाता है ।

पट्टश्रियास्य मुनिसुन्दरसूरिशक्रे, संप्राप्तया कुवलयप्रतिबोधदक्षे ।
कान्त्येव पद्मसुहृदःशरदिन्दुबिम्बे, प्रीति परा व्यरचि लोचनयोर्जनानाम् ॥

अर्थः—इसी ग्रन्थकी टीकाके अनुसार थोड़ासा विस्तारसे अर्थ लिखने पर इसका भाव स्पष्टतया समझमें आजायगा। इस श्लोकमें कहा गया है कि इन(सोमसुन्दरसूरि)की पट्टलक्ष्मीपर मुनिसुन्दर नामक सूरिशक्र,(बड़े आचार्य) जो कुवलय (पृथ्वीरूपी वलय-पक्ष रात्रिविकासी कमल)को जाग्रत करनेमें चतुर शरदऋतुके चन्द्रके समान थे, वे सूर्यकी कान्तिसे लोकोंकी दृष्टिको अत्यन्त आनन्द देनेवाले थे । इस श्लोकमें कहनेका तात्पर्यार्थ यह है कि लोगोंको बोधिबीज, देशविरति, सर्वविरति प्रमुखका दान देने आदिमें उनका विकास करनेमें ये सूरिमहाराज चतुर-दक्ष थे ।

योगिनीप्रमितमार्युपद्रवो, येन शान्तिकरसंस्तवादिह ।
वर्षणादिव सपर्तुतस्तथा, नीरवाहनिवहेन अङ्खिरे ॥

अर्थ—शिवपुर नामक नगरमें व्यन्तरद्वारा उत्पन्न हुई महामारी (मरकी)का जब भयंकर उपद्रव चला तब इन महात्माने 'सतिकरं सतिजिणम्' आदि शब्दोंवाले शान्तिकर स्तोत्रसे जैसे मेघका समूह ग्रीष्म (गर्मी) ऋतुको धूलको वर्षासे दूर भगा देता है इसप्रकार दूर कर दिया-मारकर हटा दिया। इस श्लोकसे इतना और पता लगता है कि शांतिकरस्तोत्र शिवपुरनगरमें बनाया गया था। (पहिले देवकुलपत्तनका नाम दिया गया था इससे शिवपुर नाम भिन्न जान पड़ता है। अथवा एक नामके दो भिन्न भिन्न नाम होना सम्भव है।)

बाल्येऽपि दशमीसरसीजबन्धुरिवाबभानानि सहस्रसहस्रम् ।
अष्टोत्तरं षट्ङ्गजिकानिनादश्च स्म वेत्ति भियां निधिर्यः ॥

अर्थ—जिसप्रकार सूर्य छोटा होने पर भी एक हजार किरणोंको धारण करता है उसीप्रकार ये सूरि लघुवयके थे फिर भी एक सहस्र अवधान कर सकते थे और ये बुद्धिके भण्डार आचार्य महाराज एक सौ और आठ जातिके वाद्यों(गायनयंत्र)के नादकी परीक्षा कर सकते थे। इस सम्बन्धमें टीकाकार एक कथा लिखते हैं—एक समय पाटण नगरमें सुदूर देशसे वादियें आये। व पत्रावलम्बन आदि भी करते थे। राजसभामें छ मास तक बराबर वादविवाद चलता रहा और अन्तमें अपना अद्भुत चातुर्य बतानेके साथ ही साथ मुनिसुन्दरने एक सौ आठ यन्त्रोंका भिन्न भिन्न नाद चाहे जैसे अनुक्रमसे पूछने पर कह बतलाया और अपना बुद्धिबल प्रगट कर सर्व वादियोंका परास्त किया।

अजन्मि याम्यां दिशि येन काली-सरस्वतीत्य् विरुद् सुधेभ्य' ।
रवेर्यदीच्यामिव तत्र तेजो-ऽतिरिच्यते यत्तुनरत्र चित्रम् ॥

अर्थ—दक्षिण देशके पण्डितोंकी ओरसे उनको 'काली सरस्वती' की उपाधि दी गई थी। सूर्यका तेज तो उत्तर दिशामें वृद्धि पाता है, परन्तु इनका प्रताप तो दक्षिणमें भी विस्तृत हो रहा था, यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है।

इसप्रकार उनके लगभग समकालीन विद्वानोंको उनके प्रति ऐसा मत था। उनकी शक्ति बहुत अद्भुत थी यह तो उनके ग्रन्थोंसे भी प्रगट है। उन्होंने जिन जिन विषयोंको अपने हाथमें लिये हैं उन उन पर बिना किसी भी प्रकारके क्षोभ या भयके बिना हिम्मत और सत्यतासे उन्होंने लिखा है। उनका आत्मिक-बल यतिशिक्षा अधिकारद्वारा भलीभांति प्रगट है। ऐसी दाव-तमें ऐसे कठोर शब्दोंमें अपने ही वर्गको शिक्षा देना यह बोना अपने मनपर असाधारण अधिकार और मानसिक धैर्य प्राप्त किये बिना कठिन है। इस अधिकारका प्रत्येक श्लोक सूरिमहाराजकी आत्म-विभूति बतलानेके लिये काफी है। इन महात्मा आचार्यने सम्वत् १५०३ कार्तिक शुक्ला १ को स्वर्गारोहण किया। इनके पश्चात् मूल पाटपर रत्नशेखरसूरिने पदार्पण किया।

इस ग्रन्थके कर्त्ताके समयमें जैन समाजका बंधारण कैसा था इसका अनुमान करनेसे पहिले इन्होंने कौन कौनसे ग्रन्थ बनाये हैं उनको देखलें। इन महात्माने अनेकों ग्रन्थ बनाये होंगे ऐसा अनेको कारणोंसे अनुमान होता है। ये दीर्घायु हुये थे; बाल्यकालसे दीक्षा ग्रहण की थी, स्मरणशक्ति, कल्पनाशक्ति और तर्कशक्तिके लिये उपनाम प्राप्त किये हे और जो जो ग्रन्थ प्राप्य हैं उनसे उनका भाषापर असाधारण अधिकार होना सिद्ध होता है, परन्तु उनके पश्चात् मुसलमानी कालमें राज्यकी ओरसे होनेवाले अत्याचारोंके कारण और लोगोंकी अस्तव्यस्त स्थितिके कारण कई ग्रन्थ नष्टप्राय हो गये हैं और उनसे भी अधिक बर्बादि पिछले तीनसौ वर्षोंमें शास्त्राभ्यासकी ओर विशेष अभिरुचिके अभावके कारण हुइ है, ऐसा हमें अनेकों कारणोंसे जान पड़ता है, अतएव इस ग्रन्थकर्त्ताके किये हुये ग्रन्थोंके सम्बन्धमें भी ऐसा ही होना सम्भव है। खोज करनेसे जिन ग्रन्थोंके नामोंका पता चला है वे निम्नस्थ हैं—

१ त्रिदशतरंगिणी—इस ग्रन्थमें चौवीस तीर्थंकरोंका चरित्र और सुधर्मास्वामीसे लगाकर मूल पाटपर आनेवाले आचार्योंकी नामावली (list) दी गई है। इस ग्रन्थके तीन बड़े भाग किये जाना प्रतीत होता है। प्रथम विभागमें श्रीवीर परमात्माका चरित्र, दूसरे विभागमें तेवींश तीर्थंकरोंके चरित्र और तीसरे विभागमें

आचार्योंका वर्णन दिया गया है। ये तीनों विभाग पर्युषणा पर्वमें अभी तक जैसे कल्पसूत्रपरकी सुबोधिका टीका पढ़ी जाती है उसीप्रकार पढ़नेके लिये निर्मित किये होंगे ऐसा प्रतीत होता है। इस ग्रन्थके प्रथमके दो विभाग अलभ्य हैं। तीसरा विभाग गुर्वावलीके नामसे प्रसिद्ध है और यह मूल ग्रन्थ श्री बनारस पाठशालाकी ओरसे छप कर बहार पड़ा है। उनके अन्तमें वे भी लिखते हैं कि—

इतिश्रीयुगप्रधानावतारश्रीमत्तपागच्छाधिराजबृहद्गच्छनायकपूज्याराध्यपरमाप्तपरमगुरुश्रीदेवसुन्दरसूरिगणधराग्रिमहिमाऽर्णवपादानुगामिन्यां तद्विनेय श्रीमुनिसुन्दरगणिप्रवरपरिमलपदवतीर्णं श्रीगुरुप्रसादपदप्रमदाचार्यां श्रीमहापर्वाधिराजश्रीपर्युषणापर्वविज्ञप्तित्रिदशतरङ्गिण्यां तृतीये श्रीगुरुपर्वक्रमस्रोतसि गुर्वावलीनाम्नि महाह्रदेऽनभिम्यवर्णनापकपदि तरङ्गः।

इस गुर्वावली ग्रन्थके कुल ४९६ श्लोक हैं और ऐतिहासिक ग्रन्थके रूपमें वह बहुत उपयोगी ग्रन्थ गिना जाता है। इस ग्रन्थको उन्होंने सम्वत् १४६६ में समाप्त किया था ऐसा उसी ग्रन्थके ४९३ वेंमें श्लोकसे ज्ञात होता है। यह इस वर्षकी बात है जिस वर्ष उनको वाचकपद प्राप्त हुआ था। उस ग्रन्थमें वे अपने आपको गणि होना प्रगट करते हैं वे उसी ग्रन्थके ४२० वे श्लोकमें अपने आपको उपाध्याय होना प्रगट करते हैं और अन्तमें गणि लिखते हैं, इससे सिद्ध होता है कि गणिपद उपाध्यायपदसे बड़ा होगा। गणि अर्थात् गच्छनायक। इसमें किसी भी प्रकार विरोध नहीं होता है। गणि और वाचकपद सम्प्रदायानुसार ये दोनों स्पष्टतया भिन्न भिन्न पदवियें हैं। सोमसुन्दरसूरि महाराज उस समय मूल पाट-पर थे, फिर भी मुनिसुन्दर महाराज देवसुन्दरसूरिके लिये अति माननीय शब्दोंमें लिखनेके उपरान्त अपने आपको उनके विनेय (शिष्य)के रूपमें होना लिखते हैं, इसलिये इस उपोद्घातमें ऊपर लिखे अनुसार मुनिसुन्दर महाराजके दीक्षागुरु देवसुन्दरसूरि होंगे ऐसा बहुधा अनुमान करलिया जाता है। इस गुर्वावली ग्रन्थमें उनका भाषारका अधिकार अति उत्तम प्रकारका देखनेमें आता है और छन्द भी बारम्बार बदलते रहते हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है और विक्रमकी पन्द्रवीं सदीमें तपगच्छका

और जैन समाजका कैसा बंधारण था इस विषयपर अच्छा प्रकाश डालता है जो हम और आगे पढ़ेंगे।

२ उपदेशरत्नाकर—यह ग्रन्थ कौनसे वर्षमें बनाया गया ऐसा मालूम नहीं होता है। इस ग्रन्थमें उपदेशकी किताबोंकी बतलाई गई है। उसमें उपदेश करनेकी विधि, उपदेशको ग्रहण करनेके योग्य अथवा अयोग्य पुरुषोंके लक्षण, मोहित चित्तवृत्तिवाले पुरुषके लक्षण, कई पुरुष धर्म नहीं साध सकते, कई नहीं पाल सकते उनका स्वरूप, धर्मोपदेशकी वृष्टिसे होनेवाले फल, उपदेशके अयोग्य पुरुषोंकी सर्प, जल आदिके साथ दृष्टांतिक योजना, उपदेश देनेवाले योग्य अयोग्य गुरुका स्वरूप. गुरु और श्रावक दोनोंकी योग्यताका स्वरूप आदि आदि अनेक प्रकारके विषयोंपर विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थकी योजना बहुत उत्तम है और उसमेंसे उठती हुई तरंगें आत्माको शान्ति पहुंचाती है। अध्यात्मकल्पद्रुम ग्रन्थकी भाषासे इस ग्रन्थकी भाषा नितान्त भिन्न ही प्रकारकी है। इसमें प्रत्येक विषयपर अनेको दृष्टान्त दिये गये हैं और उपदेशकी एककी एक हकीकतको कई आकारोंमें वर्णन किया गया है। श्रोता और वक्ता दोनोंको इस ग्रन्थको मननपूर्वक पढ़ना चाहिये। अध्यात्मकल्पद्रुम जब गम्भीर भाषामें और उच्च वृत्तिमें लिखा गया है तब यह ग्रन्थ अलंकारिक भाषामें और व्यवहार वृत्तिमें लिखा गया है। धर्म और उसके अधिकारी कौन है यह इस पुस्तकमें विस्तारपूर्वक बतलाया गया है। अनेकों उपयोगी विषयोंका इसमें समावेश हो जाता है। इस ग्रन्थपर विस्तारपूर्वक टीका भी स्वयं मुनिसुन्दरसूरि महाराजने ही की है। इस ग्रन्थका प्रारंभिक भाग श्री जैन विद्याप्रचारक वर्गकी ओरसे छपाया गया है।

३ अध्यात्मकल्पद्रुम—इस ग्रन्थको सूरि महाराजने कौनसे वर्षमें बनाया यह नहीं बतलाया जा सकता, परन्तु प्रसंग प्रसंगपर अनुभवके उद्गाररूप इसके श्लोक बनाये हों ऐसा प्रतीत होता है। इस ग्रन्थकी भाषा अति उत्तम, हृदयपर असर करनेवाली और विषयरचना बहुत सादी परन्तु उपयोगी और पढ़कर विचार करनेवालेके लिये महान लाभदायक है। इस ग्रन्थके सम्बन्धमें उपोद्घातमें प्रथम ही विवेचन हो चुका है अतः यहां और विशेष लिखना अप्रस्तुत होगा।

४ स्तोत्ररत्नकोष—इसमें अनेकों स्तोत्र सूरिमहाराजके बनाये हुए हैं। इसमेंके कितने ही श्लोक प्रगट हो गये हैं। यह ग्रन्थ अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आया है इससे इसपर विशेष विवेचन नहीं किया जा सकता है। परन्तु सूरिमहाराजका संस्कृत भाषापर अधिकार देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि ये स्तोत्र काव्यचमत्कृतिके नमूने होंगे।

५ मित्रचतुष्क कथा—इसमें चार मित्रोंकी कथा है। यह ग्रन्थ छोटा होनेपर भी उपदेशक है और लभ्य है।

६ शांतिकरस्तोत्र—शिवपुर अथवा देवकुलपाटकमें महामारीके उपद्रव होनेपर श्रीसंघके आग्रहसे यह पवित्र स्तोत्र बना कर संघमेंसे उपद्रवको हटानेका प्रयत्न किया जाना कहा जाता है। यह स्तोत्र मात्र तेरह अथवा चौदह गाथाओंका है, परन्तु जैन वर्गको यह इतना अधिक प्रिय होगया कि उसको प्रत्येक समय गिननेके स्तोत्रोंमें स्थान दिया गया है। इस शान्तिकर स्तोत्रमें काव्यचमत्कृतिके अतिरिक्त मन्त्रचमत्कृति भी है। अक्षरोंके संयोगमें चमत्कार भरा हुआ है ऐसी आजकाल पाश्चात्य लोगोंकी भी धारणा है। ऐसे अक्षरसंयोगोंद्वारा शासनके अधिष्ठाता देवदेवियोंकी स्तुति, आवाहन नामस्मरण, आदिका इन स्तोत्रोंमें समावेश कराया गया है।

७ पाक्षिकसित्तरी—यह एक छोटासा प्रकरण है। इसमें लगभग बोत्तर गाथायें हैं। इसमें पाक्षिक पर्व (पक्खी)-चउदशके दिन करना चाहिये उसका निर्णय बतलाया है। ग्रन्थ विधिवादका है। यह ग्रन्थमें मेरे देखनेमें नहीं आया परन्तु लभ्य है।

८ अंगुलसित्तरी—ऊपरोक्तानुसार यह भी एक छोटासा प्रकरण है जिसको अभी तक मैं नहीं देख पाया हूं। इसमें उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल सम्बन्धी विचार बतलाये गये हैं।

९ वनस्पतिसित्तरी—यह भी छोटासा प्रकरण है। इसमें क्या विषय है इसका पता नहीं। परन्तु प्रत्येक और साधारण वनस्पतिके लक्षण और उसके भेद आदिका स्वरूप होना सम्भव है।

१० तपागच्छपट्टावली—गुर्वावलीके उपरान्त उन्होंने तपागच्छकी एक भिन्न पट्टावली भी बनाई है जो लभ्य है।

११ शान्तरसरास—रसाधिराज शान्तरसपर यह रास गुजराती भाषामें बनाया गया है। पुरानी गुजराती भाषाका यह एक नमूना है।

अभी विशेष अनुसन्धान करनेसे मालूम हुआ है कि इन ग्रन्थोंमेंसे पाक्षिकसित्तरी, अंगुलसित्तरी और वनस्पतिसित्तरी ये तीनों ग्रन्थ मुनिसुन्दरसूरि महाराजके बनाये हुए नहीं हैं परन्तु मुनिचन्द्रसूरिके बनाये हुए हैं। इसके उपरान्त उन्होंने (१२) त्रैविद्यगोष्ठि (१३) जयानन्द चरित्र (१४) चतुर्विंशति जिनस्तोत्र और (१५) सिमन्धर स्तुति बनाई होगी ऐसा कान्फरन्स हेरल्ड (Conference Herald) पु० ९ पृष्ठ २११ से ज्ञात पड़ता है। इस विषयमें अभी और अधिक खोज करनेकी आवश्यकता है।

इसप्रकार मुनिसुन्दरसूरि महाराजने अनेकों ग्रन्थ बनाये जिनमेंसे ऊपर लिखित लभ्य हैं। ये ग्रन्थ भी इन विद्वान् आचार्यकी महत्ता और अद्भुत शक्तिका ध्यान दिलानेके लिये काफी हैं। इन सूरिमहाराजके सम्बन्धमें इधरउधरसे इतना हाल जाना गया है। ऐतिहासिक ग्रन्थोंके अभावमें ऐसी अगत्यकी बाबतमें साधारण और इधरउधरकी हकीकत पर ही आधार रखना जाता है; तिसपर भी एक ग्रन्थकर्त्ताके लिये इतना भी हकीकत प्राप्त हो जाना जैन इतिहासकारोंके लिये मानप्रद है।

समाज स्वरूप.

अब मुनिसुन्दरसूरि महाराजके समयमें जैन समाजका बंधारण कैसा था यह हकिकत यदि जान ली जाय तो ग्रन्थके समझनेमें अत्यन्त उपयोगी होगी; क्योंकि ग्रन्थ सदैव चालु जमानेके अनुसार ही होते हैं। इस सम्बन्धमें सब कुछ ग्रन्थमेंसे मिल सके यह अति कठिन है, परन्तु सूरिमहाराजने इस अध्यात्मकल्पद्रुमके जो विभाग किये हैं उसपरसे कितनाक प्रकाश पड़ता है। आध्यात्मिक जीवनके सम्बन्धमें लोगोंकी स्थिति बहुत मंद हो गई हो ऐसा प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि यदि इस विषयसे लोगोंकी रुचि बिलकुल हट गई होती तो उस विषयका विशेष उपदेश नहीं होता। तिसपर भी इतना तो ज्ञात पड़ता है कि आध्यात्मिक विषयपर लोगोंकी

विशेष रुचि नहीं थी) अमाग्यसे इस विषयकी साक्षी देनेवाले पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है इससे इस विषयपर अधिक नहीं कहा जा सकता, परन्तु यतिशिक्षा अधिकार जिन शब्दोंमें लिखा गया है वह बतलाता है कि अध्यात्मिक जीवन प्रति उच्च स्थितिका तो कदापि नहीं था। इधरउधरकी हकीकतें भी इस बातकी साक्षी देती हैं। हिन्दुस्थानकी स्थिति उस समयमें बहुत अव्यवस्थित थी। तुगलकवंशका राज्य था, कुछ समय पूर्व ही अल्लाउद्दीन खुनी जैसे खिलजीवंशके बादशाहोंने बुरे दिन दिखलाये थे और जानमालकी बिलकुल सलामत न थी। राज्यक्रान्ति भी बहुधा हुआ करती थी और मुहम्मद जैसा अयोग्य राजा राज्य करने लगा था।

ऐसे राज्यक्रान्तिके समयमें जैन कौमकी और मुनिमहाराजाओंकी क्या स्थिति थी यह यहां जानने योग्य है। गच्छके भेद जो ११ वीं और १२ वीं शताब्दीमें प्रारम्भ हुये

साधु स्थिति

थे वे भी इस समय पूर्ण जोसमें फैल रहे थे। ऐसा सोमसौभाग्यकाव्य द्वारा जाना जाता है क्योंकि दूसरे श्लोकमें लिखा है कि 'विश्वप्रसिद्ध सूरिरूप सूर्य (सोमसुन्दरसूरि) ने जब आकाशमें वृद्धिको प्राप्त किया, तब ताराओंके समान' विग्रह करनेवाले अन्य सूरीश्वरोंका तेज आश्चर्यके साथ अदृश्य हो गया" स्वयं तपगच्छका बंधारण अत्युत्तम था ऐसा माननेके अनेकों कारण हैं और उसके कई सबूत भी मिलते हैं, जिनपर आगे विवेचन किया जायगा। ग्रन्थकर्त्ताका और लोगोंका उस समय गुरुकी ओर अपूर्व पूज्यभाव था ऐसा सोमसौभाग्यकाव्य और अध्यात्मकल्पद्रुमके गुरुशुद्धि अधिकारसे जाना जाता है। प्रथम ग्रन्थ वर्तमान स्थिति बतलाता है, जब कि दूसरा ग्रन्थ भावना (Ideal) बतलाता है और भावना सदैव व्यवहारकी हदके अन्तर्गत रहकर ही बांधी जा सकती है। तपगच्छकी मूल पाटमें आगे जो धुन लगा वह मुनिसुन्दरसूरिके समयमें न था ऐसा जाना जाता है, क्योंकि अपूर्व त्याग वैराग्य बिना अध्यात्मकल्पद्रुमकी भाषा हृदयमेंसे निकलना असंभवित है। यह स्थिति हीरविजयसूरि तक बराबर कायम रही ऐसा अनुमान किया जा सकता है। सत्य-

विजय पंन्यासके क्रियाउद्धार करनेका प्रसंग आया वह बहुत विगाड़ या गड़बड़ होनेके पश्चात् ही आना चाहिये ऐसा तो इतिहासद्वारा भी जाना जाता है, परन्तु लोगसत्कार आदि बाह्याचारोंके लिये सूरीश्वरने यतिशिक्षा अधिकारमें जिस विस्तारसे विचार प्रगट किये हैं उससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि बिगाड़के धीरे २ प्रारम्भ होनेके चिन्ह अद्भुत कल्पनाशक्तिको धारण करनेवाले सूरिजीने देख लिये थे। साधुवर्गमें बहुत उच्च श्रेणिका प्रेम था, क्योंकि उसी काव्यके पांचवें सर्गके छट्टे श्लोकमें लिखे अनुसार देवसुन्दरसूरिने अपने पट्टशिष्यके रूपमें मनमें निर्णय किए हुए सोमसुन्दरसूरिको ज्ञानसागरसूरिके पास अभ्यास करनेको भेजा था। इसप्रकार आज कल बहुत ही अल्प स्थानोंमें देखा जाता है और विशेषतया अपने प्रिय शिष्यको दूसरोंको सोंपनेमें कारणभूत बहुत प्रेम ही हो सकता है यह व्यवहारदृष्टिसे भी विचारा जा सकता है। साधुओंमें बहुत प्रेम था इसके कारणमें जो हेतु बतलाया गया है वह सामान्य है, क्योंकि ज्ञानसागरसूरि देवसुन्दरसूरिके ही शिष्य थे इससे उनका भी उन्हींकी आज्ञामें होना नवीनता नहीं है। फिर भी साधुओंमें परस्पर प्रेम होनेके कई कारण हैं। सर्व साधु अपने गच्छके राजाकी आज्ञाका पालन करते थे, उसीके अनुसार चलते थे, राजा जीवता जागता था, सत्ता कबूल करानेकी शक्तिवाला था और प्रजासत्ताक राज्यके नियमानुसार अमुक वर्षमें राजा नहीं बदलता था परन्तु सर्वकी सम्मतिसे आजीवन प्रसीडेन्टकी भांति, जो सदैव बहुत व्यवहारकुशल, ज्ञानी और अद्भुतशक्ति प्रभाववाला होता था उसीको देखकर पसंद किया जाता था। इससे वह सब पर अपना अंकुश रख सकता था, सबको सुबद्ध रख सकता था और उसकी आज्ञाका पूर्णतया पालन किया जाता था। प्रेम सुदृढ़ रहनेका यह मुख्य कारण है। तपगच्छमें उस समयके प्रमाणमें विद्वानो और साधुओ बहुत थे ऐसा गुर्वावलीके अन्तिम २५ श्लोकोंसे जान पड़ता है। गणकी कैसी स्थिति थी उसका वर्णन करते हुये मुनिसुन्दरसूरि लिखते हैं कि—

गणे भवन्त्यत्र न चैव दुर्मदा, न हि प्रमत्ता न जड़ा न दोषिणः।
विदूरभूमिः किल सोपवीति वा, कदापि किं काचमणीनपि क्वचित्॥

इस गणमें अभिमानी, प्रमादी, मूर्ख और पापका सेवन कर-

नेवाले नहीं होवे थे। क्या विहारभूमि काच उत्पन्न करती है? तदुपरान्त गच्छमें कैसे विद्वान थे उनके विषयमें ऊपर लिखे अनुसार अन्तिम ६५ श्लोकोंकि देखनेसे मालूम हो जायगा। यह तो हकीकत प्रतिष्ठासोम सोमसौभाग्यकाव्यके दशवें सर्गके ६५ वें श्लोकमें लिखते हैं।

> श्रीसोमादिमसुन्दरस्य सुगुरो श्रीमद्गणे सद्गुणे,
> मोहद्रोहकथाप्रथा न हि मनाक् नैव प्रमादच्छलम्।
> नो वार्ताप्यनृतस्य तस्य विकथानामापि न श्रूयते
> धर्म्यं प्राज्यमनुत्तरं विजयते श्रीधर्मभूमीशितु ॥

"श्रीसोमसुन्दरसूरिके श्रीमान् सद्गुणी गच्छमें मोह और द्रोहकी कथा नहीं थी, प्रमाद तथा छल बिलकुल नहीं था; असत्यकी बात ही नहीं थी और विकथाका तो नाम भी सुनाई नहीं देता था; उसमें तो केवल धर्मराजका अनुपम बड़ा विशाल राज्य विजयवंत वर्तता था" ऐसे ऐसे अनेकों चित्र ग्रन्थकारने खींचे हैं। इससे कदाच अतिशयोक्ति हो तो भी सामान्यतया जैनगृहस्थों की और साधुवर्गकी स्थिति सतोषकारक थी ऐसा जान पड़ता है। श्रावक भी गुरुओंको प्यार दृढ़ भक्तिवाले होंगे ऐसा प्रतीत होता है। गुणराज, देवराज, विशाल, धरणेन्द्र, गोंव आदि शेठोंने गुरुकी जिन शब्दोंमें स्तुति कर अपनी लघुता बतलाई है और अपूर्व महोत्सवसे सूरिपदवीकी प्रतिष्ठा कराई है वह चारित्रधर्मकी प्यार और गुरुकी ओर लोगोंका दृढ़ अनुराग बतलाता है। गच्छपति अथवा गणाचार्यकी आज्ञा सब बहुमानसे उठाते थे ऐसा भी अनेक रीतिसे निर्णीत होता है। साधुओंमें विहार करनेकी बहुत टेव थी और सोमसुन्दरसूरि जैसे आचार्य भी एक स्थानमें नहीं रहते थे ऐसा सोमसौभाग्यकाव्यके पढ़नेसे बारम्बार ज्ञात होता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि श्रावकोंके सम्बन्धमें यह मेरा श्रावक है ऐसा भी बहुत कम होता होगा। आचार्यका अमुक ग्राममें पाट (मुख्य स्थान Head-quarters) हो और उसके आसपास ही आचार्य रहते हों ऐसी योजना भी पढ़नेमें नहीं आती है। शत्रुञ्जय गिरिराजकी यात्राकी महिमा, उस समयमें आने जानेके साधन बहुत अल्प, महँगे तथा खतरनाक होनेपर भी, बहुत थी ऐसा तीन बार बहुत आडम्बरसे निकाले हुए संघक

वर्णनसे जाना जाता है। आने-जानेवाली जैन कौमको राज्यकर्त्ताओंकी ओरसे सहायता मिलती थी। ऐसा गुणराज शेठके लिये उसके संघके सम्बन्धमें अहमदशाह बादशाह द्वारा सब प्रकारकी सुविधाओंके किये जानेसे अनुमान होता है। (सर्ग ८ श्लोक ३०)

जैसे जैसे उस समय के ग्रन्थोंको अधिक सूक्ष्मतासे विचार करके पढ़ा जाता है वैसे वैसे उस समयके जैनसमाजका वंधारण अच्छी प्रकारसे समझमें आता रहता है। ऐतिहासिक पर्यालोचनासे बहुत लाभ होता है। आजकल गच्छके भेद, साधुवर्गका पारस्परिक असंतोषिक सम्बन्ध और श्रावकोंका उस सम्बन्धमें उत्तेजन अत्यन्त खेदास्पद है, मुनिसुन्दरसूरि जैसे असाधारण विचारबल धारण करनेवाले एक दो महात्माओंकी इस समय बहुत आवश्यकता है। वह समय तो धर्मसाधना और शासन अभिवृद्धिके लिये बहुत प्रतिकूल था; आजकल तो यदि योग्य रीतिसे प्रयास करनेमें आवे और उस पर थोड़ासा अंकुश रहे तो अल्पकालमें ही शासनका डंका बजने लगे ऐसा है। वरना चालु स्थितिसे कई बार उमंगवाले उत्साही प्राणी भी पिछे हठ जाते हैं। लेखक अव्यवस्थित रूपसे जैसे मनमें आता है वैसे ही लिख मारते हैं, बोलनेवाले मन में आता है वैसे ही बोल देते हैं और वर्तन स्वेच्छानुसार करते हैं। कोई भी उनसे प्रश्न करनेवाला नहीं है। शासनकी वास्तविक तन्मयता किसीमें नहीं रही है और यदि किसीमें हो भी तो अज्ञानियोंका जोर होनेसे सब प्रयास व्यर्थ ही जाता है। बारम्बार शासनकी उन्नति करनेके प्रयास होते हैं, परन्तु प्रेम तथा बुद्धिके अभावमें एक दूसरेके कार्योंका प्रभाव कम होता जाता है।

सूक्ष्म अवलोकन

उपदेशकोंकी स्थिति उस समय उच्च श्रेणीकी थी और वह मानसिक तथा नैतिक विषयमें व्यवहार रूपसे थी। उपदेशकवर्ग सब प्रजापर बड़ा भारी प्रभाव डाल सकते हैं। शासनकी उन्नति तथा अवनतिका आधार भी इसी वर्ग पर रहता है। गच्छाधिपति देशकालके पूर्णतया जानकार थे। और नवीन संयोगोंका सामना करते हुये भी शास्त्रमर्यादामें रह कर योग्य परिवर्तन करनेमें धर्मके फरमानोंका वास्तविकपन समझाते थे, आजकलके

उपदेशकोंकी स्थिति

समाम निर्णायक मण्डल न था। उस समयमें साधुओंकी संख्या अधिक थी उसीप्रकार उनमें योग्य जीव भी अधिक थे अतएव सोमसुन्दरसूरिने अपने हाथसे पांच महात्माओंको सूरिपदसे भूषित किया था, परन्तु वे सब एक गच्छपतिकी आज्ञामें ही चलनेवाले थे। ऐसे विषमकालमें भी जो धर्म कायम रहा था सो ऐसे महात्माओंकी विशाल वीर्यवृत्तिसे ही रहा था, परन्तु उस समय पहिले और पश्चात्के लगातार चारसौ वर्ष हिन्दुस्तानके लिये ऐसे विपरीत थे कि धर्म शब्दका मूलसे नाश हो जाना ही सम्भव था। उस समय श्रावकवर्गकी स्थिति भी अच्छी होगी ऐसा सूरिपदवीकी प्रतिष्ठा, जिनचैत्योंकी प्रतिष्ठा और संघयात्राके महोत्सवोंसे जानी जाती है। यदि आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं होती तो ऐसे अद्भुत महोत्सव नहीं हो सकते थे। एक एक श्रावक शासनका प्रभावक कैसा हुआ है ऐसा मुनिसुन्दरसूरि महाराज द्वारा गुर्वावलीमें किये हुए हेमश्रेष्ठी और जलगापुत्र गांधाशाहके वर्णनसे जान पड़ता है। ये श्रावक लगभग निर्दोष जैसे, सावद्य क्रियाके सम्बन्धमें प्रारम्भसे डरकर उसको न करनेवाले और गणको सहारा देनेवाले थे, ऐसे आडम्बरोंके उत्पन्न होनेपर शासनके टिके रहनेमें कोई नवीनता नहीं है। शासनके कार्य करनेमें बहुतसा स्वार्थ भाग देना पड़ता है, परन्तु ये सब आत्मउन्नतिके हेतुके अर्थके लिये काम करनेवाले सहन करते हैं क्योंकि उनका हेतु ऐहिक मानप्रतिष्ठा प्राप्त करनेका नहीं होता है। साधुवर्गमें उस समय महातपस्वी, वाग्मीश्वर और अभ्यासी थे ऐसा गुर्वावली ४५७ के पश्चात्के दश श्लोकोंमें ज्ञात पड़ता है। इन्हीं श्लोकोंसे ज्ञात होता है कि उस समय साधुओंमें क्रियाशिथिलता नहीं थी। श्रावक-वर्गका बहुत शास्त्राभ्यास होगा ग्रन्थसे नहीं ज्ञात पड़ता, परन्तु उस समयके श्रोतागण चतुर होंगे ऐसा तो उपदेश रत्नाकरमें दिये हुए उपदेश ग्रहण करनेवालोंके लक्षणोंसे ही पता चल जाता है। साधुधर्ममें कनककामिनीका त्याग तो सर्वप्रथम ही होना चाहिये। मूल पाठमें उसमें परिग्रहके गड़बड़ाटने प्रवेश किया तब ही से उसका मान भी कम होने लग गया। परिग्रहत्यागके सम्बन्धमें मुनिसुन्दरसूरि यतिशिक्षाके २४ से २८ तकके पांच श्लोकोंमें

जो विचार बतलाते हैं वे विचार पूर्णतया हैं कि उस समयके मुनियोंमें परिग्रहका संभव बिलकुल न था। वे वृषभ, घोड़ा या ऊंट द्वारा पुस्तक या उपधि उठाकर लेजानेमें मना करते हैं और करनेवालेको अन्य भवमें वृषभ या घोड़ेका अवतार लेकर भार वहन कर प्रतिकार करना पड़ेगा ऐसा बतलाते हैं। इससे धनके सम्बन्धमें तो अब और कुछ कहना ही बाकी नहीं रहजाता है। धर्मके नामपर भी उपकरणादिके आकारमें परिग्रह न रखना चाहिये। उनपर मूर्च्छा रखना ही परिग्रह कहलाता है। इन सब विचारोंको विस्तारपूर्वक पढ़नेसे सिद्ध होता है कि वे परिग्रहकी बाबतमें निर्दोष थे और 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार जैसा नायक होता है वैसा ही उसका अनुसरण करनेवाला वर्ग होता है, इससे स्पष्ट हैं कि साधुवर्गमें परिग्रहका प्रवेश हीरविजयसूरिके पश्चात् ही हुआ होगा। जिससे श्रीमद्यशोविजयजी उपाध्यायके समयमें सत्यविजय पंन्यासको क्रियाउद्धार करनेकी आवश्यकता जान पडी। क्रियाउद्धार करते समय अनेकों बातोंमें सुधार किये गये थे परन्तु प्रधानतया कंचन और कामिनीका त्याग तो दृढरूपसे किया गया था। ऐसे क्रियाउद्धारके प्रसंग वारम्वार नहीं आते हैं अतएव श्रावकोंको शिथिलपनको उत्तेजन देते समय इस बातका खुब विचार करलेना उचित है।

वांचनविवेक

अब उपोद्घातकी समाप्ति की जाती है। शान्तिसे परिपूर्ण और शांतिदायक ग्रन्थमें हमको प्रवेश करना है। यह एक सामान्य ग्रन्थके रूपसे ऊपर ऊपरसे पढ़ने मात्रका नहीं है। इसकी हकीकतको पढ़कर, समझकर, हृदयान्गत करनेकी है और फिर उसका मनन तथा निदिध्यासन कर आत्माको अध्यात्मरूप बनानेका है। ऐसा होनेपर ही इस ग्रन्थके पढ़नेका उचित लाभ होगा। अन्यथा एक नवीन ग्रन्थके समान ऊपर ऊपरसे यह देख लेने मात्रसे कि इसमें क्या लिखा है कुछ हानि नहीं तो वास्तविक लाभ भी नहीं हो सकता है। इसप्रकार पढ़नेका शोक दिनप्रतिदिन बढ़ता जाता है उससे बचनेके लिये यहां ऐसी सूचना कर देनी प्रासंगिक जान पड़ती है। उपोद्घातके साथ साथ शान्तरसकी रससिद्धिके लिये लिखनेका विचार था इसमे उस विषयका विवेचन मंगलाचरणसे

अलग रक्खा था क्योंकि विषय नितान्त पारिभाषिक होनेसे केवल साहित्यके अभ्यासी और शोकीनको ही आनन्द पहुंचानेवाला है, परन्तु अनेकों अनिवार्य कारणोंसे यह कार्य जैसा चाहिये उस रूपमें तैयार नहीं हो सका इसलिये यहाँ लिखा गया। अध्यात्मिक शान्तिके प्रसारद्वारा जीवनको विशुद्धतर और उन्नत बनानेकी प्रबल अभिलाषासे ग्रन्थलेखन और उसका विवेचन किया गया है अतएव इस अभिलाषाकी पूर्ती होनेकी अन्तःकरणसे प्रार्थना है। अस्तु।

यावद्देहमिदं गदैर्न मुदितं नो वा जराजर्जरं।
यावत्त्वक्षकदम्बकं स्वविषयज्ञानावगाहक्षमम्॥
यावच्चायुरभङ्गुरं निजहिते तावद्बुधैर्यत्यतां।
कासारे स्फुटिते जले प्रचलिते पालिः कथं बध्यते?॥

जबतक शरीर रोगसे मुर्दा नहीं हुआ है अथवा वृद्धावस्थासे जर्जरित नहीं हुआ है, जबतक पांचों इन्द्रिय अपने अपने विषयोंको समझनेमें समर्थ हैं और जबतक आयुष्य क्षय नहीं हुआ है तबतक हे जीव! तू तेरे कल्याणके लिये सतत प्रयास कर, क्योंकि जब सरोवर टूट कर पानी तेजीसे उसके बाहर बह निकलेगा तो फिर पालका बांधना बड़ा कठिन होगा।

शान्तसुधारस.

भवारण्यं मुक्त्वा यदि जिगमिषुर्मुक्तिनगरीं,
तदानीं मा कार्षीर्विषयविषवृक्षेषु वसतिम्।
यतश्छायाप्येषा प्रथयति महामोहमचिरा-
दयं जन्तुर्यस्मात्पदमपि न गन्तुं प्रभवति॥

यदि तेरी अभिलाषा इस संसाररूप अरण्यका त्याग कर मोक्षनगरीके प्राप्त करनेकी हो तो विषयरूप विषवृक्षकी छायामें अपना घर न बनावे क्योंकि इनकी छाया ही अनन्त कालतक महामोहको उत्पन्न करनेवाली है कि जिसमें बच कर प्राणी एक कदम भी दूर हटनेको असमर्थ है।

शृङ्गारवैराग्यतरंगिणी

प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नन्दना नन्दनानां,
रम्यं रूपं सरसकविताचातुरी सुस्वरत्वम् ।
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः,
किं तु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य ॥

महान् राज्य, सुन्दर स्त्री, पुत्रपुत्रियें और उनका रमणीय स्वरूप, रसयुक्त कविता बनानेकी चातुर्यता, सुन्दर भाषण अथवा स्वरमाधुर्य्यताकी तीव्र शक्ति, निरोगीपन, गुणपरिचय, सज्जनपन, तीव्रबुद्धि आदि—सर्व वस्तुयें धर्मरूप कल्पवृक्षके फल हैं ।

शांतसुधारस.

यस्याशयं श्रुतकृतातिशयं विवेक-
पीयूषवर्षरमणीयरमं श्रयन्ते ।
सद्भावना सुरलता न हि तस्य दूरे,
लोकोत्तरप्रशमसौख्यफलप्रसूतिः ॥

(समता योग्य कौन है ?) जिन प्राणियोंका अन्तःकरण सिद्धान्तके परिचयसे विकासित पाया हुआ और विवेक अमृतके बरसनेसे शोभायमान हुआ हुआ है उनकी ही सद्भावना आश्रय लेती है और उनहीं प्राणियोंके लिए लोकोत्तर समता सुखके फलको जन्म देनेवाली (मोक्षप्राप्ति करानेवाली) कल्पलता दूर नहीं है ।

शांतसुधारस





सहस्रावधानी युगप्रधान आचार्यश्री
मुनिसुन्दरसूरीश्वरविरचित

अध्यात्मकल्पद्रुम

[हिन्दी भाषानुवाद]

विवेचन, अर्थ, टीप्पण,
नोट और विस्तार सहित.

॥ ॐ अर्हम् नमः ॥

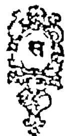
जिनागमरहस्यवेदी सुविहित आचार्यश्री विजयहर्षसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः

युगप्रधान आचार्यश्री मुनिसुन्दरसूरीश्वरविरचित

श्री अध्यात्मकल्पद्रुमाभिधानो ग्रन्थः

(हिन्दी भाषानुवादः)

अथायं श्रीमान् शांतनामा रसाधिराजः सकलागमादिसुशास्त्रार्णवोपनिषद्भूतः सुधारसायमान ऐहिकामुष्मिकानंतानंदसंदोहसाधनतया पारमार्थिकोपदेश्यतया सर्वरससारभूतत्वाच्च शांतरसभावनाध्यात्मकल्पद्रुमाभिधानग्रंथननिपुणेन पद्यसंदर्भेण भाव्यते ॥



सर्व आगम आदि सुशास्त्र समुद्र के साररूप अमृतरस के समान रसाधिराज शान्तरस का, जो इस लोक एवं परलोक सम्बन्धी अनन्त आनंद समूह की प्राप्ति का साधन, पारमार्थिक उपदेश देने योग्य और सर्व रसों का साररूप है, इस शान्तरस की भावनावाले अध्यात्मकल्पद्रुम नामक प्रकरण में, उसके योग्य पद्य में वर्णन किया जाता है।

शान्तरस एक उत्कृष्ट रस है। जिसके अंग-प्रत्यंग में यह रस रम रहा हो उसकी आत्मिक उन्नति का ठीक ठीक चित्र खिंचना अति कठिन है। सर्व सांसारिक उपाधियों से मुक्त

होने पर मन शुद्ध हो कर जिस आत्मा जागृति का अनुभव करता है उसे स्वयं अनुभवरसिक ही जान सकता है; अन्य कदापि नहीं। शान्तरस इस भव तथा परभव सम्बन्धी अनन्त आनन्द की प्राप्ति का साधन है। शान्तरस की भावनावाला इस भव में मानसिक एवं शारीरिक दोनों प्रकार के आनन्द का उपभोग करता है। उसका मानसिक-आनन्द तो इतना उच्च श्रेणी का होता है कि इसके लिये प्रथम ही विवेचन में बतलाया गया है कि शान्तरस अमृतरस है। एक दंतकथा प्रचलित है कि देवताओं को चोदह रत्नों की खोज में कठिन परिश्रम करना पड़ा, समुद्र का मथन करना पड़ा तब कहीं बडी कठिनता से उनको अमृत प्राप्त हुआ। आचारांगादि ग्यारह अंग (मूलसूत्र), पूर्वाचार्यविरचित योग, अध्यात्म, धर्मशास्त्र आदि अनेक विषयों के प्रतिपादन करनेवाले उपांग, पयन्ना और प्रकरण आदि अनेक ग्रन्थ समुद्ररूप हैं और शान्तरस इस महान् समुद्र में से अत्यन्त परिश्रमद्वारा मथन कर निकाला हुआ अमृत है। इसके ढूंढने में अत्यन्त पुरुपार्थ एवं बुद्धिमान् पुरुप की आवश्यकता होती है। इससे यह स्पष्ट है कि यह रस कितना उत्कृष्ट है[१]। इसके विषय में और अधिक दलीलें पेश न कर इतना ही कहना बस होगा कि शान्तरस सर्व गंभीर धर्मशास्त्ररूप समुद्र को मथन कर निकाला हुआ 'सार' 'नवनीत' 'माखन' है। अब यह कितना उपयोगी होगा यह पाठक स्वयं विचारें, तथापि इसके समर्थन में तीन विशेप कारण बतलाये गये हैं। वे भी इतने ही उपयोगी हैं जितना यह, अतः अब हम उन्हीं पर विचार करते हैं।

---

१ यह दंतकथा लौकिक है, किन्तु इसके रूपक करते समय इसके उपयोग से शास्त्र में कुछ भी बाधा नहीं आती है।

१. शान्तरस इस भव तथा परभव में अनन्त आनन्द प्राप्तिका साधन है। इस से इस भव में मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार का आनन्द होता है। मानसिक आनन्द तो इतना उत्कृष्ट श्रेणि का होता है कि जिसका विचार करना भी हमारी बुद्धि के बाहर का विषय है। बिना अन्य किसी व्यक्ति को कष्ट पहुँचाये आत्मा के कर्त्तव्यपालन से जो अनिर्वचनीय आनन्द होता है वह अनुभवगम्य है। यह आनन्द कितना होगा इसका विचार करते समय वाचकपति श्री उमास्वाति महाराज के वचनों का स्मरण होता है:—

नैवास्ति राजराजस्य, तत्सुखं नैव देवराजस्य।
यत्सुखमिहैव साधो—र्लोकव्यापाररहितस्य ॥ १२८ ॥

"लोकव्यापार से रहित साधु को इस लोक में जो सुख है वह सुख चक्रवर्ती एवं इन्द्र को भी अलभ्य है।" इससे स्पष्ट है कि शान्तरस की भावनावाले के सुख की समता पौद्गलिक स्थूल सुखवाले से कदापि नहीं हो सकती है। संसार की दृष्टि में राजा, महाराजा, सम्राट, सर्वभौम के चक्रवर्ती बहुत सुखी प्रतीत होंगे, अथवा देवपति इन्द्र सुखी जान पड़ेगा, परन्तु लोकव्यापार से रहित साधु के सुख के सामने यह स्थूल सुख किसी गिनती में नहीं है।

इस प्रकार मानसिक सुख इस भव में अत्यन्त आनन्ददायक है। शारीरिक एवं मानसिक सुख में इतनी घनिष्टता है कि जहाँ मानसिक सुख होता है वहां शारीरिक सुख अवश्य होता है। आगे चल कर यह भी बतलाया जायगा कि सुख एवं दुःख दोनों का आधार हमारी मानसिक स्थिति पर है। अतः इन दोनों प्रकार के सुखों में मानसिक सुख ही मुख्य है।

शांतरस की प्राप्ति से ऐहिक सुख होना तो प्रत्यक्ष ही है। इसकी प्राप्ति के लिये धनव्यय की, शारीरिक कष्ट सहन की, मानसिक चिन्ता उठाने की तथा दौडधूप हाय हाय करने की आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि इन सबका एक मात्र साधन शान्तरस ही है। कहा भी है कि:—

स्वर्गसुखानि परोक्षाण्य–त्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम्।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं, न परवशं न च व्ययप्राप्तम्॥

"स्वर्गसुख परोक्ष है और मोक्षसुख तो इस से भी अधिक परोक्ष है। प्रशमसुख प्रत्यक्ष है, इसकी प्राप्ति के लिये न धनव्यय की आवश्यकता है न यह परवश ही है।" कहने का तात्पर्य यह है कि इस भव में मिलनेवाला और अपना लाभ बतानेवाला प्रशमसुख ही है, जिसकी प्राप्ति का एक मात्र साधन शान्तरस है। इसी प्रकार परभव में भी अनन्त सुख की प्राप्ति करानेवाला शान्तरस ही है। यह जीव शान्त प्रवाह में बहता रहे तो इसे निकृष्ट कर्म की प्राप्ति नहीं होती है और पूर्वार्जित निकृष्ट कर्मों का भी नाश हो जाता है जिससे परभव में स्वाभाविकतया आनन्द मिलने की अधिक सम्भवना रहती है।

इस प्रकार शान्तरस केवल इस भव तथा परभव के आनन्द का ही साधन नहीं है अपितु अनन्त आनन्द–मोक्षसुख–जिसके पश्चात् किसी भी दिन निरानन्दपन प्राप्त न हो सके, उनका भी साधन शान्तरस ही है।

२. शान्तरस ही परमार्थिक उपदेश के योग्य है। अन्य सब रसों में पार्थिव विषय आते हैं। इन सब रसों में इन्द्रिय विषयों की तृप्ति और मन के निरंकुशपन के सिवाय वस्तुतः अन्य किसी भी आनन्द की प्राप्ति नहीं होती है; परन्तु शान्तरस

तो एक विचित्र प्रकार का ही आनन्द देता है कि जिस से कोई कभी नहीं अघाता । वीर, करुणा और हास्यरस पार्थिव हैं, दूसरों को भोगाभिलाषी बनाते हैं तथा परिणाम शून्य हैं । शान्तरस इन सबों से निराला ही है । परमार्थिक विषय को प्रतिपादन करनेवाला तथा उसीका उपदेश करनेवाला होने से यह रस प्रधानतया उपदेश के योग्य है । अन्य शब्दों में कहा जाय तो यह रस परमार्थ के अभिलाषियों को अत्यन्त प्रिय है । इस लिये यह रस उस के अधिकारी की अपेक्षा से भी अधिक उत्कृष्ट है; क्योंकि इसके आधिकारी प्राकृत जनसमूह की सामान्य स्थिति से किसी अथवा बहु अंश में ऊंचे होते हैं ।

३ शान्तरस सब रसों का सार है । यद्यपि हास्यादि रसों को कवियोंने उत्कृष्ट स्थान प्रदान किया है किन्तु उसका स्थिर रहना असम्भव प्रतीत होता है । शान्तरस को कितने ही पुरुषोंने वास्तविक सचा रस ही सिद्ध नहीं किया है अपितु इसे एक उत्कृष्ट रस घोषित किया है । जो इस रस की महिमा को जानते हैं, अनुभव करते हैं उनको हास्यादि रसों का स्थूलप्रतीत होना निसन्देह ही है । कई वक्ताओंने शान्तरस को प्रधान रस बतलाया है इसलिये इसे यहां भी रसाधिराज कहा गया है ।

इन तीनों कारणों से शान्तरस का उत्कृष्टपन बतलाया गया है । इन में परस्पर कार्य्यकारणभाव है । आलोक परलोक के अनन्त आनंद का साधन शान्तरस है इसलिये यह परमार्थिक उपदेश के योग्य है । इन्हीं दोनों कारणो से यह रसाधिराज कहा गया है ।

ग्रन्थ के आदि में मंगल, विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और

अधिकारी इन पांच वस्तुओं को प्रगट करना शिष्टाचार कहलाता है। इष्टदेव की स्तुति और ग्रन्थ के पठन-पाठन की प्रवृत्ति में मन को लगाने की अभिलाषासूचक मांगलिक सर्व धर्मों में इष्ट माना गया है। फिर भी कई वार इस को भूला दिया जाता है। दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस ग्रन्थ का विषय क्या है? इसका खुलासा गद्यबन्ध प्रबन्ध में हो जाता है। शान्तरस इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का विषय है और इसी का वर्णन सर्वत्र एकसा किया गया है।

'प्रयोजन' इस ग्रन्थ के बनाने का क्या कारण है यह बता देना भी अत्यावश्यक हो जाता है। यह विषय अत्यन्त आवश्यक होने से इस को अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रगट करने की आवश्यकता है। अध्यात्मविषय जनसमूह को अप्रिय है अतएव इस पर उस की रुचि पैदा करना बड़ी टेढ़ी खीर है। यह विषय इस भव और परभव में अत्यन्त आनंददायक होने से ही इसका प्रचार करना अत्यावश्यक नहीं है अपितु इस के बिना जीवन शून्य प्रतीत होता है।

सम्बन्ध—यह ग्रन्थ पद्यबन्ध रचना में लिखा जायगा।

अधिकारी—इस ग्रन्थ के पढ़ने का अधिकारी कौन है? अध्यात्मशास्त्र जैसा ग्रन्थ किस को दिया जाय? इस को कौन पढ़े? यह एक टेढ़ा प्रश्न है, तथापि इस ग्रन्थ के अधिकारी परमार्थिक उपदेश के पात्र ही गिने जाते हैं।

इस प्रकार अत्यन्त उत्साह से इस ग्रन्थ का आरम्भ किया गया है। इस ग्रन्थ को कम पढ़ें किन्तु समझ कर पढ़ें, पढ़कर विचार करें और विचार कर अपनी स्थिति एवं संयोगानुसार व्यवहार में लावें।

शान्तरस–प्रारम्भ

(मांगलिक)

जयश्रीरांतरारीणां, लेभे येन प्रशान्तितः ।
तं श्रीवीरजिन नत्वा, रसः शान्तो विभाव्यते ॥१॥

" जिन श्री वीरभगवानने उत्कृष्ट शान्ति से अपने अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली हैं उन परमात्मा को मैं नमस्कार कर शान्तरस की भावना करता हूं. " अनुष्टुप्[1]

विवेचन—व्यवहार में शत्रुओं का नाश करने तथा उन पर विजय प्राप्त करने के लिये द्वेष, क्रोध और मान का आश्रय लेते हैं, परन्तु श्रीवीरप्रभु का मनोराज्य इतना विशाल था कि उन्होंने द्वेष का आश्रय न लेकर शांतिपूर्वक सर्व अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त किया। अंतरंग शत्रु मोहराजा के सेवक हैं, और उन की सेना में विषय, कषाय, ज्ञानावरणीय आदि अनेक मण्डलियें हैं। मार्गानुसारी होकर विजय की अभिलाषा रखनेवाले को अन्तरंग सैन्य पथभ्रष्ट नहीं कर सकते हैं, अपितु तत्त्वश्रद्धारूप सम्यक्त्व के प्राप्त हो जाने पर जब देश से अथवा सब से विरति हो जाती है तब इन्द्रियदमन, आत्मसंयम क्षमा-धारण, सत्यवचनोच्चारण, स्तेयत्याग, अखण्डब्रह्मचर्य और अपि-

---

१ प्रत्येक पद में आठ अक्षर होते हैं। छठा गुरु और पांचवां लघु होता है। दूसरे और चौथे पद का सातवां ह्रस्व होता है। पहले तथा तीसरे का सातवां दीर्घ होता है।

कार के प्रमाण में बहिरंग और अंतरंग परिग्रह का त्याग आदि सद्गुणों के प्राप्त होने पर ही यह जीव अप्रमत्त अवस्था प्राप्त कर शनैः शनैः सब अन्तरंग शत्रुओं का किला ढहाता जाता है। श्री वीरप्रभुने भी अभ्यंतर शत्रुओं का नाश करने के लिये इसी मार्ग को ग्रहण किया था। लक्ष्मी के अभिलाषी को आवश्यक है कि सब से प्रथम वह लक्ष्मीवंत की सेवा करे। सेवा से उस पुरुष के ग्रहण किये रास्ते का ज्ञान होता है, उस की ओर श्रद्धा वढती है, अध्यवसाय उत्कृष्ट होता है तब अल्प प्रयास मात्र से ही साध्य की सिद्धि होजाती है। शान्तरस का कामी महापुरुष भी वह रस जिसे प्राप्त होगया है उन आसन्न उपकारी श्री चरम तीर्थंकर की स्तुति करता है। शान्तरसद्वारा उन महात्माओं से अपने अन्तरंग शत्रुओं पर किस प्रकार विजय प्राप्त की इसकी कथायें वीरचरित्रादि अन्य ग्रन्थों में पढ़ें। संगम, चण्डकौशिक, शूलपाणि, गोशालक आदि अतुल्य दुख देनेवाले पर अखण्ड शांति रखनेवाले का अन्तरंग मनोबल कितना वीर्यवान होगा इसको लिखने के स्थान में कल्पना करना ही अधिक युक्त है। कल्पना किया जा सकता है; ऐसे परमात्मा का नामोच्चारण कर शान्तरस की भावना की गई है।

किसी के शब्द मात्र को ग्रहण कर के उस समस्त का पर्ण प्रयोग करना निरुक्त कहलाता है, इस लिये कई शब्दों का अर्थ, व्युत्पत्ति से न वनकर प्रयोग से ही वनता है। वीर शब्द की निरुक्ति करते हुए विद्वान कहते हैं कि:—

विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते।
तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः॥

जो कर्म का यम करता है, तपस्या में विराजमान है, तथा तपशक्तिवाला है, वह निरुक्तिद्वारा 'वीर' कहलाता है।

व्युत्पत्ति से भी यही ध्वनित होता है।। विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणीति वीरः जो कर्मों को प्रेरित करता है। भगा लगाता है, आत्मा से खदेड़ कर भगा देता है वह ही वीर कहलाता है। ऐसे श्री वीर परमात्मा को नमस्कार कर मंगलाचरण किया गया है।

टीकाकार महाराज श्री धनविजयजी गणी का कथन है कि शास्त्र के आदि में मंगल, अभिधेय, संबन्ध, प्रयोजन और अधिकार इन पाँच वस्तुओं को बताना चाहिये, वह इस श्लोक में भी बतलाई गई है। वीर परमात्मा को नमस्कार करके मंगलाचरण किया गया है, अभिधेय अथवा विषय शान्तरस है, अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयोजन है, शान्तरस का विभाव्यविभावकभाव सम्बन्ध है और मोक्षार्थी प्राणी जो अन्तरंग शत्रुओं पर जय प्राप्त करना चाहते हैं वे इसके अधिकारी हैं।

यद्यपि ये पाँचों वस्तुएँ ग्रन्थरचना में प्रथम ही बतलादि गई है जिस पर भी ये यहां फिरसे बतलाई गई है इस में पुनरुक्ति दोष होने का आक्षेप किया जा सकता है, परन्तु ध्यान रहे कि स्वाध्याय, ध्यान, तप, औषध, उपदेश, स्तुति, प्रदान और संतगुणकीर्तन में पुनरुक्ति दोष नहीं लगता है। प्रशमरति प्रकरण में कहा गया है कि—

ये तीर्थकृतप्रणीता भावास्तदनन्तरैश्च परिकथिताः।
तेषां बहुशोऽप्यनुकीर्तनं भवति पुष्टिकरमेव॥

यद्वद्विषघातार्थं मंत्रपदे न पुनरुक्तदोषोऽस्ति ।
तद्वद्रागविषघ्नं पुनरुक्तमदुष्टमर्थपदम् ॥

"तीर्थंकरमहाराज प्रणीत और उनके पश्चात् अवि-च्छिन्न सम्प्रदायागत आचार्यों से बतलायें-कथन किये भावों का बारंबार कथन करना वह उस-प्रशम की रति का पुष्टि करनेवाला है। विषघात के लिये जिस प्रकार बारंबार मंत्रो-च्चारण करने में पुनरुक्ति दोष नहीं होता है उसी प्रकार राग-रूप विषघातक अर्थपदों का भी बारंबार कहना कार्य्य-दोष रहित है।"

संपूर्ण ग्रन्थ में एक भाव को ही दो दो बार या किसी २ भाव को इस से भी अधिक बार प्रगट किया जाता है, उपदेश के अनेकों ग्रन्थों के होनेपर भी फिर और ग्रन्थ लिखे जाते हैं यह एक प्रकार की पुनरुक्ति है, किन्तु इस में काव्यचातुर्यता बताने का विशेष हेतु न होने से यह दोष रहित है। जिस प्रकार व्योपारी सदैव एक ही प्रकार का व्योपार किया करता है किन्तु उस में उस की अभिलाषा व्योपार की न होकर धनप्राप्ति की होती है, जिस प्रकार मंत्रपद बारंबार जप करने में श्रद्धागुण प्रधान होता है और साध्य मंत्र की ओर न होकर विषनाशक की ओर होता है, और जिस प्रकार व्याधिग्रस्त प्राणी जो एक ही एक औषधि का अनेकवार सेवन करता है उस में उस का उद्देश्य औषधि सेवन का न हो कर व्याधि का विनाश करने का होता है इसी प्रकार शुद्ध व्यौपार के अभिलाषी अथवा रागविष वा मोहव्याधियों के नाश करने के अभिलाषी मुमुक्षु को यदि अनेक प्रकार से अनेकवार एक ही एक उपदेश किया जाय तो उस का साध्य वचनोच्चार या वचनव्यापार की ओर न होकर राग-

विष का मारा अथवा शुद्ध संस्कार के सबब की ओर ही होता है। अतः इस में लेश मात्र भी पुनरुक्ति दोष नहीं लगता है।

अनुपम सुख के कारणभूत शान्तरस का उपदेश

सर्वमंगलनिधौ हृदि यस्मिन्,
संगते निरुपमं सुखमेति ।
मुक्तिशर्म च वशीभवति द्राक्,
तं बुधा भजत शांतरसेंद्रम् ॥ २ ॥

" सर्व मांगलिकों का निधान ऐसा शान्तरस जिस हृदय में प्राप्त हो जाता है वह अनुपम सुख का उपभोग करता है और मोक्षसुख एक मारगी उस के आधिपत्य में आजाता है। हे पंडितों! ऐसे शान्तरस को तुम भजो—सेवा करो-माओ[1]।" स्वागतावृत्त

विवेचन—सर्व प्राणियों की प्रवृत्ति किसी न किसी उद्देश्य को लेकर होती है। " प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते " यह स्वतः सिद्ध नियम है। व्यौपार का हेतु धन-प्राप्ति होती है, पढ़ने का हेतु मानसिक उन्नति तथा परीक्षा में उत्तीर्ण होना होता है, चलनेवाले का हेतु अमुक स्थान पर पहुंचने का होता है और बोलनेवाले का हेतु अमुक प्रभाव श्रोताओं के मन पर डालने का होता है। इन सब हेतुओं का परंपरागत हेतु सर्व प्राणियों को सुख प्राप्त कराने का होता है। जिस प्रवृत्ति से परिणाम में सुख की प्राप्ति न हो उस में विचारवान् प्राणी प्रवृत्ति नहीं करते हैं। इस से ज्ञात होता है कि सर्व प्रवृत्तियों का मुख्य हेतु सुख प्राप्त करना है। अब प्रश्न यह होता है कि सुख क्या वस्तु है? और कहां रहता है? इन प्रश्नों के उत्तर देने में अत्यंत

1 स्वागतावृत्त में 11 अक्षर. स्वागता रनभगैर्गुरुणा च ॥

अनुभव ज्ञान की आवश्यकता होती है। हमारी वास्तविक दशा तो यह है कि जिस वस्तु के प्राप्त करने के लिये यह जीव रात-दिन जी तोड़ कर प्रयास करता है उस वस्तु के वास्तविक स्वरूप को भी यह जीव नहीं पहचानता है। संसार में अनेकों प्राणी स्वादिष्ट भोजन करने में, बढ़िया वेशकिंमती भड़कीले वस्त्र पहनने में, साधारण जन समुदाय में अच्छे सुंदर दिखाई देने में, प्रथम पंक्ति की कुर्सी को सुशोभित करने में, अथवा अपनी सब के सामने वाह वाह कही जाने में सुख मानते हैं; परंतु आप ठंडे दिल से विचार किजिये कि इस में सुख क्या है? शरीर नाशवंत है, नाम किसी का अमर नहीं रहता और सबसे अधिक अगत्य की हकीकत तो यह है कि जब इस प्रकार के विषयों में सुख मान कर प्राप्त कि हुई सम्पत्ति (पुण्य-धन) खो जाती है सो परिणाम स्वरूप पीछे दुःख होता है। जिस सुख के अन्त में दुख मिले उसे सुख कैसे कहें? संसार के सम्पूर्ण सुख इसी प्रकार के है। विषयजन्य सुख केवल मात्र मान्यता में ही होता है। इस से किसी भी प्रकार का वास्तविक आनन्द नहीं मिलता। जो आनन्द प्रतीत होता है वो भी झूठा है, अस्थिर है, अल्प है और अल्प समय तक रहनेवाला है; फिर इस को सुख मान लेना हमारी कितनी बड़ी भारी भूल है?। सच्चा सुख तो मन की शांति में ही है। जब मन एक विचार के विषय से दूसरी ओर दौड़ता है और एक वस्तु पर स्थिर नहीं रहता तो समझना चाहिए कि अभी तक इस को अपना वास्तविक ख्याल नहीं हुआ है। इस प्रकार के सुख प्राप्त करने का परम साधन शान्तरस की भावना को ही चित्तक्षेत्र में स्थिर करना है। इस शान्त रस की भावना से जो आनन्द प्राप्त होता है वह अनिर्वचनीय है। पार्थिव वस्तुओं में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है कि जिस के साथ उस

सुख की तुलना की जा सके। शान्तरस की उत्कृष्ट रीति की भावना होने पर सर्व प्रकार के दुःखों का आत्यंतिक अभाव हो जाता है और फिर जो अविनाशी, अव्याबाध सुख प्राप्त होता है वह ही वास्तविक सुख कहलाता है।

इस उत्कृष्ट सुख प्राप्ति का साधन ऊपर कहे अनुसार शान्तरस का विचार करना और उसी को परम साध्य मानना है। शृंगार, हास्य, वीर आदि रसों में माने हुए इन्द्रिय-जन्य विषयसुख से कल्पित क्षणिक विनश्वर आनन्द होता है; परन्तु सदा, चिरस्थायी, अंतरहित आनन्द तो शान्तरस की भावना ही से प्राप्त होता है। और उस शान्तरस को भावने का उपदेश यहां किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में इस को ही साध्य रक्खा गया है, अतः मननपूर्वक इस ग्रन्थ का अभ्यास करना सुख-प्राप्ति के उपाय के बराबर है।

रसेन्द्र-रसेश्वर सिद्धान्त ऐसा है कि यदि देहावसान पश्चात् दूसरों से मानी हुई मुक्ति मिले तो वह अनुत्तम है, अतएव रसेन्द्र (पारा) खाकर शरीर को बनाये रखना ही उचित है। यदि शरीर तो नाशवान है ऐसी शंका उपस्थित हो तो उस के जवाब में इस सिद्धान्त के अनुयायी कहते हैं कि इस शरीर के अवसान होने पर हरगौरी सृष्टि में दूसरा शरीर प्राप्त होगा और वह अधिक शक्तिशाली होगा। उन को इस मत पर उपदेश करते हुए सूरि महाराज कहते हैं कि रसेन्द्र (पारा) भी यह शान्तरसाधिराज ही है। शान्तरस सब मंगलो का भण्डार है कारण कि सब मांगलिक्यमाला का इसी से विस्तार होता है। — पंडित लोग ही इस उपदेश के योग्य पात्र हैं, वे ही इस शान्तरस की खूबी को समझ सकते हैं। अत सूरि महाराजने बुध शब्द से

पंडितो को संबोधन किया है। जिन्होंने संसार के वास्तविक स्वरूप को समझ कर पुद्गल एवं आत्मा के भेद को समझा हो उन्हीं को शास्त्रकार पंडित कहते हैं।

इस ग्रन्थ के सोलह द्वार.

समतैकलीनचित्तो, ललनापत्यस्वदेहममतामुक्।
विषयकषायाद्यवशः, शास्त्रगुणैर्दमितचेतस्कः ३
वैराग्यशुद्धधर्मा, देवादिसतत्त्वविद्विरतिधारी।
संवरवान् शुभवृत्तिः, साम्यरहस्यं भज शिवार्थिन् ४

॥ युग्मम् ॥

"हे मोक्षार्थी प्राणी! तू समता विषय में लीन चित्तवाला हो, स्त्री, पुत्र, पैसा और शरीर पर से ममता छोड़ दे, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषय और क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों के वशीभूत न हो, शास्त्ररूप लगाम से तेरे मनरूप अश्व को काबु में रख, वैराग्य प्राप्त कर शुद्ध-निष्कलंक धर्मवान बन (साधु के दश प्रकार के यतिधर्म और श्रावक के बारह व्रतों का आत्मगुणों में रमणता करनेवाला शुद्ध धर्मवाला बन,) देवगुरुधर्म का शुद्ध स्वरूप जाननेवाला बन, सर्व प्रकार के सावद्य योग से निवृत्तिरूप विरति धारण कर, (सतावन प्रकार के) संवरवाला बन, तेरी वृत्तियों को शुद्ध रख और समता के रहस्य को भज."

आर्यावृत्त.[1]

भावः—इस युग्म में सामान्यतया प्रकीर्ण उपदेश करने

---

१ आर्या के चार चरण होते है। प्रत्येक चरण में अनुक्रम से १२-१८-१२-१५ मात्रायें होती हैं।

के उपरान्त इस ग्रन्थ में वर्णित सोलह अधिकार अनुक्रम से दिये गये हैं, वे निम्न लेखित हैं:—

१ समता
२ स्त्री(ललना) ममत्वमोचन
३ अपत्यममत्वमोचन
४ धनममत्वमोचन
५ देहममत्वमोचन
६ विषयप्रमादत्याग
७ कषायत्याग
८ शास्त्राभ्यास और वर्तन—अवर्गत चतुर्गति के दुख
९ चित्तदमन
१० वैराग्योपदेश
११ धर्मशुद्धि.
१२ गुरुशुद्धि
१३ यतिशिक्षा
१४ मिथ्यात्वादि निरोध—संवरोपदेश
१५ शुभवृत्ति
१६ साम्य रहस्य

ये सोलह अध्यात्म विषय हैं। इन का सम्पूर्ण ग्रन्थ में विवेचन किया गया है और इन का पारस्परिक सम्बन्ध भी उचित स्थान पर बताया गया है। यह सब कल्पवृक्षतुल्य है जो इस के उपासक को मनोवांछित फल देता है। अत इस को वांचने मनन करने का आग्रह प्रसगवश किया जाकर ग्रन्थ को प्रारम्भ किया जाता है।

 इति ग्रन्थकारकृत उपोद्घात

अथ प्रथमः समताधिकारः

भावना भाने निमित्त मन को उपदेश.

चित्तबालक ! मा त्याक्षी-रजस्रं भावनौषधीः ।
यत्त्वां दुर्ध्यानभूता न, च्छलयन्ति छलान्विपः॥५॥

अनुष्टुप्

"हे चितरूप बालक ! तूं सदैव भावनारूप औषधियों का थोड़े से समय के लिये भी परित्याग न कर जिस से छलयुत दुर्ध्यानरूप भूत-पिशाच तुझे कष्ट न पहुंचा सके."

विशेषार्थः—समतादिक अध्यात्म विषय में यह जीव अभी तक बहुत पीछे है, उसका खरा रहस्य समझ कर उस को अनुसरण करने निमित्त इस मन को बालक कहा गया है।

हे बालकमन ! तूं एक क्षणभर के लिये विचार कर, सांसारिक सगास्नेही अस्थिर हैं और पौद्गलिक विषयसुख अनित्य है। आज जो रंग है वह कल नहीं रहेगा। सगास्नेहीयों की तथा शेठ आदि स्वामी की किसी की भी वास्तविक रूप से तुझे शरण नहीं है। तेरे पर आपत्ति आने पर इनमें से कोई भी ऐसा न मिलेगा जो तेरा उपकार कर सके, अपितु जैसे ये सब मिले हैं वैसे ही इन को अलग होवे देर न लगेगी। तूं स्वयं तो अकेला ही आया है और अकेला ही जायगा। तूं किसी का नही है और तेरा कोई नहीं है। इस प्रकार अनेक तरह संसार का वास्तविक रूप क्या है इसका विचार करना, अपनी शुभ और अशुभ दशा क्या है उस का स्वरूप समझ कर उसको स्मरण रखना-पौद्गलिक एवं आत्मिक तत्वों में

क्या भेद है उसे समझ कर उस पर विचार करना उसको शास्त्रकार भावना कहते हैं। इस भावना को भाने से सभी स्थिर वस्तु क्या है उस का सत्यज्ञान हो जाता है। और उस ज्ञान के परिणामस्वरूप तदनुसार कार्य करने का निश्चय होता है तथा इस के भी परिणामस्वरूप वैसा कार्य्य भी किया जाता है। किसी भी कार्य्य के होने तथा करने का यह शुद्ध क्रम है और विकास भी तदनुसार ही होता है। ऐसी भावनायें शास्त्रकार बारह या सोलह प्रकार की बतलाते हैं। इस का पूरा विवरण योगशास्त्र, प्रवचनसारोद्धार, शांतसुधारस आदि ग्रन्थों में बहुत विस्तार से किया गया है। इस ग्रन्थ में भी आगे इस का सविस्तार वर्णन किया जायगा। यहां केवल यह कहना है कि वस्तु का स्वरूप समझना और उस में निरन्तर मन लगा कर भावना रखना। तेरे प्रत्येक कार्य्य में इन भावनाओं को न भूलना। तूं खाता हो, पीता हो, चलता हो, व्योपार करता हो तथा धर्मकार्य्य करता हो, उस समय प्रत्येक वक्त तेरी इन भावनाओं को हृदयचक्षु सन्मुख रखना। ये भावनायें धार्मिक कार्य करते समय और विशेषतया स्वाध्याय ध्यान करते समय ही भाने की हैं ऐसा तूं खयाल न कर, वरन् ये भावनायें तेरे प्रत्येक कार्य्य में झलकनी चाहियें।

अनादि अभ्यास के कारण संसार भावना इस जीव की स्वाभाविक दशा समान हो गई है। इसको घर बनाने में, गहने घड़ाने में तथा व्योपार करने में जितना आनन्द आता है और जितना यह इन कार्यों में व्यापित हो जाता है उतना यह संसार के वास्तविक स्वरूप विचारते समय नहीं होता, हो भी नहीं सकता, होने का विचार भी नहीं करता जिसके परिणाम

स्वरूप दुर्ध्यान में पड़ जाता है। कितनी ही बार तो यह इतना विपरीत हो जाता है कि उस के धार्मिक कार्यों में भी दुर्ध्यान की बू आ जाती है और चित्तवृति डावॉडोल हो जाती है। ये दुर्ध्यान क्या क्या करता है यह नवमे चित्तदमन अधिकार में दर्शाया गया है। यहाँ पर केवल यह प्रयोजन है कि जो यह जीव भावना भाने से विमुख हो जाता है तो तुरन्त दुर्ध्यानरूप पिशाच इस के हृदयमन्दिर पर आधिपत्य जमा लेता है और फिर इसे अनेक प्रकार के विचित्र एवं हास्यजनक नाच नचाता है।

अतः भावना को यंत्रयुक्त मॉंदलिया कहा गया है। संसार में अनेकों पुरुषों की यह धारणा है कि सयंत्र मॉंदलिये को पहननेवाले पर भूत-पिशाच के नाम से प्रसिद्ध हुई अमानुषिक प्रकृतियों का असर नहीं हो सकता। इस मान्यता पर रूपक अलंकार बॉध कर विद्वान् ग्रन्थकार कहता है कि जो तूं भावनामंत्र से मंत्रित मॉंदलिये को तेरे हाथ पर बांध ले तो दुर्ध्यानरूप भूत-पिशाच तेरे हृदय-मन्दिर पर अधिकार नहीं जमा सकते। दुर्ध्यान की शक्ति प्रबल आत्मवीर्य के सामने कुछ काम नहीं आती। यह जीव जिस समय शुद्ध आत्मिक दशा में रमण करने लगता है उस समय इस में इतना अपूर्व वीर्य स्फूरित हो जाता है कि उसका तौल अनुभव ही से जाना जा सकता है, कहने से नहीं। एक मात्र कर्मावृत्त स्थिति के कारण यह आत्मा वहुत समय तक ऊँघती रहती है, उसी से इस पर ये विभावोभाव अधिकार जमाते हैं, वरना भावना के शिघ्रतया जागृत होते ही तुरन्त ये सब भग जावेंगे, नाश हो जावेंगे और दूर रहेंगे।

टीकाकार कहता है कि गम्य, अगम्य, कार्य, अकार्य,

हेय, उपादेय आदि ज्ञान में विकलता होने से चित्त अमीवक मालक है। भावना से धैर्य-स्थिरता प्राप्त होता है अतः यह मोक्षरूप है और दुर्ध्यान से परवशपन, दुर्गति और उन्माद होता है अत यह मूत व्यंतर समान है।

भावना समता के प्रथम बीजरूप है ऐसा यहाँ उपदेश किया गया है। इस अधिकार में मैत्र्यादि चार भावनाओं का स्वरूप बतलाया जायगा। इस से पहिले समता का सुख कैसा है यह बतलाया जाता है।

इन्द्रियों का सुख, समता का सुख

यदिंद्रियार्थैः सकलैः सुखं,
स्यान्नरेंद्रचक्रित्रिदशाधिपानाम्।
तद्बिंदवत्येव पुरो हि साम्य-
सुधाम्बुधेस्तेन तमाद्रियस्व ॥ ६ ॥

"राजा, चक्रवर्ती और देवताओं के स्वामी इन्द्रों को सर्व इन्द्रियों के अर्थों से जो सुख होता है वह समता के सुख-समुद्र के सामने सचमुच एक बिन्दु के समान है, अतः समता के सुख को प्राप्त कर।"

उपजातिवृत्त

---

१ उपेन्द्रवज्रा में ११ अक्षर. उपेन्द्रवज्राप्रथमेलघौसा
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः
इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के चरणों के मिल जाने से उपजाति छन्द होता है।

को, अथवा बहुत सुखी माने जानेवाले देवेंन्द्र को भी समता सुख जैसा सुख नहीं है। शास्त्रकार भी कहता है कि:—

ज च कामसुहं लोए, ज च दिव्वं महासुहं।
वीयरायसुहस्सेय, णंतभागंपि नग्घई ॥

लोक में जो विषयादिक के सुख हैं और देवलोक में जो महासुख हैं वे वीतराग के सुख के सामने अनतमा भाग भी नहीं होवें।

ऐसा महान सुख तुझे यत्न से साध्य है, यहाँ तुझ को मिल सकता है, इस में न तो पैसों की आवश्यकता है, न बाहरी सहायता की आवश्यकता, न किसी के रक्षण की आवश्यकता, न किसी तरफ से आकांक्षा की आवश्यकता है, एक मात्र तेरा क्या है उसको समझ कर उसके मिलने तथा प्रगट करने का प्रयास करने, और दूसरा दिखावटी बाह्य उपाधियों का परित्याग कर देने से ही समतासुख तुझ को अपने आप प्राप्त हो जायगा। परन्तु इसके लिये दृढ़ निश्चय करने के पश्चात् उसके साधन क्या हैं यह बतानेवाले तुझे स्वय मिल जावेंगें, वे साधन तुझे स्वत मिल जावेगें और तुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त होगा। पौद्गलिक सर्व सुख नाशवत हैं, पीछे दुःख–सतति छोड़ जाने वाले हैं, भोगते समय भी अनेक प्रकार की शारीरिक एव मानसिक उपाधि करनेवाले हैं। केवल यहां बताया हुआ समता जन्य सुख ही सर्व प्रकार के दुखों से मुक्त है अत· समता के सुखका आदर कर।

सासारिक जीव के सुख–पति के सुख

अदृष्टवैचित्र्यवशाज्जगज्जने,
विचित्रकर्माश्रयवाग्विसंस्थुले।

उदासवृत्तिस्थितचित्तवृत्तयः,
सुखं श्रयन्ते यतयः क्षतार्तयः ॥ ७ ॥

"जब कि जगत के प्राणी पुन्य तथा पाप की विचित्रता के आधीन हैं, और अनेक प्रकार के काया के व्यापार, मन के व्यापार तथा वचन के व्यापार से अस्वस्थ (अस्थिर) हैं, उस समय में जिन की मध्यस्थवृत्ति में चितवृत्ति लगी हुई है, और जिन की मन की व्याधियें नष्ट हो गई हैं वे यति सच्चे सुख का उपभोग करते हैं।"

वशस्थवृत्तं[1].

विवेचन—इन्द्रियजनित विपयसुख और समतासुख का स्वरुप बता दिया गया है। उन दोनों के दृष्टान्त बताकर समता-सुख की अधिकता सिद्ध की गई है। पुन्य के उदय से यह जीव उत्तम शरीरवाला, सुन्दर, सगास्नेही से परिवृत, धनवान, पुत्रवान्, आयुष्यमान् आदि अनेक प्रकार के रूप धारण करता है। वह जीव पाप के उदय से उस से विपरित रूप धारण कर के कंगाल जैसा दिख पड़ता है, पुन्य से यह जीव सुखी प्रतीत होता है और एक-आध दुःख के एक वारगी उपस्थित हो जाने पर अत्यन्त दुःखी जान पड़ता है। कभी कभी तो बच्चे के समान रुदन करने लगता है और कभी कभी कामरासिक बन कर विपयसेवन करता है, कभी कभी धनहीन हो जाता है और कभी कभी संपूर्ण वैभवशाली हो जाता है। कई कई वार निस्तेज, शक्तिहीन हो जाता है और कई वार महान्

---

1 वशस्थ अथवा वंशस्थविलवृत्त के प्रत्येक चरण में बारह अक्षर होते हैं वदंति वंशस्थविलं जतौजरौ ⏑–⏑– –⏑⏑–⏑–⏑–

वसवान् हो जाता है। ऐसे ऐसे अनेकरूप विचित्र कर्मों के वशीभूत होकर यह जीव धारण करता है, संसाररूप-रंगभूमि पर अनेक प्रकार के खेल खेलता है और काल के उपस्थित होने पर यमराज की राजमाली के पर्दे में प्रवेश करता है और फिर अच्छा या बुरा दूसरा रूप धारण करता है-इसी प्रकार अनेक बार रगड़पट्टी किया करता है। दिनभर मन, वचन, काया के व्यापार में मस्त होकर विषयकषायों के आश्रित हो जाता है और क्षणभर भी शान्ति नहीं लेता। कषायादिक में प्रवृत्ति करते समय वह लीन हो जाता है और मानो स्वयं ही कषायमय हो ऐसा जान पड़ता है। इस प्रकार की अनेक योनी यह जीव धारण करता है और उस में ही सुख का अनुभव करता है, किन्तु ऐसी दौड़ादौड़ में सुख होता है या नहीं ? यह कहने से कल्पना कर लेना ही तुच्छ है। कारण कि निवृत्ति बिना सुख हो ही नहीं सकता। शिर पर दुःखरूपी तलवार लटकती हो वहां सुख हो ही नहीं सकता। यह संसारी जीव का सुख हुआ।

अब दूसरी ओर उन सुख दुःख पर माध्यस्थवृत्ति रखनेवाले, आत्माराम में रमण करनेवाले, यतिधर्म का वहन करनेवाले, पंचमहाव्रत का पालन करनेवाले, सांसारिक सर्व उपाधियों से दूर रहनेवाले, खटपट का स्वप्न में भी विचार न करनेवाले, पवित्र जीवन वहन करनेवाले भी योगीमहात्मा, मुनिमहाराजा किस प्रकार के सुख का उपभोग करते हैं उसको देखिये। यह पहले ही बतादिया गया है कि सुख मान्यता में ही है, पुद्गल में नहीं और वास्तविक सुख तो साम्यभाव में ही है। उदार योगी जिनका स्वरूप नवमें श्लोक में विस्तृत रूप से कहा जायगा

उन को तो सब संयोगों में आनन्द ही आनन्द है। वे सुख से सुखी नहीं होते और दुःख से भी नहीं घबराते हैं। इतना ही नहीं अपितु कर्मक्षयनिमित्त दुःख को आनन्ददायक गिनते हैं। वे जानते हैं कि सुख पुन्यप्रकृतियों का उदय है और दुःख पापप्रकृतियों का उदय है। दोनो कर्मप्रकृति हैं, त्याज्य हैं और इन में आनन्द या शोक मानना मूर्खता है। ऐसे महात्माओं को जो अन्तर–आनन्द होता है उस का वर्णन करना कठिन है, कारण कि उनको दुःख में भी आनन्द ही है। मानसिक उपाधियों के नाश होने पर शीघ्र ही सम्पूर्ण पार्थिव पीड़ाओं का भी स्वतः ही नाश हो जाता है और उदारचरित्र योगी तो स्थिर मनोवृत्ति रखकर मानसिक उपाधियों से दूर ही रहते हैं। उनके सम्बन्ध में भी नहीं आते उनके लिये तृण और सुवर्ण एक समान है, राय–रंक का भेद नहीं, निंदा–स्तुति में भेद नहीं, शत्रु-मित्र पर समभाव है और राजा जैसा उनका वैभव दिखाई नहीं पड़ता फिर भी वे राजा के जैसे वैभव का उपभोग करते हैं। इस सम्बन्ध में विरक्तभाव के सुख का अनुभव करनेवाले और संसार का भी अनुभव लेनेवाले राजर्षि भर्तृहरि संक्षेप में कहते हैं कि:—

महीं रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोयमनिलः।
स्फुरद्दीपश्चंद्रो विरतिवनितासंगमुदितः,
सुखं शांतः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥

जिस प्रकार पुन्यवान अपनी खुद की इच्छातृप्ति से सकल अनुकूल संयोगो में निश्चिंत होकर सोता है उसी प्रकार त्यागी पुरुष भी सकल क्लेश–तापों को सहन कर समाधि से

सोता है। उस समय उसके लिये पृथ्वी सुन्दर शय्या है, लता-रूप उसकी विशाल भुजा उसका तकिया है, आकाश उसका चँदरवा है, अनुकूल पवन उसका पंखा है और चन्द्रमा उस का देदीप्यमान दीपक है तथा वह विरति स्त्री की संगत में आनन्द का उपभोग करता है। इस प्रकार सब राज्यचिन्ह उस मुनि के पास है और राजा से भी अधिक शान्ति से वह सोता है, कारण कि वह सर्व मानसिक उपाधियों से रहित है। इस समय में भी किसी कारण से मन्द पुरुष विपत्ति माग लेते हैं, कारण कि सुख के समय में दुःख भोग लिया जावे तो बाद में आपत्ति न उठानी पड़े और नियमित दुःख तो एक न एक बार भोगने ही पड़ते हैं, जिस से उनको उस समय कायरता न बतानी पड़े। इस प्रकार सांसारिक जीवों और यति के सुख की तुलना की गई है। इन दोनों दशाओं को हे आत्मा! तूं ध्यान में रखना।

समतासुख अनुभव करने का उपदेश

विश्वजन्तुषु यदि क्षणमेकं,
साम्यतो भजसि मानस! मैत्रीम्।
तत्सुखं परममत्र,
परत्राप्यश्नुषे न यदभूत्तवजातु॥ ८॥

" हे मन! यदि तूं सर्व प्राणी पर समतापूर्वक एक क्षण भर भी परहितचिन्तारूप मैत्रीभाव रक्खे तो तुझे इस भव और परभव में ऐसा सुख मिलेगा कि जिसका तूने कभी भी अनुभव नहीं किया होगा।" स्वागतावृत्त.

भावार्थ—समतासुख अध्यात्म का बीज है अतः एक साधारण दृष्टान्त बताया गया है; परन्तु वास्तविक समतासुख जानने का साधन तो उसका अनुभव ही है इस लिये उसके बारे में प्रेरणा करते हुए कहते हैं कि हे भाई! हम समतासुख का इतना अधिक वर्णन करते हैं किन्तु इससे कितना लाभ होता है वह तुम को नहीं बता सकते। रसायण खानेवाले को परिणामरूप बहुत समय तक अनेक लाभ होते हैं किन्तु बिना खाये कहने से उस का लाभ नहीं समझ सकता, अतः तू थोड़े से समय के लिये ही समता रख। परहित का चिंतवन करना और परहित के विचार में अपने स्वसुख को भूल जाना—स्वार्थ-त्याग करना मैत्रीभावना कहलाता है। इस का विस्तृत स्वरूप तेरहवें श्लोक में बताया गया है। इस मैत्रीभाव को तू दूसरे जीवों पर एक क्षण के लिये ही रख। इस के परिणाम में तू ऐसा सुपुन्य बांधेगा कि उसके योग से तुझे इस भव में और परभव में अपूर्व सुख प्राप्त होगा। अबतक तूंने पौद्गलिक सुखों का अनुभव किया है जिससे तूं उन्ही में सुख मानता है, परन्तु जब आत्मिक सुख के अनुभव करानेवाले सुकर्मों को तूं ग्रहण कर लेगा तो तुझे एक विचित्र एवं नवीन प्रकार का ही आनन्द प्राप्त होगा।

ग्रन्थकार यहाँ बाल अधिकारियों के मिस मैत्रीभाव से जो साम्यसुख प्राप्त होता है उस का पुन्यकर्म के साथ सम्बन्ध मिलाता है। जिससे हम दूसरों को बता सके कि समताभाव आने से जो अपूर्व आनन्द मिलता है वह अनिर्वचनीय है। इस के परिणामरूप जो शुभ कर्मबंधन अथवा कर्मनिर्जरा होता है उसे तो जाने दीजिये, किन्तु उस के आने पर जो मानसिक संतोष (Conscious Satisfaction) होता है वह भी महान्

है, भव्य है, अलौकिक है, नूतन है, सर्वोत्तम है और अननुभूत-पूर्व है। समता से जो सुख होता है वह दूसरे के सुख को ले कर अथवा कम कर के नहीं होता परन्तु वह स्वसपन्न है, स्व-संपूर्ण है। दूसरों के लिये उपकारी और दोनों के लिये आनन्ददाता है। पौद्गलिक और आत्मिक आनन्द में यही एक विशेषता है। समता से प्राप्त हुआ आनन्द अनुभव समय में ही इतना सुख देता है कि जितना इस जीवने पहले सांसारिक पदार्थों में अनुभव ही न किया होगा। अत हे भाई! तू एक बार साम्यभाव धारण कर, फिर तू उस के सुख को देखना। यदि तुझे उस में कोई अपूर्वता दिख पड़े तो फिर उस सुख के अनुभव करने का विचार करना, परन्तु एक बार तो हमारे आग्रह से ही उस पथ का पथिक बन। हमने इस रस का स्वाद कभी कभी चक्खा है और जिस से तुझे परामर्श करते हैं कि तेरे संसार में रहते हुए ही मोक्षसुख की बानगी चखनी हो तो यह उत्तम मार्ग है।

समता की भावना (Ideal) उस का दर्शन

न यस्य मित्रं न च कोऽपि शत्रु-
निजः परो वापि न कश्चनास्ते।
न चेंद्रियार्थेपु रमेत चेत.,
कपायमुक्तः परमः सयोगी ॥ ६ ॥

" जिस के कोई भी मित्र नहीं और कोई भी शत्रु नहीं; जिस के कोई अपना नहीं और कोई दूसरा नहीं; जिस का मन कषाय रहित हो और इन्द्रियों के विषयों में रमण न करता हो, ऐसा पुरुष महायोगी है " उपेन्द्रवज्र

भावार्थः—जिस योगी का दर्शन सातवें श्लोक में कराया गया है उस का स्वरूप यहां बताया जाता है। समता सुख की प्राप्ति के अभिलाषी प्राणियों को इस श्लोक में लिखेनुसार भावना अपने सन्मुख रखनी चाहिये। किसी गुण को प्राप्त करना हो तो पहले उस का शुद्ध स्वरूप समझ कर बराबर हृदयमन्दिर में उस का स्थापन करना चाहिये। और फिर किसी प्रसंग के आने पर अथवा किसी कार्य्य के करने पर उस भावना को ध्यान में रखना चाहिये। इस प्रकार करने पर ही गुण प्राप्ति होती है। ऐसा किये बिना ध्यान स्थिर नहीं रहता और साध्य की स्पष्टता न हो तो अस्तव्यस्त प्रयास लगभग वृथा ही होता है। भावना के निश्चित होने पर वैसा बनने की धारणा होती है और वैसा बनने का धीरे धीरे अभ्यास करने पर वैसे बन जाते हैं। अतः समता भावना कैसी होनी चाहिये उस का हमें विचार करना चाहिये।

कोई प्राणी इस जीव को गाली दे या निन्दा करें और कोई इस की स्तुति करें, कोई इस को लखों रुपयों का नुकसान करे और कोई इस को करोड़ों रुपयों का फायदा करें, कोई इस का तिरस्कार करें और कोई इस का बहुत मान करे, कोई इस के साथ लड़ाई करने को तैयार हो और कोई इस के साथ मित्रता करने का अभिलाषी हो, ऐसे ऐसे परस्पर विरोधसूचक द्विसंयोगों के उपस्थित होने पर भी जिस की मति एक समान रहती है, जिस को शत्रु और मित्र समान है, जो शत्रुता अथवा मित्रता के कारण में उस के करने वाले पात्र का कोई दोष नहीं समझता, परन्तु कर्मावृत्त आत्मिक स्वरूप को पहचान कर उस दृष्टि में अपनेआप को लीन कर के इस पात्र की ओर ज़रा भी जो अप्रीति नहीं लाता वह ही पुरुष सच्चा योगी है।

जिसके अपना पराया कोई नहीं, जिसके पुत्र तथा अन्य एक समान है वह ही योगी है। जिस को पांच इन्द्रियविषयों में आसक्ति नहीं, जिस को बिलकुल अभिमान नहीं, कषायों के वश का जिस जीव में आविर्भाव नहीं होता, विकथा का नाम जिसके पास सुनाई नहीं देता और जो सदैव धर्म जाग्रत अवस्था में रहता है—ऐसा पुरुष परम योगी है। सारांश में कहा जाय तो जो महात्मा सर्वथा व्यवहार में माने हुए कार्यों से दूर रह कर अपना क्या है उस को मानते हैं और मान कर ही नहीं बैठ रहते किन्तु उसको कार्यरूप में लाते हैं वही शुद्ध योगी हैं। उनकी काया की प्रवृत्ति, वचनों का उचार और मन के विचार निरन्तर शुद्ध होते हैं तथा जरूरत पड़ने पर ही काम में आनेवाले और अतिशय स्थिर होते हैं। ऐसे महात्माओं जैसे बनने की इच्छा रखना सर्व मुमुक्षुओं का दृष्टिबिन्दु होना चाहिये। परम योगी आनन्दघनजी महाराजने शांति के स्वरूप बताते समय शान्त जीव के अनेक प्रकार के लक्षण बताये हैं उन में से निम्नलिखित लक्षण यहां अधिक उपयुक्त है।

मान अपमान चित्त सम गणे,
सम गणे कनक पाषाण रे।
वदक निंदक सम गणे,
ऐसा होय तूं जाण रे॥ शांति०॥

सर्व जगजंतुने सम गणे,
सम गणे तृण मणि भाव रे।
मुक्ति संसार बहु सम गणे,
मुणे भवजलनिधि नाव रे॥ शांति०॥

आपनुं आतम भावजो,
एक चेतनाधार रे।
अवर सवि साथ संजोगथी,
यह निज परिकर सार रे ॥ शांति० ॥

यह समतावंत जीव का संक्षिप्त स्वरूप है। इसका अधिक विस्तृत वर्णन आगम में है। इस भावना को समता के अधिकारी जीवों को निरन्तर हृदय में रखना चाहिये।

समता के अंग-चार भावना.

भजस्व मैत्रीं जगदंगिराशिषु,
प्रमोदमात्मन् गुणिषु त्वशेषतः।
भवार्त्तिदीनेषु कृपारसं सदा-
प्युदासवृत्तिं खलु निर्गुणेष्वपि ॥ १० ॥

"हे आत्मा! जगत के सर्व जीवों पर मैत्रीभाव रख; सब गुणवान् पुरुषों की ओर संतोष दृष्टि से देख; भव (संसार) की पीड़ा से दुःखी होते प्राणियों पर कृपा रख और निर्गुणी प्राणियों पर उदासवृत्ति-माध्यस्थ भाव रख."

वंशस्थवृत्त.

भावार्थः—समता की भाव मूर्ति का स्वरूप बता दिया गया है। अब समता प्राप्त करने के अनेक साधन है उनका वर्णन किया जाता है। अपने संयोगानुसार कौनसा साधन अनुकूल होगा यह मुमुक्षु प्राणी विवेकदृष्टि से विचार कर के समझ लेवें। एक जीव को जो अत्यन्त लाभदायक साधन होते हैं वे दूसरे जीव के लिये मानसिक पन्धारण एवं उत्क्रांति के

प्रमाण में इतना ही उपकार करनेवाले नहीं होते। इससे इस सम्बन्ध में एक सामान्य नियम बांधने के स्थान में समता प्राप्त करने के अनेक साधन बताना जिनमें से यह जीव अपने योग्य पसन्द कर सके अधिक सरल मार्ग है। यह विचार कर इस मन्थ में उसके अनेक साधन बताये गये हैं। संभिन्न बहुत से जीवोंपर एकसा उपकार करने का साधन चार भावना माने समान है। ये भावनायें इतनी उत्तम हैं कि पांचवें श्लोक में बतायेमुतार ये दुर्ध्यान को नहीं आने देती। ये चार भावनायें इस श्लोक में बतायेनुसार मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य हैं। इस का विस्तार से स्वरूप तेरह से सोलह में बताया जायगा। इस साधन पर ध्यान रख कर अब इसी विषय का विशेष उल्लेख किया जाता है। यहां पहले श्लोक के विवेचन में बतायेमुतार उद्देश निर्देशरूप में पुनरावृत्त दोष की शंका नहीं होती।

चार भावनाओं का संक्षिप्त स्वरूप.

मैत्री परस्मिन् हितधीः समग्रे,
भवेत्प्रमोदो गुणपक्षपातः।
कृपा भवार्त्ते प्रतिकर्त्तुमीहो-
पेक्षैव माध्यस्थ्यमवार्यदोषे ॥ ११ ॥

"दूसरे सर्व प्राणियों पर हित करने की बुद्धि यह (प्रथम) मैत्री भावना; गुण का पक्षपात यह (दूसरी) प्रमोद भावना; भवरूप व्याधि से दुःखित प्राणियों को भाव

१ संसार अथवा कर्म। इस से भावदया और द्रव्यदया इन दोनों का इस में समावेश होजाता है।

औषधि से निरोग बनाने की अभिलाषा यह (तीसरी) कृपा भावना; न छूट सके ऐसे दोषवाले प्राणी पर उदासीन भाव यह (चोथी) माध्यस्थ्य भावना. " उपजाति.

उक्त चार भावनाओं का हरिभद्रसूरिकृत षोडशकानुसार स्वरूप.

परहितचिंता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥ १२ ॥

" (आत्मव्यतिरिक्त) दूसरे प्राणियों का हित विचारना यह मैत्री भावना; दूसरों के दुःखों को नाश करने की इच्छा अथवा चिंता से करुणा भावना; दूसरे के सुख को देख कर आनन्द मानना यह प्रमोद भावना और दूसरों के दोषों की उपेक्षा करना यह उपेक्षा भावना " आर्यावृत्त.

अब प्रत्येक भावना का स्वरूप कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य्यकृत श्री योगशास्त्रानुसार बताया जाता है। प्रसंगवश अन्य ग्रन्थों से भी इस भावना का स्वरूप विशेषतया स्पष्ट करने का प्रयास भी विवेचन में किया गया है ।

प्रथम मैत्रीभावना का स्वरूप.

मा कार्षीत्कोऽपि पापानि,
माचाभूत्कोऽपि दुःखितः ।

---

१ सामान्यतः उपजाति के प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होते हैं । इन्द्रवज्र उपेन्द्रवज्र वृत्त दोनों के साथ मिलने से उपजाति छंद कहलाता है ।

मुच्यतां जगदप्येषा,
मतिर्मैत्री निगद्यते ॥१३॥

" कोई भी प्राणी पाप न करो, कोई भी जीव दुःखी न हो, इस जगत कर्म से बचो—ऐसी बुद्धि को मैत्री कहते हैं. "

अनुष्टुप्.

विवेचन—पांचमे श्लोक में जो भावना औषधि लेने की शिक्षा की गई है उन भावनाओं को देखा। कितनीक भावनाओं का स्वरूप अब बताया जाता है। बारह भावना संसार का स्वरूप प्रगट करती हैं। जिन में से चार योग की भावना (मैत्र्यादि) दूसरे जीवों के साथ किस तरह व्यवहार करना उसका यथास्थित स्वरूप बताती हैं। प्रथम मैत्री भावना (Universal Brotherhood) बहुत अगत्य का विषय है। जमाने की विचित्रता को देखते हुए ये चारों उत्कृष्ट भावनाये नाश होती जाती हैं। उसके भावनार मालूम नहीं पडते, विरले ही होंगे। जब चारों भावनाओं का स्वरूप बराबर समझने में आवेगा तब प्रत्येक भावना कितनी महत्व की है और व्यवहार में माने हुए कर्तव्यो से कितनी महान विशेषता रखती हैं यह जान पडेगा। इसमें स्वार्थपन का नाश प्रत्यक्ष दिख पडेगा। मैत्रीभाव का स्वरूप बाँधते हुए श्री हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि 'कोइ प्राणी पाप न करे' ऐसी बुद्धि मैत्रीभाव कहलाती है ? कोई भी प्राणी पाप न करे ऐसी बुद्धि जब हो जाती है तब दूसरे प्राणी पाप के कारण को प्राप्त न हो ऐसा सरल व्यवहार दृढ कर आचरण में लाने की सामान्य बुद्धि भी प्राप्त हो जाती है और विशेषतया स्वयं तो पापात्मक कार्यों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार मये

कर्मबन्धन नहीं होते अपितु शुभ प्रयास से निर्जरा अथवा शुभ कर्मबन्धन होता है। इस प्रथम लक्षण से स्वार्थ का त्याग प्रत्यक्ष है। 'दूसरे कोई दुःखी न हो' ऐसी बुद्धि रखना मैत्री-भाव कहलाता है। ऐसा विचार होना मन की महान विशालता का सूचक है। अनेक अथवा सर्व प्राणी अपने सुख की अभिलाषा करते हैं, किन्तु दूसरे प्राणी की क्या गति होगी इस पर विचार करने तथा जानने का प्रयास भी नहीं करते। विशाल संसार के सर्व जीवों पर मैत्रीभाव रखनेवाले सब को सुखी देखने में आनन्द मानते हैं तथा स्वयं तो किसी भी जीव को किसी भी प्रकार का दुःख नहीं पहुंचाता। 'इस जगत कर्म से बचो' ऐसी बुद्धि भी ऐसे ही मनोराज्य में से प्रसूत होती है। दूसरों के हित की चिन्ता करना मैत्रीभाव कहलाता है। तीर्थंकर महाराज की बीशस्थानक तप करते ऐसी इच्छा हो जाती है कि—"सर्व जीव करुं शासनरसी, ऐसी भावदया मन उल्लसी" और इस उत्कृष्ट भावदया के परिणामस्वरूप तीर्थंकरनामकर्म का बन्धन करते हैं। यदि सब प्राणी शासन में तल्लीन हो जावें तो फिर उनकी यह भवजंजाल मिट जावे और उनके महादुःखों का भी नाश हो ऐसी परार्थ साधने की उत्तम वृत्ति होने पर ही वह सार्वभौम के देवेन्द्र से नमस्कार किये जानेवाले महान् तीर्थंकरपद को प्राप्त होते हैं। अतः मैत्रीभाव भावते समय मन कितना समता में स्थिर होता होगा यह बराबर जाना जा सकता है।

मैत्रीभाव भानेवाले प्राणी बहुधा स्वसुख का बहुत

---

१ इस वचन में करुणाभाव प्राधान्य है यह सर्व जीवों प्रति लिखा गया है, इस लिये यह यहां पर प्रस्तुत है। इसका मुख्य विषय कृपा भावना का ही है।

विचार नहीं करते हैं। हरिभद्रसूरि महाराज कहते हैं कि—"पर-हितचिंता मैत्री" यह एक क्षमा हो उत्तम सूत्र है। अपने स्वार्थ के विचार करने के स्थान में परहितचिन्ता करने में अपूर्व आनन्द मिलता है और इससे स्वहित तो स्वाभाविकतया ही सिद्ध हो जाता है। सम्पूर्ण संसार को स्वबन्धु समान समझने-वाले के मन में ऐसा विचित्र प्रकार का प्रेम होता है कि वह उस प्रेम से ही मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। ऐसे जीव के उद्गार एवं विचार भी अनुकरणीय होते हैं। श्रीविनयविज यजी महाराज शांतसुधारस में कहते हैं कि —

> या रागदोषादिरुजो जनानां,
> शाम्यन्तु वाक्कायमनोद्रुहस्ताः।
> सर्वेऽप्युदासीनरसं रसन्तु,
> सर्वत्र सर्वे सुखिनो भवन्तु ॥

"राग, द्वेष आदि व्याधियें जो प्राणी के मन, वचन, काया के शुभ योगों को नाश करनेवाली हैं उन सब पर विजय प्राप्त करो। अतः सब प्राणी वीतराग हो जाओ, सर्व प्राणी उदासीन रस का पान करें और सब स्थान पर सब प्राणी सुखी बनो"। सम्पूर्ण संसार के सर्व प्राणी सुखी हो ऐसा कहने में न रक्खों जातिभेद, न रक्खों धनवान एवं गरीब का भेद, न रक्खों सम्प्रदाय भेद, न रक्खों सेव्य सेवक भेद, न रक्खों स्तुति एवं निंदा करनेवाले का भेद और न रक्खों स्थान, स्थल तथा भूमिका भेद। सम्पूर्ण संसार पर एक समान दृष्टि रखना मैत्रीभाव का उत्कृष्ट लक्षण कहलाता है। श्रीबृहत्शांति में नगरवासी को, संपूर्ण श्रीसंघ को, लोगों को, राजा को और सर्व प्राणियों को शान्ति हो आदि अभिलाषा दिखाई गई है। निम्नलिखित शांतिवचन भी ऐसी ही गम्भीर ध्वनि करता।—

शिवमस्तु सर्वजगतः,
परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं,
सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

" सम्पूर्ण संसार का कल्याण हो, सर्व प्राणी दूसरों के हित करने में तत्पर हों, सर्व दोष नष्ट हों, सर्व स्थान में सर्व प्राणी सुखी हों "। कैसे विशुद्ध एवं महान अन्तःकरण से ये भाव निकलते हैं ? यह बोलनेवाले को पवित्र करें इतना ही नहीं किन्तु सुननेवाले को भी पवित्र रहने का संकल्प करा देते हैं। उपर लिखी गाथा से जैसी ध्वनि पाक्षिक पर्वादि में निकलती है वैसी ही महान् ध्वनि नित्य अनुष्ठान में-श्राद्ध, प्रतिक्रमणसूत्र में भी बताई गई है। देखिये:—

खामेमि सव्वे जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥

अतः 'मैं सब जीवों को खमाता हूं और वे मुझे क्षमा करें ऐसी मेरी इच्छा है, मेरे सब जीवों के साथ मैत्री है, किसी के साथ वैरविरोध नहीं "। इस प्रकार त्याग तथा ग्रहण दोनों प्रकार मैत्रीभावना उत्कृष्ट रीति से भाने की आवश्यक्ता है। Forbear & Forgive खमीये और खमावीये यह जैनशास्त्र की शुद्ध नीति है। इस में सामनेवाला व्यक्ति क्षमा करेगा या नहीं यह जानने की आवश्यक्ता नहीं है मान परित्याग कर के खमानेवाला तो सर्वथा आराधक है। क्षमा गुण को ग्रहण करते समय क्रोध का सर्वथा परित्याग करना पड़ता है और वैरविरोध तो नाममात्र को नही रखना पड़ता। नित्य अनुष्ठान

में वैरभाव त्याग करने का जो उपदेश है उस भाव को समर्थन करते हुए शान्तसुधारसकार कहता है कि:—

सर्वत्र मैत्रीमुपकल्पयात्मं-
चिन्त्यो जगत्यत्र न कोऽपि शत्रुः।
कियद्दिनस्थायिनि जीवितेऽस्मिन्,
किं खिद्यसे वैरिधिया परस्मिन् ?॥

हे आत्मन् ! तु सर्व स्थान पर मैत्री की कल्पना कर और इस संसार में तेरा कोई शत्रु है ऐसा विचार भी न ला। हे भाई ! तु यहाँ कितने दिनों बैठा रहनेवाला है कि जिसके लिये व्यर्थ दूसरों पर वैर रखकर दुःख भोगता है ?। यहाँ थोड़े से समय तक रहना है और फिर बन्धु–बान्धवों को यहीं छोड़ कर चला जाना है तो फिर खेद किस लिये करे ! ऐसी बुद्धि क्षमा रखने से प्राप्त होती है अतः क्षमा मैत्रीभाव का एक अंग है। पुण्यप्रकाश के स्तवन में वे ही महात्मा कहते हैं कि:—

सर्व मित्र करी चिंतवो साहेलडी रे,
कोई न जाणो शत्रु तो।
रागद्वेष एम परिहरी साहेलडी रे,
कीजे जन्म पवित्र तो ॥

क्षमा धारण करनेवाले, मैत्रीभाव उत्कृष्ट रखनेवाले–वैरी पर भी समभाव रखनेवाले गजसुकुमाल, मेतार्य, खंधक मुनि, चिलाती पुत्र, वीर परमात्मा, चर्मकारी भट्टा आदि अनेक दृष्टान्त शास्त्रप्रसिद्ध हैं। श्रीवीर परमात्मा के तो उनको दुःख देनेवाला दुःखी होगा, इस विचार से नेत्रों में आँसु आगये। मैत्रीभाव का यह उत्कृष्ट दृष्टान्त है। पण्डित पुरुष ' आत्मवत् सर्वभूतेषु ' सर्व

प्राणियों को अपनी आत्मातुल्य समझ कर उनको किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाते, इतना ही नहीं अपितु दूसरे के दुःख से दुःखी होते हैं और दूसरों को दुःखों से छूटकारा दिलाने निमित्त अपने पास जो कुछ होता है उस के व्यय करने में किंचित् मात्र भी आनाकानी नहीं करते। अन्य शास्त्रों में भी कहा है कि—

अष्टादशपुराणानां, सारात्सारः समुदूधृतः।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥

"सर्व शास्त्रों का–अठारह पुरानों का मथन कर निकाला हुआ सार यही है कि–परोपकार (दूसरो का भला करना) यही पुण्य और दूसरों को दुःख पहुँचाना यही पाप है" अतः "परोपकाराय सतां विभूतयः" सज्जन पुरुष को जो मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक सम्पत्ति प्राप्त होती है वह सदैव दूसरों के उपकार निमित्त ही होती है। वे उस धन से मौजशौख नहीं माणते, स्थूल विषयसुख में आनन्द नहीं पाते, किन्तु दूसरे जीवों को सुखी करने और उस निमित्त अपने प्रत्येक प्रकार के सम्पत्ति बल का प्रयोग करना ही सम्पत्ति प्राप्ति का हेतु समझते हैं।

सर्व प्राणियों पर मैत्रीभाव रखना चाहिये। अपने पर क्रोध करनेवाले पर भी वेही भाव रखना चाहिये और कदाच न रख सके तो दूसरे पर क्रोध न कर, अपनी कर्मस्थिति विचार कर उसी पर खेद करना और उस प्रकार का नवीन कर्मबन्धन न हो इसके लिये सचेत रहना चाहिये। मैत्रीभाव रखने का अनेक शास्त्रकार उपदेश करते हैं, परन्तु जैन शास्त्र की विशेष खूबी

यह है कि उस का मैत्रीभाव केवल स्वधर्मानुयायियों की ओर ही नहीं है, किन्तु वह सम्पूर्ण संसार के सर्व मनुष्यों की ओर एकसा और उस में वर्ण, जाति तथा धर्म का भेदभाव नहीं है। इतना ही नहीं अपितु वह तिर्यंच—जानवरों—पक्षियों तथा जल-चरों की ओर भी अपना रक्षणशील हाथ फैलाता है। इस से भी और अधिक आगे बढ़ कर एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रींद्रिय और चतुरीन्द्रिय तक जाता है। छोटे से छोटे जीवों को भी किसी भी प्रकार का दुःख देना मैत्रीभाव के विरुद्ध है, किन्तु पंचेन्द्रिय पुरुष तथा तिर्यंच की ओर तो विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। जैन शास्त्रकार वैरविरोध पर विजय प्राप्त करने का आदेश करते हैं। यह मैत्रीभाव का कारण है किन्तु इस का साध्यबिन्दु तो सर्व जीवों पर हितबुद्धि रखने में है और इसी से 'सव्वस्स जीवरासिस्स' यह गाथा कही गई है। यह मैत्रीभाव समता का अंग है और अधिक विस्तार से ज्यों ज्यों इस पर विचार किया जाता है त्यों त्यों इस गुण के विषय का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण होता जाता है, तथा इसी के साथ साथ आनन्द में भी उसी प्रमाण से वृद्धि होती रहती है। इस गुण की भावना को बराबर समझ कर इस पर मनन करने से अनेक प्रकार के लाभ होना सम्भव है ऐसा अनुभवियों का वचन है।

द्वितीय प्रमोद भावना का स्वरूप

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो य., स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥१४॥

"जिन्होंने सर्व दोषों को दूर कर दिया है और जो वस्तुतत्त्व को देख रहे हैं उनके गुणोंपर पक्षपात रखना वह प्रमोद भावना कहलाती है।" अनुष्टुप्

विवेचन—जिन महान् पुरुषोंने अपने सब दोषों को महान् प्रयास कर के दूर कर दिया है, अर्थात् जिनके क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि महान् दोषों का नाश हो गया है और जो वस्तुस्वरूप को बराबर समझते हैं ऐसे महान् पुरुषों के गुण की ओर बहुत मान रखने का उपदेश किया गया है।

अनेक उपसर्ग सहन कर के आत्मवीर्य फोड़कर संसार में जो असाधारण सद्गुण कहलाते हैं उन को प्राप्त करनेवाले श्री वीतराग महाराजाओं को धन्य है कि उन्होंने अपने सर्व कर्मों का क्षय कर के जिननाम को सिद्ध कर बताया है। और भी अनेक साधु महात्मा इस संसार में हो गये हैं जिन्होंने परोपकार-निमित्त अपने प्राणों तक की परवाह[1] भी न की। दुनिया पर उपकार करने निमित्त अनेकों ग्रन्थ लिख, उपदेश देकर, वस्तुस्वरूप का भान कराया है और उस के लिये अपने नाम की उन्होंने कुछ भी परवाह न की। अब भी अनेक साधु मुनिराज उपदेश देकर अन्य जीवों पर उपकार कर रहे हैं और अपने कर्म का क्षय करने निमित्त भी असाधारण प्रयास कर रहे हैं। ऐसे साधुओं को धन्य हैं! धैर्य धारण कर अपनी स्थिति तथा संयोगानुसार धर्मानुष्ठान और परोपकार करने का आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों और स्त्रीजाति को प्रशंसापात्र बनानेवाली सुलसा आदि

---

1 बहुमान की तीव्र इच्छा अथवा मन का आनन्द।

श्राविकाओं-जिन को श्री वीरपरमात्मा भी धर्मलाभ कहलाते थे-ऐसे आदरत्नों को धन्य है! । संतोष, मन्य, अनुकम्पा, नम्रता, विनय, दाक्षिण्य, दान आदि अनेक गुणों में अलंकृत नरवीर बहुत हो गये हैं और कोई कोई तो अभी भी पृथ्वी को शोभित करते हैं, इन सब को धन्य है! महात्मा पुरुषों के चरित्रों अथवा जीवनवृत्तान्तों को वांचकर अथवा सुनकर मन में इनके गुणों के लिये बहुमान करना यह प्रमोद भावना है । एक गुण को जो सर्वांश में प्राप्त कर लेवे तो सब गुण उस के पीछे पीछे श्रेणीबद्ध स्वय चले आते हैं, यह एक सिद्ध नियम है । गुण प्राप्त करने का सिद्ध उपाय यह है कि जिन महात्मा पुरुषोंने उन गुणों को प्राप्त किया हो उन की भावना शुद्ध स्वरूप में हृदयमन्दिर में स्थापित करना । इस प्रकार भावना रखने से गुणपर राग हो जाता है और वे गुण न हो तो प्राप्त करने की इच्छा होती है, और किञ्चित् मात्र वीर्य फोड़ने से वे गुण प्राप्त भी हो जाते हैं, तथा भावना भाते समय यदि वे गुण अपने में हों तो वे गुण विशेष स्वच्छ हो जाते हैं । अमुक प्राणी को बहुत मान मिलता है यह जान कर असन्तोष न लाना एवं उसकी ओर ईर्ष्या न करना परन्तु उस का गुणोत्कर्ष करना यह ही गुण प्राप्त करने का साधन है । इस प्रकार विचार कर के तीर्थंकर महाराज का मैत्री-भाव, गजसुकुमालादिक की क्षमा, विजयसेठ का ब्रह्मचर्य्य, श्रीपालराजा का दाक्षिण्य, सीता का सतीत्व और रेवती का भक्तिभाव इत्यादि की ओर ध्यान लगाना और स्तुति योग्य गुणों की तथा गुणवानों की प्रशंसा कर जिह्वा की एवं कान की अनुक्रम से गुणानुवाद और गुणश्रवण से सफलता करनी चाहिये ।

तत्त्वार्थ भाष्यकार श्रीउमास्वाति महाराज लिखते हैं कि-

" अभ्युत्थानादिक विनय, वंदन, स्तुति, प्रशंसा, वैयावच्च आदि से लगाकर सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तपस्या से विशिष्ट मनुष्यों में दूसरों तथा अपनी की हुई पूजानिमित्त हुआ मन का आनन्द जो सर्व इन्द्रियोद्वारा प्रगट हो वह प्रमोदभावना है।" प्रमोदभावना की इस व्याख्या में भी मन के आनन्द का ही मुख्य भाग है, परन्तु विशेषतया यहां वर्तन भी साथ ही साथ गिना गया है।

साधु (उत्तम) पुरुषों के नाम का तथा गुण का स्मरण मात्र करने से अनेक लाभ होते हैं। और जो कर्म का स्वरूप समझता है वह जानता है कि अमुक स्मरण से उस का दृढ संस्कार होजाता है तो फिर गत्यंतर में भी स्मरण का विषयगुण जरूर प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रमोदभावना से इस भव में और परभव में बहुत लाभ होता है। किसी की निन्दा करते समय एक प्रकार का मानसिक क्षोभ होता है उस का यहां दर्शन भी नहीं होता और इस के विपरित प्रमोदभाव भावते समय ही अपूर्व आनन्द होता है। समताभावका यही लक्षण है कि उसको करते समय ही विरला ही नवीन प्रकार का आनन्द होता है और वह अनुभव ही से भलीभांति जाना जा सकता है। यह प्रमोदभावना समता का अंग है और इस के भाने में किसी भी प्रकार का बाह्य प्रयास नहीं करना पड़ता।

तृतीय करुणा भावना का स्वरूप.

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु, याचमानेषु जीवितम्।
प्रतिकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभिधीयते ॥ १५ ॥

" अशक्त, दुःखी, भय से व्याकुल और जीवन याच-

नार प्राणियों के दुःख दूर करने की जो बुद्धि है वह करुणाभावना कहलाती है।" अनुष्टुम

विवेचन—संसार के अनेक जीव लक्ष्मी उपार्जन निमित्त अलग-अलग अथवा देश-विदेश घुमते हैं, दूसरों की सेवा करते हैं, अनेक कष्टों को सहन करते हैं तब लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, परन्तु फिर उसका दुरुपयोग कर के हैरान होते हैं। लक्ष्मी प्राप्त करते समय अनेक कष्ट उठाते हैं, उसके रक्षण करने में उससे भी अधिक कष्ट उठाते हैं। भय के मारे उस की चौकी किया करते हैं, उसके खर्च होने पर भी अनेकों प्रकार दुःखी होते हैं, उड़ाउ पुरुष मौजशोक से शरीर बिगाड़ता है, कंजूस पुरुष अल्प अल्प कर मन तथा मस्तिष्क को खाली करता है और अतिविषयी पुरुष व्याधियों का शिकार बनता है। लक्ष्मी के दुश्मन-चोर तो सदैव तैयार रहते हैं। मनुष्य के शिरपर रोग, भय, मृत्यु, वृद्धावस्था आदि शत्रु तो सदैव बने ही रहते हैं और वे उस को दुःख देते रहते हैं।

इतिहास में भूमि के लिये अनेकों राजाओं की लड़ाई लड़ते और हजारों की सेनाओं का खून बहाते हुए पढ़ने में आता है। मतसरता से मुकदमें लड़ कर हजारों लाखों का खर्चा उठानेवाले तथा पैसों का नाश करनेवाले सुने गये हैं। लोभ से अनेक प्रकार के अप्रमाणिक आचरण और हल्के प्रकार के दावें करनेवाले देखे गये हैं। कितने ही प्राणी पंचेन्द्रिय विषय भोगने में तल्लीन होकर संसार में लिप्त रहते हैं। कितने ही प्राणी महापापात्मक एवं अधोगति में लेजानेवाले कार्य्य कर के उनके विषय में विचार करनेवाले तक को महाक्लेश का पात्र बनाते हुए देखे गये हैं—इस प्रकार सम्पूर्ण संसार दुःखमय

है। कोई भी शुद्ध देव–गुरु–धर्म का स्वरूप देखने का प्रयास नहीं करते और अनादि मिथ्यात्व में सदैव वृथा घुड़दौड़ लगाते रहते हैं। किसी किसी की मानसिक शक्ति, बुद्धि एवं विचारशक्ति जागृत होनेपर भी वे न तो हितोपदेश सुनते हैं न उस पर विचार ही करते हैं। इस प्रकार अनेक रीति से दुःख का उपभोग करते हैं, दुःखी जान पड़ते हैं अथवा भविष्य में होनेवाले दुःखों को उपार्जन करते हैं। ऐसे प्राणियोंपर करुणा एवं दया प्रगट करना करुणा भावना अथवा कृपा-भावना कहलाती है।

दुःख अनेक प्रकार के हैं, उन की सूची बनाना कठीन है और उसकी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। वे सब दुःख मानसिक एवं शारीरिक दो प्रकार के होते हैं। दूसरे शब्दों में इन का परकृत, स्वकृत और उभयकृत ऐसा भी विभाग किया जा सकता है। इस प्रकार अनेकरंगी दुःखों में से छुड़ाने की बुद्धि को तीसरी भावना कहते हैं। इस भावना के होने पर वृति बहुत निर्मल होजाती है। साधु महात्मा तथा सज्जन पुरुष जो बिना एक भी पैसे की प्राप्ति की आशा रक्खे इस संसार के प्राणियों को भवबन्धन से छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं। यह इस भावना ही का परिणाम है और भावना की प्रेरणा ही से वे अपने जातिभाई, देशभाई अथवा मनुष्यमात्र के दुःख दूर करने को तैयार रहते हैं। तीर्थंकर महाराज को पूर्वभव में सर्व जीवों को शासनरसी बनाने की इच्छा होती है और ऐसा करने में मैत्रीभाव सब जीवों पर लागु होता है यह ऊपर बता दिया गया है; किन्तु भगवान् को प्रेरणा करनेवाली भावना तो करुणा ही है। इस जगत के जीवों को दुःखी देखकर उनको दुःख का स्वरूप ज्ञात होता है तथा उस से दुःख उठाते हुए प्राणियों को देख कर उनको दुःख से छुड़ाने

की तीव्र भावना उत्पन्न होती है और इस भावना के होने पर वे बहुधा तीर्थंकरनाम का कर्मबन्धन करते हैं। रोम कंप उठे ऐसे उपद्रव करनेवाले 'सगम' पर भगवान श्री महावीरस्वामी की कैसी उत्कृष्ट करुणा! अपने को कष्ट हुआ यह बात तो उनके मन में भी नहीं आई, परन्तु अपने लिये ऐसे विचार लाने से यह जीव दुःखी होगा, ऐसे विचारों से ही उनका हृदय करुणा से भर आया और नेत्रों में से आसुओं की धारा बह चली।

करुणा करनेवाले प्राणी की दृष्टि बहुत विशाल होती है। वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अपने समान सब प्राणियों को देखता है और दूसरे को दुःखी देखकर उसका हृदय भस्मीभूत होजाता है। उसको दुःख में से किस प्रकार छुड़ावे ऐसा विचार उसके हृदय में बार बार आता रहता है। शेक्सपियर एक स्थान पर 'Merchant of Venice' (मर्चेंट आफ वेनिस) में कहता है कि करुणा एक विचित्र आशिर्वाद है। यह लेने तथा देनेवाले दोनों को आनन्द पहुचाता है। यह बात विचारने योग्य है। वैसे में एक को लाभ होता है तो प्राय दूसरे को हानि होती है, किन्तु करुणा में तो दोनों को लाभ ही होता है। करुणा करनेवाला दूसरों के दुःख दूर करने का विचार मन में लाता है इस से वह प्राणी स्वय भी सुखी होता है। कारण सच्चे हृदय से परोपकार करनेवाले प्राणी को दुःख होता ही नहीं। शान्तसुधारस में कहा है:—

परदुःखप्रतीकारमेव, ध्यायन्ति ये हृदि।
लभन्ते निर्विकार ते, सुखमायतिसुन्दरम्॥

"जो इसप्रकार दूसरों के दुःखों का विचार हृदय में

लाते हैं, उसके परिणामस्वरूप सुन्दर एवं विकार रहित सुख का उपभोग करते हैं" ऐसी बुद्धि से सुख मिलता है और उस के भी परिणामरूप सुन्दर सुख की प्राप्ति होती है। साधारण सुख तो क्षणिक और परिणाम में दुःखदायक होता है किन्तु यह तो परिणाम में भी सुन्दर है और इस सुख में किसी प्रकार का विकार भी नहीं होता। इस भावना पर बहुत विचार करने की आवश्यक्ता है। कितने ही पुरुष अपने भरणपोषण करने मात्र में ही अपने जीवन की सफलता समझते हैं परन्तु परोपकारी पुरुष कहते हैं कि पेट तो कौआ या ढोर भी भरते हैं। मनुष्य की सच्ची जीवन की उत्तमता तो इसमें है कि संसार के सर्व सम्बन्धों से थोड़े से उन्नत होने पर अपनेपन को भूल जाना और परोपकारपरायण जीवन बनाना। परोपकार की व्याख्या कम नहीं है क्योंकि यह मर्यादा रहित है। अपनी स्थिति, शक्ति, संयोग आदि के अनुसार दूसरों का उपकार करना परोपकार कहलाता है, यह करुणा भावना का मुख्य परिणाम है। इस भावना के होने से अनेक प्राणी संसारसमुद्र से तर गये हैं ऐसा शास्त्र में लिखा है और इतिहास में भी परोपकारी जीव के कई दृष्टान्त मिलते हैं।

चौथी माध्यस्थ भावना का स्वरूप.

क्रूरकर्मसु निःशंकं, देवतागुरुनिंदिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥१६॥

"निशंक होकर क्रूर कर्म करनेवाले, देव और गुरु की निन्दा करनेवाले और आत्मश्लाघा करनेवाले प्राणियों

पर उपेक्षा यह माध्यस्थ (अथवा उदासीन) भावना कहलाती है।" अनुष्टुप्

विवेचन—संसार में अनेक प्रकार के विचित्र प्रकृतियाँवाले प्राणी होते हैं। कोई प्राणी निरंतर क्रूर कृत्य करने में ही आनंद मानते हैं, कोई असत्य भाषण कर दूसरों को कष्ट पहुँचाने में संतोष मानते हैं, कोई चोरी कर दूसरों के धन का हरण करते हैं, कोई अप्रमाणिकरूप से धन्य संग्रह करते हैं, कोई पैसा एकत्रित करते हैं, कोई परस्त्री में आसक्त हो कर धन, शरीर और कीर्ति का नाश करते हैं, कोई क्रोध कर बारंबार आवेश में आजाते हैं, कोई जाति, कुल, बल, तप, ऐश्वर्य, विद्या आदि का अहंकार किया करते हैं, कोई प्रपंचयुक्त कार्य कर के शक्ति का दुरुपयोग करते हैं, कोई करोड़ों रुपये मिलने का प्रयास करते हैं, कोई दूसरों की निन्दा करते हैं, कोई अधमाधम करने में आनन्द मानते हैं, कोई परजीव का विनाश कर नीच मनोविकारों की तृप्ति करते हैं, कोई देवगुरु की निन्दा में ही जीवन की सफलता समझते हैं। ऐसे ऐसे पापकृत्यों में आनन्द का उपभोग करनेवाले बहुत प्राणी देखने में आते हैं। संसार का स्वरूप थोड़ा समझा हो उन प्राणियों को ऐसे अधम प्रकृतिवाले पुरुषों पर थोड़ा या बहुत क्रोध आ ही जाता है, क्यों कि पाप तथा पापी सामान्य रूप से जनसमुदाय का तिरस्कार अपनी ओर खिंच लेते हैं। जैनशास्त्रों का कथन है कि ऐसे प्राणियों की ओर भी क्रोध न करना चाहिये। सांसारिक स्वार्थ में भी क्रोध तो सर्वथा त्याज्य है और इस प्रकार क्रोध करना तो व्यर्थ है। हे भाई! तू विचार कर कि

ऐसे मनुष्य पर क्रोध करने से तुझे क्या लाभ है ? सर्व जीव अपने २ कर्मानुसार कार्य करते हैं, उन पर क्रोध करना व्यर्थ है कारण कि तेरे क्रोध करने से वे प्राणी अपने पापकृत्यों से बाज नहीं आ सकते। जीव को जब पापानुबंधी पाप अथवा पापानुबंधी पुण्य का उदय होता है तब दुःख अथवा सुख को अनुभव करते हुए अनुक्रम से उपर लिखेनुसार कृत्यों के करने की इच्छा होती हैं। यह कर्म का शासन है। यदि उन को सत्पथगामी बनाने की तेरे मे शक्ति हो तो उस के द्वारा तूं उन को समझा, उनको उपदेश कर, तथा उनका तूं हितेच्छु है ऐसा उनको बतला; किन्तु यदि तेरे में वैसी शक्ति न हो तो तूं अपनी ही परवाह कर। तूंने सम्पूर्ण दुनिया को सुधारने का ठेका तो लिया ही नहीं है। प्रयत्न कर के जीव को सत्पथगामी बनाने का करुणा भावना में समावेश होता है; परन्तु जब तक यह रास्ता तेरे लिये न खुला हुआ हो, अर्थात् तेरे में परोपकार करने की शक्ति न हो, अथवा भरसक उपदेश करने पर भी जिसको उपदेश किया जावे वह पुरुष सचे रास्ते पर अपने महापापोदय से आ ही न सकता हो तो फिर तेरा उसकी तरफ उपेक्षा भाव रखना ही अधिक उत्तम है। कितने ही प्राणी तो ऐसे होते हैं जो तत्त्वका स्वरूप ही नहीं समझते और कितने ही न समझने का निश्चय किये हुए होते हैं। ऐसे प्राणियों पर उपेक्षा रखना ही अधिक उत्तम है। ऐसा

---

१ सर्व जीवों की और मैत्रीभाव रखना यह प्रथम कर्त्तव्य है, इस में भी जो जीव दुःखी हो उनको दुःख में से छुडाने का विचार करना करुणाभाव है। प्रयत्न करनेपर भी हित होने की सम्भावना न हो तो उदासीनता रखना चाहिये। प्रमोदभावना भिन्न विषय की ओर जाती है।

करने से वे प्राणी अपने पापकृत्यों में अधिक पुरुष नहीं हो सकते और तेरे साथ विरोध न होने से किसी न किसी दिन तो तेरे से सुसाम्य हो जाते हैं। उनकी ओर तू एक बार भी प्रगटरूप से तिरस्कार बतावे तो फिर जीवनपर्यन्त वे तेरे विरुद्ध ही रहेंगे, अपितु ऐसे हल्के जीवोंपर क्रोध करने से तुझे कोई लाभ होने की सम्भावना नहीं है। प्रशस्त एवं अप्रशस्त दोनों प्रकार के क्रोध का सर्वथा त्याग करना योग्य है। इस विषय में श्रीमद् यशोविजयजी महाराज द्वेष के स्वाध्याय में कहते हैं कि-
" राग धरीजे जीहा गुण लहिये, निर्गुण ऊपर समचित रहिये "
गुणवान् पर राग और निर्गुण पर समचित रखने का यहाँ स्पष्टतया उपदेश किया गया है। इसका अर्थ स्पष्ट है इससे विशेष उल्लेख की आवश्यकता नहीं मालूम होती, किन्तु इस वृत्ति को प्राप्त करने की अत्यन्त आवश्यकता है इससे समता के अभ्यासी का ध्यान इस ओर विशेषरूप से आकर्षित किया जाता है।

श्रीविनयविजयजी उपाध्याय कहते हैं कि " माध्यस्थ-भावना सांसारिक प्राणियों के विश्रांति लेने का स्थान है " इस संसार के जीव भिन्न भिन्न कर्म कर के भिन्न २ स्वरूपवाले दिखाई देते हैं। सब की चेष्टा एकसी नहीं होती, हो भी नहीं सकती तो फिर बुद्धिमान पुरुष किस पर क्रोध करे और किस से संतुष्ट हो ? तीर्थंकर महाराज श्रीवीरप्रभुने मिथ्या बोलनेवाले अपने जमाई जमाली को भी रोकने निमित्त बलात्कार नहीं किया। इससे प्रत्यक्ष है कि तीर्थंकर महाराज अनन्त वीर्य-वाले होनेपर भी बलात्कार से धर्म का पालन नहीं कराते परन्तु शुद्ध धर्म का उपदेश करते हैं। अतः हृदय में समता रखना और मनोविकारों के वशीभूत न हो जाना चाहिये।

कईवार दूसरे प्राणियों के हित करने से इस जीव को क्लेश होता है और कई वार खोटी चिन्ता किया करता है। कार्य करना तो ठीक है किन्तु उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है, कारण कि दूसरे पुरुष को कर्मविवर कब किया जावें इसका हम को भास न होने से हम प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, और इस का फल क्या होगा। इसकी हमको चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार असत्य वोलनेवाले तथा अप्रमाणिक कार्य करनेवाले पर द्वेष करना व्यर्थ है क्योंकि इससे दोनों में से किसी को भी लाभ नहीं होता। हितोपदेश के माननेवाले पर भी द्वेष न करना। विचारना कि अभी उसको पूरा अनुभव नहीं हुआ। देवगुरु-धर्म की निन्दा करनेवाले पर क्रोध करना तो अनुभव की ही बात है। इतिहास में भी अनेकों दृष्टान्त हैं, किन्तु शास्त्रकार तो कई अंशो में ऐसा करने से भी मना करते हैं। तूं हो सके तो उसको शुद्ध स्वरूप समझा, फिर क्या होता है उसको देख। फिर भी यदि न समझे तो तूं ऐसा विचार न ला कि तेरा प्रयास निष्फल हुआ। तूंने तो तेरा कर्तव्य बजाया है। तूं फिर विचारना कि उस वेचारे को अभी भटकना बाकी है, जिससे वह सच्चा मार्ग नहीं देख पाता। यह बात तूं ध्यान में रखना जिससे तुझे क्रोध न होगा और सदैव शान्ति रहेगी। श्रीशांतसुधारस में कहा है कि:—

तस्मादौदासीन्यपीयूषसारं,
वारंवारं हंत संतो लिहंतु।
आनन्दानामुत्तरंगत्तरंगैर्जीवद्भि-
र्यद्भुज्यते मुक्तिसौख्यम् ॥

इस प्रकार उदासीनता अमृत है और संतपुरुष इस अमृतरस का वारवार स्वाद लेते हैं ऐसे उच आनन्द की तरंगों में रहनेवाले जीव इस जन्म में ही मुक्तिसुख को भोगते हैं। यह भावना पुरुषार्थ करने से मना नहीं करती किन्तु पुरुषार्थ करने के पश्चात् अब परिणामरूप में निष्फलता प्राप्त हो तब कई बार दूसरे प्राणी पर जो क्रोध उत्पन्न होता है उस पर विजय प्राप्त करना इस भावना का विषय है।

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य ये चार धर्मध्यान की भावनायें हैं। इन भावनाओं के भाने से जीव आर्त-रौद्रध्यान में से मुक्त होकर धर्मध्यान में प्रवेश करता है। इन चार भावनाओं के भाने पर मन स्थिर हो जाता है और समता आती है। इन भावनाओं के भाने से मन में अनिर्वचनीय आनन्द होता है। इस आनन्द की उपमा इस स्थूल सृष्टि में किसी पदार्थ से नहीं दी जा सकती। ये चारों भावनायें उपरोक्तानुसार समता के अंग हैं तथा समता को स्थिर करनेवाली हैं। शान्तरस प्राप्त करने के निमित्त इस भावनारूप जल को वारवार पीना चाहिये। अभ्यास होजाने पर रास्ता सरल हो जायगा। यह भावना का संक्षिप्त स्वरूप बताया गया है, विशेष स्वरूप जानने की उत्कण्ठा हो तो अन्य ग्रन्थों में इस का स्वरूप देखिये। वरना इसके सचे स्वरूप का तो इस भावना को भाने पर ही अनुभव होगा। इस भावना के भाने पर कदाच आरम्भ में तो मनःक्षेत्र संकोचवाला जान पड़ेगा किन्तु धीरे २ वह विस्तृत होता जायगा।

समता का दूसरा साधन—इन्द्रिय विषयों पर समता.

चेतनेतरगतेष्वखिलेषु,
स्पर्शरूपरवगंधरसेषु ॥

साम्यमेष्यति यदा तव चेतः,
पाणिगं शिवसुखं हि तदात्मन् ॥ १७ ॥

"हे चेतन ! सर्व चेतन और अचेतन पदार्थों में होनेवाले स्पर्श, रूप, रव (शब्द), गंध और रस में तेरा चित्त समता पायेगा, तब मोक्षसुख तेरे हाथ में आ जायगा।"

स्वागतावृत्त.

भावार्थ—समता के प्रथम साधनरूप चार समकित भावनाओं का वर्णन किया गया, अब दूसरा साधन इन्द्रिय विषयों पर समभाव रखने का है उसका वर्णन किया जाता है। स्त्री, पुत्र आदि चेतन पदार्थ और शय्या, वस्त्र आदि अचेतन पदार्थ इन दोनों के द्वारा अनेक प्रकार के स्थूल विषय प्राप्त होते हैं। कोमल स्पर्श से सुख और कर्कश स्पर्श से दुःख होता है उसी प्रकार रूपवान स्त्री तथा वस्तु के देखने से प्रेम और कुरूप स्त्री तथा वस्तु देखने से द्वेष होता है। सुगन्धी की तरफ नासिका आकर्षित होती है और दुर्गन्धी से मुँह मोड़ती है, तथा मिष्ट पदार्थों के चखने से जिह्वा से पानी टपकने लगता है जब कि अनिष्ट पदार्थ खानेसे मुँह खराब होता है और सुस्वर ध्वनि सुन कर कान खिच जाते हैं और दुःस्वर ध्वनि सुननेपर कानों में अँगुलिये लगानी पडती हैं। इन पाच इन्द्रियों के तेईस विषय हैं, इन सब विषयों पर जब तुझे समभाव होगा और अच्छा या बुरा किसी प्रकार का भेदभाव तेरे मन में न रहेगा तब मोक्षसुख तेरे हाथ में आजायगा। ये पांचों इन्द्रिय विषय इस जीव को बहुत कष्ट पहुंचाते हैं तथा इसे संसार में भटकानेवाले भी सचमुच येही हैं। नीतिशास्त्रकारों का कथन है कि:

इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोयं,
स्फुरति परिमलोयं स्पर्श एष स्तनानाम् ।
इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणः,
स्वहितकरणधूर्तैः पञ्चभिर्वञ्चितोस्मि ॥

'यह मधुर स्वर से गाया हुआ गायन, यह नाच, यह रस, यह सुगन्धी, यह स्तनस्पर्श—ये परमार्थ का नाश करनेवाली इन्द्रियाँ को स्वहित नापने में धूर्त हैं, इन पाँचो के कारण से ससार में परिभ्रमण करता हू और इन्हीं से वास्तव में दुःख उठाता हूं। इन पाँचों इन्द्रियों पर अथवा वस्तुतः पाँचों के विषयों पर राग-द्वेष न रखना मोक्षप्राप्ति का साधन है। मोक्ष-प्राप्ति का साधन राग-द्वेष का त्याग ही है कारण कि कषाय जो ससारभ्रमण का कारण है और जिसका स्वरूप पहले सातवें अधिकार में विस्तारपूर्वक बताया गया है वह सब राग-द्वेष से ही उत्पन्न होता है। अतः इन्द्रियों के क्षणिक सुख में आनन्द न मानकर, उस के त्याग से मोक्ष का अविच्छिन्न सुख होता है उसका विचार कर उसमें प्रयास करना तथा यह समता के प्राप्त करने और उसके द्वारा परपरा के लिये व्याधि रहित सुख प्राप्त करने का परम साधन है यह जरुर ध्यान में रखना चाहिये। इसके लिये श्रीसिन्दूरप्रकर में भी कहा गया है कि—' हे साधु! तू चाहे जितना मौन धारण कर, घर का त्याग कर, आचार का अभ्यास कर, वन में गमन कर, तीव्र तपस्या कर, किन्तु जब तक कल्याण वन का नाश करनेवाले महावायु के समान इन्द्रियसमूह को तूने पराजित नहीं किया तब तक राख में डाले हुए घी के समान सब वृथा समझ।' यह आरम्भ में ही कहा गया है कि इन्द्रियसमूह को जीतने पर ही कल्याण हो सकता

है। क्षणिक इन्द्रियसुख को कब्जे में रख कर उनके विषयों से होनेवाले सुखदुःख पर सामान्य भाव रखने का यहां उपदेश किया गया है। यह समताप्राप्ति का दूसरा साधन है।

आत्मशिक्षा-विचार करने की आवश्यक्ता समताप्राप्ति का तीसरा साधन.

के गुणास्तव यतः स्तुतिमिच्छस्यद्भुतं,
किमकृथा मदवान् यत् ॥
कैर्गता नरकभीः सुकृतैस्ते,
किं जितः पितृपतिर्यदचिन्तः ॥ १८ ॥

'तेरे में क्या गुण हैं कि तूं स्तुति की इच्छा रखता है? तूंने कौन सा वड़ा आश्चर्यकारी काम किया है कि तूं अहंकार करता है? (तेरे) किन सुकृत्यों से तेरी नरक की पीड़ा दूर हो गई है? क्या तूने यम को जीत लिया है कि जिससे तूं चिन्ता रहित हो गया है? ॥१८॥' स्वागतावृत्त.

भावार्थः—समताप्राप्ति का तीसरा साधन वस्तुस्वरूप तथा आत्मस्वरूप को विचारना है। जब आत्मा क्या है और उसका तथा पुद्गल का क्या सवन्ध है, कब तक साथ रहनेवाले हैं? आदि का विचार योग्य रीति से करने में आवे तब मन में शान्ति होती है और निकाम व्यवसाय कम हो जाता है। समता-प्राप्ति का यह उत्कृष्ट अंग है। इस अंग के सम[illegible] श्लोक हैं तथा अध्यात्मशास्त्र इस विषय की ही पु[illegible] । अनेक प्रकार से वस्तुसम्बन्ध [illegible] यहाँ

है। इस पर ध्यान रखकर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक ठीक ठीक विचार नहीं किया जाता तब तक यह जीव अपनी शक्ति का व्यर्थ व्यय करता है। आत्म-विचार करना इससे भी अधिक उपयोगी है। वास्तविक बात तो यह है कि यह जीव आकाश के तारों तथा देवताओं के विमानों का विचार करता है, दूर देशमें क्या है यह देखने जाता है तथा अपनी अप्रस्तुत जिज्ञासा को अनेक प्रकार से तृप्त करता है, किन्तु स्वयं कौन है? क्या करता है? किसके लिये करता है? उसका क्या अर्थ है? और उसका क्या परिणाम है? यह नहीं समझता, समझने का न तो यत्न ही करता है, न जिज्ञासा ही जागृत करता है, किन्तु ऊपर आकाश में देखते हुए, कुए में पड़ने वाले ज्योतिषी के समान यह भूल करता है। दूसरी चिज़ों के लिये दोड़धूप करने के स्थान में अनेक आश्चर्ययुत स्वयं कौन है? विश्वव्यवस्था में अपना कोनसा स्थान है? कर्म और भवस्थिति के कायदे अपने पर किस प्रकार लागु होते हैं? उससे छूटकारा पाने का क्या स्थान है? इस सम्बन्ध में विचार करने की बहुत जरूरत है। यहा आत्म-विचार की ओर जीव का ध्यान आकर्षित किया गया है।

हे चेतन! दूसरे पुरुष तेरा वर्णन करें, तेरी स्तुति करें यह सुनने की तूं अभिलाषा रखता है, परन्तु तेरे में क्या गुण हैं? महावीरस्वामी जैसा तपस्या गुण, गजसुकुमाल जैसा क्षमा गुण, श्रीपाल महाराज जैसा दाक्षिण्य, स्कंदक मुनि जैसी समता, विजयसेठ जैसा ब्रह्मचर्य्य, वाहुबली जैसा महत्याग, हेमचन्द्राचार्य, हरिभद्रसूरि के यशोविजयजी जैसा श्रुतज्ञान आदि गुण तेरे में

हों और फिर तूं स्तुति की इच्छा रखता हो तो फिर भी माना जा सकता है; परन्तु इनमें से तेरे में एक भी नहीं, फिर किस पर तूं वर्णन कराना चाहता है ? लेकिन हे भाई ! तूंने कौनसा बड़ा अद्भुत कार्य्य किया कि जिससे तूं ऊंची नजर करके अभिमानी हो जाता है ? जिन्होंने वेश्या के घर में बारह वर्ष रह कर अनेक विषयसुख भोगे, उसी वेश्या के घर में, उसी वेश्या की प्रार्थना करने पर भी चार महिने तक अखण्ड ब्रह्मचर्य्य के पालन करनेवाले श्री स्थूलिभद्र महाराज जैसा अथवा छ खण्ड जीतनेवाले चक्रवर्ती के समान किसी महान कार्य करने के पश्चात् यदि तूं अभिमान करता हो तो कुछ वास्तविक भी है, परन्तु तूं तो व्यर्थ निष्काम अकड़ अकड़ कर चलता है, जिसका कारण तूं विचार कर के मुझ को समझा। हे भाई ! तूंने घोर तपस्या, देशविरति, सर्वविरति, चैत्यप्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, संघभक्ति, सुपात्रदान आदि कौन कौन से महान कार्य कर डाले हैं कि जिससे तेरा नरक में जाने का भय दूर हो गया है ? जिसने इस जीवन में किसी महान कार्य्य को कर लिया हो उस को तो बहुधा नरक में नहीं जाना पड़ता और उसीका जीवन सफल होता है, परन्तु तेरा तो अभी नरक की गोदी में जाना सम्भव ही है, और हे भव्य ! तूं इस प्रकार चिंता रहित होकर फिरता रहता है जिसका हमको तो बड़ा आश्चर्य होता है, कारण कि जिसके शिर पर शत्रु खड़ा हो वह भला भय रहित होकर किस प्रकार फिरे ? और यदि फिरता है तो दुर्दशा को प्राप्त होता है। अपितु तेरे शिर पर तो यम के समान अप्रतिहत शासनवाला शत्रु भीषण गर्जना कर रहा है फिर भी तूं निःसंकोच कार्य्य करता रहता है तो क्या तूंने तेरे शत्रु को जीत लिया है ? तूं ऐसा विचार क्यों नहीं करता है ?

ऊपर लिखे हुए गुण जिस प्राणी में हों उसको भी वैसे स्तुति की इच्छा रखना तथा महान आश्चर्यकारी काम करनेवाले को अहंकार आना और सुकृत्य करनेवाले को भय रहित होना उचित नहीं है, उसी प्रकार यम के भय को भीतनेवाले को भी आत्म-चिन्तन नहीं छोड़ना चाहिये। जिन जिन महान् प्राणियोंने ये गुण आदि प्राप्त किये हैं, उन्होंने भी न तो स्तुति की इच्छा रक्खी है, न अहंकार ही किया है, अतः ये सब हमको ठीक ठीक जानना चाहिये, परन्तु सूरिमहाराज तो इस जीव को कहते हैं कि-ऐसे गुण आदि यदि तेरे में हों और फिर तूं स्तुति आदि की इच्छा रखता हो तो ठीक भी है, परन्तु इनमें से तो एक भी तेरे में नजर नहीं आते फिर तू किसके बल नाचता है?

इस प्रकार तेरे में क्या गुण हैं और तूने कौनसा बड़ा काम किया है, इसका ठीक ठीक विचार करके फिर उस प्रकार कार्य कर तब तुझे आत्म-स्वरूप जान पड़ेगा। उपदेश देने की यह नूतन पद्धति बहुत असरकारक है, कारण कि मनुष्य की तीव्र इच्छा को यह प्रेरित करती है और जागृत होने की इच्छा रखनेवाला अभ्यासी मुमुक्षु इसका तात्पर्य समझ कर आत्म-विचार करने को उद्यत हो जाता है ॥ १८ ॥

ज्ञानी का लक्षण

गुणस्तवैर्यो गुणिना परेषा-
माक्रोशनिंदादिभिरात्मनश्च ।
मनः समं शीलति मोदते वा,
खिद्येत च व्यत्ययत• स वेत्ता ॥ १९ ॥

" दूसरे गुणवान् प्राणियों के गुणों की स्तुति करते समय, अन्य पुरुष अपने पर क्रोध करें अथवा अपनी निन्दा करें उस समय, जो अपने मन को स्थिर रखता है अथवा उस समय जो आनंदित होता है और इसके विरुद्ध बात होने पर (जैसे परगुणनिन्दा अथवा आत्मप्रशंसा होने पर) जो दुःखित होता है वह प्राणी ज्ञानी कहलाता है ॥ १९ ॥ "

उपजाति

विवेचनः—दूसरे प्राणियों के दान, लोकसेवा, देशसेवा, जातिसेवा, धृति, क्षमा, ब्रह्मचर्य, औदार्य, गांभीर्य, निष्कपटता, सरलता आदि गुणों की प्रशंसा होते सुनकर ज्ञानी पुरुष अपने मन की स्थिरता भंग नहीं कर देता है। सामान्य पुरुष परगुण-स्तवन सुन कर ईर्षा करने लगता है, चलते हुए भी बड़बड़ाता रहता है, कई बार गुण को अवगुण समझता है और अधमवृति-वाले तो सदैव गुणवान पुरुषों की निन्दा ही करते रहते हैं। ज्ञानी का लक्ष्य तो सर्वदा गुणों की पहचान करना और गुणों के प्राप्त करने का ही होता है। इसलिये जब जब वे सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति में अमुक सद्गुण हैं तब तब मन को स्थिर रख-कर वे उन गुणों की चर्चा सुनते हैं। इतना ही नहीं किन्तु गुणों का अस्तित्व विचार कर आनंदित होते हैं। गुणों के प्रत्यक्ष भाव को पहचाननेवाले तो प्रसन्न हो जाते हैं और गुण-वान की ओर स्वाभाविकतया आकर्षित हो जाते हैं। दूसरे पुरुषों के गुणों को हलका नहीं करते, न उनकी किंमत घटाने जैसा गूढ़ वचन बोलते हैं। ज्ञानी पुरुष इस प्रकार के होते हैं कारण कि यही गुणप्राप्ति का साधन है। 'राग धरिजे जिहाँ गुण लहिये' ये भाव जाननेवाले पुरुष स्वाभाविकतया समझते

हैं। माध्यस्थ भावना में निर्गुणी पर समचित्त रखने का उपदेश किया गया था, यहाँ गुणवान पर ईर्षा रहित होकर प्रेम रखने का और गुणों पर राग रखने का उपदेश किया गया है। कहा है कि:—

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं ।
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

'अणु जैसे दूसरे के गुणों को पर्वत समान समझ कर निरन्तर अपने हृदय में विकासित करनेवाले सन्त विरले ही होते हैं'। इस प्रकार गुणग्राहीपन प्राप्त करने की अत्यन्त आवश्यकता है दूसरे के छोटे गुणों को भी बहुत बड़े समझ कर उनके प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। इसके विरुद्ध यदि उन गुणों की उपेक्षा की जावे, अथवा ईर्षा की जावे, अथवा निन्दा की जावे तो बहुत हानि होती है। मरे हुए, दुर्गंधीवाले और हाडपिंजर ही जिसके शेष रह गये हैं ऐसे श्वान को देखकर भी घृणा न करते हुए कृष्ण वासुदेवने उसकी दंतपंक्ति का वर्णन किया है, इस गुणग्राहीपन के अपूर्व दृष्टांत का विचार करना आवश्यक है। साधारणतया ऐसे श्वान को देखने पर मुँह मोड़ कर तथा मुँह पर रुमाल लगा कर चले जानेकी ही प्रणाली देखी जाती है। फिर भी इसमें से भी शुभ ग्रहण करने की बुद्धि बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। हंस में दूध और पानी को अलग अलग करने की टेव होना कोई बड़ी बात नहीं है, किन्तु उसमें से दूध ही ग्रहण करने कि जो टेव है यह बड़ी बात है और अनुकरणीय है। यह सत्य है कि ऐसे गुण ग्रहण करनेवाले पुरुष विरले ही होते हैं, परन्तु ऐसे

१ सोलहवे श्लोक तथा उसके नोट को देखिये।

होते अवश्य हैं और हम भी विचार करें तो वैसे हो सकते हैं। बहुत से प्राणियों की टेव सम्पूर्ण सुन्दर शरीर में क्षत क्या है इसे जानने की होती है। गुणवान् में कोई सहज दोष हों उनको ढूंढ कर उनकी निन्दा करनेवाले की बहुत आत्मिक हानि होती है। गुणग्राहीपन की टेव बहुत लाभकारी है।

ज्ञानी पुरुष का दूसरा लक्षण यह है कि-यदि दूसरा कोई प्राणी उसकी निन्दा करे अथवा उस पर क्रोध करे तो भी वह उस समय अपने मन को स्थिर रक्खे। अपनी निन्दा सुन कर वह क्रोध नहीं करता और उस समय उसका मन डाँवाडोल नहीं हो जाता, परन्तु शांत रहता है। इतना ही नहीं परन्तु अपनी आत्मिक सत्ता का परीक्षाकाल जान कर ज्ञानी पुरुष तो उससे और आनन्दित होता है। उत्कृष्ट गुण-प्राप्ति की उत्कट इच्छा की यहाँ हद हो जाती है। दुनियाँ के अनेकों पुरुष अपनी स्तुति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सुनने की अभिलाषा रखते हैं और सुन कर खुश होते हैं। कई बार आत्मलघुता प्रगट करके भी स्तुति करवाने की इच्छा रखते हैं परन्तु ऐसी इच्छा न रखनेवाले बहुत कम होते हैं। अपनी स्तुति करवाने से कदाच अहंकार उत्पन्न हो जावे इस कारण से स्तुति सुनने की इच्छा न रखनेवाले अपितु इससे दुःखी होनेवाले तो बहुत ही कम होते हैं। दुनियाँ में मोटा भाग्य सच्चे रस्ते होना कठिन है जिसका यहाँ प्रगटरूप से उल्लेख किया गया है। अतः थोड़े से ज्ञानी पुरुषों के पदानुगामी होना ही शुद्ध मार्ग है।

इसी प्रकार दूसरों के गुणों की निन्दा सुनकर दुःखी

होना गुणों की ओर प्रेम होना प्रगट करता है, और ये सब लक्षण जिसमें हों उसे शास्त्रकार ज्ञानी कहते हैं। द्रव्यानुयोग के कुछ ग्रन्थ पढ़लेने से अथवा युनिवर्सिटी की कुछ डिग्रियें प्राप्त कर लेने मात्र से कोई सच्चा ज्ञानी नहीं हो सकता। ज्ञान के साथ वर्तन भी शुद्ध होना चाहिये। बुद्धि के क्षयोपशम से थोड़ासा स्वरूप ज्ञात हो जाने मात्र से अहंकारी बनजाना उचित नहीं, कारण कि ज्ञान का फल उसका आचरण ही है और बिना फल का ज्ञान केवल शोभामात्र है, परन्तु वास्तविक लाभकारी नहीं। केलवणी का परिणाम यही होना चाहिये और समझदार प्राणी इसीका अनुसरण करते हैं ऐसा हम कई बार पढ़ते हैं। ज्ञानी का लक्षण साधु और श्रावक के लिये एकसा है, अत जो सचमुच ज्ञानी बनने का दावा करते हों उनको इस श्लोक में यथार्थनुसार आचरण करना अत्यावश्यक है। वस्तुस्वरूप जानने का यह तीसरा उपाय अमल में लाने से समता प्राप्त होती है और यह चिंतवन विशेष जानकार को ही होता है अत समताप्राप्ति की इच्छा-वाले तत्त्वजिज्ञासु को–चाहे वह साधु हो या श्रावक उसको आत्म प्रशंसा नहीं करना चाहिये, दूसरे करें ऐसी भी इच्छा नहीं रखना, यदि दूसरे करें तो भी उससे आनंदित नहीं होना और दूसरों के अणुमात्र गुणों को भी बहुत बड़ा समझना, उन-की प्रशंसा करना और दूसरे प्राणी उसकी प्रशंसा करें तो उस को सुन कर खुश होना चाहिये॥ १९॥

अपने शत्रु मित्र–स्वपर को देखने का उपदेश

न वेत्सि शत्रून् सुहृदश्च नैव,

हिताहिते स्वं न परं च जतो[1]:।

---

१ जंतो इति वा पाठः सबोधने।

दुःखं द्विषन् वांछसि शर्म,
चैतन्निदानमूढः कथमाप्स्यसीष्टम् ॥२०॥

" हे आत्मन्! तूं तेरे शत्रु और मित्र को नहीं पहचानता है कौन तेरा हितकर और कौन तेरा अहितकर है इसको नहीं जानता है और कौन तेरा अपना तथा पराया है यह भी नहीं जानता है; (और) तू दुःख पर द्वेष करता है और सुख मिलने की इच्छा करता है, परन्तु उनके कारणों को नहीं जानता फिर तूं क्योंकर अपनी इच्छित वस्तु पासकेगा ? " ॥ २० ॥ उपेन्द्रवज्र

भावार्थ—एक साधारण नियम है कि शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये उसे बराबर जानना चाहिये और उसकी शक्ति का विचार करना चाहिये। ट्रान्सवालनिवासी वीर लोगों का पूरा विचार न करने से अंग्रेज सरकार को प्रारम्भ में अनेकों कष्ट सहन करने पड़े थे। तूं तो यह भी नहीं जानता कि तेरे शत्रु कौन हैं ? फिर वे कैसे हैं यह जानने को तो तुझे अवकाश ही कैसे हो सकता है ? राग, द्वेष अथवा तज्जन्य कषाय, वेदोदय, मोह अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग तेरे शत्रु हैं और उपशम, विवेक, संवर आदि तेरे मित्र हैं। इन सब को बराबर समझ और इन प्रत्येक की तेरे विरुद्ध या तेरे साथ कितनी शक्ति है, उसका विचार कर। इस प्रकार शत्रु मित्र को जानने से तूं आत्मगुणव्यक्तिकरण रूप सोने की खानों को शिघ्र ही प्राप्त कर सकेगा।

अपितु तेरे हितेच्छु कौन हैं, और कैसे हैं ? और अहित करनेवाले कैसे हैं और कौन हैं ? वह भी तूं नहीं

जानता है। तेरा तात्कालिक हित दिख पड़ता हो किन्तु उसके परिणाम में तुझे अहित होता हो तो वह आदरने योग्य नहीं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इससे भी अधिक तेरा क्या है और पराया क्या है यह भी तू बराबर नहीं समझता। तू कौन है? तू शरीर नहीं, कपड़ा नहीं, आभूषण नहीं, किन्तु कोई और ही है। शरीर को गति में रखनेवाला, कपड़ा पहननेवाला, आभूषण धारण करनेवाला कोई दूसरा ही है। वह आत्मा है, वह तू है। इसकी वस्तु आत्मिक वस्तु कहलाती है बाकी घर, कपड़ा, गहना, पैसा और शरीर सब दूसरे हैं, और अज्ञानता से उनको तू तेरे मान बैठा है, परन्तु इसमें तू बड़ी भारी भूल करता है। पौद्गलिक पदार्थ सर्वथा दूसरे ही हैं, वे साथ में नहीं आते और सदा समय रहते भी नहीं। तेरे हैं सो तो तेरे रूप ही हैं, तेरे पास ही हैं, तेरे से भिन्न नहीं हैं। यह विवेक जब तेरे में हो आयगा तब तुझे वस्तुस्वरूप का सच्चा भान भी हो जायगा और फिर तुझे बड़ा आनन्द मिलेगा। अनंत ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही तेरे हैं और वे ही तुझे परिणाम में हित करनेवाले हैं, बाकी सब वस्तुएँ दूसरी हैं और परिणाम में अहित करनेवाली हैं।

वैद्य के पास रोगी आदमी आवे तो पहले तो वह उसे कौनसी बिमारी है इसका निदान करता है, व्याधि के कारण को मालूम करता है और क्या व्याधि है उसका वह निर्णय करता है। तुझे विभावदशा में आनंद–उपभोग करनेरूप व्याधि है और उससे मुक्त होकर तू सुख मिलने की इच्छा रखता है, तो उसके कारण को ढूंढ। जबतक इसके कारण को तू नहीं जान

लेगा तबतक तेरी व्याधि नहीं जायगी। इसलिये विवेक पूर्वक हितकर और अहितकर कौन है इसका बराबर पत्ता लगा ले। इस ग्रन्थकर्ता के वैद्यपन में तुझे विश्वास हो तो इस ग्रन्थ का अवलोकन कर। तूं बराबर विचार करेगा तो इस ग्रन्थ में उसका निदान तुझे मिल जायगा। इस ग्रन्थकारने चिकित्सा भी बताई है उसको ध्यान में रखकर ढूंढ लेना। वस्तुस्वरूप समझने की कितनी आवश्यक्ता है, यह फिर स्पष्ट होती जायगी। जबतक वस्तुस्वरूप न समझा जावे तबतक समता प्राप्त नहीं हो सकती और समता प्राप्त हुए बिना व्याधि का नाश नहीं हो सकता। अतः समताप्राप्ति के इस तीसरे उपाय पर अनेक प्रकार से जोर दिया गया है। पारमार्थिक वैद्यराज के बताये हुए निदान पर बहुत ध्यान देने की आवश्यक्ता है, यह फिर विशेषरूप से प्रगट होगा॥ २०॥

वस्तु ग्रहण करने से पहले विचार करने की आवश्यकता

कृति हि सर्वं परिणामरम्यं,
विचार्य गृह्णाति चिरस्थितीह।
भवान्तरेऽनन्तसुखाप्तये,
तदात्मन् किमाचारमिमं जहासि॥२१॥

"इस संसार में जो विचारशील पुरुष होते हैं वे तो विचार कर के ऐसी वस्तु को ग्रहण करते हैं कि जो लाखों वर्षों तक चलती है और परिणाम में भी सुन्दर होती है; तो फिर हे चेतन! इस भव के बाद अनन्तसुख दिलानेवाले

इस धार्मिक आचार को तू क्यों छोड़ देता है ?" ॥ २१ ॥

उपजाति

भावार्थः—वस्तुस्वरूप और सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता कितनी अधिक है यह ऊपर बताया गया है, फिर भी उसीका विशेषरूप से प्रतिपादन करने का उपदेश करते हैं। समझदार व्यवहारकुशल पुरुष किसी भी वस्तु को खरीदते समय दो बातों को देखते हैं। प्रथम तो यह वस्तु टिकाऊ होनी चाहिये और दूसरी यह वस्तु उपयोगी होनी चाहिये। अपने खुद के आत्मिक व्यवहार में इस नियम का भंग होता दिखपड़ता है और वह भी एक या दो बातों में नहीं, किन्तु सम्पूर्ण व्यवहार ही कच्ची ईंट से बना हुआ जान पड़ता है। दृष्टान्तस्वरूप अपने को यौवनकाल के सुख भोगने में आनन्द आता है, किन्तु उन सुखों के अन्त में वृद्धावस्था का दुःख है और वह सुख होता है सो भी बहुत थोड़े समय के लिये होता है। धन मिलता है तब सुख होता है, परन्तु उसका नाश होता है तब दुःख होता है, स्नेही को देख कर आनन्द होता है, परन्तु उसके मरण से शोक होता है—इस-प्रकार सब पौद्गलिक वस्तुओं के परिणाम में दुःख है, इतना ही नहीं परन्तु आनन्द भी अल्प समय का ही है। (वस्तुतः तो इसको आनन्द कह ही नहीं सकते)। अपितु थोड़े काल के सुख के लिये बहु काल के सुख को खोना पड़ता है, अतः व्यवहारकुशल पुरुष को विचार करने की आवश्यकता है। तू कौन है ? तेरा कौन है ? तेरा क्या कर्तव्य है ? ये सब वस्तुएँ तेरी किस तरह से हैं ? उनका तथा तेरा क्या सम्बन्ध है ? तेरा अन्य प्राणियों की ओर तथा अन्य वस्तुओं की ओर क्या

फर्ज है ? है तो कैसा है ? आदि वातों के विचार करने की आवश्यका अनेक वार पुनरावर्तन करके समझने की आवश्यक्ता है। इसप्रकार जब आत्मनिरीक्षण करने की टेव पड़ जायगी तव वस्तुस्वरूप बरावर समझ में आ जायगा। यह जीव विचार किये विना-धर्मबुद्धि से भी कई वार अज्ञान-दशा में बड़े २ पाप कर डालता है; इसका कारण यह है कि कोई भी कार्य करके, इसका क्या परिणाम होगा, इससे कितनी आत्मिक हानि हुई और अपनी खुद की कितनी अवनति हुई तथा गुण से कितना पतन हो गया, इन सब को तोलने की इस जीव को टेव नहीं है कितने ही सुकृत्य इस-प्रकार अल्प फलों के देनेवाले होते हैं। कितने ही सदुपदेश इस जीव को संकेत करके किये हुए होने पर भी निष्फल हो जाते हैं और हृदयभूमि के पटल पर होकर गुजर जाते हैं, परन्तु हृदय पर किन्चितमात्र भी प्रभाव नहीं डाल सकते। इस सब का कारण एक ही है कि इस जीव को आत्मविचारणा की टेव नहीं है। आत्मविचारणा करनेवाले अपने प्रत्येक कार्य को खोज सकते हैं; और कार्य्यक्रम में कितनी चूक है, मेल कितना है और दोष कितना है इसको भी ढूंढ़ कर दूर कर सकते हैं। आत्मनिरीक्षण करनेवाले सर्वदा जागृत रहते हैं और कभी भी अपनी शक्ति का नाश नहीं करते हैं[1]। ऐसे अनेकों कारणों से आत्मविचारणा से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं, तो फिर

---

१ 'आत्मनिरीक्षण के विषय पर श्रीजैनधर्मप्रकाश मासिक पुस्तक १८ में पृष्ट १०० से प्रारम्भ होनेवाला एक लेख इस श्लोक को लेकर लिखा गया है, उस की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। ग्रन्थगौरव के भय से वह लेख यहां नहीं लिखा गया है।

हे चेतन ! ऐसी जागृत के आचार[1] (व्यवहार) को तू क्यों छोड़ देता है ? यह व्यवहार छोड़ देने से बहुत हानि होती है, कारण कि ऐसा करने से तेरा साध्य तुझसे दूर होता जाता है।

रागद्वेष से किये विभाग पर विचार

> निजः परो वेति कृतो विभागो,
> रागादिभिस्ते त्वरयस्तवात्मन् ।
> चतुर्गतिक्लेशविधानतस्तत्,
> प्रमाणयन्नस्यरिनिर्मितं किम् ॥ २२ ॥

"हे चेतन ! तेरा अपना और पराया ऐसा विभाग राग-द्वेषद्वारा किया हुआ है। चारों गतियों में तुझे अनेक प्रकार के क्लेश पहुँचानेवाले होने से राग-द्वेष तो तेरे शत्रु हैं। तेरे शत्रुओं से किये हुए विभाग को तू क्योंकर स्वीकार करता है ? ॥२२॥"

उपजाति

भावार्थ —श्रीमद्यशोविजयजी महाराज अष्टक में लिखते हैं कि "अहं ममेति मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध्यकृत्" "मैं

---

१ आचार शब्द का अर्थ जिनसे हो पंचाचार करके उसे मतान्तर के लिये अनन्त पुण्य का साधन बनना कर उस अर्थ का यहाँ परिहार करते हैं। ज्ञान दर्शन चारित्र तप और वीर्यरूप पंच आचारों का समझने उद्देश किया है और उन का व्यवहारतः ये पालन करने का यहाँ उपदेश किया गया है। इसप्रकार किया हुआ अर्थ अनुचित नहीं है, परन्तु मुनिसुन्दरसूरि महाराज [illegible] के विषय सम्पूर्ण ग्रन्थ [illegible] न होने देने का [illegible] किया हो ऐसा प्रतीत होता है। और इसलिये सामान्य अर्थ हो सकता हो वहाँ विशेष अर्थ न करने की पद्धति मुझे विशेष अनुकूल जान पड़ती है।

१ ज्ञानसार अष्टक ४ श्लोक १।

और मेरा इस मोह (राग-द्वेषलक्षण) मंत्र से जगत् अंधा हो गया है।" इसीप्रकार भर्तृहरि कहते हैं कि "पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्" मोह से भरी हुई प्रमाद-मदिरा पी कर यह जगत पागल हो गया है। मोह इस प्रकार इस जीव पर अनेक प्रकार के भय लाता है जिसके कारण का विचार कीजिये। बीसवें श्लोक में यह बतलाया गया था कि यह जीव कौन अपना है और कौन पराया है इसको नहीं जानता। यह सत्य है? बहुत से पुरुष अनेकों वस्तुओं को अपनी हैं ऐसी मानते हैं, परन्तु इसमें भूल यह होती है कि अपनी वस्तु नहीं उसे अपनी मान बैठते हैं, और अपना अनन्त द्रव्य जो सदैव साथ रहता है, संनिधि में ही है और जिसको ढूंढने की आवश्यकता नहीं, उसको वे नहीं देखते हैं, जानते भी नहीं और भ्रम में भटकते रहते हैं। यह जो स्व-पर की बुरी लत पड़ी है, इसका क्या कारण है? यह लत पटकनेवाला कौन है? इसका विचार करो। 'यह द्रव्य मेरा है, यह स्त्री मेरी है, यह घर मेरा है' ऐसा दिखानेवाला राग है—यह मोह है—यह मदिरा है। "यह घर दूसरे का है, यह लड़का दूसरे का है, इस वस्तु का नाश हो गया जिसकी कुछ परवाह नहीं, क्योंकि यह मेरी नहीं है" इसप्रकार दिखानेवाला द्वेष है यह ही मोह है—यह ही मदिरा है। इसीप्रकार मद से, ईर्षा से, अहंकार से, लोभ से स्वपर का विभाग होता है यह सब मोहजन्य है। मोह का मार्ग जगत को अन्धा बनाकर काम करने का है और शराब की तरह यह प्राणी को उन्मत्त बना देता है। सारांश में कहें तो पौद्गलिक वस्तुओं का स्वपर विभाग मोहजन्य है।

---

१ वैराग्यशतक श्लोक ७ वा।

मोह प्राणीको चारों गतियों में अनेक प्रकार के दुःख दिया करता है। देवगति में विरह दुःख और परोत्कर्ष सहन करने का दुःख, मनुष्यगति में आजीविका का दुःख और संयोग-वियोग का दुःख, तिर्यंचगति में मुगे म्होंढे अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने का और सर्दी, गरमी सहन करने का दुःख और नरक गति में अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक असह्य दुःख मोह उत्पन्न करते हैं और वे इस जीव को अवश्य सहन करने ही पड़ते हैं। कषाय राग-द्वेषजन्य है और ये दोनों स्वयं मोह के पक्ष हैं अथवा स्वय मोह ही हैं। ऊपर लिखेनुसार अनेक प्रकार के दुःख देनेवाले मोह को तो इस जीव का सचमुच दुश्मन कह सकते हैं। दुश्मन का आनद इस जीव को मूला फिराकर दुःख देने में ही होता है। यह मोह ही स्वपर का विभाग करता है। यह मेरा है और यह पराया है, ऐसा पौद्गलिक वस्तुओं में समझना यह प्रगटतया असत्य है, कारण कि इस में कोई भी आत्मिक नहीं है और आत्मिक नहीं वह अपना नहीं, इसप्रकार विभाग करनेवाला तो तेरा सच-मुच दुश्मन है। अत दुश्मन का किया हुआ विभाग तू क्यों स्वीकार करता है? दुनियाँ में किसी कारण से दो पक्षवालों में झगड़ा होजाता है तो उसका फैसला बीच के मनुष्यद्वारा ही होता है, परन्तु यदि इस निर्णय करने के काम को एक पक्ष के दुश्मन को सौंपा जावे तो उसका परिणाम अवश्य उनके लाभ मे उलटा ही होता है-अर्थात् उनको नुकसान होता है।

अतः हे चेतन्! तेरा क्या है और पराया क्या है? इस का विभाग मेरे हितेच्छु के पास से करा। ऐसा करेगा तो तुझे कुछ लाभ होगा और आत्मिक द्रव्य जो अब तक तेरी सत्ता में रहा है, वह प्रगटरूप से तू प्राप्त कर सकेगा। शत्रु

को अब तूं कब तक तेरा समझेगा ? तूं अब उन्मत्तपन छोड़ दे और इस बात को ध्यान में रख कि मोह का किया हुआ विभाग तेरा बहुत अहित करनेवाला है। इस मनुष्यभव में तुझे विचार करने का बहुत अवकाश है, कारण कि इसमें तेरी सर्व शक्तिएँ कम-ज्यादह अंशों में खिली हुई हैं। इस स्थिति का विचार करके तूं स्वपर सचमुच क्या है इसका विचार कर। इस भव में तुझे अवसर मिला है, उस का ठीक ठीक उपयोग कर ॥ २२ ॥

आत्मा और दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में विचार

अनादिरात्मा न निजः परो वा,
कस्यापि कश्चिन्न रिपुः सुहृद्वा।
स्थिरा न देहाकृतयोऽणवश्च,
तथापि साम्यं किमुपैषि नैषु ॥ २३ ॥

"आत्मा अनादि है, किसी के कोई खुद का नहीं और कोई पराया नहीं; कोई शत्रु नहीं और कोई मित्र नहीं; देह की आकृति और (उस में रहनेवाले) परमाणु स्थिर नहीं-तिस पर भी उनमें तू समता क्यों नहीं रखता ?" ॥ २३ ॥ उपजाति

विवेचनः—आत्मा क्या है और कौन है, उसका विचार करने का तीसरा साध्य उपाय अब और विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं। राग-द्वेषने स्वपर का विभाग खराब किया है यह उपर बताया गया है। अब आत्मा कौन है और इस

का दूसरों के साथ क्या सम्बन्ध है, यह यहां देखिये। आत्मा द्रव्यरूप से ध्रुव अनादि है, पर्याय से पलटती रहती है, पुद्गल के संग में रह कर विचित्र जाति, नाम, शरीर धारण करती है, परन्तु स्वस्वभाव से शुद्ध चैतन्यवान् सनातन है। इसका स्वरूप बहुत से ग्रन्थों में बताया गया है। श्रीलोकप्रकाश[1] ग्रन्थ में इसका स्वरूप बताया गया है, उसका सार यहां दिया गया है। " जीव का सामान्य लक्षण चेतना है, विशेष स्वरूप पांच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन इन बारह का उपयोग है। सर्व जीवों का अक्षर का अनन्तवाँ भाग तो सर्वदा खिला ही रहता है, उसके बिना उपयोग का कोई भी जीव तीनों लोकों में नहीं है। चाहे जितने ढकनेवाले कर्म क्यों न हों फिर भी इस अक्षर का अनन्तवाँ भाग तो नहीं छिप सकता। अक्षर अर्थात् ज्ञान और दर्शन का सम्पूर्ण उपयोग समझे। जिस प्रकार सूर्य पर बादल छा गये हों, फिर भी कहीं न कहीं तो प्रभा रहती ही है इसी प्रकार आत्मा का अनन्तज्ञान ढक जाय तो भी थोड़ासा हिस्सा तो खिला ही रहता है और दिवस जिस प्रकार रात्रि से तेज के कारण भिन्न होता है, उसी प्रकार आत्मा भी अजीव से इसी लक्षण के कारण भिन्न होता है। यद्यपि आत्मा का सम्पूर्ण लक्षण ज्ञान है, तो भी कर्म से आवृत्त होने के कारण वह प्रगट रूप में नहीं आता, परन्तु खान में रहनेवाले सोने में जिस प्रकार शुद्ध कन्चनत्व है, उसी प्रकार आत्मा में भी अनन्तज्ञान सर्वदा है, केवल उस पर रज जमी हुई है। व्यक्त अव्यक्तरूप से जब आत्मा को क्षयोपशम होता है तब शक्ति और कार्यरूप से ज्ञान उत्पन्न होता है और

१ द्रव्यलोक-द्वितीय सर्ग ५१-७१

फिर तेजवीर्य चला जाता है तब कादव जैसे दर्पण को ढ़क लेता है उसी प्रकार कर्म ज्ञान को ढ़क लेते हैं, परन्तु जो बहुत प्रयास कर के सब कचरा हटाया जावे तो अनादि शुद्ध स्वरूप प्रगट हो जायगा। आत्मा का रूप एक ही है, परन्तु कर्मावृत्त होने पर यह विविधरूप धारण करता है।

इस प्रकार अनादिकाल से आवरित स्वरूपवाले आत्मा को दूसरा कोई अपना नहीं और कोई पराया नहीं, उसी प्रकार कोई इसका शत्रु नहीं और कोई इसका मित्र नहीं। इसका खुद का है वह यह ही है। माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि सब अनेक प्रकार के सम्बन्ध में अनन्तवार आते रहते हैं और इससे वे अपने नहीं कहलाते। अपने हों तो यहां रह ही क्यों जावें ? अतः ऐसे क्षणिक सम्बन्ध को अपना या पराया समझना, यह गलत है। इसके विषय में शास्त्रकार कहते हैं कि:—

न सा जाई न सा जोणी, न तं ठाणं न तं कुलं।
न जाया न मुया जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो॥

'ऐसी कोई जाति नहीं, ऐसी कोई योनी नहीं, ऐसा कोई स्थान नहीं, न ऐसा कोई कुल है कि जहां सर्व जीव अनन्तवार न जन्मे हों और अनन्तवार न मरे हों'। मतलब यह है कि सब स्थानों में सब सम्बन्धों में यह जीव अनन्तवार उत्पन्न हुआ है। अनन्तकाल चक्र का मान देखिये और साथ ही साथ विचार कीजिये कि इस जीवने अनन्त पुद्गलपरावर्तन[1] किये हैं, जिससे यह हकीकत स्पष्टतया

[1] एक पुद्गलपरावर्त्तन में कितना काल लगता है उसका ख्याल करना कठिन है। करोड़ों या अरबों वर्षों से उसका नाप नहीं होसकता है। उसका ख्याल करने के लिये सूक्ष्म अर्द्ध सागरोपम का स्वरूप देखिये (लोक-

समझ में आ जायगी। और यह भी इससे समझ में आजायगा कि हम मित्र किसे कहें ? और शत्रु किसे कहें ? इस जीव के सम्बन्ध में प्रत्येक जीव का शत्रु मित्र के रूप में अनन्तकाल में अनन्तबार होजाना संभव है। अतएव तेरे इन संबंधियों में कोई पराये नहीं, फिर भी तू उनको तेरे तथा पराये मानता है यह संसार का स्वरूप, तेरा खुद का स्वरूप और समान्यतया जीव का कर्म के साथ का सम्बन्ध आदि तू नहीं जानता है, इसीलिये ही है।

यह तेरा शरीर नाशवंत है। तेरे शरीर की आकृति भी नाशवंत है। वृद्धावस्था में यह बदल जायगी और अन्त में राख की ढेरी बन जायगी। इस शरीर का मोह दूसरी वस्तु पर के मोह के समान है। यौवनकाल के निकलने के साथ ही साथ रूप भी फिका हो जाता है, शरीर जर्जरित हो जाता है, मुह से लार टपकने लगती है, आखों के सामने अंधेरा छाजाता है, शरीर कांपने और धूजने लगता है, बाल पक कर श्वेत हो जाते हैं और ललाट पर झुर्रियें पड़जाती हैं। ऐसे शरीर पर प्रेम करना उसका शृंगार करना, उसकी हरएक इच्छा को पूरी करना उसको कितने ही उत्तमरस पदार्थों से बढ़ाना यह मूर्खता है, जड़ता है, वस्तुस्वरूप का अज्ञान है। जो वस्तु अपनी नहीं उसे अपनी मानकर उसके लिये क्लेश भोगना व्यर्थ है। शरीर कैसा नाशवंत है और इस पर ममत्व रखने से अन्त में कितना खेद होता है, यह चौथे देहममत्व अधिकार में विस्तारपूर्वक

प्रकरण-रत्नसंग्रह-प्रथम सर्ग-श्लोक १४) ऐसा बीस कोडाकोडी सागरोपम का एक कालचक्र होता है और ऐसे अनन्त कालचक्र का एक पुद्गल परावर्तन होता है। इसके विशेष स्वरूप को जानने के लिये इसके अधिकार के सातवें श्लोक के विवेचन को देखिये।

बताया गया है। लोकस्थिति इस प्रकार है। अतः सर्व वस्तुओं पर समभाव रखना, सर्व प्राणियों पर समभाव रखना और आत्मिक दशा उन्नत करने का साध्य दृष्टि में रखना चाहिये। इस प्रकार आत्म स्वरूप विचारने की कितनी आवश्यकता है, उसको हमने देख लिया है ॥ २३ ॥

अब मातापिता आदि का कैसा संबन्ध है यह बतलाया जाता है।

यथा विदां लेप्यमया न तत्वात्,
सुखाय मातापितृपुत्रदाराः।
तथा परेऽपीह विशीर्णतत्तदा-
कारमेतद्धि समं समग्रम् ॥ २४ ॥

"जिस प्रकार चित्र में अंकित माता, पिता, पुत्र और स्त्री वास्तविक रूप से समझदार आदमी को सुख नहीं देते उसी प्रकार इस संसार में रहनेवाले प्रत्यक्ष मातापितादि सुख नहीं देते। इन दोनों का आकार नाशवंत है, अतः ये दोनों एक ही समान हैं" ॥ २४ ॥ उपजाति.

भावार्थ—जिस प्रकार दूसरों की वस्तु के साथ का सम्बन्ध अस्थिर है उसी प्रकार सगास्नेहियों का सम्बन्ध भी अस्थिर है। इस विषय का फिर ममत्वमोचन अधिकार में विशेष विवेचन किया गया है। उसका कुछ पूर्व निरुपण (Anticipation) करते हुए यहाँ कहते हैं कि, हे चेतन! तूं तेरे माता, पिता, स्त्री और पुत्र के मोह में मस्त होकर इस संसार को तेरा मान बैठा है, परन्तु तूं किसी भी प्रकार का विचार नहीं करता और

वास्तव में ये तेरे हैं या नहीं इसका भी तू विचार नहीं करता यह बहुत अनुचित है। माता, पिता, स्त्री या पुत्र का चित्र हो या उनका फोटो हो तो जिस प्रकार से वह किसी भी प्रकार का सुख नहीं पहुँचा सकतो उसी प्रकार यदि तू विचार करे तो मालूम होगा कि तेरे ये प्रत्यक्ष सम्बन्धी भी तुझे सच्चा सुख नहीं पहुंचा सकते। श्री वीर परमात्मा के हस्तदीक्षित शिष्य श्री धर्मदासगणि[1] कहते हैं कि —

माया पिया य भाया, भज्जा पुत्ता सुहीय नियगा य।
इह चेव बहुविहाइं, करंति भयवेमणस्साइं॥

'इस संसार में माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, मित्र और अपने सम्बन्धी अनेक प्रकार का भय और मानसिक दुःख उत्पन्न करते हैं।'[2] सूरिमहाराज के कहे अनुसार सम्बन्धी मरण से वियोगजन्य दुःख देते हैं इतना ही नहीं, परन्तु जीवित ही अनेक प्रकार के दुःख देते हैं। ऐसे दुःखोत्पादक सम्बन्ध में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की माता चुलणी के माता-सम्बन्धी का दृष्टान्त, कनककेतु के पिता सम्बन्ध का, कोणिक (श्रेणिकपुत्र) पुत्र सम्बन्ध का और नयनावली (यशोधर राजा की रानी) स्त्री सम्बन्ध का दृष्टान्त उचित प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में शास्त्रोक्त दृष्टान्तों को देखने के अतिरिक्त प्रत्येक पुरुष का अपने अनुभव का भी विचार करना चाहिये। एक थोड़ीसी दौलत के लिये जब भाई भाई लड़ते हैं तब विवेकी प्राणी प्रेम के रंग का अनुभव करता है। स्त्री की इच्छा पूरी नहीं होने पर कितने ही

---

1 इसका यह मतलब नहीं है कि ये मोहकारक नहीं हैं। अच्छे पदार्थों को देखने से अच्छा और खराब पदार्थों को देखने से खराब असर तो हृदय पर होता ही रहता है। 2 उपदेशमाला गाथा १४४

अपशब्द कहती हैं, आपत्तिकाल में मित्र छोड़कर भग जाते हैं। माता पिता का सम्बन्ध भी जब तक स्वार्थभ्रंश न हो तब तक ही बहुत अच्छा रहता है, लेकिन जिसप्रकार चित्र के टूट जाने पर नेत्रों को जो सुख होता था वह नाश होजाता है उसी प्रकार प्रत्यक्ष मातापिताओं के अभाव होने पर उनका भी सुख मिलना बन्द हो जाता है। शरीर के नाश होने पर मृत्यु से जो दुख होता है वह भी स्वार्थ ही के कारण होता है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन छवीसमें श्लोक में किया गया है। उसके नाश होने पर जो दुख होता है वह भी प्रेम को उत्तेजित नहीं करता, परन्तु उससे भी वैराग्यभाव ही उत्पन्न होते हैं। इस-प्रकार माता, पिता, स्त्री या पुत्र पर ममत्व रखना अज्ञान है, दुख का कारण है और त्याज्य है। यह सम्बन्ध क्या है? कैसा है? और कितने समय तक रहनेवाले हैं? इस पर विचार करने से, आत्मतत्त्व का भान सहज ही में हो जायगा।

मातापिता पर मोह नहीं रखने का यहां उपदेश किया गया है परन्तु इससे उनकी ओर हो सके इतना व्यवहार न रखना ऐसा न समझें। शास्त्र का जब एकदेशीय अभ्यास होता है तो धर्म के विशुद्ध फरमानों के ऐसे मूर्खतापूर्ण परिणाम होने का अविवेकी पुरुषों के सम्बन्ध में बहुत भय रहता है। प्रत्येक प्राणी को पुत्रधर्म, पतिधर्म, मातृधर्म, मित्रधर्म का बराबर पालन करना ऐसा शास्त्रकार का खास उपदेश है और अनेक स्थानों पर उस पर जोर दे देकर कहा गया है। सम्पूर्ण संसार पर से वासना हट जाय, लोक यज्ञ करने की विशुद्ध वृत्ति हृदय में जागृत हो जाय उस समय मोहजन्य सम्बन्ध से और पुत्र धर्मादिक धर्मों के खोटे अथवा अधुरे विचार से अटक जाना सम्भव न रहे और उन सम्बन्धियों की मृत्यु हो जाने पर

वियोग प्रसंग से ममत्व रहित और परिणाम रहित शोक न हो इस लिये यह उपदेश किया गया है। यदि धर्मादि का जब विरुद्धभावी धर्म के साथ सम्बन्ध हो तब प्रथम धर्म का कदाच पालन करना पड़े तो भी सामान्य शिष्टाचार प्रमाणे मत्स धर्म आदरना उचित है। इसका शुद्ध आशय यह है कि मोह में फँस कर प्रतिबमन में न पड़ जाओ। इस विषय में चौथी एकत्व भावना का विचार करना योग्य है। इस भावना का और इस श्लोक का उद्देश्य लगभग एकसा ही है।

चौपाई के बनानेवालेने इस श्लोक का अर्थ अन्य प्रकार से किया है, परन्तु वह अर्थ मूल के देखने से मुझे ठीक ठीक समझ न पड़ा। चौपाईकार के कहने का भावार्थ यह जान पड़ता है कि जिस प्रकार विद्वानों को तत्वज्ञान होने से सुख के लिये माने हुए माता, पिता, पुत्र, स्त्री आदि में वे लिप्त नहीं हो जाते वरन् निःसम्बन्ध रह कर आत्मा को निर्लेप रखते हैं, इसी प्रकार धन-धान्यादि भी उनको लिप्त करनेवाले (कर्मबन्धन करानेवाले) नहीं होते कारण कि उन की धारणा है कि अपना अपना पर्याय छोड़ कर द्रव्य भिन्न भिन्न पर्यायों में काम में आने से दूसरा रूप धारण कर लेता है बरना वह सदा एकसा ही है ॥ २४ ॥

समता को समझनेवालों की संख्या

जानन्ति कामान्निखिला· ससंज्ञा,
अर्थं नराः केऽपि च केऽपि धर्मम्[1] ॥
जैनं च केचिद् गुरुदेवशुद्धं,
केचित् शिवं केऽपि च केऽपि साम्यम् ॥२५॥

---

[1] केऽपि स्थाने धर्म इति पाठः क्वचिद् दृश्यते।

" सर्व संज्ञावाले प्राणी 'काम' को जानते हैं, उनमें से कितने ही अर्थ (धनप्राप्ति) को जानते हैं, और उन में से भी कई धर्म को जानते हैं; उनमें से भी कई जैनधर्म को जानते हैं; और उनमें से भी बहुत कम शुद्ध देवगुरुयुक्त जैनधर्म को जानते हैं; उनमें से भी बहुत कम प्राणी मोक्ष को जानते हैं और उनमें से भी बहुत कम प्राणी समता को जानते हैं ॥ २५ ॥" इन्द्रवज्रा.

विवेचन—संसारी जीव कर्म से आवृत होने के कारण समता के स्वरूप को न तो जानते हैं न उसका आदर ही करते हैं। यह स्वरूप बता कर कर्ता सिद्ध करता है कि समता को जाननेवाले तथा आदर करनेवाले बहुत कम हैं। पतित होने का मार्ग सदैव खुला रहता है। अनादि अभ्यास से यह जीव ऐसे निचे जानेवाले रास्ते पर शिघ्र लुढ़क जाता है। विभाव दशा के वशीभूत हुए हुए प्राणी कर्मसत्ता के आधीन होकर विषय की ओर दौड़ जाते हैं, कारण कि मैथुनसंज्ञा का इस जीव के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध है।

धनविजय गणि कहते हैं कि काम शब्द के उच्चारण से शब्द आदि इन्द्रियों के सर्व विषयों को समझना। एकेन्द्रिय के भी विषय होते हैं इस सम्बन्ध में यह वाक्य प्रसिद्ध है।

पंचिंदिओ उ बउलो, नरोव्व सव्वविसयउवलंभा।
तहवि न भन्नइ पंचिंदि, ओत्ति बज्झिन्दिया भावा॥

" बकुल वृक्ष पांचों इन्द्रियों के सब विषयों को ग्रहण कर सकता है, अत. भाव से पंचेन्द्रिय है; तो भी बाह्य इन्द्रियों का अभाव होने से उसको पंचेन्द्रिय नहीं कह सकते।"

लौकिक शास्त्र में भी कहा है कि:—

पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः,
शोकं जहाति बकुलो मधुसिंधुसिक्तः ।
आलिंगितः कुरुबकः कुरुते विकास-
मालोकितस्तिलक उत्कलिको विभाति ॥

" अशोक वृक्ष पर जब स्त्री लात मारती है तब वह विकसित होता है, बकुल वृक्ष पर जब स्त्री दारु का कुल्ला डालती है तब वह शोक रहित होजाता है, कुरबक वृक्ष को जब स्त्री आलिंगन करती है तब वह भी विकसित होजाता है और तिलक वृक्ष के सामने जब स्त्री देखती है तब उसके कलियें आती हैं-" इस प्रकार शब्दादि विषयों को ग्रहण करने की शक्ति सब प्राणीयों में होती है, उनमें से कितनी ही आर्ष प्रमाण से और कितनी ही अनुभव से सिद्ध है ।

टीकाकार का यह अर्थ ठीक प्रतीत होता है । तिर्यंच में हम देखें तो सर्प में क्रोध, हाथी में मान, शियाल में माया, बंदर आदि में लोभ आदि भिन्न भिन्न प्रकृतियाँ प्रबल दिख पड़ती हैं, परन्तु विषयसुख की इच्छा तो सब प्राणियों में सामान्य होती है । संज्ञा प्रत्येक प्राणी में कितनी होती है इसका स्वरूप बताने के लिये शास्त्र में बहुत उल्लेख किये गये हैं । सामान्यतया प्रत्यक्ष जीव में चार संज्ञा बताई है-आहार, भय, मैथुन और परिग्रह । ये सब संज्ञाएँ अनाभोग से या आभोग से सब प्राणियों में होती हैं । ये एकेन्द्रिय में भी होती हैं, जिसके सम्बन्ध में बहुत से दृष्टान्त दिये गये हैं । इसके अतिरिक्त दस और सोलह संज्ञाएँ हैं । विस्तार से जानने के अभिलाषी

को लोकप्रकाश ग्रन्थ देखना चाहिये। उसमें श्री भगवती सूत्र, स्थानांग सूत्र आदि के आधार पर बहुत उत्तम प्रकार से संज्ञा का स्वरूप बताया है। वहां सिद्ध किया गया है कि सब प्राणियों में आहारादि चारों संज्ञाएँ अवश्य होती हैं। परिग्रह संज्ञा के स्थान में निद्रा संज्ञा रखकर अन्य ग्रन्थकार भी कहते हैं कि "आहारनिन्द्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्" इस से ज्ञात होता है कि इन्द्रियों के विषय को सब प्राणी जानते हैं, इस विषय में किसी को शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सर्व संज्ञी (जिनको संज्ञा हो वे) प्राणियों में से मनुष्य धनप्राप्ति का विषय अच्छी तरह से जानता है। धन दूसरा पुरुषार्थ है। इसका क्षेत्र विशेषरूप से मनुष्य लोक में ही है। कितने ही तिर्यंच धन पर चौकसी करते हैं, परन्तु उसकी प्राप्ति का विषय तो मनुष्य में ही है। मनुष्य धन के लिये अनेक प्रकार के अकार्य करता है, अहर्निश उसके मिलने के लिये प्रयास करता है, उसके लिये देशविदेश फिरता है, नीच (अधम) की नोकरी करता है, नालायक पुरुषों की चापलूसी करता है और पैसे के लिये हो सके उतना प्रयत्न करता है। इस प्रकार धनप्राप्ति के लिये यह जीव अनेक प्रकार के नाच नाचता है और अनेक वेश बनाता है। भर्तृहरिने इसके लिये ठीक ही कहा है कि "त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम्" 'हे आशा! तेरे लिये लुच्चों के वचन मैंने सहन किये, आँसुओं को मन में दबा कर रक्खा, शून्य मन से भी हँसा, अंतःकरण को मैंने मसोस कर रक्खा और नीच पुरुषों को मैंने नमस्कार भी

---

१ द्रव्यलोक—तीसरा सर्ग श्लोक ४४२—४६३

२ वैराग्यशतक श्लोक ६ वां

किया। हे निष्कल माया ! अब तू और कितने नाच नचावेगी।' धनप्राप्ति के लिये मनुष्य क्या क्या करता है उसका विशेष वर्णन दृष्टान्त सहित पांचवें अधिकार में कहा जायगा। यहाँ पर प्रसंग यह है कि मनुष्य धनप्राप्ति का विषय जानता है और इस विषय में अपवाद कठिनता से मिलता है।

धनप्राप्ति के विषय को जाननेवाले मनुष्यों में भी बहुत कम मनुष्य धर्म को जानते हैं, बहुत से तो अर्थाढ प्रवृत्ति में अथवा प्रमाद में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं। आयु से भी दो बरस अधिक का काम हो ऐसे बहुत से प्राणी होते हैं, जो मशीन के समान सबेरे से बहुत रात्रि गये तक अल्पमात्र भी विश्राम नहीं ले सकते और कितने ही को बैठे पश्चात् उठने तक का अवकाश नहीं मिलता। धनप्राप्ति, उसका रक्षण, उसका विचार, मोजशोक, व्यर्थ विकथा, इन्द्रियों के भोगों आदि में मग्न रह कर धर्म ऐसा शब्द भी नहीं जानते। पाश्चात्य विचारोंने आध्यात्मिक आर्य्य प्रजा पर भी अपनी प्रवृत्ति की लहर बड़े जोरसे चलाई है, ऐसे समय में धर्म के जाननेवालों का बहुत कम होना स्वाभाविक ही है। ऐसे जीवों में से भी शुद्ध देवगुरु को बतानेवाले, धर्म को पहचाननेवाले बहुत ही थोड़े होते हैं। अनेकों प्राणी धर्म के नाम पर हिंसा करते हैं, धर्म के पर्दे में ढोंग करते हैं, धर्म के नाम पर माया करते हैं, धर्म को धन-प्राप्ति का साधन बनाते हैं। संसार से मुक्ति दिलानेवाले, शुद्ध आत्मदशा का स्वरूप बतलानेवाले और मन तथा शरीर को कष्टदायक उपाधियों से छुड़ानेवाले श्री जिनेश्वरप्रणीत शुद्ध धर्म का स्वरूप जाननेवाले बहुत कम प्राणी होते हैं। कितने ही प्राणियों को जैन धर्म प्राप्त हो जाने पर भी उनको शुद्ध

सहायक नहीं मिलते । निन्हवपन, कुगुरुसेवा आदि अशुद्ध सहायकों का दृष्टान्त है । शुद्ध धर्म पर श्रद्धा होना भी बहुत कठिन है और पाश्चात्य संस्कारों के कारण जड़वाद को प्राधान्य माननेवाले के लिये तो इस जमाने में शुद्ध स्वरूप प्राप्त करना और उसको बनाये रखना बड़ा कठिन है । अनेकों प्राणी शुद्ध मोक्षमार्ग को नहीं देख सकते, उसके स्वरूप को भी नहीं जान सकते, और वहां कैसा सुख है यह भी नहीं समझ सकते । स्त्री-पुत्रादिक सिवाय और खाने पीने के मौज-शोक सिवा वहां क्या आनंद होता होगा, ऐसे ऐहिक ख्याल में रह कर अनादि संसार में भटकते फिरते हैं । अहोभाग्य से मोक्ष का स्वरूप जानले तो भी बहुत कम प्राणी समता के स्वरूप को जानते हैं । मोक्षप्राप्ति का साधन समता है, यह ज्ञान का क्रिया में व्यवहार है, और यह स्वरूप जाना जावे तब ही वस्तुतः सुख क्या है ? इस का ख्याल होता है ।

इस सम्पूर्ण श्लोक का यह मतलब है कि यद्यपि संसार के सम्बन्ध के स्वरूप को बतला दिया गया, फिर भी मनुष्य संसार को दुःखभरी नजर से नहीं देखते । संसारी जीव तो मानो आंखे बन्द कर चला ही जाता है, जरासा भी विचार नहीं करता । इसका विचार करो कि सुख क्या है ? सब दूर फिर आओ । राजा के महल को देखो, दिवानों के ओफिसों को देखो; न्यायाधिशों की कोर्टों को देखो, सेठों के वैभव को देखो, युरोपियनों तथा पारसियों के संसार को देखो या बड़े बड़े प्रसिद्ध पुरुषों के चरित्र को देखो; तो तुम को शिघ्र पता लग जायगा कि संसार का एक मात्र सुख समता में ही है—संतोष में ही है, वर्तमान स्थिति को स्वकर्मजन्य मान कर उसको सम्यग् भाव से व्यतीत करने में और अध्यात्म रमणता में ही है, बाकी सब

व्यर्थ भटकना है। इसप्रकार स्वरूप को समझनेवाले बहुत कम हैं, परन्तु इसका समझना बहुत आवश्यक है ॥ २५ ॥

सगेसम्बन्धियों का स्नेह स्वार्थी है; अतः स्वस्वार्थ साधन में लीन रहना समता का चोथा साधन है।

स्निह्यन्ति तावद्धि निजा निजेषु,
पश्यन्ति यावन्निजमर्थमेभ्यः।
इमां भवेऽत्रापि समीक्ष्य रीतिं,
स्वार्थे न कः प्रेत्यहिते यतेत ॥ २६ ॥

"सगे सम्बन्धी जब तक अपने सगों में किसी भी प्रकार का अपना स्वार्थ देखते हैं तब तक ही उनपर स्नेह रखते हैं, इस भव में भी इस प्रकार की रीति देख कर परभव के हितकारी अपने स्वार्थ के लिये कौन यत्न नहीं करता है?" ॥ २६ ॥

उपजाति

विवेचन—अवलोकन करके बारीकी से देखनेवाले को मालूम होगा कि वृद्ध पुरुष के मरने पर उसके सगे सम्बन्धी कहते हैं कि "भाई! यह तो भाग्यशाली हो गया" इस छोटीसी बात से भी बहुत शिक्षा मिलती है। ऐसे उद्गार निकलने का क्या कारण है? वृद्ध पुरुष में किसी भी प्रकार का स्वार्थ नहीं रहा था, वह कुछ भी सुरा होकर नहीं देता था। स्त्री को, पुत्र को वारिस बनने में और यथेच्छ उपयोग करने में वह अनेक प्रकार से प्रतिबंध करता था। स्त्री को, पुत्र को और सगों को वृद्ध पुरुषों से किसी भी प्रकार के लाभ होने की आशा नहीं होती है। इस कारण वृद्ध पुरुष का मरना शुभ माना जाता है।

वृद्ध के मरने पर रोना–पीटना नहीं होता और होता है तो कम होता है। यह संसार से वैराग्य नहीं उपजाता, परन्तु स्वार्थ का अंश विशेषरूप से प्रगट करता है। मरण में तथा उसके लिये शोक करने में भी स्वार्थ का भाग होता है यह एक विचित्र हक़ीकत है, कारण कि बाह्य दृष्टिवान् को तो शोक में प्रेम का भाग नज़र आता है; परन्तु वस्तुतः जो विचित्र मालूम होता है यह बात सच है। मरगी से पीड़ित पुरुष को सगे भी छोड़ देते हैं। अनेक अच्छे अच्छे स्थानों में देखा गया है कि सगा, स्नेही, पुत्र और स्त्री भी ग्रंथिक संनिपात से व्याधिग्रस्त प्राणी की देखभाल नहीं करते। मरगी की व्याधि लगभग असाध्य मानी जाती है और उससे पीड़ित प्राणी का रोग रहित होना कठिन है। थोड़े समय के अनुभव से मनुष्यों की यह गलत धारणा हो गई है कि मरगी के पीड़ितों की देखभाल करनेवालों को भी मरगी का रोग होजाता है; (यह मान्यता झूठी होना लेग-कमीशन की रिपोर्ट से प्रगट है; केवल देखभाल करनेवाले को अल्प खुराक, अन्य स्थानमें सोना, हस्तमुख प्रक्षालन आदि नियमों की ओर विशेष ध्यान देने की जरुरत है) और मरगी से पीड़ित पुरुष बहुत कम बचते हैं। इससे मरगीवाले में थोड़ा सा स्वार्थ होता है वह भी स्वजीवन लोभ के स्वार्थ के सामने तुच्छ होजाता है। प्रेमी का प्रेम स्वार्थपरायण ही है, यह मरगीनें बहुत अच्छी तरह से बतादिया है। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यवहार में भी हम देखते हैं कि यौवन के बीत जाने पर स्त्री का पुरुष पर या पुरुष का स्त्री पर पूर्ववत् हेत नहीं रहता है। ये सब दृष्टान्त निन्नानवे टके ठीक हैं। मतलब यह है कि दुनियाँ का बहुत बड़ा भाग स्वार्थपरायण है। प्रेम में भी स्वार्थ है. और रुदन में भी स्वार्थ है।

मरण का शोक कितने अंश तक स्वार्थप्रेरित होता है और मृत्यु से कितना डरना तथा उसके लिये क्या करना इसके विषय में यहां लिखना उचित नहीं मालूम होता। इस विषय का विशेष उल्लेख पांचवें देहममत्वमोचन अधिकार में और विशेष रुचिकर जैन श्री धर्मप्रकाश के प्रसिद्ध 'जीवन सन्ध्या' विषय में पढ़ें। यहाँ उसका इतना ही सारांश ग्रहण करना कि दुनियाँ में सब कार्य चाहे वे प्रेम के हों या शोक के किन्तु सब स्वार्थ के होते हैं।

अतः तुझ को भी दुनियाँ के प्रवाह को नहीं छोड़ना चाहिये, कारण कि तू भी अभी तक तो दुनियाँ का ही प्राणी है, केवल तुझे उसका उद्देश्य बदल देना चाहिये। जब सब संसार अपने स्वार्थ सिद्ध करने में लगा हुआ है तो तूं भी अपना स्वार्थ सिद्ध करले, परन्तु तेरा स्वार्थ कैसा है? क्या है? इस को पहले सोचले! तेरा सच्चा स्वार्थ तुझ को परमत आनन्द होने और तेरे आत्महित होने में ही है, कारण कि स्वार्थ शब्द का अर्थ ही यही है। इस दृष्टि से तूं तेरे स्वार्थ साधने का प्रयत्न करना। तू इसे जानने का प्रयत्न कर कि परभव का स्वार्थ किस प्रकार सिद्ध हो सकता है। सामान्यतया तात्कालिक लाभ की इच्छा छोड़कर परिणाम में किस प्रकार हित हो सकता है इस को तूं देख। पारमार्थिक रहस्य बतानेवाले अनेकों ग्रन्थों में से किसी एक ग्रन्थ को तू पढ़ और विचार कर तो तुरन्त ही तुझे स्वार्थ का भान हो जायगा। मनोनिग्रह, संसार पर उदासीनता, गृद्धता का नाश, सद्व्यवहार, दान, तथा क्षमा आदि के साथ तूं तेरा सम्बन्ध जोड़ दे तो तेरा स्वार्थ स्वतः सिद्ध हो जायगा।

पर-द्रव्य का सम्बन्ध विचार कर फिर स्वार्थ साधन में तत्पर होना समता प्राप्त करने का चोथा उपाय है। यह चोथा उपाय थोड़े से विचार करने से बहुत अच्छी तरह प्राप्त कर सकते हैं कारण कि इसमें व्यवहार की दशा मात्र ही बदलने की आवश्यकता होती है। इस साधन की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है॥ २६॥

पौद्गलिक पदार्थों की अस्थिरता-स्वप्न दर्शन

स्वप्नेंद्रजालादिषु यद्वदाप्तै-
रोषश्च तोषश्च मुधा पदार्थैः।
तथा भवेऽस्मिन् विषयैः समस्तै-
रेवं विभाव्यात्मलयेऽवधेहि॥ २७॥

"जिस प्रकार स्वप्न अथवा इन्द्रजाल आदि के पदार्थों पर रोष तथा तोष करना व्यर्थ है उसी प्रकार इस भव में प्राप्त हुये पदार्थों पर भी (रोष तथा तोष करना व्यर्थ है) इसप्रकार विचार करके आत्मसमाधि में तत्पर हो।" ॥२७॥

उपजाति

भावार्थः—स्वार्थ साधन के चोथे उपाय की यहां विशेष रूप से पुष्टि की जाती है। "कुसुमपुर नगर में एक भिक्षुक रहता था। तमाम दिन भटक भटकाकर जरा जरासा भी भिक्षान्न ले आया। ग्राम के बाहर एक वृक्ष के नीचे बैठकर अन्न खाया और पानी पिया। मंद पवन की सुहावनी लहर से वहां सो गया। स्वप्न देखा कि वह राजा हो गया है, भोग की सामग्रियें मिल गई हैं, स्त्रियें मिल गये हैं, दोनों तरफ चमर उड़ रहे हैं और

भाट लोग बिड़दावली बोल रहे हैं। कवि, सैन्य, प्रधानमण्डल आदि सहित स्वयं नगर-भ्रमण को निकलता है और कचहरी के समय अनेक सामन्त वर्ग तथा राजा लोग उसका आदर करते हैं। ऐसी स्थिति में आनन्द मानते हुए उसका स्वप्न समाप्त हो गया, आँखें खुल गईं। देखता क्या है कि न तो राज्य है, न प्रधान-मण्डल है, न कवि है, न सेना है, न सामन्त लोग हैं और न सुन्दर सिंहासन ही है। केवल एक तरफ फटी पुरानी गुदड़ी और दूसरी तरफ अवशिष्ट भिक्षान्न से भरा हुआ ठीकरा पड़ा हुआ है।" संसार का सुख इस प्रकार का है। प्रथम तो इसमें सुख ही नहीं है और कदाच इससे सुख भी कहें तो कितना सा? और कैसा? स्वप्न के सुख को सुख कहना ही प्रथम तो भूल है। और फिर वह बहुत थोड़े समय तक रहनेवाला है, तथा अपनी वास्तविक स्थिति प्राप्त करानेवाला और मानसिक दुःख बढ़ानेवाला है, तो फिर उसमें आसक्ति रखना निरुपयोगी ही नहीं वरन् हानिकारक भी है। भिखारी के सुख में जिस प्रकार कुछ दम नहीं दिखाई देता उसी प्रकार इस संसार के माने हुए सुख में भी वस्तुतः कुछ दम नहीं है। इसी प्रकार अपनी इच्छा के विपरीत यदि कोई पदार्थ प्राप्त होजाय तो उसके लिये भी रोष करना व्यर्थ है, कारण कि स्वयं वस्तु किसी भी प्रकार से अपना हित एवं अहित नहीं कर सकती। इसके सम्बन्ध में आनेवाले मन को किस प्रकार का कार्य पिलावें यह काम सुज्ञों के विचारने का है, परन्तु इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु पर हर्ष या रोष करना वस्तुस्वरूप का अज्ञान होना प्रगट करता है। देवता लोग तथा वैसी शक्तिवाले पुरुष किसी न किसी निमित्त को ले

कर इन्द्रजाल बताते हैं। अखण्ड परिव्राजक[1] का दृष्टान्त हमको भलिभांति मालूम होना चाहिये। वस्तुतः इस में सचाई का लेश मात्र भी नहीं है। " चार दहाडानुं चादरों घोर अंधेरो रात " स्वप्न अथवा इन्द्रजाल में देखे हुए पदार्थों की प्राप्ति अथवा नाश से हर्ष अथवा शोक करना मिथ्या है, उसी प्रकार सब सांसारिक पदार्थों के बारे में भी समझना।

इस हकीकत को थोड़ी और स्पष्टतया समझें। हम को जब कोई हमारे अनुकूल पदार्थ मिलता है तो उस पर प्रीति हो जाती है, परन्तु राग से जो सुख होता है वह केवल माना हुआ ही है; वास्तविक नहीं। इसमें क्या सुख है? यह सुख है किन्तु बहुत अल्पकाल तक रहनेवाला है। आखिरकार वास्तविक स्थिति तो अवश्य प्राप्त होगी ही। पौद्गलिक वस्तुओं की ऐसी रीति है कि जब तक एक वस्तु प्राप्त न हो तब तक तो उसमें बहुत प्रेम रहता है, परन्तु प्राप्त होने के पश्चात् थोड़े से समय में ही उसपर से मन हटजाता है। छोटी आयु में घड़ी मिलने की तथा मेले में जानेपर नवीन खिलोनों की जो इच्छा बालक में देखी जाती है वैसी इच्छा उन वस्तुओं के मिल जाने के दो चार दिवस बाद नहीं देखी जाती। इसी प्रकार अन्य सब वस्तुओं के लिये समझ लीजिये। उनमें आनन्द है ही नहीं और यदि है भी तो अल्पमात्र है। थोड़े समय तक रहनेवाला है और परिणाम में अधःपतन करनेवाला है। इसप्रकार वस्तुस्थिति है। संसार के सब पदार्थों तथा सम्बन्धों का स्वप्न में देखे हुए पदार्थों तथा इन्द्रजाल के साथ होनेवाली समानता बहुत मनन करने योग्य है, चमत्कारी है और विचार करने पर

---

1 सुलसा चरित्र देखिये।

सब बातों में सब प्रकार से घटित होने योग्य है। वस्तुधर्म इस प्रकार है, अतः किसी भी सांसारिक पदार्थ में सुख मानना अथवा इन्द्रियों के किसी भी विषय में स्थिरता मानना अयोग्य है, भूल है और आडे रस्ते दोडना है। अब प्रश्न उठता है कि तो फिर क्या करना? इस जीव के शुद्ध के जो सहज धर्म हों उनको प्राप्त कर के उनमें जो लीन हो जाय तो परम सुख की प्राप्ति होगी तथा यह व्यर्थ अस्थिरता मिट जायगी, अत: दूसरी व्यर्थ बातों को छोड़ कर सद्गुण प्रगट करने निमित्त आत्मजय करना ही हमारा कर्तव्य है। आत्मजय करने निमित्त यम और नियम प्रबल साधन हैं। जब मन अमुक नियमों से नियंत्रित होकर कब्जे में आता है तब आत्मस्थिरता बहुत अंशों में प्राप्त होती जाती है और अभ्यास से यह बहुत अधिक अंश में प्राप्त होती जाती है सगे-स्नेहियों के अस्थिर सम्बन्ध और पौद्गलिक वस्तु पर के झूठे प्रेम को छोड़ कर, अपना शुद्ध का क्या है इस के विचारने में और इसके ज्ञान होजाने पर इसके विशेष विकाश करने के कार्य्य में मग्न रहना समता प्राप्त करने का चोथा साधन है। पंडित पुरुष इसको 'आत्मजय' का सार्थ नाम देते हैं ॥ २७ ॥

मरण पर विचार। ममत्व का वास्तविक स्वरूप.

> एष मे जनयिता जननीय,
> बंधवः पुनरिमे स्वजनाश्च।
> द्रव्यमेतदिति जातममत्वो,
> नैव पश्यसि कृतांतवशात्वम् ॥ २८ ॥

"यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, ये मेरे भाई हैं

और ये मेरे सगे-स्नेही हैं, यह मेरा धन है-इस प्रकार तुझे ममत्व हो गया है; परन्तु इसीसे तूं यम के वश में होगा, इसको तूं देखता भी नहीं है ”॥ २८॥ स्वागता

भावार्थ—इस संसार के सब सम्बन्ध स्वप्नवत् हैं, इस के दृष्टान्तरूप यहा उल्लेख करते हैं। इस जीव को स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र, सगे-सम्बन्धियों और धन पर इतनी प्रगाढ़ ममता होती है कि वह इस जीव को वहुत दुःख देती है, फिर भी यह जीव नहीं सोचता कि इस संसार में दुःख देनेवाली ममता है वरन् यह तो इसीमें सुख समझे हुए है। इसीलिये शास्त्रकार ममता की मदिरा (दारु) से उपमा देते हैं। जिस प्रकार मदिरापान करनेवाले को सदसद्विवेक नहीं रहता, अपशब्द बोल दिये जाते हैं, वस्तुतत्त्व का भान नहीं रहता, वैसी ही स्थिति ममता के वश में हुये प्राणी की भी होती है। ममत्व के वशीभूत हुये दुनियाँ में अनेकों वड़े वड़े भाग्यशाली हैं, कि जिनका व्यवहार देखें तो मालूम होगा कि उनको कृत्या-कृत्य का भान नहीं रहता है, नहीं करने योग्य कार्य करते हैं, अस्थिर पदार्थों पर प्रेम रखते हैं और स्थिर पदार्थों को छोड़ देते हैं। मोह में मस्त हुये प्राणी कैसे कैसे नाच नाचते हैं यह देखने योग्य है, इसके लिये सम्पूर्ण संसार खुला पड़ा है। शास्त्रकार इस हकीकत की ओर किस दृष्टिसे देखते हैं इसका उल्लेख इस ग्रन्थ के दूसरे से पांचवें अधिकार तक किया गया है। यह जीव मेरे तेरे की ममता में इतना पागल होजाता है कि उसकी दृष्टि में यह भी नहीं आता कि उसके सिरपर यम का वड़ा भारी भय नाच रहा है। उसका सब वर्तन-व्यवहार इस प्रकार का होता है कि मानो उसको किसी दिन मरना ही

न हो। इस संसार में मरना निश्चय है। अतः इस विषय पर विचार करना भी उचित है इतना ही नहीं वरन् अति आवश्यक है। मरणप्रसंग में यहां इतना ही कहना उचित है कि मरने की इच्छा न रक्खे। खराब स्थिति में से बचने के लिये–छुटकारा पाने के लिये मृत्यु को न बुलावे, कारण कि कर्म भोगे बिना छुटकारा नहीं होसकता और ऐसे जीवों के लिये वहां परलोक में भी पलंग नहीं सजाये हुए हैं। इसीप्रकार मृत्यु से भी नहीं डरना चाहिये। ग्राम में बिमारी फैल रही हो, पुत्र छोटा हो, स्त्री रोगग्रस्त हो, स्थिति साधारण हो आदि किसी भी कारण से मृत्यु से नहीं डरना चाहिये, अपितु मरने के लिये सदैव तैयार रहना चाहिये। इससे सम्पूर्ण जीवन में बहुत आराधना होगी और यदि मृत्यु का विचार सामने रहेगा तो कर्तव्यपालन के साथ साथ सांसारिक कार्यों में भी एक प्रकार की मुर्दता आजायगी, जिससे भवान्तर में विकास के नियमानुसार इस जीव के कर्मक्षय में वृद्धि होते होते कर्म के आत्यंतिक नाश का होना सम्भव होगा और अन्त में नाश भी होजायगा। इस स्थिति के प्राप्त करने के स्थान में यह जीव तो ममत्व के वशीभूत होकर ऐसे ऐसे कार्य करता है कि देखनेवाले को भी हँसी आजाती है।

यह सब प्रकार के सम्बन्धों की अस्थिरता का वर्णन हुआ। मृत्यु विषय पर अधिक विचार करने से ज्ञात पड़ता है कि यदि यह मनुष्य के शिर पर न नाचती हो तो उसका प्रत्येक कार्य अत्यन्त कठोरतापूर्ण हो। मृत्यु के शिर पर नाचने का भान होने पर भी यह जीव कई बार मान आदि के अहंकार में मस्त

---

१ इस सबको और विस्तारपूर्वक देखने की अभिलाषा हो तो जीव सन्ध्या का लेख देखें। भाग १ श्लोक २६

होकर कषायों का शिकार बन जाता है तो फिर यदि मृत्यु का डर न होने पर तो यह जीव भूमि पर भी पैर न रक्खे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अतः मरते समय कोई पदार्थ संग नहीं आता इस विचार को निरन्तर दृष्टि समीप रखना उचित है। इसमें भी दीनता न बतावे परन्तु दृढ़तापूर्वक एकत्व भाव रक्खे। शास्त्रकार इस निमित्त अनेक प्रकार के उपदेश करते हैं। एक स्थान पर कहते हैं कि:—

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः,
सद्बांधवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
वल्गंतिदन्तिनिवहास्तरलास्तुरंगाः,
संमीलने नयनयोर्न हि किंचिदस्ति॥

'चित्तको आकर्षण करनेवाली सुन्दर युवतियाँ, अनुकूल सगे-सम्बन्धी, प्रतिष्ठित भाई, सभ्यतापूर्वक बोलनेवाले सेवक, हाथियों का समूह और चपल घोड़े आदि सब हों; परन्तु आँखों के बन्द हो जाने पर ये सब अदृश्य हो जाते हैं।' व्यवहार में भी कहा जाता है कि:—

जेनी फुंके पर्वत फाटे, आभ ऊँडलमां भरता।
जेनी चाले धरणी धूजे, ते नर दीठा मरता॥

ऐसी स्थिति है, अतः मृत्यु को सदैव दृष्टि समीप रख कर उसके स्वागत के लिये हर समय तैयार रहना चाहिये। कितने ही बड़े बड़े चक्रवर्ती राजालोग छ खण्ड पृथ्वी, हजारों रानियों तथा असीम ऋद्धि को यहीं छोड़ गये, उनके साथ में कोई नहीं गया, कुछ भी नहीं गया, यह बात कोई नई नहीं है। अपितु माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि का प्रेम भी जबतक स्वार्थ रहता

है तबतक ही अच्छा लगता है। अच्छा लगने से यह प्रयोजन है कि वस्तुत वह है ही नहीं। एक सेठ के लड़के को उसके कुटुम्ब से बहुत प्रेम था। उसकी परीक्षा करने के लिये उसके मित्रोंने उसे अपना श्वास रोक कर मृत्युप्रायः बन जाने का बहाना करने को कहा। तदनुसार जब सेठ का पुत्र असह्य (कृत्रिम) पेट की वेदना की असाध्य व्याधि से खाट पर पड़ा हुआ रुदन करने लगा तब मित्रों में से एक ने धन्वन्तरी वैद्य का रूप बनाकर उस सेठ के लड़के के सिर पर से पानी उतार कर कहा कि इस पानी में इस रोगी का सब रोग समा गया है, सो अब जो व्यक्ति इस पानी को पीयेगा वह उस रोग से ग्रस्त हो जायगा और यह रोगी स्वस्थ हो जायगा। तो उसकी नवयौवना स्त्री, अतुल प्रेम बतानेवाली माता, करोड़ों की सम्पत्तिवाला पिता, लाखों का वारीस होनेवाला पुत्र, तथा अन्य स्नेहिगण आदि सब खिसक गये और किसीने उस पानी को पीने का साहस नहीं किया। कोई पानी पीवे ऐसा विचार करना ही भूल है क्योंकि प्रेमबन्धन स्वार्थ की डोरी से ही बन्धा हुआ है। स्वार्थ की डोरी के टूट जाने पर किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता और "निकालो निकालो" यही आवाज चारों ओर उठाई जाती है। सम्बन्ध के इसप्रकार के स्वरूप को जानते हुए भी प्राणी कर्तव्यविमुख होकर क्यों संसार-बन्धन में फँस जाते हैं इसका खुलासा ज्ञानी महाराज इस-प्रकार करते हैं। इसमें अनादि मिथ्यात्व-वस्तुस्वरूप की अज्ञानता सिवाय अन्य कोई भी कारण नहीं है, अत स्वप्न अथवा इन्द्रजालवत् संसार सम्बन्ध में गर्व न होकर आत्म-तत्त्व क्या है ? इस को समझना और समता प्राप्त करना ही मुख्य कर्तव्य है और इसीसे इसकी सिद्धि होती है ॥ २८ ॥

विषय पर मोह–उस का सचा दिग्दर्शन–समता-प्राप्ति का उपदेश.

नो धनैः परिजनैः स्वजनैर्वा,
दैवतैः[1] परिचितैरपि मंत्रैः ।
रक्ष्यतेऽत्र खलु कोऽपि कृतांतान्नो,
विभावयसि मूढ किमेवम् ? ॥ २९ ॥

तैर्भवेऽपि यदहो सुखमिच्छं–
स्तस्य साधनतया प्रतिभातैः ।
मुह्यसि प्रतिकलं विषयेषु,
प्रीतिमेषि न तु साम्यसतत्त्वे ॥ ३० ॥

अर्थतो युग्मम्.

" धन, सगे-सम्बन्धी, नौकर-चाकर, देवता अथवा परिचित मंत्र, कोई भी यम (मृत्यु) से रक्षा नहीं कर सकता । हे अल्पज्ञ प्राणी ! तू ऐसा विचार क्यों नहीं करता ? सुख मिलने के साधनरूप प्रतीत होनेवाले (धन, सगा, नोकर आदि) में हे बड़े संसार में सुख मिलने की इच्छा रखनेवाले भाई ! तू प्रत्येक क्षण विषयों में गर्त होता जाता है, परन्तु समतारूप सच्चे रहस्य में प्रीति नहीं रखता है " ॥ २९–३० ॥

स्वागतावृत्त.

भावार्थ—यह ऊपर लिखा गया है कि यह प्राणी ममत्व के वशीभूत होकर मृत्यु के भय को भूल जाता है । इस हकीकत को और दृढ करने निमित्त कर्त्ता कहता है कि तेरे पास चाहे

[1] दैवतैरिति वा पाठः ।

जितनी सम्पत्ति क्यों न हो, परन्तु फिर भी मृत्यु का भय दूर नहीं हो सकता। पैसा दुनियाँ की अनेकों वस्तुओं को खरीद सकता है परन्तु इस से यमदेव नहीं खरीदा जा सकता है। तेरे पास चाहे जितने सगे अथवा सेवक क्यों न हों परन्तु ये भी तुझे मृत्यु से नहीं बचा सकते। सेठ का पुत्र बचाया जा सकता था उसको भी नहीं बचाया तो फिर मृत्यु से बचाने की तो उनमें शक्ति ही नहीं है और ऐसा विचार करने का उनको अवकाश ही कहाँ है ? इतना ही नहीं लेकिन कदाच देवता भी तेरे आधीन होजावें तो वे भी तेरा रक्षण करने से असमर्थ हैं, कारण कि वे स्वयं ही मृत्यु के वशीभूत हैं और तेरे आधीन चाहे कितनी ही मंत्रशक्ति क्यों न हो किन्तु फिर भी एक निमिष भर भी कम या ज्यादह नहीं हो सकता। अनन्त वीर्यवाले श्रीमन्महावीर परमात्मासे महा उपकार होने की सम्भावना थी लेकिन वे भी मृत्यु के दोरे को एक क्षण के लिये भी नहीं रोक सके और बिना किसी प्रकार की शंका के स्पष्ट शब्दों में बतला गये हैं कि इस कार्य्य के करने में (मृत्यु के निर्धारित समय को बदलनेमें) कोई भी समर्थ नहीं है। इस प्रकार की वस्तुस्थिति है इसको जानते हुए भी तू उन्हीं धन, सगे आदि को सुख के साधन समझता है। इस संसारमें सुख है ही नहीं, इस में से सुख मिलने की जो इच्छा रखता है वह तेरी पहली भूल है, दूसरी भूल इसी पहली भूल का परिणाम स्वरूप है, और वह यह है कि धन, सगे, स्वजन आदि सुख के साधन माने जाते हैं, इन दोनों भूलों के परिणामस्वरूप

१ १८ वे श्लोक के विवेचन को देखिये।

विषयों पर प्रेम होता है और इन्द्रियों के विषयों पर प्रेम होने से चौरासी लाख फेरे फिरना प्रारम्भ हो जाता है। अतः हे भाई! तूं वस्तुस्वरूप समझ और यह ध्यान में ला कि यह तेरी शुद्ध दशा नहीं है। इन विषयों को प्रेम करता है, परन्तु ऊपर बतायेनुसार ये तो इन्द्रजाल के समान अस्थिर हैं। इन से प्रेम कर के संसारभ्रमण करना तेरे जैसे समझदार को उचित नहीं है। समता से प्रीति क्यों नहीं करता? सब वस्तुओं का सार समता है, इस को धारण करनेवाले अनेकों जीव सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो गये हैं। इसके सम्बन्धमें आने पर तेरी स्थिति अवश्य पलट जायगी; अतः अन्य व्यर्थ बातों को छोड़ कर तेरे स्वार्थसाधन में तत्पर हो। स्वार्थ-साधन का प्रथम अंग सब जीवों पर—सब वस्तुओं पर समभाव रखना, कषायों का त्याग करना, विषय से दूर रहना और आत्मपरिणति जाग्रत करना है। सारांश में कहा जाय तो यही समता प्राप्त करना कहलाता है ॥ २९–३० ॥

कषाय का सच्चा स्वरूप—उस के त्यागने का उपदेश.

किं कषायकलुषं कुरुषे स्वं,
केषुचिन्ननु मनोऽरिधियात्मन् ।
तेऽपि ते हि जनकादिरूपै-
रिष्टतां दधुरनंतभवेषु ॥ ३१ ॥

"हे आत्मन्! कितने ही प्राणियों के साथ शत्रुता रख कर तूं अपने मनको क्यों कषायों से मलीन करता है? (कारण कि) वे तेरे मातापिता आदि के रूप में अनन्त भवों तक तेरी प्रीति के भाजन रह चूके हैं" ॥ ३१ ॥ स्वागता.

भावार्थ—किसी पर क्रोध करना बड़ा कठिन है। इस के करते समय चहरे को लालपीला करना पड़ता है तथा मन को अपने अधिकार से बाहर करना पड़ता है। क्रोध करना आत्मिक शुद्ध दशा नहीं है यह ऊपर से आना जाता है, कारण कि इस में स्वभाविकता की कमी है। तब ऐसी कृत्रिम दशा धारण करने में क्या लाभ है? ऐसी दशा क्यों धारण करना? इसके विपरीत क्षमा धारण करने में किसी भी प्रकार की महनत नहीं करनी पड़ती, किसी भी प्रकार की तैयारी नहीं करनी पड़ती और कोई विचार भी नहीं करना पड़ता। वह आत्मिक शुद्ध दशा होनेसे उस पर विचार करनेवाले को वह सहज में ही प्राप्य है अथवा अपेक्षा को बराबर ध्यान में रखकर बोला जावे तो वह प्राप्त ही है। यह अपेक्षा वचन बताता है कि संसार मार्ग सरल नहीं है लेकिन मोक्षमार्ग सरल है। ऐसे टेढ़े बाँके कषायमार्ग को तूं क्यों ग्रहण करता है? तूं एक और विचार करे तो तुझे मालूम होगा कि कषाय करना अनुचित है। जिसपर तू कषाय करता है वे ही तेरे माता-पिता के रूप में अनेकों बार तेरे प्रीतिपात्र रह चुके हैं। एक भी बार जो प्रीतिपात्र रह चुका है उस पर कषाय करना यह सुज्ञों का कार्य कदापि नहीं है। कषाय पर-वस्तु है, पौद्गलिक है, पुद्गलजन्य है, संसार में भटकानेवाला है, दर्शनमात्र से ही दुःख देनेवाली वस्तुओं में इसकी गिनती है, इसके सेवन से थोड़ासा भी स्वार्थसाधन सिद्ध नहीं होता, उल्टा संसार विस्तृत होता है। अत संसार से सम्बन्ध छोड़ने के अभिलाषी जीवों का कषाय के सम्बन्ध में न आना ही अधिक उत्तम है। कषाय के सम्बन्ध का विशेष विवेचन सातवें अधिकार में किया जायगा,

यहां कषाय समता का पूरा पूरा वन्धन करनेवाला है, समता का विरोधी है और जिस पर कषाय किया जाता है वे भी न्यायदृष्टि से कषाय के पात्र नहीं हैं इतना ही बताता है। तेरा साधन जो विरोधी होगा तो तेरा प्रत्येक कार्य्य विघ्नपूर्ण होगा और अन्त में भी साध्य की सिद्धि नहीं होगी। मोक्ष और कषाय में शत्रुता होना अनुभवी पुरुष सिद्ध कर गये हैं; अब तुझे योग्य विचार करना चाहिये ॥ ३१ ॥

शोक का सच्चा स्वरूप-उसके त्याग करने का उपदेश.

यांश्च शोचसि गताः किमिमे मे,
स्नेहला इति धिया विधुरात्मन् ।
तैर्भवेषु निहतस्त्वमनंते-
ष्वेत्र तेपि निहता भवता च ॥ ३२ ॥

"ये मेरे स्नेही क्यों (मर) गये ! ! इस प्रकार की बुद्धि से व्याकुल होकर जिनके लिये तूं शोक करता है उन्हीं द्वारा तूं कईबार सताया गया है और वे भी तुझसे कईबार सताये गये हैं" ॥ ३२ ॥ स्वागता.

भावार्थ—ऊपर के श्लोक में जो वात कही गई है उसी का यहाँ दूसरे शब्दों में वर्णन किया जाता है। जिस प्रकार किसी भी जीव पर कषाय करना उचित नहीं है उसी प्रकार किसी के मरण-वियोगादि प्रसंग पर भी उसके लिये शोक करना अनुचित है। सगेस्नेही अर्थात् पुत्र, माता, पिता, स्त्री आदि के मरने पर शोक करने से आत्मिक गुण

की हानि होती है, कारण कि शोक रोग का मूल है और संसार को विस्तृत करनेवाले ही मर्मों में से राग एक है। जिसके मरण के लिये शोक किया जाता है उन्होंने ही इस जीव को अनेक बार अनन्त भवभ्रमण में मारा है और इसने भी उनको कई बार मारा है और ऐसा ही फिर भी होनेवाला है तो फिर किस के लिये रोना ? वास्तव में जो जो समय प्रमाद में व्यतीत हुआ हो और जितना आत्महित न साधा गया हो उसके लिये अपने आप पर पश्चाताप करना अथवा निष्फल काल निर्गमन और प्रमाद के लिये शोक करना उचित है। ऐसी जागृत दशा व्यवहार के प्रत्येक कार्य में रखने की टेव पड़ेगी और साध्यदृष्टि निरन्तर लक्ष्य में रहेगी तब ही अत्यन्त आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी। उस समय केवल मानसिक आनन्द होने सिवाय शोक का स्थान ही न रहेगा, कारण कि उस समय शोक का मूल क्या है और वह कैसा है उसका सच्चा सच्चा भान हो जाता है।

हकीकत इसप्रकार है तो फिर रिवाज के लिये बैठना, झूठा शोक प्रगट करना, मन में दुःख हो या न हो तो भी दिखानेमात्र को रो-पीट कर दूसरों को धोखा देना, ऐहिक स्वार्थ साधने की बुद्धि के मार्ग में रोड़ा अटकाना महानिंद्य कर्म है, असत्य व्यवहार है और केवलज्ञानी की अनुपस्थिति प्रगट करनेवाला तथा बाह्य आडम्बर का विचित्र दर्शन है। यह कृत्य धर्मविरुद्ध है कारण कि इस में मायामिश्रित शोक का आविर्भाव है और शुद्ध व्यवहार के स्वरूप को समझनेवाले धर्मिष्ठ गृहस्थ

---

१ राग-द्वेष-मोह के पुत्र और बड़े सैनिक।

भी इस में कम भाग लेते हैं। स्त्रियों को निर्लज्जपन से न रोने-धोने के लिये विशेषरूप से उपदेश किया जाता है और उस समय पर बोलेजाने योग्य वाक्यों के नियमित पाठ कण्ठाग्र करने का आदेश किया जाता है। आर्य संसार के अधःपतन का यह भी एक सच्चा दिग्दर्शन है। इस समय में केलवणी की बहुत कमी होना प्रगट होता है और धार्मिक दृष्टि से तो यह रिवाज नितान्त निर्मूल, मोह का खेल और नूतन नाटक बताता है। अन्तःकरण में होनेवाले मोहजन्य सच्चे शोक को प्रगट करने से भी जब शास्त्रकार मना करते हैं तो फिर यह धांधलीवाला झूठा व्यवहार तो किस प्रकार कर्तव्यरूप माना जा सकता है? अपनी शारीरिक स्थिति का विचार न कर इस जंगली रिवाज में प्रवृत होने से कुछ लाभ नहीं है, विवेक नहीं है और विचार नहीं है, अतः सुज्ञ स्त्रियों को लोकनिन्दा का भय छोड़कर ऐसे व्यवहार से दूर रहना योग्य है। निन्दा करने वाले हजारों वर्ष तक जीवित नहीं रह सकते और जिसकी वे निंदा करते हैं, उसकी आत्मिक हानि में वे किञ्चिन्मात्र भी भाग नहीं बटा सकते। इसलिये सन्नारियों तथा सत्पुरुषों को इसप्रकार के शोक का त्याग करना और विशेषरूप से, कृत्रिम ढोंग को तो शिघ्रातिशिघ्र छोड़देना ही उचित है॥ २२॥

मोहत्याग–समता में प्रवेश.

त्रातुं न शक्या भवदुःखतो ये,
त्वया न ये त्वामपि पातुमीशाः।
ममत्वमेतेषु दधन्मुधात्मन्,
पदे पदे किं शुचमेषि मूढ! ॥ २३ ॥

" जिन स्नेहियों को तूं भवदुःख से बचाने में अशक्त है और जो तुझे बचाने में असमर्थ है उनपर झूठा मोह रख कर हे मूढ आत्मन्! तूं पग पग पर क्यों शोक का अनुभव करता है ? " ॥ ३२ ॥ उपजाति

भावार्थः—जिसके यहां हररोज वस्त्र, अलंकार और भोजनादिक की पेटियें उतरती थी वैसे शालिभद्र को भी जब मालूम हुआ कि उसके शिरपर अब भी और श्रेणिकनामक राजा राज्य करता है तो संसार से वैराग्य प्राप्त कर हर-रोज एक एक स्त्री का त्याग करने लगा। उसको भान होगया कि यहाँ जो सुख जान पड़ता है वह झूठा है, वास्तविक सुख यह नहीं है अत ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहिये कि जहाँ अपने पर किसी की सत्ता न रहे। जिसको श्रेणिक राजा की गोदी में बैठने के परिश्रम मात्र से भी वैराग्य होगया और जो सचेत होकर चारित्र के विषम मार्ग पर चलने का विचार करता है यह बात बहुत मनन करने योग्य है। उससे भी विशेष सचेत होनेवाले धनाने स्नान करते हुए जब अपनी स्त्री (शालिभद्र की बहिन) सुभद्रा के नेत्र में से उष्ण अश्रु निकल कर उसके शरीरपर पड़ते हुए देखा तो उसने उसके शोक का कारण पूछा और जब सुभद्राने शालिभद्र के हररोज एक एक स्त्रीत्याग करने की घटना का वर्णन किया और कहाँ कि ऐसा करते हुए उसको आज सत्तर दिन हो गये है तो धन्ना हँस पड़ा और बोला कि "संसार असार है ऐसा जानने के पश्चात् यदि स्त्रियों का त्याग किया तो एक एक का क्यों किया ? छोड़ना तो सब एक साथ छोड़ देना चाहिये।" इसपर आश्चर्य प्रगट करते हुए सुभद्राने यह मर्मयुक्त वाक्य कहा कि " हे स्वामी! कहना बहुत सरल है। दुनियाँ के कामों पर

टीका करनेवाले तो वहुत मिल जाते हैं, परन्तु खुद पर आ बनने पर वहुधा वहुत से भग जाते हैं।" धन्ना चमक उठा और वोला "ले! मैने तो इन सबों को छोड़ दिया है!" ऐसा कह कर वह शिघ्र उठ खड़ा हुआ और शालिभद्र के समीप जा कर वोला कि तूं कायरपन क्यों करता है? इस संसार में अपना कोई नहीं है, अतः चलो हम श्रीवीर परमात्मा के पास चलें। तव उन दोनोंने प्रभू के पास जा कर चारित्र ग्रहण किया।

अनाथी मुनिने भी दाहज्वर होते समय वतलाया था कि "हमारा कोई नहीं है। जिनके लिये यह जीव प्राण नौछावर करने को उद्यत है, जिनके लिये संसारत्याग करते समय इस जीव को अनेक संकल्प–विकल्प होते हैं, उनका सब का स्नेह अमुक नियमित हद तक ही होता है" ऐसे विचार से अपने सच्चे मार्ग का भान क्यों नहीं होता? परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है कि सूत के धागे को तोड़ते समय भी इस जीव को कभी कभी वडी कठिनाई होती है। इसका कारण भी स्पष्ट ही है। वाह्यदृष्टि से तो ये सूत के धागे दिख पड़ते हैं परन्तु वास्तव में तो ये मोहराज के वटे हुए मोटे धागे हैं और उसको तोड़ने जितना आत्मवीर्य रखनेवाले ही इस संसारयात्रा को सफल करते हैं। दूसरे जीव भी आयुष्य के प्रमाण से तो जीवित ही हैं, परन्तु जो मोहग्रन्थी का छेद करते हैं उनका फेरा तो सफल है वरना वाकी सबोंका फेरा निष्फल होता है। इस जीव को वास्तविक दुःख तो जन्म–मरण का ही है। इस दुःख से छुडा-ने में जो सर्वदा असमर्थ हैं उनके लिये अनेक प्रकार के कष्ट झेल कर धनोपार्जन करना, उनके माने हुए प्रसंग पर शोक करना, उनके माने हुए व्यवहार पर अपनी इच्छा के विपरित

भी कार्य करना और भवदुःख मिटानेवाले की संगती करने की अभिलाषा हो उस समय वे अनेक प्रकार की अन्तराय दें उनको भी जैसे तैसे सहन करना नितान्त अनुचित है। संसार में तो अषाढ़ाभूति, नंदिषेण और आर्द्रकुमार जैसे प्राणी भी होते हैं, जो ससार में फँसे हुए होने पर भी समय के उपस्थित होने पर ससार को मोक्षसाधन बतलाकर तथा उसको जीत कर अपने वशीभूत कर लेते हैं; और गजसुकुमाल, नेमनाथजी तथा स्कन्दकाचार्य जैसे प्राणी भी होते हैं जो ससार से डर कर उसके सम्बन्ध में भी नहीं आते हैं। इन दोनों प्रकार के प्राणियों ने ससार का वास्तविक स्वरूप देख लिया है, इन दोनों में से कौनसा वर्ग आदरणीय है, यह विचारना अपने सयोग और मनोबल पर निर्भर है, परन्तु एक बात तो दोनों वर्गों में से सामान्यतया अनुकरणीय है और वह यह है कि ससार का सम्बन्ध त्याज्य है, सबन्धियों के निमित्त भवदुःख में भटकते रहना मोह का खेल तथा वास्तविक वस्तुस्वरूप का अज्ञान है। सयम् प्राप्त करने की शक्ति न हो तथा इच्छा न होती हो उसको उसे प्राप्त करने की अभिलाषा रखनी चाहिये और "गृह-जीवन" में भी सत्य व्यवहारयुक्त अनुकरणीय देशचारित्र को धारण करना चाहिये। आश्रितों के माने हुए श्रेय के लिये नहीं अनन्त भव तक महादुःख देनेवाले व्यवहार का आचरण करना चाहिये। स्वार्थसाधन में रक्त रहने के उपदेश को पुष्ट करते हुए बिना कारण उसमें लिप्त नहीं रहने का यहां उपदेश किया गया है। यह समताप्राप्ति का चौथा साधन है ॥ ३३ ॥

समताद्वार का उपसंहार। रागद्वेष के त्याग का उपदेश.

सचेतनाः पुद्गलपिंडजीवा,
अर्थाः परे चाणुमया द्वयेऽपि।
दधत्यनंतान् परिणामभावां-
स्तत्तेषु कस्त्वर्हति रागरोषौ ॥ ३४ ॥

" पुद्गल पिंड और अधिष्ठित जीव-सचेत पदार्थ हैं और परमाणुमय अर्थ (पैसा) आदि अचेत पदार्थ हैं। इन दोनों प्रकार के पदार्थों में अनेक प्रकार के पर्यायभाव-पलटभाव आते रहते हैं, इससे उनपर राग-द्वेष करने के योग्य कौन है? ॥ ३४ ॥ " उपजाति

विवेचन—स्त्री, पुत्र, सगे, सम्बन्धियों आदि सब मनुष्यों के समान पोपट और कौआ, सर्प और नेवला, मगरमच्छ और सोनेके पंखवाला मच्छ, विच्छु और तीड़, कीड़ी और मक्खी, शंख और जला आदि सर्वों के शरीर पुद्गल के बने हुए होते हैं। एक ही खान में से निकलने के बाद सोना, चांदी, लोहा आदि के समान घर का सब सुन्दर फरनीचर अचेत है जीव रहित पुद्गल है। इन सब सचेत और अचेत पदार्थों से बारम्बार पर्यायभाव आते रहते हैं। जीव बारंबार देवपन, मनुष्यपन, तिर्यंचपन और नारकीपन आदि को प्राप्त होता रहता है जिसके इस स्वभाव का इस अधिकार के दो-चार स्थान में प्रसंगवश रूपान्तर से वर्णन होचुका है। किसी समय वह प्रमाद उत्पन्न करनेवाला रूप धारण करता

है और किसी समय वह महा निंद्य कुरूप धारण करता है। इसीप्रकार अचेतन पदार्थ भी अच्छे और बुरे रूप धारण करते हैं। इसका सुन्दर दृष्टान्त सुबुद्धि नामक प्रधान से खाई के जल से बनाये हुए निर्मल रत्न में मिलता है।

एक दिन एक राजा और उसका सुबुद्धि नामक प्रधान एक अत्यन्त दुर्गंधित खाई के समीप होकर निकले। राजा को यह दुर्गंधित खाई अच्छी नहीं लगी, अतः उसने उसकी ओर से मुँह फिराया तथा प्रधान से इसके विषय में वार्तालाप भी किया। प्रधानने उत्तर दिया कि हे महाराज! पुद्गल का स्वभाव ही सुगंधी तथा दुर्गंधी देने का है, कारण कि प्रत्येक प्रमाणु में दो में से एक में गंध हुआ ही करती है। राजा को यह बात पसन्द नहीं आई किन्तु उस समय दोनों चुप हो गये। इसके पश्चात् प्रधानने उस खाई में से कुछ पानी भरा मगवाया और उस पानी को शुद्ध करवाया। फिर उसमें कतकचूर्णादि डालकर उसको दुर्गंधी रहित बनाया और कपूरप्रमुख से उसमें सुगंधी पैदा की। फिर किसी समय जब राजाने उस पानी को पीते हुए उसकी बड़ी प्रशंसा की तो प्रधानने उसकी सब हकीकत निवेदन की। इसप्रकार राजा को 'पुद्गल के विचित्र धर्मकी प्रतीति हुई।

जिन पदार्थों पर हम प्रीति करें वे पदार्थ जो सदैव एकसी स्थिति में रहनेवाले हों तो वे पदार्थ अवश्य प्रीति करने योग्य हैं। पर का सुरम्य फरनीचर खराब होजायगा, नष्ट होजायगा, टूट जायगा, सुन्दर शरीर मिट्टी में मील जायगा, उसके अन्दर रहनेवाला आत्मा भी पर्याय से अनेक भावों को प्राप्त होगा, तब फिर उसमें प्रेम किस प्रकार करना? किस पर करना? क्यों

करना ? करें भी तो उससे क्या लाभ ? इसप्रकार बारम्बार बदलनेवाले अचेत तथा सचेत पदार्थोंपर प्रेम करना अपनी शान के विरुद्ध है और नहीं करने योग्य है। इसके लिये श्री उमास्वाति महाराज भी प्रशमरति प्रकरण में लिखते हैं कि:—

तानेवार्थान् द्विषतस्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य ।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किंचिदिष्टं वा[1] ॥

'एक ही विषयों पर द्वेष करनेवाले जीव जब परिणामांतर में उन्हीं विषयों से आनंदित होते हैं तो उन्हीं पदार्थों में तल्लीन हो जाते हैं, अतः वास्तव में इस जीव के लिये कोई भी पदार्थ इष्ट एवं अनिष्ट नहीं है' यह छोटासा पद्य भी अत्यन्त अर्थगांभीर्यपूर्ण होने से विचारने योग्य है।

इसीप्रकार किसी भी जीव या अजीव पर राग-द्वेष करना अयोग्य है। यदि इसपर विश्वास रखकर चलें तो अनेक प्रकार के खटपटों का अन्त आजाना सम्भव है। इसीकारण 'वीतराग' को देव माना जाता है। वस्तु पर के राग को कम करने निमित्त स्वाभाविकतया सब वस्तु पर समभाव रखने की आवश्यकता होती है अतः समभाव प्राप्त करना सब का साध्य-बिन्दु है। समता अधिकार के उपसंहार करते हुए स्वार्थसाधन के लिये जो यह श्रेष्ठ उपाय बताया गया है सो बहुत मनन करने योग्य है। इस संसारमें वास्तविक भटकानेवाले 'राग-द्वेष' ही हैं। वे दोनों मोहजन्य अथवा मोह ही हैं, कारण कि राग-द्वेष करते समय विवेक का नाश होजाता है और चित्त समता रहित होजाता है। मोह को अनेकवार मदिरा से उपमा दी गई है क्यों

---

१ प्रशमरति श्लोक ५२ वां

कि विवेक नाश करना मोह का प्रथम कर्तव्य है। राग-द्वेष के नष्ट होजाने पर कोई कारण नहीं होता ऐसा नहीं है किन्तु प्रत्येक कार्य के करने में जो खराबी थी वह दूर होजाती है, सत्यभाव आजाते हैं और कर्तव्य अकर्तव्य का ठीक २ भान होजाता है। अतः इतना तो अवश्य करना कि किसी भी पदार्थ पर अगाढ़ राग न रक्खे और किसी के साथ वैर भी न करें, कारण कि वस्तुस्वरूप को देख लेनेपर चाहे वह जीव हो या अजीव, कोई भी राग-द्वेष के योग्य नहीं है, इस में भी अचेत पदार्थ पर राग-द्वेष करना तो अज्ञानता प्रगट करता है, कारण कि ऐसा करते समय अपना तथा उस वस्तु के स्वरूप का भान नहीं रहता। सब वस्तुओं में परिवर्तनपन होने से वस्तुतः कोई वस्तु इष्ट या अनिष्ट नहीं हो सकती तो फिर उन पर रागद्वेष करना व्यर्थ है॥ १४॥

× × × ×

यहां प्रथम समता अधिकार की समाप्ति होती है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का सार इस अधिकारमें है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में अनेक प्रयासद्वारा जिस को प्राप्त करने का उपदेश किया गया है उसकी ध्वनी का एन केन प्रकारेण समता प्राप्ति में समावेश होजाता है। ममत्वत्याग, विषयदमन, कषायत्याग, शुभवृत्ति आदि सब का साध्यबिन्दु समता है और समता का परम साध्यबिन्दु अक्षयपद (मोक्ष) है, अतः सम्पूर्ण ग्रन्थ के बीज रूप और साध्यसूचक इस अधिकार की जिस प्रकार कर्त्ताने मुख्यता मानी है उसी प्रकार उसका पूरा ध्यान रखकर उसके विवेचन करने तथा उसको बार २ घुमा-फिरा कर पक्का बनाने का लक्ष्य रखा गया है। सामान्यतया मंगलाचरण कर के समता कितनी उत्कृष्ट वस्तु है यह ग्रन्थकर्ता अब हमको बतलाता है।

इसके योग्य कौन है आदि स्पष्टतया बतला कर अपने अंतर्चक्षु उसकी ओर आकर्षित कर के अन्त में समता की वास्तविक स्थिति बताता है। समता का सामान्यतया यह ही अर्थ होता है कि चाहे जितने अनुकूल एवं प्रतिकूल संयोग क्यों न प्राप्त हों तो भी मन को विचलित न करें एवं एकसा रखें। ऐश्वर्य से आनंद और विपत्ति से शोक न प्रगट करें। चाहे जितने सुख देनेवाले संयोग क्यों न उपस्थित हो जावें किन्तु फिर भी उनसे मोहित होकर संसारमें लिप्त न हो जावें और चाहे जितनी ग्लानि उत्पन्न करनेवाले संयोग क्यों न उपस्थित हो जाय किन्तु फिर भी उनसे अस्थिर मनवाले न बनें। इसप्रकार की मनकी एकसी स्थिति को 'समता' कहते हैं। इस स्थिति को प्राप्त करने से भवदुःख मिटजाते हैं, लेकिन इसके लिये प्रत्येक पदार्थ को सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन कर के उसका और अपना वास्तविक सम्बन्ध किस प्रकार का है इसका बराबर विचार करलेना आवश्यक है। इस-प्रकार अवलोकन करने मात्र से ही वस्तु का वास्तविक स्वरूप जाना जासकता है।

यहाँ एक बात और विशेषतया ध्यान में रखने की है कि चाहे जितनी सूक्ष्म मालूम होनेवाली बाबत में भी परीक्षा किये बिना कोई कार्य्य न करें। व्यवहार के छोटे से छोटे विषय पर भी दृष्टि रखकर उसकी योग्य क़िमत लगावें। यदि उसकी परीक्षा में भूल की जावे, उसकी अधिक या कम क़िमत लगाई जावे, अथवा उसकी अवहेलना की जावे, छोटा समझ कर उस को छोड़ दिया जावे अथवा उसकी उपेक्षा की जावे तो वह सूक्ष्म बाबत भी अपने पर उसका साम्राज्य स्थापित कर लेती है। Smiles नामक अंग्रेज लेखक अपने 'The

Character ' नामक ग्रन्थ में लिखता है कि, " Never give way to what is little or by that very little, however small it may be, you will be practically governed. " और यह सत्य भी है। प्रारम्भ में साधारण आने पड़नेवाले अफीम आदि व्यसन की उस समय अवहेलना करके उपेक्षा की गई हो तो फिर धीरे धीरे वह सम्पूर्ण शरीरपर अधिकार जमा कर मनुष्य पर अपना अमविहत स्वातन्त्र्य चलाता है, अतः अवलोकन करने की टेव बारम्बार रखना और उसप्रकार की वस्तु को देख कर उस पर जय प्राप्त करना अत्यावश्यक है।

" समता " अर्थात् सब जीवों तथा वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष का अभाव। जिनकी आत्मिक मार्ग के पथिक बनने की जिज्ञासा हों उनको समता का विषय प्रथम अगत्य समानेवाला है। विषय बहुत मनन करने योग्य और विचार कर उसमें से सार निकाल लेने योग्य है। समता के बिना प्रत्येक धार्मिक क्रिया बहुत अल्प फल देनेवाली है और वह फल इतना अल्प है कि जिस फल के मिलने की अभिलाषा[1] से जो कार्य्य किया जाता है उसकी अपेक्षा से तो वह कुछ फल ही नहीं है ऐसा भी कह देवे तो कोई बुरा नहीं है, वह तो समस्त दिन भार ढोनेवाले को एक पाई मजूरी की मिलने के समान है। इसके विपरीत जब समता सहित कार्य्य किया जाता है तो उस कार्य्य में एक इस प्रकार का सौंदर्य अथवा मृदुता आजाती है कि जिस से उस कार्य्य में एक प्रकार का अपूर्व (सहज) आनंद प्राप्त होजाता है। इसका स्पष्ट ज्ञान

---

१ मोक्षप्राप्त करने की ही इच्छा हो सकती है अन्यथा पौद्गलिक इच्छा के सम्बन्ध में तो जैन शास्त्रकार निषेध करते हैं।

कराना बहुत कठिन है, कारण कि यह दृष्टान्त का विषय नहीं है, परन्तु अनुभवगम्य है। इस ग्रन्थ के अनेकों विषय अनुभव से ही जानने योग्य हैं, जिसके लिये हम निरुपाय हैं। उनका रस जिनको चखना हो उनको प्रथम उनके अधिकारी बनना चाहिये, और तब तक तो उनका जो वर्णन अधूरे शब्दों में किया गया हो उसको ही ग्रहण करना चाहिये। साकर के स्वाद का किन शब्दों में वर्णन किया जावे? चखनेवाला शिघ्र ही उसके स्वाद को जान जाता है। उसीप्रकार यह अंतरानंद अवर्णनीय, अनिर्वचनीय है। शास्त्रकार कह गये हैं कि:—

समता विन जे अनुसरे, प्राणी पुण्यकाम।
छार उपर ते लींपणुं, जाँखर चित्राम॥

इसप्रकार बिना समता के चाहे जितनी भी धार्मिक क्रियायें क्यों न करें किन्तु वे सब छार पर लीपने के सदृश हैं। जब तक भूमिका शुद्ध न की गई हो तब तक उसपर चाहें जितने भी चित्र क्यों न निकालो किन्तु वे सब व्यर्थ हैं। सब से प्रथम आवश्यकता भूमिका को शुद्ध करने की है। समता भूमिका को शुद्ध करनेका सच्चा कार्य्य करती है। भूमिका शुद्ध करने की आवश्यक्ता के संबंध में सरल बनाने की आवश्यक्ता होती है। एक चित्रकार को चित्र चित्रना हो तो प्रथम वह वस्त्र को शुद्ध करेगा, एक पत्थर की सुन्दर मूर्ति बनानी हो तो पहले उस पत्थर को एकसा बनावेगा, एक प्रतिकृति लेनी हो तो फोटोग्राफर पहले दाग रहित सेट तैयार करेगा; उसीप्रकार हृदयमन्दिर में सुन्दर भावना मूर्ति स्थापित करनी हो तो प्रथम हृदयभूमिका को शुद्ध करनी चाहिये। यदि उसमें मलीन वासनायें होगी, यदि उसमें कषायरूप कचरा होगा, यदि उसमें राग—द्वेष का

राग लगा हुआ होगा, तो भावना मूर्ति उसमें स्थिर नहीं हो सकेगी, और इसी लिये आनन्दघनजी महाराजजी सम्भवनाथजी के स्तवन में कहते हैं कि " सेवन कारण पहले भूमिका रे अभय अद्वेष अखेद " प्रथम भूमिका अर्थात् हृदय को इसप्रकार की मलीन वासनाओं से मुक्त करना और ऐसा करने का प्रबल साधन समता है। समता से जब यथास्थित वस्तुस्वरूप का बोध होजाता है तब मलीन वस्तुओं तथा मलीन भावों का परभावपन जाना जाता है और तदनुसार जब उनके त्याग करने की—उनको फेंक देने की इच्छा होती है तब भूमिका शुद्ध होजाती है और भावनामूर्ति स्थापित होजाती है। शुद्ध प्रकाश पड़ने योग्य भूमिका होजाने पर उसपर शुद्ध प्रतिबिम्ब की छाया पड़नेपर वह स्वयं प्रकाशवान होकर कार्य सम्पूर्णता प्राप्त कराती है। अतः समता जैसे प्रबल साधन के उपयोगद्वारा भूमिका में से जो कचरा हो उसको निकाल फेंकना चाहिये।

समता अर्थात् ' स्थिरता ' हम प्राकृत पुरुषों के मन कितने अधिक अस्थिर—चंचल होते हैं इसका ठीक भान कराने वाली है। नवकारवाली गिनने के प्रारम्भ में एकाध नवकार तो अदर ध्यानपूर्वक बोल लिया जाता है। पश्चात् मन के दो विभाग[1] होजाते हैं। मन की विचित्र गति होजाती है। हाथ अपना कार्य करता रहता है अर्थात् मनके एक के पश्चात् बराबर एक

[1] उपयोग समयांतर होने से पलटते रहते हैं, जिसका हम को भान नहीं है इसलिये ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः दो विभाग नहीं हो सकते हैं, परन्तु उपयोग बदलते रहते हैं। क्रिया के दो विभाग हो सकते हैं। इस द्रव्यानुयोग के साथ मन के व्यापार का गहन विषय है, इसलिये यहां उसकी चर्चा नहीं की गई है।

गिरते रहते हैं। मनके एक विभाग में अस्पष्टतया नवकार का जाप बराबर जारी रहता है जो बहुधा Mechanical (यंत्रवत्) होता है, और इसी समय दूसरे विभाग में मन दुनियाँ के कई विभागों में भ्रमण करने को निकल पड़ता है। इसीप्रकार की स्थिति प्रतिक्रमण करने समय भी अनुभव होती है। अभ्यासद्वारा यह स्थिति सुधर सकती है। धीरे २ एक वस्तु में मन को स्थिर कर सकते हैं और इसके प्राप्त होने पर ही कार्यसिद्धि होती है। मन की एकाग्रता प्राप्त करने में यमनियमादि की बहुत आवश्यकता होती है। जिस समता साधन का इस ग्रन्थ में वर्णन किया गया है वह बहुधा योग का विषय है और उसके लिये एक अलग ही लेख लिखने की आवश्यकता होती है। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि स्थिरता प्राप्त करने से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं और वे ही समता हैं।

समता के ऐसे विशाल अर्थ की ओर ध्यान आकर्पण करने के पश्चात् ग्रन्थकार समता को मोक्ष का अंग होना सिद्ध करता है। समता रहित अनुष्ठान लगभग फल रहित होते हैं ऐसा हमने उत्कृष्ट फल के अपेक्षा में देख ही लिया है जिससे यह विभाग तो स्वतः सिद्ध होजाता है, अतः अब ग्रन्थकार इस विषय पर विशेष विवेचन न कर, समताप्राप्ति के साधनों की ओर हमारा ध्यान आकर्पित करता है। यह विषय चार भागों में विभक्त किया जासकता है। साधन अनेक प्रकार के हैं और उनका सम्पूर्ण ग्रन्थ में अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके लिये कौनसा साधन अनुकूल होगा उसे वह अपने आप अपनेतई विचार ले। इस अधिकार मे समताप्राप्ति के मुख्य चार साधन बताये गये हैं।

१ समताप्राप्ति का प्रथम साधन मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य ये चार भावना माना है। ये चारों भावनायें बहुत उपयोगी हैं और जीवों के पारस्परिक सम्बन्ध को बतानेवाली होने से ये हृदय को आर्द्र करती हैं। इसका विशेष विवेचन ग्रन्थ के विवेचन लिखते समय किया गया है वहां से पढ़लेवें। दूसरी बात समार भावना अथवा भव भावना है जिसके सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में आगे विवेचन किया जायगा, प्रारम्भ में इन अगत्य की चार भावनाओं पर विशेषतया ध्यान खिचकर सूरिमहाराजने बहुत उपकार किया है। इन चार भावनाओं के भाने से अनेकों जीवों को समता प्राप्त होजाना सदेह रहित बात है।

२ समताप्राप्ति का दूसरा साधन इन्द्रियविषयों पर ममत्व रखना है। सांसारिक सर्व विषयों के साथ इस जीव का किस प्रकार का सम्बन्ध है उसके विचार करने से इस साधन की उपयोगिता अच्छी प्रकार समझ में आजाती है। बाह्य दिखावट से वस्तुओं में फँसकर अनुकूल विषयों में लिप्त होजाने से कर्त्तव्यविस्मरण होता है, यह अनादि अभ्यासद्वारा वस्तुओं का सहज धर्म होना जान पड़ता है, परन्तु उपरोक्त सूक्ष्म विचारों से, सूर्य से अंधकार के नाश होजाने समान, अपने आप नाश होकर विवेक दिवस का सुप्रभात सर्वत्र सर्व दिशाओं में प्रकाशित हो जायगा।

३ समता का तीसरा साधन वस्तु स्वभाव देखना है। पौद्गलिक वस्तुओं का जीव के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है इसके विचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। जब तक इसप्रकार का ज्ञान नहीं होजाता तब तक जीव अनेकों मूर्ख

करता रहता है। जो वस्तु कभी अपनी नहीं हो सकती उसको अपनी मानता है, उस पर प्रेम करता है, उसके संयोग से आनंदित होता है, उसकी प्राप्ति के प्रयास में शक्ति का उपयोग करता है और उसके वियोग से दुःखी होता है। सगे सम्बन्धी, पुत्र, स्त्री आदि का सम्बन्ध भी यहां विचारे योग्य है और इसीप्रकार प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध भी अवलोकन करने योग्य है। इस सम्बन्ध की स्थिति और सुख देने की अल्पता अथवा अभाव को ध्यान में रखते हुए उस सुख में मस्त न होकर 'स्व' क्या है इसको विचारना तथा जानना समताप्राप्ति का रामबाण उपाय है। इस विषय के साथ साथ अनेक प्रकार की आत्म-शिक्षा भी दीगई हैं।

४ समताप्राप्ति का चोथा साधन स्वार्थ प्राप्त करने में रक्त रहना है। यह जीव जब तक वस्तुओं की वास्तविक स्थिति को नहीं जानता तब तक व्यर्थ प्रयास कर के सुख नहीं है वहां से सुख मिलने का प्रयास करता है; जिसके लिये शास्त्रकार सब प्राप्त हुए अथवा होनेवाले पदार्थों को स्वप्न अथवा इन्द्रजाल में प्राप्त हुए पदार्थों से उपमा देते हुए इस समानता को मिटा-कर स्वार्थसाधन करने निमित्त प्रेरणा करता है। स्नेही वर्ग में फँस कर उनके लिये जो महाप्रयास किया जाता है उसका कुछ भी फल नहीं मिल सकता है, कारण कि सब प्रयास धन-प्राप्ति के लिये किया जाता है, और यह प्रवृति सदैव निर्हेतुक और खोटी है; जिससे इस जीव को किसी भी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता वरन् जब यह जीव संसाराटवी में भूलकर भ्रमण करता है तब उसको मार्ग बताने के लिये तथा महा-भयंकर जानवरों से उसकी रक्षा करने के लिये भी उसके स्नेही

नहीं आते हैं। इसीप्रकार जिन पदार्थोंपर वह स्नेह करता है वे भी अपने रूप में स्थिर नहीं रहती, बारबार बदलती रहती हैं और नाशवत हैं। ऐसे पदार्थों पर प्रीति करके जो आत्म अवनति की जाती है उसके स्थान में यदि स्वार्थसाधन किया जाय तो अत्यन्त कल्याण के होने की सम्भावना है।

इसप्रकार समताप्राप्ति के अनेक साधन इस अधिकार में बताये गये हैं। प्रत्येक वस्तु के निरीक्षण करने की आदत डालने की आवश्यकता है। वस्तु को देखकर उसके बाह्य निरीक्षणमात्र से कुछ लाभ नहीं है, परन्तु यह क्या है ? कहां से आई है ? उसका हमारे साथ क्या सबंध है ? कितना है ? कहां तक का है ? आदि के विचार करने से समता की प्राप्ति होती है, कारण कि इस प्रणालीद्वारा कार्यकर्ता को आत्मजागृति प्राप्त होती है। आत्म-निरीक्षण (Self Examination) का अचिंत्य प्रभाव बहुत लक्ष्य में रखने योग्य है। इस काल में ऊपर ऊपर से बांचजाने से अनेकों विषयों में गहरे विचार करने की टेव नहीं पड़ती जिससे विशेष लाभकारी विषय भी थोड़ासा आनन्द दीखाकर गायब होजाता है, परन्तु ऐसे सामान्य विचार को छोड़कर जब आत्म-निरीक्षण करने की अभिलाषा प्रबल होती है तब आत्मतत्त्वगवेषणा होती है और साम्यबिन्दु समीप आ जाता है। वस्तु के विचारने की टेव पड़ जाने पर मन की चपलता मिट जाती है, वह विशेष रूप से स्थिर होता जाता है और ऐसा बारंबार होने पर अनुभव की जागृति होती है, और एक बार अनुभवज्ञान प्राप्त होजाने पर फिर विशेष कार्य करने की आवश्यता नहीं रहती है। बहुत पढ़ने के स्थान में ध्यानपूर्वक थोड़े से ग्रन्थ पढ़ना, पढ़ कर विचार करना, विचार

करने के बाद उसमें बताये हुए भावों का पृथक्करण करना, पृथक्करण करके अरस्परस उसका सम्बन्ध लगाना और उसका रहस्य न हठ सके इसप्रकार स्थापन करना योग्य है। इसीप्रकार सुनने के सम्बन्ध में, कार्य करने के सम्बन्ध में और चलने-फिरने के सम्बन्ध में बराबर नियमपूर्वक पृथक्करण किया जाय और आंतरतत्त्व सम्बन्ध आदि की स्थापना की जाय तो अवश्य कृतिव्यवहार में बहुतसा हेरफेर होकर आत्मानुभव जागृत होगा; अतः भूमिकाशुद्धि के प्रबल उपाय निमित्त समता और उसके चारों साधनों को धारण करना चाहिये और ऐसा करने के लिये विशेषरूप से आत्म-निरीक्षण विचारपूर्वक नियमसर हरसमय योग्य अवसर ढूंढ़कर अवश्य करना चाहिये।

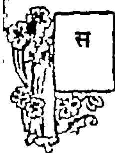
यह समता अधिकार सम्पूर्ण ग्रन्थ की कुन्जी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में समताप्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के साधन बताये गये हैं। इस अधिकार के प्रत्येक श्लोक में से ऐसी ध्वनि स्फुरित होती है। मानो मुनिसुन्दरसूरिजीने इस ग्रन्थ को अपने सम्पूर्ण जीवन के अनुभव के पश्चात् उत्तरावस्था में लिखा हो। इसका प्रत्येक श्लोक अत्यन्त विचार करने योग्य है। इस सम्पूर्ण अधिकार में एकसी समता भरी होनी जान पड़ता है। सूरि महाराज के इस उच्च आशय को लक्ष्य में रखकर उसके योग्य ही विवेचन किया गया है। समताप्राप्ति निमित्त सर्व प्रकार की शक्तियों का उपयोग करना इस ग्रन्थ के पढ़ने का अद्वितीय प्रणाम होना चाहिये। 'समता' सम्पूर्ण ग्रन्थ का रहस्य है जिसकी स्पष्टता पहले अधिकार से प्रगट है। 'साम्यसर्वस्व' अधिकार भी ग्रन्थ की समाप्ति करते हुए प्रगट करता है कि ग्रन्थ की आदि से अंत तक एक ही विषय है। उसकी पुष्टि

के लिये बीच बीच में दूसरे अधिकार लिखे गये हैं, परन्तु साम्य को विशेष रूप से लक्ष्य में रक्खा गया है। इस विषय के लिये जो किञ्चित्मात्र भी प्रेम जागृत हुआ हो, ममतासमा थोड़ी सी भी कम हुई हो अथवा कम होने की सम्भवना हो तो सुज्ञ पाठकों से प्रार्थना है कि वे अब और आगे आनेवाले अधि-कारों को पढ़ने की कृपा करें।

इति सविवरणः समतानामा प्रथमोऽधिकार



अथ द्वितीयः स्त्रीममत्व–मोचनाधिकारः



समता के रहस्य को समझ लेने के पश्चात् उसके प्राप्त करने के साधन की ओर स्वाभाविकतया ध्यान आकर्षण होजाता है। प्रथम साधन मोह–ममत्व का त्याग करना है। जनसमाज के अवलोकन करनेवाले को अनुभव हुआ है कि अनेक प्रकार के ममत्व में भी स्त्री का मोह तथा मेरापन विशेष बलवान होता है, अत यहाँ सब से प्रथम इसीपर व्याख्या की जाती है। दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें अधिकार का भी परस्पर सम्बन्ध है।

पुरुष की गर्दन में पड़ी हुई शिला

मुह्यसि प्रणयचारुगिरासु,
प्रीतितः प्रणयिनीषु कृतिं स्वम्।
किं न वेत्सि पततां भववार्धौ,
ता नृणां खलु शिला गलबद्धाः ॥ १ ॥

---

१ कृतिन् [illegible] पातालम् [illegible] ।

"हे विद्वन् ! जो स्त्रियों की वाणी स्नेह से तुझे मधुर जान पड़ती है उनपर प्रीति से तूं मोह करता है; परन्तु भवसमुद्र में पड़े हुए प्राणियों के लिये वे गर्दन में बाँधे हुए पत्थर के समान हैं। ऐसा तूं क्यों नहीं जानता?"

स्वागतावृत.

विवेचन—अनादि अभ्यास से मोहराजा की आज्ञा से यह जीव बाहर के सुन्दर देखाव तथा भाषण से स्त्री पर मोहित होजाता है, फिर उसको न तो विवेक ही रहता है न लज्जा ही। स्त्री का मोह उसको कितना प्रतिबंध करनेवाला है इसका यदि वह किञ्चित्मात्र भी विचार करे तो शिघ्र समझ में आसकता है। सत्तागत अनन्त ज्ञानवाले जीवकी यह ठपकापात्र स्थिति ध्यान में रखते हुए उसको जागृत करने निमित्त 'विद्वान्' के उपनाम से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि–हे भाई! दरिया में डूबते हुए प्राणी के लिये लकड़े या ऐसे कोई अन्य हलके पदार्थ की अवलंबन के लिये आवश्यक्ता होती है कि जिससे वह तैर सके; परन्तु उसके स्थान में यदि उसकी गर्दन में पत्थर बाँध दिया जावे तो वह दरिया में डूबता ही जाता है। भव (संसार) समुद्र है, और उसमें स्त्री यह जीव के गले में बंधी हुई शिलारूप होकर डूबोती हैं। एक भव में एक समय के सम्बन्ध मात्रसे ही यह इतना कर्मबंध कराती है कि जिससे अनन्तभव तक भटकना पड़ता है। इसीप्रकार वैराग्य शतककार भी कहते हैं कि:–

मा जाणसि जीव तुमं पुत्तकलत्ताइ मज्झ सुहहेऊ।
निउणं बंधणमेयं, संसारे संसरंताणं॥

'हे जीव! पुत्र, स्त्री आदि मेरे सुख के कारण हैं ऐसा तूं विचार

भी न कर, कारण कि संसार में भ्रमण करनेवाले इस जीव के लिये ये पुत्र और स्त्री आदि सबसे दृढ़ बंधनरूप हैं।' मोह का ऐसा स्वरूप समझ कर जैसे बने तैसे मोह को कम करने और संसार पर उदासीन भाव रखने का यहा उपदेश किया गया है शृंगार के विषय में गाढे आलिंगन या वमन करना यह उत्कृष्ट रस शृंगार के कवि गिनते हैं, वे वास्तव में क्या हैं? इसका सच्चा भान कविने यहां कराया है। हीनोपमान होजाय इसका पूरा पूरा ध्यान रखते हुए यथास्थित स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है।

स्त्रियों में होनेवाली अरमणीयता

चर्मास्थिमज्जान्त्रवसास्त्रमांसामेध्या
द्यशुच्यस्थिरपुद्गलानाम्।
स्त्रीदेहपिंडाकृतिसंस्थितेषु,
स्कंधेषु किं पश्यति रम्यमात्मन्? ॥ २ ॥

"स्त्री के शरीर पिण्ड की आकृति में रहनेवाले चमड़ी, हड्डी, चरबी, अन्तड़ी, मेद, लोहू (रुधिर), मांस, विष्टा आदि अपवित्र और अस्थिर पुद्गलों के समूह में हे आत्मन्! तू क्या सुन्दरता देखता है?"

इंद्रवज्र

दूसरी और तीसरी गाथा का विशेष विवेचन एक साथ नीचे किया गया है।

अपवित्र पदार्थों की दुर्गंध। स्त्री शरीर का सम्बन्ध.

विलोक्य दूरस्थममेध्यमल्पं,
जुगुप्ससे मोटितनासिकस्त्वं ।
भृतेषु तेनैव विमूढ! योषावपुःषु,
तत्किं कुरुषेऽभिलाषम् ॥ ३ ॥

"हे मूर्ख! दूरी पर होनेवाली जरासी भी दुर्गंधित वस्तुओं को देखकर तूं नाक बंद कर के घृणा करता है; तो फिर उसीप्रकार दुर्गंधी से भरे हुए स्त्रियों के शरीर की तूं क्यों अभिलाषा करता है?" इन्द्रवज्रा

भावार्थ—मल्लीकुंवरी से विवाह करने की अभिलाषा से आये हुये छ राजाओं को प्रतिबोध कराने निमित्त उसने अपने स्वशरीर प्रमाण पूतली बनाई। फिर उसमें उत्तम उत्तम खाने के पदार्थ भरकर राजाओं के समक्ष उपस्थित की, लेकिन जब उसने बोलना आरम्भ किया तो चारों ओर दुर्गंधी फैलने लगी, जिससे सब राजाओं को प्रतिबोध हुआ और उससे सब को भान हुआ कि शरीर में तो मांस, रुधिर आदि गटर-खाना ही भरा हुआ है; केवल उन अपवित्र पदार्थों पर चमड़ी आच्छादित है जिससे वह सुन्दर दिखाई देता है। "नगरखाळ परे नित्य वहे, कफ मल, मूत्र भंडारों रे, तीम द्वारो रे; नर नव द्वादश नारीनां ये।" इसीप्रकार प्रवाहबंध मलमूत्र चलते ही रहते हैं, और इसी लिये भर्तृहरिने भी कहा है कि—'मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतं' स्त्रियों का रूप तो तद्दन निंद्य है, वारं-वार निंद्य है फिर भी विषय में मस्त हुए कल्पित ऐहिक सुख के आसक्त कवि उनके देह की भूरि भूरि प्रशंसा करके उनको आकाश

में भवा देते हैं और ससार में मग्न प्राणी इन कवियों की प्रति भासक्ति का वर्णन करते हैं, परन्तु सर्व प्रकार का अनुभव करके राजर्षि भर्तृहरि कहते हैं कि–" इसमें कुछ भी सार नहीं है।"

" देखी दुर्गंधी दूरथी, तूं मोह मचकोडे माये रे, मवि जाये रे, तेथे पुद्गले तुम तनु मर्युं रे [1] " ऊपर के श्लोक के भावका इस में समावेश हो जाता है। कूडेकचरे की गाडी को दूर से आते हुए देख कर मुँह पर रूमाल लगा लिया जाता है, और विष्टा में पैर भर जाने पर भी हाथ धोया जाता है तो फिर वह बुद्धि और आगे क्यों नहीं बढ़ती ? विपर्यासपन इसी बात से स्पष्ट हो जाता है। विपर्यास होने पर विवेक नष्ट हो जाता है। मल्लिनाथजी का दृष्टान्त इस विषय में बहुत उपयुक्त है, और उसमें से बहुत कुछ सार लेने योग्य है।

स्त्रीमोह से इस भव परभव में होनेवाले फलों का दर्शन.

अमेध्यमांसास्त्रवसात्मकानि,
नारीशरीराणि निषेवमाणाः।
इहाप्यपत्यद्रविणादिचिंता–
तापान् परत्रेयूति दुर्गतीश्च ॥ ४ ॥

" विष्टा, मांस, रुधिर और चर्बी आदि से भरे हुए स्त्रियों के शरीर का सेवन करनेवाले प्राणी इस भव में भी पुत्र और पैसा आदि चिन्ताओं का ताप भोगते हैं और परभव में दुर्गति को प्राप्त होते हैं। "   उपजाति

1 पात्र प्रतीति का पद

विवेचन—ऊपर लिखेनुसार स्त्रियों का शरीर अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है इसलिये सेवन करने योग्य नहीं है, फिर भी कामांध जीव उसका सेवन करते हैं और जिससे उनको अनेकों कष्ट भोगने पड़ते हैं। खराब लड़का हो तो उससे अथवा बहुत संतति होनेसे भी पुत्र लालनपालन की अनेक चिंता होती हैं और उनके तथा उस स्त्री के लिये पैसा भी अधिक कमाना पड़ता है। अपने उदरपोषण के उपरान्त दूसरों का उदरपोषण करना पड़ता है और अपनी मृत्यु के पश्चात् वारसों के लिये छोड़ जाने निमित्त भी इकट्ठा करना पड़ता है, जोड़ना पड़ता है और इसप्रकार अपना सम्पूर्ण भव उपाधिपूर्ण होता है। (पुत्र तथा धन की कैसी दशा है इसके लिये आगे आनेवाले तीसरे तथा चौथे अधिकारों को पढ़िये।) एक स्त्रीके लिये कैसी दशा होती है यह कपिल केवड़ी के दृष्टान्त से स्पष्ट ही है। कपिल अभ्यासावस्था में एक सेठकी मदद से किसी बाई के यहाँ भोजन किया करते थे, वहाँ उसके साथ उनकी आसक्ति हो गई और शरीरसम्बन्ध होनेपर वह गर्भवती हुई। प्रसूतिकर्मके लिये जब पैसोंकी आवश्यक्ता हुई तो वहाँ का राजा जो प्रातःकाल पहले जानेवाले ब्राह्मण को दो माशा सोना दिया करता था उसके पास जाकर स्वर्ण प्राप्त करनेका विचार किया। तदनुसार पिछली रात्री को बहुत जल्दी उठकर राजा के महल की ओर जाने को निकल पड़ा। चोकीदारोंने उसे चोर समझ कर पकड़ लिया, और प्रातःकाल जब राजाके सामने उसको खड़ा किया तो उसने अपनी सब हक़ीकत राजा से निवेदन की। उसकी सत्यता से राजा प्रसन्न हुआ और कहा कि जो तेरी इच्छा हो सो मांग। कपिल तब राजा की आज्ञा से अशोकवाटिका में जाकर

विचार करने लगा कि यदि दो मासा स्वर्ण मांगूंगा तो उससे केवल स्त्रीके लिये कुछ वस्त्र ही आयेंगे लेकिन सब नहीं आवेंगे, अतः हजार मोहरें मांगू ? नहीं, नहीं, उनसे भी सब गहने नहीं बन सकेंगे, अत पचो लाख मोहरें मांगूंगा। इस-प्रकार बढ़ते बढ़ते सब मांगने की हद न रही तो फिर विचार किया कि अरे ! दो मासे सोनेके लिये निकले हुए को करोड़ सोने की मोहरों से भी सन्तोष नहीं होता ! अतः इस तृष्णा को धिक्कार है ! ऐसे विचारोंसे वहीं केशों का लोचन करडाला। इस दृष्टान्त से केवल यही देखना है कि एक स्त्रीके सम्बन्ध मे ही तृष्णा कितनी बढ़ जाती है। इसके लिये ऐलापचीकुमार का चारित्र भी प्रसिद्ध है। स्त्रीमोह से उसको बहुतकुछ सहन करना पड़ा। दुनियाँ में जरासी नजर डालो तो शिघ्र मालूम होगा कि जहाँ स्त्री है वहाँ घर है और जहाँ घर है वहाँ बन्धु। संसार में पड़नेवालों और पड़े हुओं को इसपर बहुत विचार करना योग्य है।

इस भव में इतनी झञ्झटें तथा दुःख उठाने के उपरान्त परभवमें भी बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं। मोह से मग्न होनेवालों की नरकादि गति में क्या दशा होती है यह सहज ही समझा जा सकता है।

स्त्री शरीर में क्या है उसके विचारने की आवश्यक्ता.

अंगेषु येषु परिमुह्यति कामिनीनां,
चेतः प्रसीद विश च क्षणमंतरेषाम्।
सम्यक् समीक्ष्य विरमाशुचिपिंडकेभ्य-
स्तेभ्यश्च शुच्यशुचिवस्तुविचारमिच्छत्॥५॥

"हे चित्त! तूं स्त्रियों के शरीरपर मोह करता है; लेकिन तूं (अस्वस्था छोड़कर) प्रसन्न हो और जिन अंगोंपर मोह करता हैं उनमें प्रवेश कर। तूं पवित्र और अपवित्र वस्तु के विचार (विवेक) की इच्छा रखता है उसमें बराबर अच्छी तरह विचार करके उस अशुचि के ढेर से छूटकारा कर।" वसंततलिका.

विवेचन—यह प्राणी बाहर के दिखावे मात्र से फँस जाता है। कर्त्ता कहता है कि तुझे शरीर के जिस भागपर मोह होता हो उसके अन्दर जरा गहरा उतर और यह विचार कर की उसमें क्या है?। किञ्चितमात्र भी विचार कर लेगा तो कभी भी मोह न होगा। रावण जैसेने भूल की तो इसी विचार न करने के परिणाम से और नेमनाथ जैसेने संसार छोड़ दिया तो भी इसी विचार करने के परिणाम से। तुझे प्रथम से ही समझाया गया था कि स्त्री सम्बन्ध से अनेक प्रकार की उपाधि अवश्य बढ़ेंगी। अनेकों महात्मा संसार का परित्याग करके जो जंगल में चले जाते हैं वह इस बन्धन को तोड़ने के लिये ही है। स्त्रीके रूप में आसक्त हुए मनुष्यरूप अनेक पतंगियें बाहरके मोह में फँसकर सुन्दर वस्त्राभूषण से भूषित परस्त्रीरूप दीपक की झाल में पड़ते हैं और फिर उनकी क्या दशा होती है यह किसी से छिपी हुई नहीं है। शृंगार के पोषण करनेवाले कवियों की कवित्वशक्ति चाहे जितनी प्रशंसनीय क्यों न हो, लेकिन उनकी मननशक्ति का यहीं अन्त होजाता है। कोई इसी-प्रकार के कारणों से शान्तरसकी रसों में गिनती करने से मना

१ उक्ता वसंततलिका तभजा जगौगः वसन्ततलिका में चोदह अक्षर होते हैं। — — ᵕ — ᵕ ᵕ ᵕ — ᵕ ᵕ — ᵕ — —

करते हैं। कवि भी मनुष्य ही थे और मनुष्य के कोमल हिस्से में मोह निवास करता है, उसके वशीभूत होजाने से मोह का उसपर अपनी शक्ति का जमजाना स्वाभाविक ही है।

इस श्लोक का भाव विचारने योग्य है। संसार में भ्रमण करानेवाले कर्मों में मोहनीय कर्म बहुत तीव्र है, बलवान है और इसका सामना करना भी जरा कठिन है। उपमितिभव प्रपंच कथा के कर्त्ता सिद्धर्षिगणि और इसीप्रकार अन्य महात्मा भी कर्मों के अन्दर इसको राजाकी पदवी देते हैं और अन्य कर्मों को इसके प्रधान, सिपाही सदृश बतलाते हैं। धर्म तथा धन की हानि करनेवाले मोहनीय कर्म के प्रभाव से धर्म तथा धन से रहित होकर यह जीव संसार में व्यर्थ भटकता रहता है। संसार को छोटा बनाने, भवके फेर मिटाने, स्वस्थान प्राप्त करने और निरतिशय आनंद मिलने के लिये शरीरपर से ममत्व को कम करने का यहाँ उपदेश किया गया है; सांसारिक भोगों को भोगनेवालों को भी उसका परित्याग करते समय शालिभद्र और स्थूलिभद्रादि के चरित्रोंको विचारना और संसार में न पड़े हों उनको पढ़ने से पहिले नेमनाथ और मल्लिनाथादिक के चरित्रों को विचारना अत्यावश्यक है।

भविष्य की पीड़ाओं का विचार करके मोहको कम करना

विमुह्यसि स्मेरदृशः सुमुख्या,
मुखेक्षणादीन्यभिवीक्षमाणः ।

समीक्षसे नो नरकेषु तेषु,
मोहोद्भवा भाविकदर्थनास्ताः ॥ ६ ॥

" विकसित नयनवाली और सुन्दर मुखवाली स्त्रियों के नेत्र, मुख आदि को देखकर तूं मोह करता है, परन्तु उनके मोहसे भविष्य में उत्पन्न होनेवाली नरककी पीड़ाओं का विचार तूं क्यों नहीं करता ? " उपजाति.

विवेचन—दूध पीने को लालायित बिल्ली दूध ही को देखती है, लेकिन शिरपर लकड़ी लिये खड़े हुए पुरुष को नहीं देखती; झूठा दस्तावेज बनानेवाला तात्कालिक लाभ को ही देखता है लेकिन न्यायासन से होनेवाले न्याय के परिणाम स्वरूप जेलयातना की ओर दृष्टि नहीं दौड़ाता है; इसीप्रकार मोहांध प्राणी स्त्रीके सुन्दर अवयव और रेशमी साड़ी को ही देखते हैं, परन्तु उसमें इस भव और परभव में होनेवाली पीड़ाओं का विचार नहीं करते है ! नरक के दुःखों का विचार करना भी कठिन है । उसकी शीत, उष्ण आदि दस प्रकारकी वेदनाओं का स्वरूप शास्त्र में से पढ़ते समय कड़े से कड़े हृदय-वाला पुरुष भी काँप उठता है। क्षेत्रवेदना के उपरान्त परमाधामी-कृत वेदना भी बहुत कठिन होती है । इसके भी उपरान्त तीसरी नारकी जीव परस्पर अनेक उपघात करते हैं, वे अन्योन्यकृत वेदना भी बहुत कठोर है । इसप्रकार क्षणमात्र के सुखके लिये दीर्घकाल के महादुःख को भोगना पड़ता है, अतः हे भाई ! विचार कर । (इसी विषय पर सम्पूर्ण शृंगार वैराग्यतरंगिणी नामक ग्रन्थ लिखा हुआ है, जिसको पढ़ना अत्यावश्यक है।)

स्त्रीशरीर, स्वभाव और भोगफल का स्वरूप.

> अमेध्यभस्त्रा बहुरंध्रनिर्यन्
> मलाविलोद्यत्कृमिजालकीर्णा ।
> चापल्यमायानृतवंचिका स्त्री,
> संस्कारमोहान्नरकाय भुक्ता ॥ ७ ॥

" विष्ठासे भरी हुई चामड़े की थैली, बहुत से छिद्रों में से निकलते हुए मल (मूत्र-विष्ठा) से मलीन, योनी में उत्पन्न होनेवाले कीड़ो से परिपूर्ण, चपलता, माया और असत्य (अथवा मायामृषावाद) से ठगनेवाली स्त्रियों का पूर्व संस्कार के मोह से नरक में जाने के लिये ही भोग किया जाता है । " उपजाति

विवेचन—स्त्रीशरीर का स्वरूप ऊपर बहुत विवेचनपूर्वक बतला दिया गया है । इस श्लोक में कहा गया है कि स्त्री विष्ठा की थैली है । " यकृत्, विष्टा, श्लेष्म, मज्जा और हड्डियोंसे भरी हुई, और स्नायुओं से जकड़ी हुई, बाहर से रम्य प्रगट होनेवाली स्त्रियें चमड़े की थेली हैं । " वैद्यक शास्त्रानुसार स्त्रीके शरीर के ग्यारह–बारह द्वार सदैव बहते रहते हैं । टीकाकार वात्सायन शास्त्र में से श्लोक लेकर बताते हैं कि, ' सूक्ष्म, मृदु, योनी के मध्य भाग में रहनेवाले और लोहु में से उत्पन्न होनेवाले कृमी स्त्रियों के गात्र उत्पन्न करते हैं । स्त्रीशरीर का अपवित्र होना इस छोटीसी हकीकत से प्रगट है । यहाँ लौकिक शास्त्रों से भी इसे अपवित्र सिद्ध कर दिया गया है । विचार करनेवाले को तो शास्त्र की भी आवश्यकता नहीं होगी, कारण कि यह बात

विचारमात्र से समझ में आसकती है। शास्त्र में देखा जावे तो कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य्य योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश में लिखते हैं कि मुमुक्षु जीव रात्री में निद्रा से जगजाय तो विचार करे कि विष्टा, मल, मूत्र, श्लेष्म, मज्जा, स्नायु और अस्थि की बनाई हुई, बाहर से सुन्दर जान पड़नेवाली स्त्रियें चमड़े की थैलियें हैं। कदाच जो इस थैली में हो उसको बाहर निकाला हो अथवा थैली को उल्ट दी हो तो उसका इच्छुक पुरुष शियालों और गिद्धों से उसकी रक्षा करने को खड़ा रहे। (क्योंकि ये पदार्थ ही ऐसे हैं कि पशु इनसे अपने आप खिचे चले आते हैं) स्त्रीरूप शस्त्र से ही जब कामी पुरुष जीत लिये जाते हैं तो फिर कामदेव क्यों तद्दन नामका शस्त्र हाथ में नहीं उठाता, अर्थात् कामी के पास चाहे किसी भी प्रकार का शस्त्र क्यों न हो जीत लिया जायगा, उसको जीतने के लिये बड़े शस्त्रकी आवश्यकता न होगी।

स्त्रियों में चापल्य, माया आदि दोष स्वाभाविक ही होते हैं। नैतिक शास्त्र में कहा है कि—" असत्य, साहस, माया, मूर्खता, लोभीपन, अपवित्रपन, निर्दयपन इतने दोष स्त्रियों में स्वाभाविकतया ही होते हैं। अपना अनुभव है कि पुराने संसार में अहमदाबादी कीनखाब सुन्दर वस्त्र होता है जब कि उन्नत संसार में फ्रेन्च सील्क (French Silk.) सुन्दर वस्त्र होता है; लेकिन बात तो एक ही है। वर्तमान समय के खर्चीले जीवन में स्त्रिये किस हद तक जबाबदार है यह एक विचार करने योग्य प्रश्न है। खादीप्रचार में स्त्रीवर्ग कितना पिछड़ा हुआ है इसके कारण भी विचारने योग्य हैं।

स्त्रीभोग का क्या फल होता है ? विषयानन्द में धर्मभाव तो रहता ही नहीं है। उनमें भी विशेषतया स्पर्शेन्द्रिय के भोग में तो मन इन्द्रियों के एकाकार होनेपर ही आनंद प्राप्त होता है। इसका क्या परिणाम होता है ? शास्त्रकार कह गये हैं कि साधु यदि स्त्रीका सम्बन्ध करें तो बहुत से ऐसे पापों का बन्ध करता है कि जिन पापों के वर्णन सुनने मात्र से ही हृदय कंपायमान होजाता है, समकित से भी भ्रष्ट होता है और गृहस्थ को स्त्रीभोग नरक में लेजानेवाला है। इसप्रकार देखने से ज्ञात पड़ता है कि स्त्रीशरीर में कोई भी वस्तु सराहनीय नहीं है, स्त्रीका स्वभाव कुच्छ प्रकार का है और उसके भोग परिणामरूप इस भव में और परभव में महादुःख भोगना पड़ता है। इतना बताने के पश्चात् अब क्या करना चाहिये ये आपने आप विचार किजिये।

ललना ममत्वमोचनद्वार का उपसंहार और स्त्री की हीन उपमेयता

निर्भूमिर्विषकन्दली गतदरी व्याघ्री निराह्वो महा-
व्याधिर्मृत्युरकारणश्च ललनाऽनभ्रा च वज्राशनिः।
बन्धुस्नेहविघातसाहसमृषावादादिसंतापभूः,
प्रत्यक्षापि च राक्षसीति विरुदैः ख्याताऽऽगमे
त्यज्यताम् ॥ ८ ॥

" (स्त्री) बिना भूमि से (उत्पन्न हुई) विष की लता है, बिना गुफाकी सिंहनी है, बिना नामकी भयंकर व्याधि है, बिना कारणकी मृत्यु है, बिना आकाश की

विजली है, सगे अथवा भाइयों के स्नेह का नाश, साहस, मृषावाद आदि संतापों का उत्पत्ति स्थान है और प्रत्यक्ष राक्षसी है–ऐसे ऐसे उपनाम स्त्रियों के लिये आगम में दिये गये हैं, अतः उसको छोड़ दो।" शार्दूलविक्रीडित.[1]

विवेचनः—इस श्लोक का भावार्थ सहज ही में समझा जा सकता है। बिना गुफा की सिंहनी का डर विशेषरूप से रखना चाहिये। गुफा में रहती हो तो उतने ही स्थान में डर रहता है, नहीं तो सम्पूर्ण जंगल में डर रहता है। इसीप्रकार स्त्री का भय सम्पूर्ण संसाररूपी वन में रहता है। शेष का अर्थ स्पष्ट ही है।

× × ×

विद्वान् ग्रन्थकारने इसप्रकार स्त्रीममत्वरूप को पूर्ण किया है। समता के अधिकार पश्चात् शिघ्र ही स्त्रीममत्वद्वार लिखने में एक बड़ा भारी आशय छिपा हुआ है। स्त्री संसार है, इसके ममत्व में फँसजाने से संसारकी जितनी वृद्धि होती है उतनी बहुधा अन्य किसी कारण से नहीं होती है। स्त्रियोंके लिये जो ग्रन्थकारने इतना अधिक लिखा है उसका आशय यह जान पड़ता है कि सर्व प्रकार के मोह में से स्त्रीका मोह प्राणी को बहुत बन्धन करानेवाला है। जिसप्रकार पुरुषों को स्त्रियें बन्धन-रूप हैं उसीप्रकार स्त्रियों को पुरुष भी बन्धनरूप हैं। इस अधि-कार में बताई हुई हकीकत स्त्रियों को पुरुषों के सम्बन्ध में भी

---

१ सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगा शार्दूलविक्रीडितम्
शार्दूलविक्रीडित में १९ अक्षर होते हैं म, स, ज, स, त, त, तथा ग.
— — — ⏑ ⏑ — ⏑ — ⏑ ⏑ ⏑ — — — ⏑ — — ⏑ —

समीप्रकार समझना चाहिये। विशेषतया यह भी प्रगट है कि यद्यपि स्त्रियों में मनोविकार अधिक होता है तिसपर भी ऐसा आवे तो स्त्रिया पुरुषों के बनिस्बत मनपर अधिक अंकुश रख सकती है। पुरुष से लजाने पर स्त्री नहीं लजाती, जब कि पुरुष पीगलते बहुत कम समय लगता है, स्त्रीशरीरयधारण आदि कितने ही कारण ऐसे हैं किन्तु उनका यहां दिग्दर्शन करना प्रस्तुत नहीं है। इन आठ गाथाओं में ग्रन्थकारने स्त्रीशरीरकी अशुचिकी ओर विशेष ध्यान आकर्षण किया है। इसके उपरान्त एक हकीकत यह है कि प्रेम स्वाभाविक तथा विषयजन्य दो प्रकारका होता हैं। विषयजन्य प्रेम युवावस्था में बलवान होता है। ऐसा प्रेम ही बहुधा संसार में देखा जाता है, और वह किन किन दशों का होता है यह विचारयोग्य प्रश्न हैं। मुरीकान्ता, नयनावली आदि के प्रेम और स्वार्थ तथा मनोविकारवृत्ति स्त्रियों की काली बाजु बतलाती हैं। दुनियाँ का अनुभवी पुरुष देख सकता है कि प्रेमकी परिसीमा कहाँ कहाँ तक जाती है और स्वार्थसपहन होजाने पर कितनी दूर पर जाकर ठहर जाती है। स्त्रीसम्बन्ध में अथवा उसके निमित्त से अनेकों खून तथा फौजदारी मुकद्दमें बनते हैं। इसप्रकार स्त्री सम्बन्ध से अनन्त संसार का बढ़ना संदेह रहित है।

विषयवृत्ति में वास्तविक आनन्द कुछ नहीं है, यह सब जानते हैं, परन्तु मनोविकार के वशीभूत होकर यह प्राणी अनेक कार्य करता हैं। विशेष करके जो स्थान अस्थान, समय, कुसमय पर विषयाधीन होजाते है उनको तो बहुत विचार करने योग्य है। कदाच स्त्रीका त्याग न हो सके तो भी परस्त्री पर नजर डालन अथवा उसके साथ सम्बन्ध करने स इसके पवित्र

साथ कितना अन्याय होता है यह तो बहुत विचार करने योग्य है। इसीप्रकार की स्थिति में अपनेपन को भूल कर विचार करने से शिघ्र सब ध्यान में आसकता है। साधारण व्यवहार के नियम से, प्रतिष्ठित गृहस्थी के कर्त्तव्य के तोर पर ही परस्त्री सम्बन्ध का विचार तो करना ही चाहिये। अच्छे दिखलाई देनेवाले प्रतिष्ठित पुरुष भी जब इस कूद में पड़ते हैं तब प्रतिष्ठा; धन और शरीर की हानि करते हैं और उनको संसार की अनेक आपत्तियें आकार घेर लेती हैं। स्वस्त्री सम्बन्ध करते समय भी समय-संयोग का विचार करना तथा जहाँ तक हो सके तहाँ तक संकोच करना उचित है। मन में तो सदैव विषय-त्याग की ही इच्छा रखनी चाहिये।

इस उपयोगी विषयपर शास्त्र के अनेकों ग्रन्थों में लेख हैं। इसके लिये इन्द्रियपराजयशतक, उपदेशमाला, शृंगारवैराग्य-तरंगिणी, भव-भावना, पुष्पमाला आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करें। वर्तमान समय के बाहरी दिखावे में न फँस कर तथा इस जीवन का उच्च उद्देश्य जानकर तथा यह जीवन संसारवृद्धि तथा ऐशआराम के लिये नहीं है ऐसी साध्य दृष्टि रखकर जो यदि योग्य प्रवृति की जायगी तो उसका झेर अवश्य उतर जायगा।

॥ इति सविवरणः श्रीममत्वमोचननामा द्वितीयोऽधिकारः ॥



अथ तृतीयोऽपत्यममत्वमोचनाधिकारः



अध्यात्म ज्ञान के रसिक जीवों को समता की आवश्यकता होती है और उसके साधन–स्वरूप ममत्वत्याग की प्रथम आवश्यकता होती है। स्त्री के पश्चात् इस प्राणी को पुत्र का ममत्व छोड़ना बहुत कठिन होजाता है, अत इस पुत्रपुत्री ऊपर के ममत्व-त्याग बतानेवाले तीसरे द्वार का सक्षेप से वर्णन किया जाता है।

पुत्रपुत्री बन्धनरूप होने का वर्णन.

मा भूरपत्यान्यवलोकमानो,
मुदाकुलो मोहनृपारिणा यत्।
चिक्षिप्सया नारकचारकेऽसि,
दृढ निबद्धो निगडैरमीभि ॥ १ ॥

" तू पुत्रपुत्री को देख कर प्रसन्न मत हो, कारण कि मोहराजा नामक तेरे शत्रुओंने तुझे नरकरूप बन्दीखाने में डालने की अभिलाषा से इस (पुत्रपुत्रीरूप) लोह की जन्जीर से तुझे खस कर बांधा है।" उपजाति

विवेचनः—" पिता और माता के बिच में स्नेहबन्धन-रूप पुत्र नाम की जन्जीर डाली जाती है " ऐसा भवभूति कवि का कथन है। पुत्र को देख कर मनुष्य पागल होजाता है और उसके साथ बोलने में तथा उसको रमाने निमित्त ऐसी ऐसी चेष्टायें करता हैं कि मानों वह स्वयं पागल हो गया हो। बालक के संग वह भी बालक हो जाता है। प्रसंगोपात ग्रन्थ-कर्त्ता उसको समझाता है कि—मोहराजाने यह बन्धन बनाया है। कैदी पुरुष को किसी भी प्रकार का आनन्द नहीं होता; उसका सुख कोई सुख नहीं है; इसीप्रकार इस पुत्रबन्धन से तेरी सब स्वतंत्रता का नाश होता है। तेरे को यदि देश—सेवा, पितृ—सेवा और आत्म—सेवा करने की अभिलाषा होगी तो वह भी कम होगी अथवा यो कहिये कि कुछ भी नहीं हो सकेगी। आर्द्रकुमारने जब दूसरी वार फिर से दीक्षा लेने को जाने की अभिलाषा की तब उनके पुत्रने कच्चे सूत के बारह धागे उनके पगे के चारों ओर लपेटे, व धागे तो क्या ? परन्तु केवल दर्शनमात्र से हाथी की जन्जीर को तोड़ने की शक्ति रखनेवाले और हजारों पुरुषों के लिये भी अजय्य मालूम हों ऐसे आर्द्रकुमार से भी वे कच्चे सूत के धागे नहीं तोड़े गये और बारह बरस और घर में रहना पड़ा। पुत्रपुत्रीयों का बन्धन इसप्रकार का होता है।

महावैराग्यभाव जागृत होने पर जब किसी आसन्नसिद्धि जीव को संसार त्याग करने की अभिलाषा होती है तब स्त्री और पुत्र कितने बन्धनरूप होते हैं, ये सब सबके लिये अनु-भवसिद्ध है। आत्मधर्म और ऊँचे प्रकार के कर्त्तव्य के पूरे करते समय यदि पुत्रधर्म और पतिधर्म आदि कोई भी बाधारूप

हो तो विशेष मान आत्मधर्म को ही देना चाहिये और अवसर करते समय पितृपक्ष अथवा पुत्रपक्ष का योग भी करना पड़े तो भी सर्व धर्मानुसार वह इष्ट ही है।

पुत्रपुत्री के शल्यरूप होने का वर्णन.

आजीवितं जीव ! भवान्तरेऽपि वा,
शल्यान्यपत्यानि न वेत्सि किं हृदि ?
चलाचलैर्यैर्विविधार्थदानतोऽ-
निशं निहन्येत समाधिरात्मनः ॥ २ ॥

"हे चेतन ! इस भव में और परभव में पुत्रपुत्री शल्य-रूप हैं इसका तू अपने मन में क्यों नहीं विचार करता ? वे थोड़ी अथवा विशेष आयुतक जीवित रह कर तुझे अनेक प्रकार के कष्ट पहुचा कर तेरी आत्मसमाधि का नाश करते हैं।" उपजाति

विवेचनः—बालबचे अनेक उपाधियों के कारण हैं और मावाप के लिये शल्यरूप हैं। जो चल अर्थात् कम आयुष्यवाले होते हैं वे मावाप को दुःखी बनाते हैं और जो यदि विधवा छोड़ कर चले जाते हैं तो मावाप के शोक की कोई हद ही नहीं रहती है। जो अचल अर्थात् अधिक आयुष्यवान् होते हैं वो वेश्यागमन, वेविशाव, द्यूत आदि संसार के बढ़ानेवाले कार्यों से पिता को अनेक प्रकार के कष्ट देनेवाले होते हैं। इसमें भी पुत्र को इच्छानुसार आगे न बढ़ते देख कर पिता के हृदय में अत्यन्त दुःख होता है। अपितु यदि वे चलाचल अर्थात् चपल हो तो कुकर्म कर के पिता के चित्त को शान्ति नहीं पाने

देतें, और अतिशयार्थे द्विर्भाव ले कर चलाचल का अर्थ विनश्वर किया जावे तो वैसे पुत्रपुत्री से भी शान्ति नहीं मिलती। इसप्रकार पुत्रपुत्री से सर्वदा समाधि का नाश तो होता ही है।

पुत्र से भी पुत्री के लिये अधिक चिन्ता रहती है। उसको पढ़ाना, उसके लिये उत्तम वर को ढुंढना और उसके पुत्रपुत्री तक के लिये हरएक प्रसंग में अपना हाथ बढ़ाना और यदि वह दुर्भाग्यवती हो तो उसके वैधव्य दुःख को देखना ये सब अन्तःकरण में शल्यरूप हैं।

इसप्रकार इस भव में अपत्य से समाधी का नाश होता है और उस दुर्ध्यान के परिणामस्वरूप भविष्य के भव में भी आराम लेने का समय नहीं मिलता। यह श्लोक जिस के पुत्र न हो उसको विशेपतया ध्यान में रखना चाहिये। इस सम्बन्ध का इस अधिकार के निम्न उद्गारों में विशेप स्वरूप है।

आक्षेपद्वारा पुत्रममत्व त्यागका उपदेश.

कुक्षौ युवत्याः कृमयो विचित्रा,
अप्यस्रशुक्रप्रभवा भवन्ति ।
न तेषु तस्या न हि तत्पतेश्च,
रागस्ततोऽयं किमपत्यकेषु ? ॥ ३ ॥

" पुरुप के वीर्य और स्त्री के रक्त–इन दोनों के संयोग से स्त्री की योनी में विचित्र प्रकार के कीड़े उत्पन्न होते हैं; उन पर स्त्री का तथा उसके पति का राग नहीं होता है तो फिर पुत्रों पर क्यों राग होता है ? " उपजाति.

विवेचन:—एक ही स्थान में संयोग के परिणामरूप पुत्रपुत्री और बेइन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं, लेकिन एक पर प्रीति होती है और दूसरे से घृणा होती है—यह प्रेम की विचित्रता है। सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति धर्मशास्त्र और कामशास्त्र में प्रसिद्ध है। स्थान, समय और संयोग में एकप्रकार वृत्ति है, फिर भी मन के हिसाबाव से प्रेम में कैसी विचित्रता है, यह देखने योग्य है। यह उपदेश आक्षेप से किया हुआ है और यद्यपि शब्द कर्कश हैं फिर भी उपदेश के गर्भ में जो शुभ भाव है वह ध्यान देने योग्य है।

अपत्यपर स्नेहबद्ध न होने के तीन कारण.

त्राणाशक्तेरापदि सम्बन्धान-
न्त्यतो मिथोऽगवताम्।
सन्देहाच्चोपकृते-
र्मापत्येषु स्निहो जीव ॥ ४ ॥

"आपत्ति में पालन करने की अशक्ति होने से, प्राणियों का प्रत्येक प्रकार का परस्पर सम्बन्ध अनन्तबार हुआ हुआ होने से और उपकार का बदला मिलने का सन्देह होने से हे जीव! तू पुत्रपुत्रादि पर स्नेह मत कर"।

आर्या

विशेषार्थ:—पुत्रपुत्र्यादि के स्नेह में आसक्त न होने के तीन कारण बतलाये हैं:—

(१) दुःखों से रक्षा करने में वे शक्तिहीन हैं। कर्म-

जनित पापोदय होने से आपत्ति आती है, उसमें से रक्षा करने को यदि कोई भी शक्तिवान् है तो वह आत्मशक्ति ही है; दूसरा कोई भी कुछ नहीं करसकता है। कर्मस्वरूप के जाननेवाले को इस दलील का वास्तविकपन शीघ्र ही समझ में आजायगा।

(२) प्राणियों के परस्पर अनेक सम्बन्ध होते हैं। हरएक प्राणी माता, पिता, स्त्री, पुत्रपन आदि में अनंतवार होते हैं। समताद्वार में इस सम्बन्ध का सम्पूर्ण विवेचन हो चुका है, परन्तु अपत्य पर आसक्त न होने का यह एक मजबूत कारण है, अतः यहां पर उसकी ओर ध्यान खिचा जाता है।

(३) उपकार का बदला मिलने का भी संदेह है। अनेकों पुत्र तो पिता के पहले ही इस संसार से कूच कर जाते हैं और कई कुपुत्र होते हैं। ऐसे पुत्र, पिता के लिये बिलकुल उपयोगी नही इतना ही नहीं हैं अपितु शोक तथा चिन्ता के कारणरूप हैं। कोणीकने अपने पिता श्रेणिक का क्या हाल किया यह सब प्रसिद्ध ही है। वृद्धावस्था में [१] युवक पुत्र वृद्ध पिता का किस प्रकार सत्कार करता है यह प्रत्यक्ष ही है। वारीस वनने के लिये कितने ही पुत्र कैसे कैसे रोमाञ्चकरी कार्य करते है यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि संसार में सुपुत्र होते ही नहीं है या है ही नहीं। राम तथा अभयकुमार जैसे भी पुत्र हो गये हैं,' किन्तु अपना पुत्र कैसा निकलेगा यह संशययुक्त है और इस संदेह को मिटाने के लिये आत्मसाधन न करना यह हमारे लिये नितान्त अनुचित है। इन तीनों

---

१ ऐसे पुत्र वहुत कम होते हैं इसलिये ग्रन्थकर्त्ता 'सन्देह' शब्द लगाता है, जब कि प्रथम दो बातों में निर्णय बतलाता है।

कारणों से अपत्यस्नेहबद्ध नहीं होना चाहिये, अन्य सब शङ्काओं का यहां निवारण होजाता है।

इसप्रकार तीसरा अपत्यममत्वमोचनद्वार पूर्ण किया गया है। पुत्रप्राप्ति में अत्यन्त प्रसन्न न होना, पुत्रमरण से हृदयहीन न होना और पुत्रपुत्र्यादि के बन्धन से संसार को न बढ़ाना यह ही मुख्य उपदेश है। इस सम्बन्ध में विशेष अगत्य की बात यह है कि यदि पुत्र न हो तो दुर्ध्यान न करना। पुत्रपुत्री हो तो उसको निकाले नहीं जाते, परन्तु न हो उसको संतोष रखना चाहिये। उसको यह विचार करना चाहिये कि वह संसार की बड़ी जञ्जाल से मुक्त है और आत्मसाधन, धर्मकार्य में द्रव्यव्यय और देशसेवा में जीवन अर्पण करते समय उसको किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है। अत्यन्त शोक के साथ लिखना पड़ता है कि मनुष्य व्यवहार में इस से बहुत विरुद्ध दिखाई पड़ता है। विशेषतया विद्याहीन दुर्भागी पुरुष पुत्र-प्राप्ति निमित्त शास्त्र तथा संप्रदाय के विरुद्ध आचरण करते हैं। मानों कि पुत्र ही से मोक्ष मिलता हो ऐसा समझकर लौकिक मिथ्यात्वरूप मानताको मानते हैं। छोटेपन में विवाह करते हैं और रात दिन दुर्ध्यान में ही विताते हैं इतना ही नहीं लेकिन कितने ही मूर्खानन्द तो पुत्रप्राप्ति के लिये एक स्त्री के होते हुये भी दूसरी स्त्री से विवाह करते हैं। इसके स्थान में तो भाइ का तथा सगोत्र का या दूसरा चतुर पुत्र दत्तक कर लेना ही अमुक अंश में श्रेष्ठ है, कारण कि ऐसा करलेने से पुत्रप्राप्ति की इच्छा पूर्ण हो जाती है और अपनी स्त्री के साथ भी अन्याय नहीं होता वरना एक स्त्री के मोजूद होते हुए दूसरी स्त्री करने में तो अपद छिपे अपना हक स्थापित नहीं कर सकती और इस से उनके

पति उनकी कमजोरी का गेरलाभ उठाते हैं; परन्तु ऐसा स्वार्थपन आजकल के समय में चलना कठिन है। पुत्रवान को क्या सुख है यह वे नहीं देखते हैं। इसमें किञ्चित्‌मात्र भी सुख नहीं है, परन्तु दूर से देखने पर बहुत से पुत्रवाला सुखी मालूम होता है। पुत्रवानों को पुत्र की खास किमत नहीं होती परन्तु जिन के पुत्र न हों वे अपने जीवन को निष्फल समझते हैं, यह तद्दन अज्ञानता तथा मोह का फोहरा है। इस पर ज्ञान के प्रकाश पड़ने की आवश्यक्ता है। अपत्यपर स्नेह रख कर संसारयात्रा बढ़ाना, ऐसा जैनशास्त्र का उद्देश नहीं है। चौथे श्लोक में जो तीन कारण बताये हैं उनकी ओर विशेषतया ध्यान आकर्षित किया जाता है। इस अधिकार में सब से कम श्लोक हैं, परन्तु वास्तविक हकीकत का संक्षेप से भलीभाँति समावेश कर लिया गया है।

इति सविवरणोऽपत्यममत्वमोचननामा
तृतीयोऽधिकारः।



अथ चतुर्थो धनममत्वमोचनाधिकारः



इस प्राणी को मोह संसार में परिभ्रमण कराता है। अनेक प्रकार के मोह में पैसा और स्त्री-पुत्र का मोह विशेष देशनगति करता है। स्त्री-पुत्र के मोह सम्बन्धी विवेचन होगया है, अब उससे जरा भी कम नहीं बल्के उससे भी अधिक भटकानेवाला धन का मोह कैसा है? किस को होता है? क्यों होता है? इसका क्या प्रतिकार है? आदि स्वरूपयुक्त चौथा अधिकार बताते हैं।

पैसा पाप का हेतुभूत है.

या सुखोपकृतिकृत्स्वधिया त्वं,
मेलयन्नसि रमा ममताभाक्।
पाप्मनोऽधिकरणात्वत एता,
हेतवो ददति संसृतिपातम्॥ १ ॥

" लक्ष्मी के लालच से ललचाया हुआ तू (त्व) सुख और उपकार की बुद्धि से जो लक्ष्मी इकट्ठी करता है वह

अधिकरण होने से पापका ही हेतुभूत है और संसारभ्रमण करानेवाली है।"
स्वागतावृत्त

विवेचन—धन इकट्ठा करते समय सुख मिलने तथा स्वजन कुटुम्ब मित्रादि पर उपकार करने की बुद्धि होती है (ग्रन्थकर्त्ता वहुत उत्तम भाव लेकर यह लिखता है, परन्तु सत्य हक़ीकत देखी जावे तो एसी वुद्धि भी वहुत कममें होती हैं। वहुत से लक्ष्मीवान तो खुद भोगते नहीं, दान देवे नहीं, एक मात्र लक्ष्मी की तेजोरीपर चौकी ही लगाते रहते हैं। इस हेतु से इकट्ठा करने से और इकट्ठी की हुइ लक्ष्मी भी कर्मादान आदि अनेक पापों से भरपूर ही होवी हैं और ऐसे पापों से लदा हुआ प्राणी संसारसमुद्र में डुवता ही जाता हैं और फिर अनन्त काल तक ऊपर नहीं उठ सकता हैं।

मम्मण शेठ के पास वहुत द्रव्य था, फिर भी स्वयं तो वैल के चोले ही खाया करता था और घोर अंधेरी रात्री में वारीस से भरपूर नदी में लकड़ी खेंचकर पैसा के लिये अनेक कष्ट उठाता था। वह भी मरकर न जाने कहां गया? नरक में जाने से संसारपात ही हुआ। यदि हम इतिहास को उठाकर देखे तो जान पड़ेगा कि धन-पैसे के लिये अनेकों जीवों का नाश किया जाता है और जो पैसा इकट्ठा करता है वह अपने लोभ पूर्ती के लिये ही इकट्ठा करता है। जूलीयससिझर, पोम्पी, मेरीयस, नेपोलीयन वोनापार्ट के इतिहास से यह वात स्पष्टतया सिद्ध है। इसके भी पश्चात् वोर और अंग्रेजों का युद्ध और जापान तथा रुस का युद्ध भी पैसाप्राप्ति निमित्त ही हुआ हुआ जान पड़ता है। इतिहास में जो खून की नदिये वही हैं वे सव वहुधा इस लक्ष्मीप्राप्ति के निमित्त ही वही हुई हैं। इस

कारण तीर्थंकर महाराज तो अनेक प्रकार से समझा समझा कर कह गये हैं कि भाइयों ! पैसे का लोभ मत करना, पैसे से नरक बहुत समीप आजाता है।

यहाँ भी ग्रन्थकर्त्ता सुख मिलने निमित्त धन एकत्र करने की प्रवृत्तिका परिणाम बताते हैं। यदि हम कुछ और अधिक बढ़ कर विचार करें तो ज्ञात हो कि कई बार बिना किसी खास उद्देश्य के ही धन एकत्र करने की प्रवृत्ति होती है। सुख तो धन प्राप्त करनेवालों को मिल ही नहीं सकता, कारण कि वे तो प्रवृत्ति में ही मग्न रहते हैं; लेकिन जिस के पीछे कोई संतति न हो, होने की आशा भी न हो, अपना खर्च नियमित हो, उससे हजारोंगुनी लक्ष्मी प्राप्त हो गई हो वहां भी रात्रि-दिवस धन की धमाधम ही मची रहती है और वह यह भी विचार नहीं करता कि इस धन का कौन भोग करेगा ? इसप्रकार सम्पूर्ण जीवन भर पैसा-पैसा करते रहते हैं और जब मृत्यु कण्ठ पकड़ कर धर दबाती है तब उनकी ऊग खुलती है और कहने लगते हैं कि हमने बहुत भूल की है, बिना कारण ही प्रवृत्ति की है। फिर वे बहुत पश्चात्ताप करते हैं लेकिन उस पश्चात्ताप से कुछ लाभ नहीं होता है। इसप्रकार बिना किसी कारण के ही एक मात्र धन के मोह से ही जो प्राणी उसके प्राप्त करने निमित्त पागल हो जाता है यह बात बहुत दुःख की और बहुत विचार करने योग्य है।

धन ऐहिक और आमुष्मिक दुःख पैदा करनेवाला है

यानि द्विषामप्युपकारकाणि,
सर्पोन्दुरादिष्वपि यैर्गतिश्च।

शक्या च नापन्मरणामयाद्या,
हन्तुं धनेष्वेषु क एव मोहः ॥ २ ॥

" जिन पैसों से शत्रु का भी उपकार हो जाता है, जिन पैसों से सर्प, चूहा आदि की गति होती है, जो पैसे मरण, रोग आदि किसी भी आपत्तियों को हटाने में समर्थ नहीं है उन पैसों पर मोह क्यों करना ? " इन्द्रवज्रा.

विवेचनः—व्यवहार में पैसेवालेको आसमान तक चढ़ा देते हैं। ' सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ' ' पसु बिना नर पशु ' आदि व्यवहारिक वाक्य कितने झूठा मार्ग दिखानेवाले है इस का यहाँ वर्णन किया जाता है। पहले पद में बहुत मरम भाव बताया गया है। शत्रु धन को लूंट लेते हैं और उसी धन से बलवान हो कर जिनके धन को लूंटा है तथा बलवान हुए हैं उसी पर आक्रमण करते हैं। परशुराम से महासंहार की हुई क्षत्रिय रहित पृथ्वी और सब सम्पत्ति सुभूमद्वारा भोगी गई। प्रतिवासुदेव से अत्यन्त परिश्रमद्वारा तीनों खण्डका राज्य एकत्र किया जाता है किन्तु वह वासुदेव के उपभोगमें आता है, और प्रतिवासुदेव का चक्र उस खुद का ही शिरच्छेद करता है। इसप्रकार अपने पैसे से अपना शत्रु भी बलवान हो सकता है।

बहुत से लोभी प्राणी मर कर अपने धन पर सर्प या चूहा होते हैं, ऐसा हम शास्त्र में बहुधा पढ़ते हैं। इस भव में ही नहीं लेकिन परभव में भी इतना ही दुःख देनेवाले नीच जाति में (तिर्यंच में) गमन करानेवाले पैसे के लिये क्या कहना और उस पर किस प्रकार मोह करना, यह खुद के विचारने योग्य है ।

राजा, चक्रवर्ती और समस्त संसार को शिरपर उठाने वाले दूसरे शूरवीर भी चले गये, लेकिन उनके पैसोंने उनको नहीं बचाया और न बड़े बड़े डाक्टरों तथा वैद्योंने ही उनको बचाया। बड़े बड़े धनिक जब बिमार होते हैं तो पैसे उनको उनकी असाध्य व्याधि से नहीं बचा सकते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रकार की किसी भी आपत्ति में से बचाने के लियेभी धन असमर्थ है। जिस प्रकार शारीरिक उसी प्रकार मानसिक, ऐहिक उसी प्रकार आमुष्मिक अनेक दोषों के मूल पैसे पर मोह क्यों करना और ऐसे पैसो से क्या आशा रखना ? यह ध्यान में रखने योग्य है कि नन्दराजा के स्वर्ण पर्वत भी अन्त में कुछ काम नहीं आये।

धन से सुख के बदले दुःख अधिक है.

> ममत्वमात्रेण मनःप्रसाद-
> सुखं धनैरल्पकमल्पकालम्।
> आरंभपापैः सुचिरं तु दुःखं,
> स्याद्दुर्गतौ दारुणमित्यवेहि ॥ ३ ॥

"यह पैसे मेरे हैं ऐसे विचार से मनप्रसादरूप थोड़ा और थोड़े समय के लिये पैसों से सुख होता है, परन्तु आरम्भ के पाप से दुर्गति में लाखों समय तक भयंकर दुःख होते हैं, इसप्रकार तू समझ।" उपजाति

विवेचन—"यह घर मेरा है, यह गहना मेरा है, बटाबखाते में जो इतनी रकम जमा है वह मेरी है"—ऐसे माने हुए मेरेपन के ममत्व से मन थोड़ासा प्रसन्न होता है,

और इस मन की प्रसन्नता में यह जीव सुख मानता है। वास्तविक सुख का अनुभव न होने से इस में सुख जान पड़ता है, परन्तु यह एक नाम मात्र का सुख है। आगे जो सुख मन की शांति में वतलाया गया है, उसके सामने इस सुख की कोई गिनती भी नहीं है। अपितु यह सुख अल्पस्थायी है। अभी यदि अधिक से अधिक मनुष्य की आयुष सो वरस की भी गिनी जावे तो भी अनन्तकाल के सामने इस की गिनती भी नहीं हो सकती है। इस अल्प समय में आरम्भ ही से वहुतसा द्रव्य एकत्र करके जो सुख मिलने का प्रयत्न करता है उसका इसके परिणामरूप असंख्य वर्षों तक नारकी तथा निगोद के दुःख भोगने पड़ते हैं। धर्मदासगणि कह गये है 'कि जिस सुख के पश्चात् दुःख मिलता हो वह सुख नहीं कहला सकता'। इस संसार में भी पचास वरस तक गृहस्थस्थिति में रहे हुए पुरुष पिछे के पांच वर्षों में जो दुःख उठाते है तो उनका पहले का सुख किसी गिनती में नहीं आता है।

पैसे में सुख कैसा और कितना होता है उसकी फिलोसोफी जानने के पश्चात् यदि तुझे योग्य प्रतीत हो तो उस पर मोह करना कितनी ही वातों में प्राकृत लोकव्यवहारसें आकर्षित होजाना उचित नहीं है। संसार जिन द्रव्यवानों को महासुखी समझता हो उनके अन्तःकरण से जाकर पूछिये कि क्या उनको वास्तव में सुख है? दुनीया के सच्चे अनुभवी कहते है कि पैसा तो एकमात्र उपाधि है, सुख तो संतोष में ही है; और वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखकर मन को प्रसन्न रखना यह ही सुख मिलने का उपाय है। वाकी तो रावण, जरासंध और

धवलसेठ के चरित्रों का विचार करना चाहिये जिस से उसका कथा वस्तु मालूम हो जायगा।

धर्म के लिये धन एकत्र करना योग्य है ?

द्रव्यस्तवात्मा धनसाधनो न,
धर्मोऽपि सारम्भतयातिशुद्धः।
निःसंगतात्मा त्वतिशुद्धियोगान्,
मुक्तिश्रियं यच्छति तद्भवेऽपि ॥ ४ ॥

" धन के साधन से द्रव्यस्तवस्वरूपवाले धर्म की सिद्धि हो सकती है, परन्तु वह आरम्भ युक्त होने से अति शुद्ध नहीं है; अतः निःसंगतास्वरूपवाला धर्म ही अति शुद्ध है और उससे ही उसी भव में भी मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हो सकती है। " इन्द्रवज्रा

विवेचनः—अनेक प्रकार की पूजा, बिंबप्रतिष्ठा, स्वामी वात्सल्य, मन्दिर बनाना, उपाश्रय बनाना आदि द्रव्यस्तव कहलाते हैं। द्रव्य के मदद से ये बातें सुगमतापूर्वक हो सकती हैं। पुण्यशाली प्राप्त हुई लक्ष्मी को धर्ममार्ग में व्यय करके महापुण्य का उपार्जन करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इसप्रकार के धर्म में भी आरम्भ होता है, कारण कि षट्काय जीव का मर्दन होता है, अत इसप्रकार का धर्म अति शुद्ध नहीं है। ख्याल रक्खे कि यह अति शुद्ध नहीं, शुद्ध तो है ही, लेकिन ऐसे धर्मको करने निमित्त द्रव्य उपार्जन करना युक्त नहीं है। हरिभद्रसूरि महाराजने भी अष्टकजी में कहा है कि —

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम्॥

"धर्म के लिये पैसा एकत्र करने की अभिलाषा करनेसे तो उसकी इच्छा न करना ही अधिक उत्तम है। पैर के किचड़ लगजाने पर उसको धोकर साफ करने के स्थान में तो दूर से ही किचड़ का स्पर्श न करना, यह विशेष उत्तम है।"

बाकी उपार्जित द्रव्य का तो धर्ममार्ग में ही व्यय करना चाहिये। यह भाव आनेवाले श्लोक से और स्पष्ट होजायगा। द्रव्यस्तव युक्त धर्म से तो बहुत समय पश्चात् मुक्ति मिलती है जब कि नवविध परिग्रह से निःसंग हुए जीव उसी भव में जन्म-जरा-मरण रहित अच्युतपद को प्राप्त करते हैं। निःसंगतास्वरूप-वाला धर्म ही अति शुद्ध धर्म है।

कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म के निमित्त धन उपार्जन करने का विचार न करें। पुनरावर्तन करके कहा जाता है कि इस श्लोक के भाव का बराबर विचार करें। ग्रन्थकार का यह बिलकुल विचार नहीं है कि वह द्रव्यस्तव को साधारण समझे, परन्तु उसका विचार यह बताने का है कि धर्म में प्रधानता निःसंगताकी है। यद्यपि द्रव्यस्तव से मोक्ष अधिक समय में प्राप्त होता है, परन्तु वह मोक्षमार्ग तो है ही।

मोक्ष प्राप्त करने के अनेकों मार्ग होते हैं। उनमें से कोई लम्बे, कोई टेढ़े और कोई सीधे तथा सरल होते हैं। जिस प्रकार हम बम्बई से सुरत जाना हो तो ग्राण्टरोड से बैठ कर सीधा भी जाया जाता है, अथवा भुसावल के मार्ग से ताप्तिरेल में होकर जाया जाता है अथवा अन्य बहुत से टेढ़े मार्ग से जाया

आ सकता है। जैसे पहले कराँचीसे आवे वहाँसे आफराबाद होकर गोंध आदर भगवाडोडी आकर सुरत आवे, इसप्रकार मोक्षमार्ग भी कितनों ही को सीधा प्राप्त हो सकता है और कितने ही व्यर्थ चक्कर लगाते रहते हैं। द्रव्यस्तव यह प्रयाण तो मोक्षमार्ग की ओर ही है, इसका रास्ता बराबर दिशा में है, लेकिन एक मात्र यह लम्बा मार्ग है, परन्तु विमार्ग या अपमार्ग नहीं है। द्रव्यस्तवको नरम बनानेकी कितनी ही बार विचारना देखी जाती है और विशेषतया कुछ सत्ताके और कुछ अवकाशके अभाव से इस कालमें यह वृत्ति विशेष दिखाई देती है जबकि पुराने समयमें वह ही वृत्ति अध्यात्मियोंद्वारा बाहर आती थी, अतः यहां इसका वस्तुस्वरूप क्या है इसको समझानेका प्रयास किया गया है।

कितने ही पुरुष अन्याय अथवा अप्रमाणिकपनसे द्रव्य उपार्जन करते समय विचार करते हैं कि वैसे उपार्जन करके धर्ममार्गमें इसका व्यय करेंगे। यह विचार नितान्त अनुचित है और शास्त्रकार ऐसे निमित्तसे धन एकत्र करनेसे मना करते हैं। महा आरम्भ कर्मादान और क्षुद्र व्योपार करनेसे जो धन उपार्जन होगा उसको धर्ममार्ग में व्यय करूंगा ऐसा कितने ही प्राणी विचार करते हैं। यह जैन शास्त्र के रहस्य को जाननेवाले को नितान्त विपरीत ज्ञात पड़ता है। इस श्लोक का मुख्य उद्देश्य द्रव्यस्तव की अपेक्षायें भावस्तव की कितनी मुख्यता है यह बताना है, और यह उपदेश श्रावकों को सम्बोधित करके किया गया है। द्रव्यस्तव साधनेके लिये धनोपार्जन करके संसारमें पड़े रहते, अथवा भावस्तवका आदर नहीं

करनेका विचार करनेवालेको महानिशीथ सूत्रमें बताये हुवे विचारोंके अनुसार यह श्लोक लिखा गया है, ऐसा एक विद्वान् मुनि महाराज इस प्रसंगके लिये कहते हैं। इस श्लोकके साथ साथ निम्नलिखित श्लोकको पढ़ना और श्लोकमें आये हुए अति शुद्ध शब्दों तथा ग्रन्थकर्त्ताकी अपेक्षा पर विशेष ध्यान देना अत्यावश्यक है।

उपार्जित धनका व्यय कैसे करना?

क्षेत्रवास्तुधनधान्यगवाश्वै-
मीलितैः सनिधिभिस्तनुभाजाम्।
क्लेशपापनरकाभ्यधिकः स्यात्,
को गुणो न यदि धर्मनियोगः ॥ ५ ॥

" प्राप्त अथवा प्राप्त होनेवाले क्षेत्र, वस्तुओं (घर आदि), धन, धान्य, गाय, घोडा और भंडारका उपयोग जो धर्मनिमित्त न हो तो उससे क्लेश (दुःखो), पाप और नरकके सिवा अन्य क्या विशेष गुण हो?" स्वागतावृत्त.

भावार्थः—अनेकों पुण्यवान् जीवोंको जब पैसे मिलते हैं तो अधिक उपार्जन करने तथा उपार्जित धनकी रक्षाके लिये अत्यन्त श्रम करते हैं और अनेकोंका आश्रय लेते हैं। द्रव्य-वाले कुटुम्बमें झगडे होते हैं और झगडोसे दुर्ध्यान होता है और दुर्ध्यानसे दुर्गति होती है; तो फिर धनसे क्या लाभ है? सात क्षेत्र, गरीब बन्धुओंके आश्रय निमित्त, स्त्रीकेलवणी, ऊँची केलवणी, धार्मिक केलवणी या संस्कृत केलवणीके उत्तेजन, निरवद्य औषधालयों, स्कूल, छात्रालय और अनाथालय आदि

वास्तविक दान (Charety) के विभागोंमें जो द्रव्यव्यय किया जाता है वह ही द्रव्यका सदुपयोग कहलाता है, बाकी देवेंके पूजारी बनकर उसकी समय समय पर फिरती चोकी देते रहने या मोजशोक मनानेमें कुछ लाभ नहीं है। इतना ही नहीं अपितु एकांत हानि ही है।

इन दोनों श्लोकोंको साथ साथ पढ़नेसे मालुम होता है कि हमको धनकी अभिलाषा न रखकर, उसके पिछे पागल न होकर, वर्तमान स्थितिमें संतोष रखते हुए उपार्जित द्रव्यको धनमुधार तथा समाजसुधारमें व्यय करना चाहिये, धर्ममार्गमें धनका व्यय करना उत्तम है, परन्तु निर्मल होकर उसका सर्वथा त्याग करना यह उनसे भी अधिक उत्तम है।

धनके व्यय करनेमें सुर्भागी जितना चाहिये उतना ध्यान नहीं देता। जिन विभागोंमें सहायताकी आवश्यकता न हों उनमें तो बहुत द्रव्यव्यय किया जाता है और जिन विभागोंकी आर्थिक सहायता बिना खराब दशा हों, उनकी संभाल भी नहीं ली जाती है। यह बात सर्वदा ध्यानमें रखना चाहिये कि भूखसे जिसप्रकार मृत्यु होती है उसीप्रकार अधिक भोजन करनेसे भी विशुचिका होकर मृत्यु हो जाती है। शास्त्रकारका भी फरमान है कि जिस कालमें जिस क्षेत्रमें सिद्धि होती हो उसकी ओर प्रथम ध्यान रखना चाहिये। जैनियोंकी संख्याको बढ़ाना, उनको बराबर उचित ज्ञान देना, निरुद्यमीको उद्यमी बनाना और आनेवाले जमानेके लिये उपयोगी पुराना और नवीन साहित्य तैयार करके रखना यह वर्तमान समयका अति आवश्यक विषय है। ऐसे आवश्यक

विषयोंकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता है और खाली वरघोड़ा आदिमें वड़ी रकम व्यय की जाती है। सुज्ञ बंधुओं ! धर्ममार्ग में धनव्यय करते समय भी विचार करनेकी बहुत आवश्यकता है। विवेकपूर्वक व्यय किया हुआ एक पैसा भी एक रुपयेके बराबर काम करता है और विवेक रहित व्यय किया हुआ रुपया भी पत्थर या रण में पड़ी हुई वारिस अथवा अरण्यरुदनके समान फल रहित होता है, यह बात ध्यानमें रखनेकी बहुत आवश्यकता है।

धनसे होनेवाली अनेक प्रकारकी हानियें, और उनका परित्याग करदेनेका उपदेश.

आरम्भैर्भरितो निमज्जति यतः
प्राणी भवाम्भोनिधा-
वीहन्ते कुनृपादयश्च पुरुषा[1]
येन च्छलाद् बाधितुम् ।
चिन्ताव्याकुलताकृतेश्च हरते
यो धर्मकर्मस्मृतिं,
विज्ञा ! भूरि परिग्रहं त्यजत तं
भोग्यं परैः प्रायशः ॥ ६ ॥

"आरम्भ के पाप से भारी हुआ प्राणी जो धनके लिये संसारसमुद्र में डूबता है, जिस धनके परिग्रहसे राजा

१ 'पुरुष' ऐसा क्वचित् पाठ है, यह परिग्रहवंत पुरुषको उद्देश करता है ऐसा इसका भाव समझें।

आदि पुरुष छिद्र ढूंढ कर दुःख देनेकी अभिलाषा करते हैं, अनेक चिन्तामें आकुल व्याकुल रखकर जो पैसे धर्मकार्य करनेकी तो याद भी नहीं आने देते और बहुधा जो दूसरों के ही उपभोगमें आते हैं ऐसे पैसोंके बड़े संग्रहका हे ! पंडितो ! तुम त्याग करदो । " शार्दूलविक्रीडित

विवेचनः—संसार समुद्र है। भारसे भरा हुआ जहाज जिसप्रकार समुद्रमें डूब जाता है उसीप्रकार पापसे भारी हुआ जीव संसारसमुद्रमें डूब जाता है । पैसेके कमानेमें, उसके रक्षण करनेमें और अकार्यमें व्यय करनेमें अनेक आरम्भ करने पड़ते हैं, आरम्भसे पाप होता है और पापसे आत्मा भारयुत होता है, अतः पैसा संसार-भ्रमणका ही कारण है ।

राजालोग पुराने समयमें पैसे छिन लेते थे और पैसा करनेके लिये द्रव्यवानके छिद्र ढूंढा करते थे । गृहस्थोंको हमेशा इसका भय बना रहता था और इस भयसे पैसे होने पर भी अपने आपको गरीब बताना पड़ता था । आजकल भी पैसेवालोंको चोर, लुच्चे और सोनेरी टोलीवालोंका भय रहता है ।

पैसोंके विचारमें यह प्राणी इतना अधिक लुब्ध होजाता है कि अपने पुत्रधर्म, पितृधर्म, पतिधर्म, भक्तधर्म आदि धर्मों को बिल्कुल भूलजाता है । इसको पैसोंके विचारमें ही आनंद आता है । पैसोंको कैसे एकत्र करना ? कैसे बढ़ाना ? कैसे खर्च करना ? आदि आदि बातें ही उसके मनपर इतना अधिकार जमा लेती हैं कि वह अपना सब धर्म छोड़ देता है, उसको धर्मका नाम भी याद नहीं आता है ।

धन-परित्यागके तीन कारण बताये गये हैं । परभवमें दुर्गति, इस भवमें मौजुद डर और धर्मविमुखता । इससे भी चोथा कारण विशेष मजबूत है, वह यह है कि पैदा करे हुए पैसे बहुधा दूसरोंके ही उपभोगमें आते हैं। पैसा पेदा करनेवाले तो अपना सम्पूर्ण जीवन उसीके उपार्जनमें लगाकर बडी कठिनतासे पैदा करते हैं, बहुत द्रव्य अपने वारीसके लिये छोड़ जानेवाले तो स्वयं कुछ भी सुख नही भोगते । लड़का होता है तो वह सुख भोगता हैं, नहीं तो दूसरे ही मालिक होते हैं। विशेषतया कृपणकी तो यही दशा होती है । नीतिशास्त्रमें कहते हैं किः—

कीटिकासञ्चितं धान्यं, मक्षिकासञ्चितं मधु ।
कृपणैः सञ्चितं वित्तं, परैरेवोपभुज्यते ॥

कीड़ीसे एकत्र किया अनाज, मक्खीसे एकत्र किया मधु और कृपण पुरुपसे एकत्र किया धन यह दूसरोंके ही उपभोग में आता है ।

इन चार कारणोंका अन्तःकरणसे विचार करें तो धन पर मोह क्योंकर रह सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं, किन्तु ऐसा विचार तो किजिये । तुम्हारे पास यदि पांच-दश लाख रुपये हों तो उनसे मोहित न होजाओ । शालिभद्रके घर पर सदैव देवताई-आभूषणोंकी नव्वाणु पेटियें उतरती थीं, फिर भी उसको यह बुरा जान पड़ा कि उसके ऊपर भी राजा है, अतः यह संसार असार है; तो फिर तुम्हारे दो-पांच लाख रुपयेकी तो गिनती ही क्या है ? तुम यदि सामान्य स्थितिके हो तो तुम्हारे लिये धनका परित्याग करना बहुत

कठिन नहीं है। धनसे कुछ भी लाभ नहीं है। न जाने किस अनादि प्रवाहसे यह जीव लोभके वशीभूत होता ही जाता है, और पैसोंको त्यागनेके समय विचार करने लगता है कि मैं इनके बिना कैसे रह सकूंगा ? परन्तु हे भाइयों ! ऊपर लिखे और अन्य अनेकों दोषोंके कारण पैसेका परित्याग कर देना ही अत्युत्तम है। पैसोंका परित्याग करदेना उतना कठिन नहीं है जितनी कि तुम्हारी धारणा है। किसी भी वस्तु के वियोग होने पर ऐसा भान पड़ता है कि मानों उसके बिना कुछ भी काम न चलेगा, परन्तु वास्तवमें उसके बिना भी सब काम चलता ही है। यही दशा पैसेकी भी समझना चाहिये।

सात क्षेत्रमें धनव्यय करनेका उपदेश.

क्षेत्रेषु नो वपसि यत्सदपि स्वमेत–
घातासि तत्परभवे किमिद् गृहीत्वा ? ।
तस्यार्जनादिजनिताघचयार्जिताच्चे,
भावी कथं नरकदुःखभराच्च मोक्षः ? ॥७॥

" तेरे पास द्रव्य है फिर भी तू (सात) क्षेत्रमें व्यय नहीं करता है, क्या तूं परभवमें धनको तेरे साथ ले जायगा ? यह विचार कर कि पैसे उपार्जन करनेसे होनेवाले पापसमूहके नारकीय दुःखोंसे तेरा मोक्ष (छुटकारा) कैसे होगा ! "

वसततिलका

विवेचन —उपार्जित द्रव्य परभवमें साथ नहीं जाता है, अपितु उसके उपार्जन करनेमें, एकत्र करनेमें और उसके व्यय करनेमें अथवा नाश होनेमें अनेक दुःखपरंपरा होती

है और परभवमें भी हीनगति होती है; तो फिर क्या करना चाहिये ? यही कहनेका है कि उपार्जित धनको शुभमार्गमें व्यय करो। धनव्यय करनेके अनेक मार्ग हैं; जिनबिंब स्थापन, जिनमन्दिरोंका जीर्णोद्धार, पुस्तकें लिखाना, छपवाना, उनका रक्षण करना और पुस्तकालय बनाना, लाईब्रेरी (Library) बनाना तथा केलवणीका प्रचार करना, साधु-साध्वियों, स्वामीभाइयों और बहिनोंको उत्कर्ष बनाना, अनाथ का प्रतिपालन करना और शासनकी शोभा बढ़ाना—ऐसे ऐसे अनेकों उपयोगी स्थान हैं, उनमें जिन जिनमें आवश्यकता जान पड़े और जिन स्थानोंमें व्यय करना उत्तम तथा आशय-युत जान पड़ता हो वहाँ व्यय करना चाहिये। द्रव्यव्यय करते समय संसारकी आधुनिक स्थिति और आवश्यकता पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। जो ऐसी उत्तम भावनासे द्रव्य व्यय किया जावे तो संसारदुःखसे शिघ्र ही छुटकारा हो सकता। शास्त्रकारका मुख्य फरमान है कि सात क्षेत्रमें धनको व्यय करना चाहिये। उनमें भी जो क्षेत्र सिद्धि देनेवाला हो उसकी ओर प्रथम ध्यान देना चाहिये। जिमनवार करनेकी इस जमानेमें अनेकों पुरुष सोचविचार कर मनाई करते हैं। इससे यह मतलब कदापि नहीं है कि उनको लड्डू कडवे लगते हों, परन्तु वे समझते हैं कि भोजके स्थानमें श्रावकोंकी स्थिति सुधारने की, उनको उद्यमी बनाकर अपने पैरों पर खड़े करनेकी और अपढ़को विद्या प्राप्तिके साधन दिलाकर जैनप्रजाको दूसरी प्रजाओंसे समानता दिलानेकी प्रथम आवश्यकता है। इसीप्रकार जिनमन्दिर बढ़ानेके स्थानमें उनके उपासकोंको बढ़ानेकी और जो जिनमन्दिर हैं उनके रक्षा करनेवालोंको उत्पन्न करनेकी अधिक

आवश्यकता है। केवल लोकप्रवाहसे आकर्षित होजाना उचित नहीं है। अब ऐसा विचार करके धनका व्यय किया जायगा तब अत्यन्त लाभ होगा।

ज्ञानसे संस्कारित या विनसंस्कारित बन्धुओंमेंसे जिन्होंने थोड़ासा भी शास्त्रीय तत्त्वज्ञान सम्पादन किया होगा उनको सहज ही में मालूम होगा कि सात क्षेत्र धर्मका गहरा तथा मजबूत पाया है। जिसप्रकार पैसोंका चाहे जैसे विना सोचे-समझे व्यय करना अनुचित है उसीप्रकार उनमेंसे किसी क्षेत्रकी ओर तथा विशेषतया सिद्धिदायक क्षेत्रकी ओर ध्यान न देना भी अनुचित है। सात क्षेत्रमें अपनी महान संस्था कान्फरेन्स (Conference) के मुख्य प्रस्तावोंका सार आजाता है। श्री जिनबिंब, जिनचैत्य, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका ये सात क्षेत्र है। इनके उद्धार, अभ्युदय, उन्नतिके लिये यथा-योग्य प्रयास करना, अपना तन, मन और धन इसमें लगाना, अर्पण करना और इसके लिये अत्यन्त परिश्रम करना, यह प्रत्येक मुमुक्षुका प्रथम कर्त्तव्य है। इसमें भी पहले बताई हुई बातको फिरसे दृढ़ीकर कहा जाता है कि जिस क्षेत्रको मददकी विशेष आवश्यकता हो उसकी विशेष सहायता करना तथा उसपर धन आदिको विशेष व्यय करना चाहिये। पहले समयमें दृढ़ श्रद्धा जागृत करने निमित्त जिनालयों तथा प्रतिमाओं आदिकी विशेष आवश्यकता थी, किन्तु वर्तमान समय ज्ञानकाल होनेसे केळवणीके साधनोंकी विशेष आव-श्यकता है। यह सब हकीकत ध्यानमें रखकर अपेक्षायें द्रव्य,

क्षेत्र, काल, भावका विचार करके योग्य क्षेत्रमें धनका व्यय करना चाहिये ।

× × ×

इसप्रकार धनममत्वमोचन द्वार पूर्ण हुआ। यह धन का विषय बहुत उपयोगी है, इसके समझानेकी आवश्यकता प्रतीत नही होती कारण कि यह सब कोई जानते हैं। ग्रन्थकर्त्ता के अनुसार इस विषयके दो भाग किये जासकते हैं। धन पर ममत्व नहीं रखनेके कारण प्रारम्भमें एक एक कहके ढंगसर बताये गये हैं। यहाँ जो कारण बताये गये हैं यदि प्राणी उन पर विचार करे तो उसके नेत्र बिना खुले नहीं रह सकते। चौथे श्लोकमें जो तत्त्वज्ञान बताया है वह बहुत उपयोगी है और तीसरे श्लोकमें कहा है कि 'ममत्वमात्रेण मनःप्रसाद-सुखम्' यह वाक्य बहुत रहस्यमय है। सारांशमें कहाँ जाय तो प्रथमके चारों श्लोकोंमें जो कारण बताये गये हैं वे बहुत विचारने योग्य, मनन करने योग्य और अनुकरण करने योग्य हैं। विषयके दूसरे भागोंमें उपार्जित धनके योग्य मार्गमें व्यय करनेका उपदेश किया गया है, तथा उस सम्बन्धका कितना ही उपयोगी ज्ञान दिया गया है। मुख्य उपदेश तथा उद्देश धनत्यागका ही है; परन्तु कदाच ममत्व न छुट सके तो फिर उसको शुभमार्गमें व्यय करनेका उपदेश किया गया है।

बन्धुओं! इस संसारमें अनेक प्रकारसे फँसानेवाली दो ही मुख्य वस्तुयें हैं–एक स्त्री और दूसरा धन। इन पर राग इसप्रकारका होता है कि उसका पूरापूरा वास्तविक वर्णन तो ज्ञानी पुरुष भी करनेमें असमर्थ हैं। इसमें धनका स्नेह

विशेष दृढ़ है या स्त्रीका स्नेह बहुत दृढ़ है यह बतलाना बहुत कठिन बात है। स्त्रीका स्नेह बड़ी आयु होने पर प्रारम्भ होता है और कुछ बरसों पश्चात् कम हो जाता है, किन्तु जितने समय तक रहता है उतने समय तक उसका रस (Intensity) अधिक होता है। द्रव्यका मोह सदैव दिनप्रतिदिन बढ़ता जाता है और वृद्धावस्थामें तो यह इतनी पराकाष्ठाको पहुँच जाता है कि जीवनके अवसान होते समयतक यह दूर नहीं होता है। अमुक व्यक्ति के लिये कौनसा मोह अधिक है यह कहा जा सकता है, किन्तु सामान्य रीतिसे मेरी तो यह धारणा है कि द्रव्यका मोह कदाच स्त्रीके मोहसे बढ़ता हो या न हो, परन्तु उससे कम होनेवाला तो कदापि नहीं है।

किसी भी वस्तुके प्राप्त करनेमें प्राणीकी अमुक न अमुक अभिलाषा अवश्य होती है, परन्तु धनप्राप्तिमें तो बिना किसी उद्देश्यके ही केवल एकमात्र पैसोंके निमित्तसे ही पैसे एकत्र किये जाते हैं। पुत्रके लिये बहुतसा द्रव्य छोड़ जानेके लिये एकत्र करनेका भी एक मात्र बहाना ही है। इस दलील के विषयमें दो हकीकत ध्यानमें रखने योग्य है। एक तो बिना पुत्र तथा पुत्र होनेकी आशा रहित पुरुष भी इतनी ही अभिलाषासे धन एकत्र करते हैं, और उपार्जित द्रव्यका भी शुभमार्गमें व्यय नहीं करते हैं, और दूसरा यह कि जो यदि आनेवाले भयके लिये पैसे जमा कर सकते हों (Investing of money) तो कोई भी मनुष्य ऐसा न मिलेगा जो अपना धन अपने वारीस पुत्रके नाम पर जमा कर सके। यह भी जानने योग्य है कि प्रत्येक कार्य्यकी अमुक सिमा होती है अर्थात् अमुक समय के पश्चात् या अमुक प्राप्ति होनेके पश्चात्

वह कार्य्य पूरा हो जायगा, किन्तु पैसोंके लिये तो यह नियम भी नहीं लगता है। हजारके मिलने पर लाखकी और लाखके मिलने पर करोड़की उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाती है। बढ़ती इच्छाके अनुसार कार्य्यधुरामें जुड़ कर सम्पूर्ण जीवन पूरा कर देते हैं, किन्तु उनके पैसे एकत्र करनेका काम फिर भी पूरा नहीं होता है। किसी भी कार्य्यके करनेका अमुक हेतु और अमुक साध्य होता है। विना प्रयोजन तथा विना साध्यके तो साधारण बुद्धिवाला पुरुष भी प्रवृत्ति नहीं करता है, तो फिर धनप्राप्तिका हेतु तथा साध्य क्या है? जरा विचार किजिये। अनादि पद्धतिसे पागल न हों। केवल एकमात्र धनकी अभिलाषासे ही धनकी प्राप्तिके लिये उद्योग न करो, किन्तु जरा आगे पिछे दृष्टि डालो। तुम समझदार पुरुष हो, तुम्हारा अनुकरण अनेकों पुरुष करते होंगे, अतः जब २ प्रवृत्ति करो तब २ उसके हेतु तथा साध्यको ध्यानमें रखकर करो। इस दृष्टिसे विचार करने पर मालूम होगा कि कार्यसिद्धिके ऊपर बताये दोनों नियम द्रव्यप्राप्तिके प्रयास में व्यर्थ सिद्ध होते हैं।

यह हम देख चुके है कि धनप्रवृत्ति निर्हेतुक है, अतः जो इसकी इच्छा न रखते हों वे ही उत्कृष्ट प्रशंसाके पात्र हैं। जो श्रावक अवस्थामें हैं, उनको सर्वत्यागकी अभिलाषा तथा वर्तमान दशामें संतोष रखना चाहिये। अपनी स्थितिके सुधारनेकी तीव्र अभिलाषा रखना उचित हैं, किन्तु उसके ठिक बनाते समय दुर्ध्यान न होने पावे। वर्तमान स्थितिमें आनन्द मानना और विशेषतया कर्मके सिद्धान्तोंके वशीभूत न हो कर पुरुषार्थ करना उचित है। इसका अर्थ कुछ और न समझले,

यहाँ यह बताने की आवश्यकता है कि संतोष और पुरुषार्थमें विरोध नहीं है, परन्तु दुर्ध्यान होता है। पैसोंके लिये आपमाला फिराते, तथा रातदिन पैसों पैसोंका ही ध्यान बना रहे ऐसी स्थिति नहीं होने देनी चाहिये। " You may aspire, but don't be dissatisfied with your present lot' तुम बड़े बनने की आशा—अभिलाषा रक्खो, किन्तु तुम्हारी वर्तमान दशासे असंतोषी न बनो।

धन एकत्र करनेके पश्चात् क्या करना चाहिये इसके लिये भी ग्रन्थकारने विवेचन कर दिया है। धन एकत्र करते समय कैसे संस्कार होते हैं उसपर जो ध्यान दिया जावे तो उपदेश लगे बिना नहीं रह सकता है। पैसोंके लिये परदेश-गमन, नीचसेवा, सर्दी, गर्मी और तीव्र वचन सहन करने पड़ते हैं, पैसोंके लिये चापलूसी करनी पड़ती है, पैसोंके लिये खटपट करनी पड़ती है और पैसोंके लिये अनेक विडम्बना सहन करनी पड़ती है। जिस कदर्थनाके एक अंश मात्र सहन करनेसे मुनिमार्गमें मोक्ष मिल सकता है, वैसी कदर्थना पैसों के लिये अनादि मोहमदिरामें चकचूर भये हुए जीव करते हैं; परन्तु विचारते नहीं कि यह सब किसलिये किया जारहा है? मूढ़अवस्थामें इधर उधर निरर्थक भटकते रहते हैं। सिंदूर-प्रकरमें कहते हैं कि:—धनसे विवेकहीन हुए हुए प्राणी भयं-कर बनमें भ्रमण करते हैं, विकट दूर देशान्तरमें फिरते हैं, गहन समुद्रका उल्लंघन करते हैं, बहुत दुःखवाली खेती करते हैं, कृपण पतिकी सेवा करते हैं और हस्तियोंके संघटसे अप्रवेश्य संग्राममें जाकर प्राण न्योच्छावर करते हैं। यह सब लोभवश है।

सुख कहाँ है ? पैसेदारोंकी हवेलियोंमें, राजाके महल में, चक्रवर्तीके निवासस्थानमें, इन्द्रके इन्द्रासनमें या दो घोड़ोंकी गाड़ीमें ? विचार किजिये और देखिये तो जानपड़ेगा कि बाहरके आडम्बरोंमें सुख नहीं है। सुखी दिखाई देनेवाले पुरुषोंके हृदयमें भी ज्वाला भभकती रहती है, उनके घरों में अनेक खटपट होती है और मनमें तो युद्ध होता ही रहता है। सुख-संतोप तथा वर्तमान स्थितिमें आनन्द अनुभव करनेमें ही है, धन अस्थिर है, यह किसीका न तो हुआ है न होगा ही। प्रायः विद्या तथा धनमें वैर है। विना ज्ञानके सुख नहीं मिल सकता और पैसेवालों को सुखी मानना महामूर्खता है।

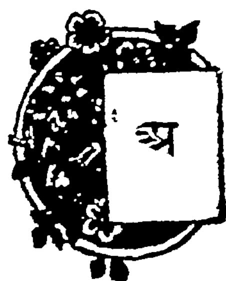
अनेक दोषोंसे भरपूर, धवलशेठ, मम्मणशेठ, सुभूम चक्री आदिको नरकमें डालनेवाली, एकान्त उपाधिसे भरपूर, मनकी अशान्तिका प्रवल साधन, अनेक दुःखोंकी वारीस करनेवाली, विद्वानों द्वारा अंधेका उपनाम दिलानेवाली लक्ष्मीके सुखको भोगनेवाले धनिकोंको वह सुख मुवारक हो ! वर्तमान समयके विचित्र रंगसे भरपूर जीवन और विशेषतया सख्त प्रवृत्तिके मध्यविन्दु वड़े शहरोंके सुखी दिखाई देनेवाले पुरुषों को देखकर किंचितमात्र भी आश्चर्य नहीं करना चाहिय, किञ्चित्‌-मात्र भी शोक नहीं करना चाहिये, और न उनको सुखी ही मानना चाहिये; कारण कि उनके विशेष समीपके सम्बन्धी यह भलीभाति जानते है कि वास्तवमें वे बिलकुल सुखी नहीं हैं। अपना सुख अपना पास ही है और हमको तो परमानंद पद प्राप्त करने की इच्छासे वर्तमान-स्थितिमें संतोप रखकर शुद्धवृत्ति धारण करके, धर्ममय जीवन बनानेका उद्देश रखते

हुए, उच्चतर और विशुद्धतर जीवन बनानेका आशय, उद्देश और अभिलाषा रखना चाहिये। मनुष्यजीवनके ऊंचे उद्देश्य की पूर्तिके लिये मनपर अंकुश रखनेकी तथा लोभके त्याग करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है।

॥ इति सविवरणो धनममत्वमोचननामा
चतुर्थोऽधिकार ॥



अथ पंचमो देहममत्वमोचनाधिकारः



ब तक की हकीकतसे मालूम हुआ होगा कि स्त्री, पुत्र और धनका मोह इस प्राणीको बहुत बन्धनमें डालनेवाला है। इन तीन प्रकारके मोहके साथ साथ शरीरका मोह भी विचारने योग्य है। शरीरके मोह में फँसकर अपने कर्त्तव्यको न भूलजाना चाहिये और शरीरको अत्यन्त नाजुक भी नहीं बनाना चाहिये, इस उद्देश्यको लेकर यह अधिकार लिखा गया है।

शरीरका पापसे पोषण न करना.

पुष्णासि यं देहमघान्यचिन्तयं-
स्तवोपकारं कमयं विधास्यति ॥
कर्माणि कुर्वन्निति चिन्तयायतिं,
जगत्ययं वञ्चयते हि धूर्त्तराट् ॥ १ ॥

"पापका विचार न करके जिस शरीरका तुं पोषण करता है वह शरीर तेरा क्या उपकार करेगा? (अतः

उस शरीरके लिये हिंसादिक) कर्मोंको करते समय भविष्यका विचार कर। यह शरीररूप धूर्त प्राणीको संसारमें दुःख देता है।"

वशास्य

विवेचनः—शरीरके पोषण करने निमित्त प्राणीको अभक्ष्य पदार्थ खाने पड़ते हैं तथा अनेकों उपचार करने पड़ते हैं। पैसे भी इसीके लिये उपार्जित करने पड़ते हैं। हिंसा, असत्य आदि पापात्मक कार्य भी करने पड़ते हैं। शरीर धीरे धीरे कोमल हो जाता है। इसके लिये साबुन लगाना पड़ता है, पंखे हिलाने पड़ते हैं और अभक्ष्य पदार्थ दवाके रूपमें खाने पड़ते हैं, किन्तु इस प्रकारसे पोषण किया हुआ शरीर किञ्चित्मात्र भी बदलेमें उपकार नहीं करता, अपितु बारबार कष्ट पहुंचाता रहता है और इसके भी उपरान्त कईबार तो रोगका घर बन जाता है।

अतः ऐसे कर्म करते समय प्राणीको भविष्यकालका विचार करना चाहिये। शरीरके जरासे सुखके लिये यह प्राणी तो अकथनीय औषधियोंका सेवन करता है और अपनी ही इच्छानुसार कार्य करके परभवमें नीच गतिको प्राप्त होता है और नरकके दुःख भोगता है और ऐसे कार्योंसे पोषित किया हुआ शरीर भी बिना मारा हुए नहीं रहता। हम उसको अपना मान बैठे हैं, परन्तु वास्तवमें यह ऐसा नहीं है जैसी कि हमारी धारणा है। विद्वान शास्त्रकार कहते हैं कि यह शरीर-रूप धूर्त सब प्राणीयोंको ठगता है। कहनेका यह प्रयोजन है कि शरीरका पापात्मक कार्योंमें पोषण नहीं करना चाहिये धार्मिक कार्योंमें यह उपयोगी होता है, अत उसको उचित

सात्त्विक खुराक देकर ममत्वरहित होकर पोषण करना यही हमारा कर्तव्य है।

यह निःसंशय बात है कि शरीरका मोह प्राणीको संसारमें दुःखी बनाता है। सनत्कुमार चक्रवर्तीको शरीर पर बहुत प्रेम था, परन्तु जब वह मोह पराकाष्ठाको पहुंचा तो शरीर विषमय हो गया। पुराणमें भी त्रिशंकुका एक दृष्टान्त आया है जो शरीरपर मोह रखनेवालेको अत्यन्त सुन्दर ज्ञान देनेवाला है। "इस त्रिशंकु राजाको शरीरपर इतना अधिक प्रेम था कि वह इसी शरीरसे स्वर्गमें जानेकी अभिलाषा रखता था। उसने अपनी इस अभिलाषाको अपने कुलगुरु वसिष्ठके सामने जाहिर की तो वे इस बातको सुन कर हँस पड़े। तब उसने अपने पुत्रोंसे इसके लिये प्रयत्न करनेको कहाँ, परन्तु उन्होंने भी इस बातको हँसीमें उड़ा दिया। इस पर त्रिशंकुको क्रोध हो आया और वह विश्वामित्रजीके समीप गया। विश्वामित्रजी के कुटुम्बपर दुष्कालके समयमें त्रिशंकुने बड़ा उपकार किया था, अतः विश्वामित्रने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और यज्ञ करने लगें। तपके प्रभावसे विश्वामित्र-जीने त्रिशंकुको आकाशमें चढ़ाना शुरु किया, परन्तु जब वह स्वर्गके गढ़के सामने पहुँचा तो इन्द्रने उसे उल्टे शिर पछाड़ दिया। जब वह वापिस आधे रास्ते पहुँचा तो विश्वामित्रजीको यह बात मालूम हुई और उन्होंने कहा कि "तिष्ठ त्रिशंको! तिष्ठ" इन शब्दोंसे त्रिशंकु उल्टे शिर ही आकाशमार्गके मध्यमें लटकता रह गया। उसको न तो स्वर्गसुख ही मिला न संसारसुख ही मिला। शरीरके ममत्वसे सबको खोया।"

(आप्टे डिक्शनेरी)। इस हकीकतसे विचार करें कि शरीर का मोह कितना हानिकारक है।

शरीररूपी कारागृहसे छूटनेका उपदेश.

कारागृहाद्बहुविधाशुचितादिदुःखा-
न्निर्गन्तुमिच्छति जडोऽपि हि तद्विभिद्य ।
क्षिप्तस्ततोऽधिकतरे वपुषि स्वकर्म-
व्रातेन तद्दृढयितुं यतसे किमात्मन् ? ॥२॥

" मूर्ख प्राणी होते है वे भी अनेक अशुचि आदि दुःखोंसे भरे हुए बन्दीखानेको तोडकर बहार भगजानेकी अभिलाषा करते हैं। तेरे खुदके कर्मोंद्वारा तूं उससे भी अधिक सख्त शरीररूपी बन्दीखानेमें डाला गया है, लेकिन फिर भी तूं तो उस बन्दीखानेको और भी अधिक मजबूत करनेका प्रयत्न करता है। " वसंततिलका

विवेचनः—कैदखानेमें क्षुधा, तृषा, गन्दगी, कठिन काम आदि अनेकों दुःखोंको सहन करने पडते हैं, इससे उसमें रहनेवाले प्राणीकी यह अभिलाषा होती है कि वह कब उससे छूटकारा पावे ? कोई अवसर मिले तो उसको तोडकर भग जावे। शरीररूप कैदखाना तो बहुतसी अशुचिसे भरपूर है, फिर भी उसमेंसे छूटकारा पानेका प्रयत्न करनेके स्थानमें

---

१ इस श्लोकके चतुर्थपादमें 'यतसे' के बदले किसी स्थानमें 'जनानां' ऐसा पाठ है इस का अर्थ 'जगत के प्राणियोंका' ऐसा हो सकता है परन्तु प्रथम पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

यह जीव इसको सुन्दर आहार, आईसक्रीम (Ice-cream) कोल्डड्रींक (Cold-drink), तथा अनेकों औषधियोंसे उसका पालन करता है, पोषण करता है, शृंगार करता है, कोमल बनाता है और उसको जरासा भी कष्ट होने पर पागलकी तरह हाय-हाय कर रोता-चिल्लाता है।

विचारशील प्राणीयोंको शरीररूपी कारागृहका सदुपयोग करना चाहिये। उसपर इसप्रकार शासन जमाना चाहिये कि जिससे फिर कभी उस कैदखानेमें न आना पड़े। शरीरका ममत्व छोड़ना बिलकुल कठिन नहीं है। एक मटकीमें बोर भरे हुए हैं, मटकीका मुंह छोटा है। एक बन्दर इस मटकीके समीप आता है और बोर खानेकी इच्छासे मटकीमें हाथ डालकर बोरसे मुट्ठी भर लेता है, फिर हाथको बाहर निकालनेका प्रयत्न करता है, किन्तु जब हाथ बाहर नहीं निकलता है तो समझता है कि मटकीने मुझे पकड़ लिया है। लेकिन विचार कर देखिये कि वास्तविक बात क्या है? सच तो यह है कि बन्दरने स्वयं मटकीको पकड़ रखा है, न कि मटकीने बन्दरको। कुछ समयके पश्चात् एक मदारी आता है और बन्दरको चाबूक लगाता है, जिससे उसका हाथ छूट जाता है। इसीप्रकार यह जीव भी मानता है कि मेरेको शरीरने पकड़ रक्खा है, स्त्री तथा पुत्रने पकड़ रक्खा है; किन्तु वास्तवमें तो यह ही उनको नहीं छोड़ता। ममत्व छोड़ना हो तो यह बिलकुल कठिन बात नहीं है इसका विचार करो, वरना जब कालरूप मदारी आकर चाबूक मारेगा तो अपनेआप मुट्ठी छूट जायगी और शरीरका तत्क्षण त्याग करना पड़ेगा।

शरीरमात्रनसे करने योग्य कर्त्तव्यकी ओर प्रेरणा

चेद्वाञ्छसीदमवितुं परलोकदुःख-
भीत्या ततो न कुरुषे किमु पुण्यमेव ? ।
शक्यं न रक्षितुमिदं हि च दुःखभीतिः,
पुण्यं विना क्षयमुपैति न वज्रिणोऽपि ॥ ३ ॥

"जो तू तेरे शरीरको परलोकमें होनेवाले दुःखोंसे बचाना चाहता है तो पुण्य क्यों नहीं करता ? यह शरीर किसी भी प्रकारसे रक्षा नहीं किया जा सकता; इन्द्र जैसेको भी पुण्यके बिना दुःखका भय नष्ट नहीं होता।"

वसन्ततिलका

विवेचन:—हे भाई[1]! यदि कदाचित् तेरेको यह भय हो कि अब मैं इस शरीरको यहाँ छोड़कर परलोकमें जाऊंगा तब बहुत दुःख उठाना पड़ेगा इससे यहीं अधिक जीवत रहना अधिक उत्तम है, ऐसे विचारसे यदि तू रात्रिभोजन करके कन्दमूल, अभक्ष्य, अनन्तकाय आदिका भक्षण करके जो अपने शरीरका पोषण करता हो तो यह तेरी बड़ी भारी भूल है। विशेष उत्तम मार्ग तो यह है कि खूब पुण्य करना, जिससे इस भवमें तेरा शरीर अच्छा रहेगा और परभवका भय नहीं रहेगा। अभी तुझे जो स्थिति अच्छी नहीं जान पड़ती है वह पुण्यकी कमी ही के कारण है, और इसी कारणसे इन्द्र तथा चक्रवर्ती भी दुःखका अनुभव करते हैं। तुझे तो यह विचारना अत्यावश्यक

---

१ किसी किसी प्रतमें यहां 'च' है और चतुर्थ पंक्तिमें 'च' है, उसका भाव भी यही होता है।

है कि शरीर प्राप्तिका क्या कारण हैं और उस हेतुमे किस प्रकार जीवन भलीभांति व्यतीत किया जा सकता है।

इस श्लोकका भाव एक और दूसरी प्रकारसे भी समझा जा सकता है। वह यह कि यदि तूं शरीर की रक्षा करना चाहता है तो पुण्य कर कि जिससे परभवमें जो तुझे शरीर मिलेगा वह इससे भी उत्तम मिलेगा। यह कहने का प्रयोजन यह है कि इस शरीरको बचानेमें तो कोई भी समर्थ नहीं है। इन्द्र जैसे भी असमर्थ है अतः पुण्यधन प्राप्त कर। पुण्यके विना परलोकका भय कदापि दूर नहीं हो सकता है। पात्र के नाश होजानेका भय रखनेके स्थानमें तो पात्र बनानेकी कला शिख लेना अत्युत्तम है, जिससे उस पात्रके नाश होजाने पर उससे भी, सुन्दर दूसरे पात्र के बनाने की शक्ति तैयार रहे।

देहाश्रितपनसे दुःख, निरालम्बनपनसे सुख.

देहे विमुह्य कुरुषे किमघं न वेत्सि,
देहस्थ एव भजसे भवदुःखजालम्।
लोहाश्रितो हि सहते घनघातमग्नि-
र्बाधा न तेऽस्य च नभोवदनाश्रयत्वे॥ ४ ॥

"शरीरपर मोह करके तूं पाप करता है, किन्तु तुझे यह खबर नहीं है कि संसारसमुद्रमें जो तूं दुःख भोगता है वह शरीरमें रहने ही के कारण भोगता है। अग्नि जब तक लोहेमें रहता है तब तक ही हथोडे (घन) की चोटको सहता है, इस लिये जब तूं आकाशके समान आश्रयरहित हो जायगा तो तुझे अथवा अग्निको कुछ भी कष्ट न होगा।"

वसन्ततिलका

विवेचनः—अब तक परलोकके दुःखकी शंकासे विशेष पुण्य सञ्चय करनेका उपदेश किया गया है। अब इस श्लोकमें बतलाते हैं कि इस लोकमें भी तूं दुःख क्यों उठाता है? शरीरसे तुझे किसी भी प्रकारका सुख नहीं मिल सकता, अपितु तुझे जो जो दुःख उठाने पड़े हैं वे सब शरीर सम्बन्ध ही के कारण उठाने पड़े हैं, इसलिये यदि तूं शरीर सम्बन्ध छोड़ दे तो इसमें कुछ भी शंका नहीं है कि तू मोक्षकी प्राप्ति न कर सके अर्थात् अवश्यमेव कर सकेगा। जिस शरीरकी तू अभक्ष्यसे रक्षा करता है वह तो दोनों तरहसे पीटा जाता है। इस भवमें भी बड़ी उमर हो जाने पर दुःख पाता है। कदाच युवावस्थामें मालमशाले दो एक वर्ष नुकशान न बतावे कुछ अधिक उमर होने पर वे उनकी असर बताये बिना नहीं रहते हैं। शरीर थोड़ेसे समय पश्चात् जर्जरीभूत होजाता है, और परलोकमें इसकी पुण्य बिना क्या दशा होती है, यह स्पष्टतया प्रसिद्ध ही है। दोनों श्लोकोंका यह उद्देश है कि हे भाइयों! यदि तुम्हारी परलोकमें सुख पानेकी अभिलाषा हो और इस भवमें भी शरीरको सामान्य रीतिसे स्वस्थ रखना हो तो इसको किसी भी प्रकारसे नाजुक बनाने की चेष्टा न करें।

धर्मसाधनके लिये शरीर उपयोगी है इसलिये इसका घात करना भी अनुचित है, लेकिन विचारपूर्वक माध्यस्थ मार्गका अवलम्बन करना अति श्रेष्ट है।

अग्नि जब लोहेके सम्बन्ध में आती है तो उसपर बड़े बड़े घन पड़ते हैं, किन्तु जब वह लोहमेंसे निकल जाती है तो सब कष्ट दूर हो जाते हैं। आत्मा भी अग्निके समान है।

जो शरीररूप लोहके सम्बन्धसे रोग, दुःख आदिको भोगती है, परन्तु जब उसके साथका सम्बन्ध छोड़ देगी तो सब दुःखोंका नाश हो जायगा। यह जीव जिसको अपना आश्रय समझता है वह शरीर ही आश्रितको दुःख देता है। यह बहुत दुःखकारक हैं; इसलिये अब एसा कार्य्य करना चाहिये कि जिससे किसी भी प्रकारके विचारसे अयोग्य (Not deserving any consideration) इस नालायक शरीरका कभी आश्रय ही न लेना पड़े। शरीरका ममत्व कम करनेमें यह उपमा बहुत उत्तम है। इसके उपरान्त निचेका श्लोक भी विचारने योग्य है।

जीव और सूरि के बिचमें हुई बातचीत.

दुष्टः कर्मविपाकभूपतिवशः कायाह्वयः कर्मकृत्,
बद्ध्वा कर्मगुणैर्हृषीकचषकैः पीतप्रमादासवम्।
कृत्वा नारकचारकापदुचितं त्वां प्राप्य चाशुच्छलं,
गन्तेति स्वहिताय संयमभरं तं वाहयाल्पं ददत् ।५।

" शरीर नामका नौकर कर्मविपाक राजाका दुष्ट सेवक है, वह तुझे कर्मरूपी रस्सीसे बांधकर इन्द्रियरूपी मद्यपान करनेके पात्रसे प्रमादरूपी मदिरा पिलावेगा। इस प्रकार तुझे नारकीके दुःख भोगने योग्य बनाकर फिर कोई बहाना लेकर वह सेवक चला जायगा; इसलिये तेरे स्वहित निमित्त इस शरीरको थोड़ा थोड़ा देकर तू संयमका भार वहन करात्र। "

शार्दूलविक्रीडित.

विवेचनः—एक कर्मविपाक राजा चतुर्गति नगरीमें राज्य करता है। इस राजाके अनेक सेवक हैं और शरीर भी उन अनेकों सेवकोंमेंसे एक सेवक है। यह राजा प्रत्येक दिन कचहरी किया करता है। एक दिन उसको इस जीवकी याद आई तो उसने अपने सेवकोंको हुक्म दिया कि इस जीवको बन्दीखाने में डाल दो, वरना कदाच यह मोक्षनगरमें चला जायगा जहाँ पर अपनी कुछ भी सत्ता (Jurisdiction) नहीं है। शरीरनामक सेवकने तैयारी की और राजासे कहा कि जीवको कब्जेमें करने के लिये रस्सी की आवश्यकता होगी। कर्मविपाकने उत्तर दिया कि "अरे काया! इसके लिये मुझे चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। अपनी शाला में कर्म-नामकी सहस्रों रस्सियें हैं, उनमेंसे तुझको जितनी चाहिये उतनी रस्सियें लेजा। केवल तू इस जीवसे सचेत होकर रहना, नहीं तो यह तेरे भी चपाव जमा देगा।" इसपर फिर शरीररूपी सेवकको विचार हुआ कि यह कार्य्य तो बड़ा कठिन जान पड़ता है, इसलिये राजासे कहा कि—"महाराज! इस जीव में तो अनन्त शक्ति है इसलिये यह मुझे मारपीट कर भगा देगा, इसलिये कोई ऐसी वस्तु प्रदान कीजिये कि जिसके मदमें अन्धा होकर यह पड़ा रहे और उसको अपनी अनन्त शक्ति-का भान भी न हो।" इसपर बहुत विचार करनेके पश्चात् राजाने मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पांच प्रमाद-रूप आसव (दारु) उनको दिये और कहा कि इन्द्रियरूप पात्रमें इन आसवको लेकर उस जीवको पिलाया करना।

इसप्रकार अपने राजाका हुक्म पाकर शरीररूप सेवक तुरन्त ही उनको अमल में लाया। दारुके नशेमें मस्त हो जाने पर जीवको कृत्याकृत्यका भी विवेक नहीं रहा और जब शरीरको यह पूर्णतया विश्वास होगया कि अब यह जीव मोक्षमें नहीं जा सकेगा परन्तु नरकमें ही जायगा तब यह समझ कर कि अब मेरा कार्य्य पूर्ण हो गया है वह इस जीवको छोड़कर चल देनेका विचार करने लगा। इस समयमें अकस्मात् गुरुमहाराज (मुनिसुन्दरसूरि) इस जीवको मिल गये। बंदीखानेकी असह्य वेदनाको सहते हुए इस जीवको देखकर उनका हृदय दयासे भर आया, इसलिये उन्होंने इस जीवको कैदखानेका स्वरूप समझाया और फिर कहा कि-
" हे भाई ! इस बन्दीखानेसे अब भी निकल भगनेका प्रयत्न कर। यह शरीर थोड़ा सा लोभी है, अतः ऐसा उपाय कर कि उसको थोड़ा थोड़ा खिलाकर इसीकी सहायतासे मोक्षका साधन तैयार कर, पांचों इन्द्रियोंपर संयम रख और पांचों प्रमादरूप दारु(मद्य)का कभी भूलकर भी सेवन न कर। "

मुनिसुन्दरसूरि महाराजके इस उपदेश पर जीव विचार करता है। उपदेशानुसार अमल करनेकी बहुत आवश्यका है, परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि यह जीव जब दूसरों की पंचायत करनी होती है तब तो बहुत बढ़ बढ़ कर बातें बनाने लग जाता है, लेकिन उसको अपने खुदके शरीरका बिलकुल भी भान नहीं है। यह जब रोगग्रस्त होता है तो वैद्यके कहने पर कठिनसे कठिन व्रत लेनेको तैयार होता है, लेकिन जब रोगरहित हो जाता है तो फिर वही रफतार बेढंगी जो पहले थी सो अब भी है अर्थात सम्पूर्ण दिवस सन्दूकमें दारु ही

भरा करता है। अन्यथा जीवको वस्तुस्वरूपका बिलकुल भान नहीं रहता है, इसलिये यह तो मदिरामें मस्त हो कर अकार्य करता है, अनाचरण करता है और अनेकों कष्ट झेलता है। किसी २ समय तो एक छोटीसी फुन्सीके होजाने पर भी हाय-हाय करने लगता है और किसी २ समय ज्वरके आने पर भी काम करना नहीं छोड़ता है। वास्तवमें यदि इसके सब आचरणोंको देखा जावे तो यह स्पष्टतया जान पड़ेगा कि मानो यह मद्यपानसे पागल हो रहा हो, परन्तु मदिरा क्या है? कैसी है? और उसको पिलानेवाला कौन है? यह यह जीव नहीं जानता है और इसलिये इसको सरलता-पूर्वक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। इस श्लोकमें इसका जो स्वरूप बतलाया गया है उसको समझकर शरीरसे तो अपना मतलब बना लेना ही अत्युत्तम है। नियमपूर्वक इसका पोषण करके इसके पाससे संयम पालनरूप काम करालेना चाहिये। पुष्टिकारक खुराकके खालेने पर यदि उसको हजम करने जितनी शक्ति नहीं होती है तो अपचा-अजीर्ण होजाता है, लेकिन थोड़ी वस्तु देकर अधिक कार्य लेना यह व्यवहारदक्षता कहलाती है। इसलिये शरीरके सम्बन्धमें भी इसी नियमका प्रयोग करना अत्यावश्यक है।

शरीरकी अशुचि, स्वहितग्रहण

यतः शुचीन्यप्यशुचि भवन्ति,
कृम्याकुलात्काकशुनादिभक्ष्यात्।
द्राग् भाविनो भस्मतया ततोऽगा-
न्मांसादिपिण्डात् स्वहितं गृहाण ॥ ६ ॥

"जिस शरीरके सम्बन्धसे पवित्र वस्तुऍं भी अपवित्र होजाती हैं, जो कृमिसे भरा हुवा है, जो कौओं तथा कुत्तों-के भक्षण करने योग्य है, जो थोड़ेसे समयमें राख होजाने-वाला है और जो मांसका पिण्ड है उससे तूं तो तेरा खुद-का हित कर।" उपजाति.

विवेचनः—अति सुन्दर वस्तुऍं भी शरीरके सम्बन्ध-में आनेसे अपवित्र होजाती हैं। मल्लिकुँवरीने छ राजाओंको जो उपदेश किया था वह इस शरीरकी रचना बनाकर ही किया था। यह शरीर जीवत हो अर्थात् जब तक इसमें आत्मा-चेतन हो तब तक ही यह कृमि आदिसे भरा रहता है, लेकिन मृत्युको प्राप्त होजाने पर यह किञ्चित्मात्र भी उपयोगमें नहीं आसकता है। पशुओंके चमड़े, मांस, पूंछ, शृंग, हड्डी और चर्बी आदिके तो पैसे पैदा हो सकते हैं, किन्तु मनुष्यका शरीर तो बिलकुल निरर्थक है और यदि कदाच चार दिन तक पड़ा रहजाता है तो अनेकों रोगोंको उत्पन्न करता है। इसलिये मृत्युके पश्चात् इसको जलाके राख कर देते हैं, और अभी है सो भी केवलमात्र मांसका पिण्ड ही है। ऐसे शरीर पर मोह क्यों करना ? जिस दुर्गंधिको देखकर दूरसे ही नाक पर रुमाल लगा लिया जाता है, वह ही दुर्गंधि इस शरीरमें भरी हुई है। इस सम्बन्धमें छट्ठी भावना वाचने योग्य है। पुरुषके नौ और स्त्रीके बारह द्वारमेंसे गटरके समान सदैव अपवित्र पदार्थ नीकलते ही रहते हैं। अनेकों सुन्दर पदार्थ भी शरीरके संसर्गसे उसी स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं और होते रहते हैं।

इस सबका यह प्रयोजन है कि ऊपरके श्लोकमें विस्तारपूर्वक समझायेनुसार शरीरको थोडा थोडा लिया कर उससे आत्महित कर लेना चाहिये। जिस शरीरसे संसारमें डुबा जाता है उसी शरीरसे संसारसे तरा भी जा सकता है। अतः इस शरीरका सदुपयोग करना चाहिये, यह बात निचेके दोनों श्लोकोंसे और विशेषतया स्पष्ट हो जायगी।

शरीरघरको किराया और उसका उपयोग

परोपकारोस्ति तपो जपो वा,
विनश्वराद्यस्य फलं न देहात्।
सभाटकादल्पदिनासगेह-
मृत्पिण्डमूढः फलमश्नुते किम्? ॥ ७ ॥

"जिस नाशवंत शरीरसे परोपकार, तप, जपरूप फल नहीं होते हैं उस शरीरवाला प्राणी थोडेसे दिनोंके लिये किराये लिये हुए घररूप मिट्टीके पिण्डपर मोह कर क्या फल पायगा?" उपजाति

विवेचन—भवसारके भवसे वीर परमात्माके जीवने परोपकार, तप और ध्यानका प्रारम्भ किया, शरीरका ममत्व छोड दिया और अन्तिम भवमें साडेबारह वर्ष तक तप किया और उपसर्गोंको सहन किया। उसका वर्णन पढते हुए भी विचार होता है। इसप्रकार शरीरका उपयोग करनेका यहाँ उपदेश है। ऐसा यदि न हो सके तो फिर शरीरप्राप्ति से क्या लाभ?

टीकाकार धनविजयगणी लिखते हैं कि "किसी प्राणीने

किराया देकर कुछ दिनोंके लिये एक मकान किराये पर लिया हो और बादमें यह मेरा घर है ऐसा समझ कर विचार करता है कि यदि इसको काममें लाऊँगा तो यह नष्ट होजायगा, ऐसा विचार कर उसको काममें नहीं लाता है, किन्तु जब मियाद पूरी होती है तो घरको छोड़ना ही पड़ता है; इसीप्रकार यह शरीर जीवको थोड़ेसे (परिमित) आयुष्ययुक्त प्राप्त होता है तब यह जीव विचार करता है कि परोपकार, तपस्या आदिसे तो यह शरीर दुर्बल हो जायगा, इसलिये मुझे ऐसे कार्य्य नहीं करना चाहिये। ऐसे निरर्थक विचारोंसे मूढबुद्धिवाला जीव शरीरका सदुपयोग नहीं करता है और जब आयुष्य पूर्ण होती है कि शीघ्र ही शरीरको छोड़ना पड़ता है, तब यह मनुष्यभव और शरीर दोनोंसे भ्रष्ट होता है।"

शरीरका कब पोषण करना, कैसे पोषण करना, क्यों पोषण करना आदि प्रश्नोंका जो यहाँ निर्णय किया गया है, वह मनन करने योग्य है।

शरीरसे होनेवाला आत्महित.

मृत्पिण्डरूपेण विनश्वरेण,
जुगुप्सनीयेन गदालयेन।
देहेन चेदात्महितं सुसाधं,
धर्मान्न किं तद्यतसेऽत्र मूढ ? ॥ ८ ॥

"मिट्टीके पिण्डरूप, नाशवंत, दुर्गंधी और रोगके घरवाले शरीरसे जब धर्म करके तेरा स्वहित भलीप्रकार सिद्ध

किया जासकता है तब फिर हे मूढ ! इसके लिये यत्न क्यों नहीं करता है ?" उपजाति

विवेचन—यह शरीर पार्थिव मिट्टीके पिण्डरूप, नाशवंत, दुर्गंधी और व्याधिका घर आदि दोषोंसे युक्त है, तो फिर इससे क्या लाभ हो सकता है ? जो यदि इससे हमारे किसी भी प्रकारके लाभके होनेकी संभावना हो तो वह लाभ कर लेना चाहिये। ज्ञानी महाराज कहते हैं कि-"इन्द्रियदमन, संयमपालन आदि बड़े बड़े कार्य्य इस शरीरद्वारा सम्पादन होसकते हैं।" उन्हींके करने निमित्त यहां उपदेश करते हैं। विद्वानोंका कर्तव्य तथा खूबी यह है कि त्याग न कीयेजाने योग्य खराब पदार्थोंका भी शुभ उपयोग ढूंढ निकालना चाहिये, अर्थात् इस शरीरके ऊपर लिखित अवगुणोंसे युक्त होनेपर भी जब कि यह छोड़ा नहीं जासकता है तो इससे जो जो आत्महित हो सकें उन उनके करलेनेमें किञ्चिन्मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। अभी तो सचेत न होना और पिछे समय निकल जानेपर पश्चात्ताप करना मूर्खोंका काम है।

× × ×

इसप्रकार देहममत्वमोचनद्वार समाप्त हुआ। इस द्वारमें जो शिक्षा है उसका सारांश निम्नानुसार है:—

१ शरीरका पोषण करना निरुपकारी पर आभार करनेके समान है।

२ शरीर तेरा सुखका नहीं है लेकिन मोहराजानिर्मित बंदीखाना है।

३ शरीर तेरा सेवक नहीं है किन्तु वह मोहराजाका सेवक है।

४ शरीररूप वन्दीखानेमेंसे छूटनेके लिये तुझे असाधारण प्रयास–पुरुषार्थ करना चाहिये।

५ शरीररूप वन्दीखानेमेंसे छूटनेका उपाय पुण्य–प्रकृतियोंका संचय करना है।

६ शरीरको नाजुक न वनाकर इन्द्रियोंका संयम करना चाहिये।

७ शरीरसे आत्महित करने निमित्त धर्मध्यान करना चाहिये।

८ शरीरको किरायेका मकान समझना चाहिये।

९ ऐसी वृत्तियें धारण करना चाहिये कि जिससे शरीरको छोड़ते समय किञ्चित्मात्र भी दुःख न हो।

१० शरीरकी अशुचिका विचार करना चाहिये।

हे भाइयों! स्त्री, पुत्र, धन और शरीर पर मोह न रक्खो, ऐसा ज्ञानीपुरुष अनेक वार गला फाड़ फाड़ कर कह गये हैं, परन्तु फिर भी यह जीव सब वातें जानते हुए भी इनको नहीं छोड़ता है। विशेषतया शरीरके वारेमें तो जानकर भूल की जाती है, कारण कि शरीरके कोमल वनानेमें तो यह इतना हैरान होता है कि कुछ कहा भी नहीं जाता; स्वभावको नाजुक वना देता है और अनेक खेल खेलता है। इन सबका यह कारण है कि प्राणी इस शरीरको किरायेका मकान नहीं समझता है, परन्तु स्वगृह ही मान बैठता है। उसको मरते समय इस शरीरको छोड़नेमें वड़ा दुःख होगा, किन्तु यह दुःख किसको होता है? जिसको भविष्य भवमें उत्तम स्थान मिलनेकी आशा नहीं होती वह ही घवराता तथा दुःखी होता है। हम

संसारमें शीत, धूप, क्षुधा आदि सब सहन कर लेते हैं, किन्तु यदि एक उपवास करनेकी बारी आती है तो शरीर अशक्त हो जाता है। ऐसे व्यवहारवाले प्राणियोंको मरण समय किस प्रकारका आनन्द हो सकता है?

जिसप्रकार शरीर पर बहुत ममता नहीं रखना चाहिये उसीप्रकार इसकी सर्वथा उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिये, कारण कि शरीरकी सहायता से ही संसारसमुद्र तैरा जा सकता है। शरीरको अपनी प्रकृतिके अनुकूल साधारण सात्त्विक खुराक देना चाहिये और कुदरतके नियमानुसार शरीरको जरा बहुत परिश्रमी भी बनाना चाहिये। नियमित टेव और योग्य व्यायामसे व्याधियें कम होती हैं। शरीरको बहुत नाजुक तबियतवाला बनानेका प्रयत्न न करें। उपरोक्त श्लोकमें कहेनुसार शरीरको भाड़ा देकर उसके बदलेमें आत्महित कर लेवें। श्रीशांतसुधारसके छट्ठी भावनाके अन्तमें लिखते हैं कि—" केवल मलरूप पुद्गलोंके समूह और पवित्र मोक्षमको अपवित्र बनानेवाले इस शरीरमें एक मात्र मोक्षसाधन करनेका सामर्थ्य है, इसीको अत्यन्त साररूप समझो।" शरीरकी सहायतासे आत्महित करनेका लक्ष्य रखना, शरीरपर मोह कम रखना और शरीरप्राप्तिका बराबर लाभ उठाना, यह बुद्धिमान् पुरुषका कर्त्तव्य है। इसके विपरित इस अधिकारके पांचवे श्लोकके विवेचनमें बता येनुसार यह जीव मस्त होकर शरीरसे यथायोग्य लाभ नहीं उठाता है। जब व्योपारी एक पुरुषको नोकर रखता है तो समय समय पर विचार करता है कि जितना उसको वेतन दिया जाता है उतना वह काम करता है कि नहीं करता और यदि वह नोकरी बराबर नहीं करता हो तो वेतन कम कर दियाँ जाता

है अथवा भविष्यमें विशेष ध्यान देकर काम करनेको वाध्य किया जाता है। इस शरीरके वारेमे भी उसीप्रकार विचार करनेकी आवश्यकता है। इस वर्त्तमान समयसे सम्बन्ध रखनेवाली एक और दूसरी खास विचारने योग्य वात यहां वतादेना अत्यावश्यक जान पड़ती है। खराव से खराव वस्तुको भी मिर्च-मशालेसे उत्तम दिखनेवाली वनाकर होटलमें वेचनेवाला तो वेचता ही है, किन्तु वह स्वास्थ्यकी घातक है इसलिये शारीरिक नियमको जाननेवालोंको उसका त्याग करदेना चाहिये। इसके त्याग करनेके दूसरे भी अनेकों कारण हैं, जिसके लिये अधिक लिखने और विवेचन करनेकी आवश्यकता यहाँ उचित प्रतीत नहीं होती है। उसके उपरान्त भंग पीना, सोडा-लेमन-जींजर आदि और अति सीमा रहित हुए हुओंके सम्बन्धमें सुरापान आदिका एकदम त्याग करदेना योग्य है। शरीरसे जो काम लेनेका है उसमें ये सहायता करनेवाले नहीं हैं, अपितु नुकशान करनेवाले हैं, और थोड़ा किराया देकर पूरा उपभोग करनेवालेको भी यह लाभदायक नहीं हैं। ऐसे पदार्थोंके खानेसे प्रमाद वढ़ता है, और प्रमाद वढ़नेसे शरीर अपना कार्य्य करनेमें असमर्थ होजाता है तथा ऐसी वस्तुओंके खरीद करनेमें भी अधिक द्रव्यव्ययकी आवश्यकता होती है, जिससे लाभके वदले हानि अधिक होती है। इसलिये ऐसा काम ही नहीं करना अधिक उत्तम है। शरीरको तो आवश्यकतानुसार उचित सात्विक खुराक देकर उससे पूरा पूरा काम लेना, यथाशक्ति तप, दान, दया, क्षमा और परोपकार आदि करना और शरीरप्राप्तिको सफल वनाना उचित है।

॥ इति सविवरण देहममत्वमोचननामा पंचमोऽधिकारः ॥

अथ षष्ठो विषयप्रमादत्यागाधिकारः



पांचवे द्वारमें शरीरका मोह कम करनेको कहा गया था और इसीप्रकार ममत्वके मुख्य कारणभूत स्त्री, धन, पुत्र और शरीर परके ममत्वको त्याग करनेकी व्याख्या पूर्ण की गई। ये सब बाह्य ममत्व हैं। इनके त्याग करनेके पश्चात् आन्तरिक ममत्वका भी त्याग करना चाहिये अर्थात् विषयोंपरसे मन हटाना चाहिये और प्रमाद न रखना चाहिये। 'प्रमाद' शब्दके दो अर्थ होते हैं। एक अर्थ आलस्य है किन्तु यह एक सामान्य अर्थ है। जैन परिभाषामें प्रमाद शब्दके अन्दर अनेकों वस्तुओंका समावेश होता है। प्रमाद शब्दमें विषयका भी समावेश होता है और इसकी ओर विशेष ध्यान खिंचनेकी आवश्यकता होनेसे इस अधिकारमें विशेषतया इसका ही वर्णन किया गया है। विषय पांच प्रकारके हैं— स्त्रीसंयोग, तैलमर्दन, बावनाचन्दनादि विलेपन, स्नान, उद्वर्तनादि स्पर्शेन्द्रियके विषय हैं, मिष्ट पदार्थ खाना, आहारमें मस्त होना और नये नये स्वाद उत्पन्न करना ये रसनेन्द्रियके विषय हैं, पुष्प, इत्रकी सुगन्ध लेना यह घ्राणेन्द्रियके विषय हैं, परस्त्रीकी

ओर देखना, कटाक्ष करना ये चक्षुरिन्द्रियके विषय हैं और वैश्या तथा गवैया आदिके गायन, वायलीन, हारमोनियम, सितार वा वेण्ड आदि वाजित्रोंके मधुरस्वर श्रवण करना ये श्रोत्रेन्द्रियके विषय हैं। ये पांच इन्द्रियाँ जीवको बहुत दुःख देती हैं। इस अधिकारमें इसके सम्बन्धका ही विवेचन किया गया है। प्रमाद पांच प्रकारके हैं:—

मज्जं विसयकसाया, निद्दा विकहा य पंचमी भणिआ।
ए ए पंच पमाया, जीवं पाडंति संसारे॥

१ मद (आठ प्रकारके हैं:—तप, श्रुत, वल, ऐश्वर्य, जाति कुल, लाभ, रूप)

२ विषय (पांच इन्द्रियोंके २३ विषय हैं)

३ कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ। ये प्रत्येक चार-चार प्रकारके होनेसे सोलह भेद होते हैं)

४ विकथा (राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा)

५ निद्रा (निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि)।

अथवा प्रमाद आठ प्रकारके हैं।

पमाओ य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ।
अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहेव य॥
रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मंमि य अणायरो।
जोगाणं दुप्पणिहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ॥

"अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, मतिभ्रंश, धर्मका अनादर और मन, वचन तथा कायाके योगोंका दुःप्रणिधान ये आठ प्रकारके प्रमाद जिनेश्वर भगवानने वर्जने योग्य कहे हैं।"

इन विषयप्रमादोंको छोड़नेकी क्या आवश्यकता है ? यह इस अधिकारमें बताया गया है।

विषयसेवनसे उत्पन्न होनेवाले सुख तथा दुःख.

अत्यल्पकल्पितसुखाय किमिन्द्रियार्थे-
स्त्वं मुह्यसि प्रतिपदं प्रचुरप्रमादः ॥
एते क्षिपन्ति गहने भवभीमकक्षे ।
जन्तून् यत्र सुलभा शिवमार्गदृष्टिः ॥ १ ॥

"बहुत थोड़े और वह भी मानेहुए (कल्पित) सुख के लिये तू प्रमादवान् होकर वारंवार इन्द्रियोंके विषयमें मोह क्यों करता है ? ये विषय प्राणीको संसाररूप भयंकर गहन वनमें फेंक देते हैं, जहां से मोक्ष मार्गका दर्शन भी इस जीवको सुलभ नहीं है।" वसन्ततिलका

विवेचन—स्वादिष्ट मिष्ट पदार्थोंका सेवन किया, स्त्रीसंभोग किया अथवा पियामाका सुन्दर मधुर स्वर श्रवण किया, किन्तु सुख कितना मिला ? कितने समय तकका ? इसके परिणामको देखिये। इन्द्रियजनित विषयोंमें रमण करना यह शुद्ध आत्मिक दशा नहीं है, क्योंकि उसीके परिणामसे यह जीव संसारमें पड़ता है और उसमें इतना गहरा उतर जाता है कि

मोक्ष क्या है ? कहाँ है ? किसको प्राप्त हो सकता है ? इसके देखनेका, जाननेका अथवा समझनेका प्रसंग ही उसको नहीं आता है। इस सबका कारण यही है कि उसने विषयको सुख मान रक्खा है, किन्तु यह वास्तविक सुख नहीं है। उसके स्थानमें यदि शांत प्रदेश हो, चारों ओर दश दश गाँवों में मनुष्योंकी वस्ती न हो, अखण्ड शान्तिका साम्राज्य हो और शांतिका भंग करनेवाला कोई भी न हो, ऐसे अरण्यमें बैठकर धर्मशास्त्र अध्ययन और मनन करनेसे गहरे अन्तःकरणमें जो आनन्द होता है उसका वर्णन करना लेखनीकी शक्तिके बाहर है। यह स्वभाविक आनन्द है। सर्व देवताओंके इन्द्रियजन्य सुखके स्थानमें अनुत्तर वैमानके देवताओंके ज्ञानानंदका सुख असाधारण गिना जाता है। इसप्रकार इन्द्रियोंके सुखमें वास्तविक सुख तो है ही नहीं, किन्तु इसके भी उपरान्त संसाररूप वनमें ये ऐसी विचित्र गति कराती है कि जिसका सच्चा सच्चा हाल जानना हो तो उपमितिभवप्रपंचको दूसरेसे सातवें प्रस्ताव तक पढ़े। इन्द्रियें अपनी होकर अपना ही घात करती हैं, यह बड़ा भारी कष्ट है, कारण कि इसके भी उपरान्त यह समझदार प्राणी भी अनेकों वार नहीं जान सकता कि ये कब अपना घात करनेवाली है।

विषय परिणाममें हानिकारक हैं.

आपातरम्ये परिणामदुःखे,
सुखे कथं वैषयिके रतोऽसि । ?
जड़ोऽपि कार्यं रचयन् हितार्थी,
करोति विद्वन् यदुदर्कतर्कम् ॥ २ ॥

" एकमात्र भोगते समय सुन्दर भान पड़नेवाले किन्तु परिणाममें दुःख देनेवाले विषयसुख में तूं क्यों कर आसक्त हुआ है ? हे निपुण ! स्वहित अभिलाषी मूर्ख पुरुष भी कार्यके परिणामका तो विचार करता ही है । " उपमाति

विवेचन—ऊपर कहेनुसार प्रत्येक कार्यमें देखे कि इस कार्यमें तात्कालिक सुख है या पारिणामिक सुख है । बड़े भयकर कूँएमें नीचे बड़ा अजगर है, चार बड़े सर्प चारों कोनेमें फूत्कार कर रहे हैं, स्वयं पेड़की डालीसे लटक रहा है, उसी डालीको दो चूहे काट रहे हैं—जिसपर भी मधुकी बूँदकी अभिलाषामें यह जीव विमानमें बैठे हुए विद्याधरयुग्मको भी राह देखनेको कहता है । यह मधुकी बूँदका दृष्टांत जीवमें बुद्धिकी कितनी कमी है और स्वस्वार्थ साधनेकी उसकी कितनी अभिलाषा है यह बताता है । चिदानन्दजी महाराज भी कह गये हैं कि—

इन्द्रियजनित विषयरस सेवत, वर्तमान सुख ठाणे,
पण किंपाकतणा फलनी परे, तस विपाक तस जाणे,
सतो देखिये थे, परगट पुद्गल जाल तमाशा.

विषयजन्य सुख परिणाममें एकान्त दुःख देनेवाला है और तू एकान्त सुख मिलनेका अभिलाषी है । हे भाई ! मूर्ख भी जब कोई कार्य्य करता है तो थोड़ा बहुत भी परिणामका विचार करता है तो फिर तेरी विद्वत्ता क्यों निद्रा लेती है ? दिमाग(मगज)को शान्ति देकर जरा विचार कर । इस अमूल्य जीवनका अल्प सुखके खातीर होम न कर क्योंकि ऐसा शुभ अवसर फिर मिलना कठिन है ।

मोक्षसुख और संसारसुख.

यदिन्द्रियार्थैरिह शर्म बिन्दव-
च्यदर्णवत्स्वः शिवगं परत्र च ॥
तयोर्मिथः संप्रतिपक्षता कृतिन्,
विशेषदृष्ट्यान्यतरद् गृहाण तत् ॥ ३ ॥

" इन्द्रियोंसे इस संसारमें जो सुख होता है वह बिन्दु के समान है और परलोकमें (उसके त्यागसे) स्वर्ग और मोक्षका सुख होता है वह समुद्रके समान है। इन दोनों प्रकारके सुखोंमें परस्पर शत्रुता है। इसलिये हे भाई! विचार करके उन दोनोंमेंसे विशेष एकको ग्रहण कर।" वंशस्थ.

विवेचन—ऊपरोक्त गाथामें इन्द्रियजन्य सुखको भी भोगते हुए रमणीय कहा गया है और मोक्षका सुख भी रमणीय कहलाता है। इसप्रकार दोनों प्रकारके सुखोंमें रमणीयताका समान धर्म है; किन्तु दोनोंमें भेद क्या है यह बताते हैं:—

संसारसुख और मोक्षसुख दोनोंके विचमें जमीन आशमान का भेद है। एकको बिन्दु कहें तो दूसरा समुद्रके समान है। दूसरी बात यह है कि जहां संसारसुख है वहां मोक्षसुख नहीं और मोक्षसुख वही होता है जहां संसारसुखकी अपेक्षा भी नहीं होती। सांसारिक सुख अल्पस्थायी है; मोक्षसुख अनन्तकाल तक रहनेवाला है संसारिक सुख बहुत थोड़ा है; मोक्ष सुख अनन्त है। सांसारिक सुख अन्ते दुःखयुक्त और विनाशी है; मोक्षसुख नित्य है।

---

१ 'स' के बदले कहीं कहीं 'अस्ति' ऐसा पाठान्तर है। 'तयोऽर्मिथोऽस्ति' ऐसा पाठ इससे होता है।

वस्तुतः यह शुद्ध स्वरूप है। अब यदि तेरी इच्छा हो तो स्त्रियोंके साथ भोग–विलास कर, धन एकत्र कर, परदेश पर्यटन कर, मनोवाञ्छित भोजन कर, विषयोंका सेवन कर, नौकरी कर और तेरी इच्छा हो तो संसारबंधन तोड़कर, ध्यानमें लीन होकर, बियालीस दोषरहित आहार लेकर, पंचमहाव्रतका उत्कृष्ट रीतिसे पालन करके, मन इन्द्रियोंका संयम करके, अनेक प्राणियोंके सुख निमित्त, वे भी आवें तो उनको भी अपने संग लेकर मोक्ष प्राप्त करने निमित्त मोक्षमार्गकी तैयारी कर। यह सब हकीकत तेरे सामने है किन्तु इसपर विचार करना तेरी इच्छाधीन बात है। एक बात यहां विशेष ध्यान में रखनेयोग्य है और वह यह है कि इन्द्रियजनित सुख और मोक्षसुख प्रतिपक्षी हैं। अतः जहां इन्द्रियसुख होता है वहां मोक्षसुख नहीं होता और जहाँ मोक्षसुख होता है वहां विषयसुख नहीं होता है। ऊपर जो हमने सुखोंका पृथक्करण करके देखा है उससे ज्ञात होता है कि विषयसुख तो केवल एकमात्र मान्यतामें ही है, कारण कि यह थोड़ेसे समयतक रहता है फिर भी इसकी सीमा सदैव संकुचित होती है और इसकी वासनायें अति निरस, मलीन और साररहित होती हैं। विषयसुखके वास्तविकपनपर विचार किया हो तो एकदम जान पड़ेगा कि इसमें सेवन करने योग्य कुछ भी नहीं है, परन्तु यह जीव तो इस सम्बन्धमें कुछ भी विचार नहीं करता है। इस सुखका मोक्षसुखके साथ विरोध है। जहाँ एक होता है वहां दूसरा नहीं होता। मोक्षमें किस प्रकारका सुख है उसकी कल्पना भी नहीं की जासकती है, परन्तु स्थूलसे वह अधिक विशेष है। तुम जब युक्लीड (Euclid) की एक

प्राब्लम (Problem) करते हों, अंकगणित (Arithmetic) या वीजगणित (Algebra) का एक कठिन प्रश्न हल करते हों तब मनकी एकाग्रता होती है, संसारकी सब उपाधियोंको भूला देते हो और एक प्रश्नमय होजाते हों और तब प्रश्नपर एकाग्रता रख कर धीरे धीरे आगे बढ़ते जाते हो और तब अन्तमें पूर्ण प्रत्युत्तर बराबर प्राप्त कर लेते हो। इसमें प्रारम्भसे अन्त तक जो आनन्द होता है उसको यदि एक बिन्दु तुल्य समझा जावे तो मोक्षसुखकी समुद्रसे तुलना दे सकते हैं। ऐसे निर्दोष आनन्दको प्राप्त करनेकी बहुत आवश्यकता है अतः उसके विरोधी विषयानन्दका जिसमें वस्तुतः कुछ भी आनन्द नहीं है त्याग करना अत्यावश्यक है।

दुःख देनेवाले कारणोंका निश्चय.

भुंक्ते कथं नारकतिर्यगादि
दुःखानि देहीत्यवधेहि शास्त्रैः।
निवर्तते ते विषयेषु तृष्णा,
बिभेषि पापप्रचयाच्च येन ॥ ४ ॥

“यह जीव नारकी, तिर्यंच आदिके दुःख क्यों भोगता है? इसका कारण शास्त्रमें भलि भाँति प्रकट है जिसको पढ़ जिससे विषयपर तृष्णा कम होगी और पाप एकत्र न होगें”

उपजाति.

विवेचनः— “नारकीमें रहनेवाले जीवोंको ऐसी क्षुधा होती है कि चौदह राजलोकव्यापी सर्व पुद्गलोंका भक्षण करने पर भी उनकी तृप्ति नहीं होती, सर्व समुद्रोके जलको पान करने

परमी उनकी तरस नहीं बुझती, ठंडकी वेदनासे अत्यन्त पराभव पाते हैं, अत्यन्त गर्मीसे कदर्थना पाते हैं और दूसरे नारकी जीव भी उनको वेदना देते हैं। इसप्रकार परमाधामिकृत, क्षेत्रकृत और परस्परकृत वेदनायें वहाँ होती हैं।

"तिर्यंचमें वहाँ का स्वामी नाकमें नाथ डालता है, उनसे भारी बोझ खिंचवाता है, अत्यन्त पीटता है, कान, पूछ आदि छेदता है, कृमि उनको खाजाते हैं और भूख–प्यास सहन करनी पड़ती है।

"मनुष्य भवमें व्याधियें, वृद्धावस्था, दुर्जन मनुष्योंका प्रसंग, इष्टका वियोग, अनिष्टसंयोग, धनहरण, स्वजनमरण आदि अनेक दुःख हैं।

"देवगतिमें भी इन्द्र की आज्ञाको परवशपनसे माननी पड़ती है, दूसरे देवोंका उत्कर्ष देखकर दुःख होता है दूसरी देवांगनाके संगकी इच्छा मनको कष्ट पहुचाती है, अपना च्यवन समय (मरण) जब समीप आता है तब देव बहुत दुःखी होते हैं, विलाप करते हैं और अन्तमें अशुचिमय स्त्री की कुक्षिमें पड़ते हैं।"

उपमिति भवप्रपंच पीठबंध भाषांतर पृ. १२.

इसप्रकार सब गतिमें दुःख है इसलिये तू शास्त्रोंका अध्ययन करके या श्रवण करके निश्चय करले कि ऐसे दुःखों का क्या कारण होगा? यदि तू ऐसा विचार करेगा तो तुझे विषयों पर तिरस्कार होगा और पापकर्मोंसे भी पराङ्मुख होगा; कारण कि दुःख के हेतु विषयप्रमाद ही हैं ऐसा शास्त्रकारने जोर देकर निश्चयपूर्वक कहा है। इस हकीकतका शास्त्रमे निर्णय

करनेका यही कारण है कि सामान्य बुद्धि ऐसे गहन कार्य्यमें काम नहीं देती है। शास्त्रनिर्णयका परिणाम मुनिसुन्दरसूरिने सम्पूर्ण ग्रन्थमें बताया है।

उस उपरोक्त निश्चयपर विचारणा.

गर्भवासनरकादिवेदनाः,
पश्यतोऽनवरतं श्रुतेक्षणैः।
नो कषायविषयेषु मानसं,
श्लिष्यते बुध! विचिन्तयेति ताः ॥ ५ ॥

"ज्ञानचक्षुसे गर्भवास, नारकी आदिकी वेदनाओंका वारंवार विचार करने पश्चात् तेरा मन विषयकषायकी ओर आकर्षण नहीं होगा; अतः हे पण्डित! तूं इसके लिये वारंवार विचार कर।" रथोद्धता.

विवेचन—शास्त्र अवलोकनसे-ज्ञानचक्षुसे जब तूं देखेगा तब तुझे जान पड़ेगा कि सांसारिक दुःख कैसे और कितने हैं? गर्भवासका दुःख बहुत कठिन है, उसका स्मरण करानेके लिये शास्त्रकार कहते है कि सम्पूर्ण शरीरमें गर्म की हुई लोहेकी सलाइयें लगाई हों उसके दुःखसे भी आठगुना अधिक गर्भमें दुःख है और जन्मसमय इससे भी अनन्तगुणा दुःख है। प्रवचनसारोद्धारमें भी इस सम्बन्धमें कहा है कि:—

रम्भागर्भ समः सुखी शिखिशिखावर्णाभिरुच्चैरयः-
सूचिभिः प्रतिरोमभेदितवपुस्तारुण्यपुण्यः पुमान्।
दुःखं यल्लभते तदष्टगुणितं स्त्रीकुक्षिमध्यस्थितौ,
संपद्येत ततोऽप्यनन्तगुणितं जन्मक्षणे प्राणिनाम् ॥

" केलके गर्भ जैसा कोमल और अत्यन्त सुखी जीव हो उसके हर रोमरोममें तपाई हुई अग्निकी ज्वाला समान लाल लोहेकी सलाइयें पिरोई हों तब उसको जो दुःख होता है उससे आठगुना दुःख गर्भमें प्रत्येक दिन होता है और उत्पन्न होते समय तो उससे भी अनन्तगुना दुःख होता है। "

नारकी तथा तिर्यंचके दुःखोंका वर्णन ऊपर कर दिया गया है। इन दुःखोंपर वारंवार विचार किया जायगा तब विषयपर इच्छा कम होजायगी, कारण कि यह ही दुःखोंके कारण हैं। कहनेका यह तात्पर्य्य है कि विचार करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। प्रात से साय तक बहुत घबराते रहना और अपने कार्य्यके बीचमें बड़े पत्थरके आजाने पर व्याकुल होकर ठहर जाना यह पुरुषार्थी पुरुषका कर्तव्य नहीं है। विचार कीजिये, देखिये, सोचिये और अपने अंगत स्वार्थको एक ओर रखकर ठीक ठीक निर्णय कीजिये और तदनुसार व्यवहार कीजिये। यद्यपि यहां प्रस्तुत प्रसंग विषयत्यागका ही है तिसपर भी कषायके और इसके इतना अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है कि यहां तत्सूचनार्थ कषायशब्दका प्रयोग किया गया है। कषाय सम्बन्धी विशेष हकीकत आनेवाले प्रस्तावमें आयगी और उसका विशेष विवेचन भी उसीस्थानमें किया जायगा।

मरणभय-प्रमादत्याग.

वध्यस्य चौरस्य[1] यथा पशोर्वा,
संप्राप्यमाणस्य पदं वधस्य।
शनैः शनैरेति मृतिं समीपं,
तथाखिलस्येति कथं प्रमादः ? ॥ ६ ॥

---

१ चोर इति वा पाठः

" फांसीकी सजा पानेवाले चोरके अथवा वध करनेके स्थानपर लिये जानेवाले पशुके मृत्यु धीरे धीरे समीप आती जाती है, इसीप्रकार सबके मृत्यु समीप आती रहती है, तो फिर प्रमाद क्योंकर होता है ? " उपजाति.

विवेचनः—गुजराती भाषामें एक कहावत है कि " मा जाणे दीकरो मोटो थयो पण आउखामांथी ओछो थयो " माता विचार करती है कि मेरा पुत्र दिनप्रतिदिन बड़ा होता जाता है किन्तु वह यह नहीं सोचती कि दिनप्रतिदिन उसके अन्तकालमें भी कमी होती जारही है अर्थात् उसका मरणकाल समीप आ रहा है। प्रत्येक घड़ी, प्रत्येक मिनिट और प्रत्येक सेकन्ड अपना अपना कार्य करते रहते हैं, अंतः रेतघड़ीमेंसे गिरती हुई एक एक कणीको स्वर्णमय समझ कर उसका सदुपयोग करो। कुदरती तौरसे भी शरीरकी बनावट उद्योगकी ओर प्रवृत्त करती है, अतः शारीरिक अथवा मानसिक कार्य करते हुए अपना कर्त्तव्यपालन करना कर्तव्यपरायणता कहलाता है।

समयकी देवी[1] (Goddess of Time) का अंग्रेजीमें स्वरूप बताया गया है कि उसके तालवेपर चमड़ेकी चोटी है, और पीछेसे शिर मुण्डा है। प्रसंग—समयके आने पर जो उसे आगेसे पकड़ते हैं वे उसकी चोटी पकड़ सकते हैं और उससे लाभ उठा सकते हैं; किन्तु जो पीछेसे पकड़नेका प्रयत्न करते हैं उनके हाथमें मुण्डा शिर आता है अर्थात् 'गया वख्त फिर हाथ आता नहीं' इसलिये प्राप्त हुए समयको निरर्थक न जाने देना चाहिये और हृदयमें सुनहरी अक्षरसे अंकित कर

---

1 Goddess of time has been personified.

देना चाहिये कि "समय ही अमूल्य धन है" इसका यह प्रयोजन नहीं है कि मृत्युसे भय करना, परन्तु यह उद्देश है कि मृत्युको दृष्टिमें रखते हुए, आलस्य तथा प्रमादका त्याग कर अहर्निश कर्तव्यपरायण बनना उचित है।

सुख निमित्तसे बनकराते विषयोंमें दुःख

विभेषि जन्तो ! यदि दुःख राशे
स्तदिन्द्रियार्थेषु रतिं कृथा मा ।
तदुद्भवं नश्यति शर्म यद्राक्,
नाशे च तस्य ध्रुवमेव दुःखम् ॥ ७ ॥

"हे प्राणी ! यदि तुझे दुःखोंसे भय है तो इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त क्यों होता है ? उन(विषयों)मे उत्पन्न हुआ सुख तो शिघ्र ही नाश होनेवाला है तथा उसके नष्ट होजाने पर बहुत समय तक दुःखका होना भी निश्चय ही है।"

उपजाति

विवेचनः—विषयसुखके विषयमें बहुत विचार करने कि आवश्यकता है। एक तो उसके परिणाममें दुःख होता है (दुःखजन्य), दूसरा उसके अभावमें दुःख होता है और तीसरा वह अल्पस्थायी है-इन तीनों बातोंका भिन्नभिन्न रूपसे ऊपर वर्णन आचुका है। चोथी बात यह है कि यदि हम उसका परित्याग कर देते हैं तो वह हमको बहुत आनन्द देता है किन्तु यदि वह स्वयं हमको छोड़ देता है तो हमको बहुत दुःख भोगना पड़ता है। आयुके परिपक्व होनेके पूर्व ही जो इन्द्रियभोगोंका परित्याग कर देते हैं वे ही शारीरिक तथा

मानसिक सुख आनन्दका उपभोग करते हैं । भर्तृहरिने क्या ही उत्तम कहा है कि:-' स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधते ' जिन्होंने विषयको स्वयं ही छोड़ दिया है वे ही अनन्तसुखको प्राप्त होते हैं; परन्तु वृद्धावस्थासे शरीरके अशक्त होजाने पर यदि वह हमको छोड़ जाता है तो हमको अत्यन्त मानसिक क्षति उठानी पड़ती है । श्लोकके चौथे पदमें जो कहा गया है उसका यही प्रयोजन है, इसलिये सब प्राणियों को विषयत्याग करने की अभिलाषा रखते हुए उसके लिये प्रयास करना चाहिये । विषयसेवनमें इन उपरोक्त चार चिजोंका सामना करना पड़ता है इसमें कुछ अतिशयोक्ति नहीं है, किन्तु यदि इनसे मुक्त होना चाहें तो विषयका त्याग करना भी उतना कठिन नहीं है जितनी की हमारी धारणा है ।

तूं क्यों विषयों में आसक्त होता है ?

मृतः किमु प्रेतपतिर्दुरामया,
गताः क्षयं किं नरकाश्च मुद्रिताः ।
ध्रुवाः किमायुर्धनदेहबंधवः,
सकौतुको यद्विषयैर्विमुह्यसि ॥ ८ ॥

" क्या जम (यम) मर गया है ? क्या दुनियाँकी अनेकों व्याधियाँ नष्ट होगई हैं ? क्या नरकद्वार बन्द हो गये हैं ? क्या आयुष्य, पैसा, शरीर और सगेसम्बन्धी सदैवके लिये अमर हो गये हैं ? कि जो तूं आश्चर्य-हर्षसहित विषयोंकी ओर विशेषरूपसे आकर्षित होता है ? " वंशस्थवृत.

विवेचनः—जिसको मरनेका भय न हो वह यदि विषय-

प्रमादमें आसक्त हो तो कुछ अशमें ठीक भी है किन्तु तेरे शिरपर तो यम गर्ज रहा है, अनेकों व्याधियोंने चारों ओरसे तुझे घेर रक्खा है, तेरे कृत्य नरकमें लेजाने योग्य हैं, तेरा आयुष्य अस्थिर है, लक्ष्मी तो किसीकी भी नहीं हुई, न तेरी ही होगी, शरीर नश्वविनाशी है और सगे-सम्बन्धी भी जब तक उनका स्वार्थ है तब तक तेरे हैं, फिर कोई किसीका नहीं है—तो फिर तू क्या देखकर विषयोंमें आसक्त रहता है ? (पहले अधिकारके अठारवें श्लोकको देखिये) ।

यद्यपि यह एक आक्षेपक श्लोक है, तिसपर भी सहृदय मनोंको इसमेंसे बहुत कुछ सिखनेको मिलता है । आश्चर्यपूर्वक या हर्षपूर्वक विषयोंमें निमग्न होते समय शिरपर नाचते हुए वैरको न भूल जानेका उपदेश करनेवाले इस श्लोकके भावपर विचार करना योग्य है ।

उपसंहार

विषयप्रमादके त्यागसे सुख

विमोह्यसे किं विषयप्रमादै-
 र्भ्रमात्सुखस्यायतिदुःखराशेः ।
तद्गर्धमुक्तस्य हि यत्सुखं ते[1]
 गतोपमं चायतिमुक्तिदं तत् ॥ ९ ॥

" भविष्यमें जो अनेको दुःखोंकी राशी है, उनमें सुखके भ्रमसे तू विषयप्रमादजन्य बुद्धिसे क्यों छुमा जाता है ? उस सुखकी अभिलाषामें मुक्तप्राणीको जो सुख होता है

१ तद्गार्ध्यमुक्तस्येति वा पाठ । २ तद्गतार्गमिति वा पाठः ।

वह निरुपम है तथा भविष्यमें वह मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है।" उपजाति.

विवेचन—' अतद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रमः ' जहाँ सुख न हो वहाँ सुख मानना भ्रम कहलाता है। विषयोंमें जो यह जीव सुख मानता है यह भ्रम है, कारणकि उनमें किञ्चित् मात्र भी सुख नहीं है; अपितु भविष्यमें उसे माने हुए सुखसे बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसप्रकार प्रमाद तथा विषय दोनों प्रकारसे दुःखमें डालनेवाले हैं। वे इस जीवकी बुद्धिको भ्रष्ट कर इसे इन्द्रिय भोगोंमें सुख मनाते हैं। विषय सेवनारको किस प्रकारका सुख होता है उसके लिये महाराज धर्मदासगणिने लिखा है:—

जह कच्छुल्लो कच्छुं, कंडुयमाणो दुहं मुणइ सुक्खं।
मोहाउरा उ मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं विंति॥

" जैसे खुजलीसे पीड़ित पुरुष खाज चलनेपर उसके खुजानेमें आनंद मानता है, उसीप्रकार मोहमें आतुर हुए प्राणी कामभोगके दुःखको–विषयोंको सुख कहते हैं " परन्तु इस सुखपरसे झूठे मोहको कम करके–अभिलाषा छोड़ कर–जब शांतिमें निमग्न होजाते हैं, तब संसारवासना नष्ट होकर उच्च भावना अन्तःकरणमें निवास करती है उस समय मनमें जो आनंद होता है वह निरुपम है। दुनियामें दूसरा ऐसा कोई आनन्द नहीं है कि जिसकी तुलना इससे की जावे। उमास्वाति वाचक महाराज श्री प्रशमरति प्रकरणमें कह गये हैं कि:—

नैवास्ति राजराजस्य, तत्सुखं नैव देवराजस्य॥
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य॥ १॥

" लोकव्यापारसे रहित साधुको जो आनन्द प्राप्त है वह

आनंद चक्रवर्ती और इन्द्रको भी असम्भव है। " यह निर्विवादित सत्य है कि आत्माके आनन्दमें जो सुख होता है वह उत्कृष्ट ही होता है। संसारसुख तो विकारजन्य, तथा माना हुआ है और यह तो सात्विक सुख है। अपितु इस सुखके परिणाममें भी सुखि है। संसारसुखसे कर्मबंध होता है जबकि समतासे संवर तथा निर्जरा होती है और अंतमें मोक्षप्राप्ति होती है।

× × × ×

इसप्रकार विषयप्रमादत्यागनामक अधिकार पूर्ण हुआ। विषयसेवन पर विशेषतया ओर देकर लगभग सम्पूर्ण अधिकारमें उसी भावको प्रगट किया है। विषय तात्कालिक भेद्र जान पड़ते हैं, परन्तु परिणाममें दुःखदायक हैं, तात्कालिक सुख भी एकमात्र मान्यतामें ही है, और विषय ही संसारकी अनेकों उपाधियों तथा खटपटके कारणभूत हैं यह वास्तविक स्थिति है। (पाँचों इन्द्रियोंके विषय अनन्त दुःखदायक हैं यह बात निःसंदेह है) यदि हम तिर्यंच जातिके दृष्टांतसे देखें तो जान पड़ेगा कि प्रत्येक इन्द्रियके सम्बन्धसे महान् दुःख प्राप्त होता है। हाथीको पकड़नेके लिये गड्ढेमें कृत्रिम हथिनी रखते हैं तब हाथी स्पर्शेन्द्रियके वशीभूत होकर फँस जाता है मिष्ट पदार्थ खानेके लोभसे मछली काँटेमें पिरोई जाती है, सुगन्धकी लहरमें भ्रमर सम्पूर्ण रात्रि कमलमें बैठा रहकर हाथीके मुखमें जाकर प्राण खो बैठता है, दीपककी ज्योतिमें पतंग प्राण समर्पण कर देता है और हरिण सुन्दर मुर्लीके तथा वीणाके स्वरसे आकर्षित होकर जालमें फँस जाता है। उपाध्यायजी इन्द्रिय अष्टकमें कहते हैं कि —

पतङ्गभृङ्गमीनेभ-सारङ्गा यान्ति दुर्दशाम्।
एकैकेन्द्रियदोषाच्चेद्दुष्टैस्तैः किं न पञ्चभिः ? ॥१॥

इसप्रकार जब पतंग, भ्रमर, मच्छली, हाथी और

हिरण एक एक इन्द्रियके परवशपनेसे भी दुर्दशाको प्राप्त होते हैं तो फिर जहाँ पांचो दुष्ट इन्द्रियोंका परवशपन हो वहाँ तो क्या न हो ? चिदानन्दजी महाराज भी कहते हैं कि:—

एक एक आसक्त जीव एम, नानाविध दुःख पावेरे ।
विषय.

पंच प्रबल वर्ते नित्य जाकों, ताकों कह्याँ जो कहियेरे,
चिदानन्द ये वचन सुणीने, निज स्वभावमां रहियेरे,
विषयवासना त्यागो चेतन, साचे मारग लागोरे ॥

इससे विदित हुआ होगा कि इन्द्रियोंसे अनेकों दुःखोंके होनेकी सम्भावना है । श्रीमद्यशोविजयजी भी इसके लिये अपने इन्द्रिय अष्टकके प्रारम्भमें ही कहते हैं कि:—

बिभेषि यदि संसारान्मोक्षप्राप्तिं च कांक्षसि ।
तदेन्द्रियजयं कर्तुं स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥

'यदि तुझे संसार दुःखमय प्रतीत होता हो और मोक्ष-प्राप्तिकी अभिलाषा होती हो तो इन्द्रियोंपर अंकुश लगाने निमित्त असाधारण पुरुषार्थ कर ' इसप्रकार इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करने निमित्त असाधारण पराक्रमकी आवश्यका है, कारणकि उनके साथ अनन्तकालका सम्बन्ध है ।

दूसरी अगत्यकी बात यह है कि जीव विषयजन्य बातोंमें सुख मान बैठा है परन्तु उनमें ऐसा कोई सुख नहीं है, जैसी कि उसकी धारणा है । भर्तृहरि कहते हैं कि व्याधिकी औषधि करनेमें क्या सुख है ? कंठमें तृषा लगनेपर स्वादिष्ट पानी पिया जाता है उसमें क्या सुख है ? उदरमें क्षुधा लगनेपर जो खाते हैं उसमें क्या सुख है ? शरीरमें विकार होनेपर कामभोगके सेवनसे क्या सुख है ? इसी प्रकार सब व्याधियोंका हाल है ।

जिसको जीव सुख मान बैठा है। विषयोंसे उत्तरोत्तर भी बहुत दुःख है। इस सम्बन्धमें प्रत्येक श्लोकके साथ उपयुक्त विवेचन करदिया गया है इसलिये यहाँ पुनरावर्तन करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

प्रमादके विषयमें प्रथम तथा छट्ठा श्लोक है। इस सम्बन्धमें मुख्य बात यही है कि मृत्यु समीप आ रही है अतः जागृत हो। 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।' इस प्रकार प्रमाद तथा विषयके लिये भलि भाँति कहा गया है। इस समय लौकिक प्रवृत्ति ऐहिक सुखसाधन अधिक प्राप्त करनेकी ओर अग्रेसर हो रही है, इसलिये अब प्रत्येक प्राणीको कौनसा मार्ग लेना चाहिये इसके विचारनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। नवीन जमानेमें शरीरभोग तृप्ति और इन्द्रियविकारोंको बढ़ानेवाले बाह्योपचार और शोभाके इतने पदार्थ आते हैं और सुधार तथा फैशनके नामपर इतना अधिक कुचाल प्रचलित होगया है कि विचारशील पुरुषको अपने प्रत्येक कार्य्यमें सचेत रहनेकी आवश्यकता है।

प्रमाद पाँच हैं—मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा। इनमेंसे 'मद्य' का प्रचार इस जमानेमें अनेकों निमित्तको लेकर बढ़ता जाता है। किसी भी प्रकारकी मस्त करनेवाली खुराक खाओ अथवा पियो तो वह मद्य है। दृष्टांतमें उन्हें शराब, भंग, गांजा, ताड़ी आदि समझीये। ये वस्तुयें स्वयं ही अति अधम हैं, इनके तैयार करनेमें लाखों जीवोंका नाश होता है और इनके पान करनेसे मनुष्य अपनी सुधबुध खो बैठता है। अपनी सुधबुध खो देनेपर एक सामान्य पुरुषको उपयुक्त व्यवहार प्रणालिका का भी उसमें भान नहीं होता, सदसद्विवेक दूर हट जाता है और लोकलज्जा भी भूला दी जाती है। ऐसी स्थितिमें

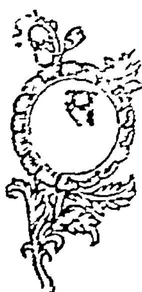
कितने ही अकार्य होजाते हैं, कितनी ही अश्लिल भाषाका प्रयोग किया जाता है, और मनपर तो किञ्चित्मात्र भी अंकुश नहीं रहता है। यह स्थिति धनव्यय करके भी क्यों प्राप्त की जाती है उसका समझना जरा कठिन है। शक्तिहीन मस्तिष्कको स्फुर्ति देने निमित्त अथवा दुःखको थोड़ेमे समयके लिये भूलजाने निमित्त मस्तिष्क बंधारण और सुख-दुःखके वास्तविक स्वरूपको नहीं जाननेवाले अज्ञ जीव इस मार्गकी ओर मूर्खतासे अग्रेसर होते हैं और फिर उनकी ऐसी बुरी टेव पड़जाती है कि उनका सम्पूर्ण जीवन निर्थक होजाता है। उत्तेजित पदार्थ बिना पैर लड़खड़ाने लगते हैं और शरीर तथा सम्पत्ति दोनोंका नाश हो जाता है। इस मार्गकी ओर अग्रेसर हुए हुए भ्रमित मस्तिष्क-वाले अपढ़ युवकोंकी निस्तेज स्थितिका बराबर अनुभव करके उस मार्गकी ओर दृष्टि भी न डालनेकी विशेपतया विज्ञप्ति है। यह दुर्व्यसन आर्य व्यवहारसे अपयुक्त है, इसकी जालमें पड़ने पश्चात् छुटकारा पाना अति कठिन है। यह कईवार अनेक प्रकारकी खराबी करनेवाला है इस बातको ध्यानमें रखते हुए उसीप्रकार जैन शास्त्रकार इसको सात बड़े दुर्व्यसनोंमेंसे एक गिनते हैं। इसको लक्ष्यमें रखकर इस मार्गकी ओर अग्रेसर न होनेका दृढ संकल्प करलेना चाहिये। इस दुर्व्यसनसे अपनी प्रजा बहुधा दूर ही रहती थी ऐसा भी यदि कह दिया जाय तो भी इसमें कुछ अतिशयोक्ति न होगी, परन्तु पाश्चात्य संसर्गके योगसे और आत्मिक विचारक्षेत्र शक्तिहीन होता जाता है इसके भयसे इस विषयकी ओर ध्यान आकर्षण करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई है। शक्तिको उत्तेजित करनेवाले ये पदार्थ अवश्य हैं, इससे अल्प समयके लिये शक्ति बढ़ती है परन्तु परिणाममें बहुत घट जाती है। वास्तविक शक्तिदायक पदार्थ तो दूध, घी आदि

पुष्कल पदार्थ हैं, अतः अपेय पदार्थकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। पांच प्रमादोंमेंसे इस प्रथम प्रमाद पर प्रसंगवश इतना उल्लेख किया गया, दूसरे 'विषय' प्रमाद पर ऊपर विवेचन होचुका है। तीसरे कषाय प्रमाद पर 'कषाय' द्वारमें भलिभाँति विवेचन किया जायगा। 'विकथा' के सम्बन्धमें राजकथा, देशकथा, समाचारपत्रोंद्वारा बढ़ती जाती है और प्रवृत्तिके अनुसार धर्मकथा कम होती जाती है। यह बात भी विचारने योग्य है। पांचवां प्रमाद 'निद्रा' है, इसको बढ़ाना तथा घटाना यह खुदकी इच्छा पर निर्भर है। निद्राको कम करनेका सहज उपाय सात्विक आहार लेना है। पांच प्रमादोंका त्याग कर स्वशक्ति-अनुसार गुणोंकी वृद्धि कर गुणस्थान प्राप्त करते रहना यह मनुष्य जीवनका कर्त्तव्य और साफल्य है। वरना तो अनेक जन्मसे ही जीव सांसारिक ऊँची स्थितियोंको सपादन करता आया है इसमें कुछ भी नवीनता नहीं है। इन्द्रियोंपर अंकुश लगाये बिना किसी भी प्रकारकी आत्मिक-उन्नति (Spiritual Progress) का होना असम्भव है।

॥ इति सविवरणो विषयप्रमादत्यागनामा षष्ठोऽधिकारः ॥



अथ सप्तमः कषायत्यागाधिकारः



मता प्राप्त करनेमें मुख्यतया ममत्व, विषय, और कषाय बाधा डालते हैं, जिसके सम्बन्धमें ममत्व-का मत्तपना और विषयका अन्धापन हम देखही चुके हैं; अब कषायका कुटपन यहाँ बताया जाता है।

कषायमें मुख्य करके चार बातोंका समावेश होता है, क्रोध, मान, माया और लोभ। ये हरएक थोड़े और अधिक अंशोंमें होते हैं। स्थूलता और कालनिमित्तसे इनके हरएकके फिर चार चार विभाग किये गये हैं। उत्कृष्ट पन्द्रह दिन रहें वे **संज्वलन**, उत्कृष्ट चार महिने तक रहे वे **प्रत्याख्यानी**, उत्कृष्ट वर्षभर तक रहे वे **अप्रत्याख्यानी** और जो जीवनपर्यन्त रहें वे **अनंतानुबंधी** है। इस प्रकार कषायके सोलह भेद होते हैं। इस कषायको उत्पन्न करनेवाले हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुगन्छा और तीन वेद हैं, ये नौ 'नोकषाय' के नामसे प्रसिद्ध हैं।

यहाँ विषय कषायका है। कषायका अर्थ विद्वान् इस प्रकार करते हैं कि 'कष' का अर्थ संसार और 'आय' का अर्थ जिससे लाभ हो, अर्थात् संसारमें जिससे गर्त होजावे वे कषाय कहलाते हैं। यह अर्थ कितने अंशो तक ठीक है वह निम्न लिखित श्लोकोंसे प्रगट हो जायगा।

क्रोधका परिणाम-उसके निग्रह करनेकी आवश्यकता.

रे जीव ! सेहिथ सहिष्यसि च व्यथास्ता–

त्वं नारकादिषु पराभवभू: कषायै: ।
मुग्धोदितै: कुवचनादिभिरप्यत: किं ?
क्रोधान्निहंसि निजपुण्यधनं दुरापम् ॥ १ ॥

"हे जीव ! कषायसे पराभवका स्थान होकर तूने नारकीमें अनेक कष्ट सहन किये हैं और फिर भी सहन करेगा, तो फिर मूर्ख पुरुषोंकी दी हुई गाली आदि बुरे वचनोंपर क्रोध करके तू अत्यन्त कठिनतासे मिलने योग्य पुण्यधनको क्यों नष्ट करता है ?" वसन्ततिलका.

विवेचन—कषाय करनेसे इस जीवने अबतक अनेकों कष्ट सहन किये, नारकीमें परमाधामियोंद्वारा कष्ट पहुंचाया गया और परस्पर लड़ाई झगड़े किये, निगोदमें दुःख भोगे और वनस्पतिमें भटका, इसीप्रकार चौरासी लाख जीवायोनियोंमें कोई भी बाकी न बची इतना ही नहीं अपितु हरएक योनिमें अनन्तबार भटक आया। इस सबका कारण राग-द्वेष ही है। संसारमें भटकानेवाली, फँसानेवाली और कर्तव्यपरायणताको भूलानेवाली, तथा तद्दन पागल अथवा उन्मत्त करनेवाली ये दो शक्तियें ही हैं। इन्हींसे कषाय उत्पन्न होता है। क्रोध और मान ये दोनों द्वेषरूप हैं, जब कि माया और लोभ अमुक नयकी अपेक्षासे रागरूप हैं। ये सर्व कषाय अनन्तकाल तक दुःख देनेवाले हैं। इस अधिकारमें कषायका स्वरूप बताया जा रहा है उसमें प्रथम क्रोधको प्रधानता दी गई है। यदि कोई मूर्ख पुरुष गाली दे तो उसपर क्रोध न करें, उस समय विचार करना चाहिये कि यह बेचारा व्यर्थ संसारको बढ़ाता है, अथवा भर्तृहरिके कथनानुसार चलना। उनका कथन है कि—

ददतु ददतु गालीर्गालिमन्तो भवन्तो,
वयमिह तदभावाद्गालिदानेऽसमर्थाः ।
जगति विदितमेतद्दीयते विद्यमानं,
न तु शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति ॥

" तुम्हारी जितनी अभिलाषा हो उतनी तुम गालियें दो, क्योंकि तुम " गालीवाले " हो । हमारे पास तो गालियें है भी नहीं इसलिये हम दे भी नहीं सकते हैं । दुनियाँमें जिसके पास जो वस्तु होती है वह ही वह दुसरेको दे सकता है । देखो, खरगोशके शृंग जब नहीं होते तो वह उनको दूसरोंको किस प्रकार दे सकता है अर्थात् वह किसीको कुछ नहीं दे सकता है । "

ऊपर लिखेअनुसार प्रसंगोके आनेपर जो यदि योग्य समता रखी जाती है तो बहुत लाभ होता है और यदि क्रोध किया जाता है तो अत्यन्त कठिनतासे मिलनेवाला पुण्यरूप धन भी यह प्राणी हार जाता है । जिस धनका अन्त नहीं है ऐसा करोड़ों वर्षोंका एकत्रित ज्ञानादि आत्मगुणरूप धन हार जाता है इसलिये क्रोधपर जय प्राप्त करना लाभका रक्षण है, तथैव उसकी प्राप्ति करने जैसा है ।

इसके दृष्टान्त शास्त्रमें विद्यमान हैं । शिष्यपर क्रोध करनेसे गुरु मरकर चण्डकौशिक नाग हुए । महातीव्र उपद्रव प्राप्त होनेपर भी गजसुकुमालने क्रोध नहीं किया और शान्त रहे तो उसके प्रतापसे उन्होंने शीघ्र ही मोक्षधनको प्राप्त किया । उसी-प्रकार मेतार्यमुनिने भी अंतकृत् केवली होकर मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त किया । आसन्नोपकारी वीरपरमात्माके क्रोधकी जय की ओर जो विचार करें तो महान् आश्चर्य होता है । उनको हुए हुए उपसर्गोंके वर्णनको पढ़नेसे तो हृदय कंपायमान होजाता है,

और वास्तवमें जिस जैनको वीरपरमात्माके प्रति मान होगा उसको संगमपर अवश्य क्रोध आयगा, परन्तु विचार करना चाहिये कि परमात्माको उससे क्या हुआ था ? सुननेवालेको यह बात सुनकर अत्यन्त आश्चर्य होगा कि अपनेपर ऐसे कठिन, प्राणांत, अनेक उपसर्गोंके करनेवाले संगमको अनन्त संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा ऐसे विचारसे प्रभुके आँखोंमें करुणाश्रु आ-गये थे। क्रोधके जयकी यहीं पराकाष्ठा हो जाती है। अशक्त प्राणी चाहे जितने अपराध शान्तिपूर्वक क्यों न सुनलें, परन्तु चक्रवर्तीसे भी अधिक शक्तिशालीका इस प्रकारका जय सचमुच अनुकरणीय है।

इस प्रकारके यतिधर्ममें सबसे प्रथम क्षमा अर्थात् क्रोधका जय करना लिखा है। क्रोधके आवेशमें प्राणी कर्तव्यविचारमें शून्य हो जाता है और वह न भानरहित दशामें होकर कितने ही दुष्कर्म तथा अनर्थ कर डालता है। क्रोध ही पश्चात्तापका कारण है, इसलिये उसपर विजय प्राप्त करने निमित्त प्रसंगके आनेपर शान्ति रखना ही मुख्य कर्तव्य है। शान्ति रखना कठिन अवश्य है किन्तु अशक्य नहीं है।

उमास्वातिवाचक महाराज प्रशमरति प्रकरणमें लिखते हैं कि "क्रोधात्प्रीतिविनाशं" क्रोधसे स्नेहका नाश हो जाता है। यह हकीकत बराबर अनुभवमें भी आती है। वेही विद्वद्वर्य फिर लिखते हैं कि—

क्रोधः परितापकरः, सर्वस्योद्वेगकारकः क्रोधः।
वैरानुषङ्गजनकः क्रोधः क्रोधः सुगतिहन्ता ॥

'क्रोध परिताप उत्पन्न करता है इसलिये वह सदैव मनको जलाता रहता है और यह ही सब मनुष्योंके हृदयमें उद्वेग पैदा करता है। (यह विज्ञानशास्त्रका सांप्रत स्थापित नियम

है कि जब क्रोध करनेमें आता है तब सम्पूर्ण वातावरण ही उद्वेग-पूर्ण हो जाता है।) इसके उपरान्त क्रोध वैर सम्बन्ध करता है। इन सब के परिणामरूप क्रोध सुगतिका नाश करता है। " इस-प्रकार क्रोध अनेक प्रकारसे नुकशानदायक है और प्राणीका अधःपात करनेवाला है, इसलिये हमारा यह कर्तव्य है कि उसपर विजय प्राप्त करनेका प्रयास करें[1] शास्त्रकारने जो क्रोधको अग्निसे उपमा दी है यह बहुत उपयुक्त है। विद्वान् कवि गा गये हैं कि—

तृण दहन दहंतो, वस्तु ज्युं सर्व बाले,
गुण क्ररण भरी त्युं, क्रोध काया प्रजाले।
प्रशम जलदधारा, वन्हिते क्रोध वारो,
तप जप व्रत सेवा, प्रीतिवल्ली वधारो।
धरणी परशुरामे, क्रोधे नक्षत्री कीधी,
धरणी सुभुमराये, क्रोधे निब्रह्मी साधी।
नरक गति सहाई, क्रोध ये दुःखदाई,
वरज वरज भाई, प्रीति जे दे वधाई।

इन इन कारणोंसे क्रोध न करना ही इष्ट है; सुगति और सुख परम्पराके कारण हैं।

---

१ क्रोध न करना यह लगभग क्षमा रखनेके बराबर है। क्रोधके त्यागको मिलता हुआ सद्गुण क्षमा है। इसको करते समय बहुत आनंद प्राप्त होता है, अतः क्षमा धारण करना चाहिये। क्रोध करते समय मानसिक शक्ति (Mental energy) का बहुत नाश होता है, जिसका शरीर पर भी गहेरा प्रभाव पड़ता है और कई बार आत्मघात जैसा भयंकर पाप भी इससे हो जाता है। क्रोधका त्याग और क्षमाका आचरण यह हमारा मुख्य कर्तव्य है। 'क्षमा' शिर्षक (Heading) से श्री जैन धर्म प्रकाशमें बहुत विस्तारपूर्वक एक उल्लेख किया गया है।

मान-अहंकार त्याग.

पराभिभूतो यदि मानमुक्ति-
स्ततस्तपोऽखंडमतः शिवं वा ।
मानादृतिर्दुर्वचनादिभिश्चेत्तपः-
क्षयाच्च नरकादिदुःखम् ॥ २ ॥
वैरादि चात्रेति विचार्य लाभालाभौ,
कृतिन्नासवसंभविन्याम् ।
तपोऽथवा मानमवाभिभूता,
विहास्ति नूनं हि गतिर्द्विधैव ॥ ३ ॥

" दूसरोंकी ओरसे पराभव होनेपर जो यदि मानका त्याग किया जावे तो उससे अखण्ड तप होता है और जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है । दूसरोंकी ओरसे दुर्वचन सुनने पर जो यदि मानका आदर किया जावे तो तपका क्षय होता है और नारकी आदिके दुःख भोगने पड़ते हैं । इस भवमें भी मानसे वैरविरोध होता है, अतः हे पंडित ! लाभ और हानिका विचार करके इस संसारमें जब जब तेरा पराभव हो तब तब तप अथवा मान(दोनोंमेंसे एक)का रक्षण कर । इस संसारमें ये दोनों मार्ग हैं (मान करना अथवा तप करना) । उपजाति

विवेचन—आदरके पुरुषसे जब पराभव होता है तब प्राणीको अहंकार आजाता है । इस अहंकारको दबाकर पराभवको सहन करनेसे इच्छित लाभकी प्राप्ति होती है, वरना

१ च इति वा पाठ । २ दुर्वचनादिभिश्च [illegible] इति वा पाठः । ३ मानमवाभिभूतेति वा पाठः ।

संसारवृद्धि होती है। इन दो श्लोकोंमें कहते हैं कि संसारी जीवोंको मानके प्रसंग प्राप्त होने पर केवल दो मार्ग हैं—या तो मान करके संसारमें डूबना अथवा मानको दबाकर परभवमें उच्च गति प्राप्त करना।

इस श्लोकके अंत भागमें जो मान और तपका सम्बन्ध बताया है वह बहुत रहस्यपूर्ण है। दूसरोंसे पराभव होने पर सामान्य व्यक्ति अपने मनके अंकुशको खो देता है जिससे बना बनाया सब खेल बिगड़ जाता है। अहंकार अथवा क्रोध करनेसे अभ्यन्तर तपका नाश हो जाता है। विनय, वैयावच्च तथा सद्-ध्यान नहीं रहता है, नहीं आता है तथा नष्ट हो जाता है जिससे कर्मकी निर्जरा नहीं होती है; प्रायः मोक्ष तो दूर ही चला जाता है। ऐसी दशा है, इसलिये हे विद्वान्! तू लाभ तथा हानिका पहले विचार करके फिर अहंकार करना। संसारके प्रत्येक कार्य-में विचार करनेकी आवश्यकता है। इसलिये ग्रन्थकर्त्ता भी इसपर बारम्बार जोर दे दे कर कहते हैं कि तूं जैसी तेरी इच्छा हो वैसा करना परन्तु करनेसे पहले एक बार अवश्य विचार करलेना। किसी भी पवनके झोकेसे तेरा आत्मयान किसी भी दिशामें जा सकता है, किन्तु ऐसा करनेसे वह तेरे निश्चित बन्दरमें नहीं पहुंच सकता, अतः इस आत्मयानको निश्चित बन्दरमें पहुंचाने निमित्त उपयोगी पवनके साथ उचित दिशामें खेंचकर लेजा।

क्रोधत्याग करनेवाले योगीको मोक्षप्राप्ति.

श्रुत्वा क्रोशान् यो मुदा पूरितःस्यात्,
लोष्टाद्यैर्यश्चाहतो रोमहर्षी।
यः प्राणान्तेऽप्यन्यदोषं न,
पश्यत्येष श्रेयो द्राग् लभेतैव योगी॥ ४॥

" जो आक्रोश (पराभव वचन, ताड़ना) सुनकर उल्टा आनन्दसे प्रफुल्लित हो जाता है, जिसपर पत्थर भी फेंके गये हों तो भी जिसके रोमरोम उल्टे विकस्वर हो जाते हैं, जो प्राणोंके अन्त हो जाने पर भी दूसरोंके अवगुणोंकी ओर ध्यान नहीं देता है, वह ही योगी है और वह शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त करता है। "   शालिनी १

विवेचन—व्यवहारमें दूसरे आदमी तेरेपर कारण अकारणसे अनेक बार क्रोध करेंगे, परन्तु इस समय खूबी इसीमें है कि तू तेरे मनकी स्थितिको डामाडोल न होने देकर शान्त रखना। मनपर अंकुश रखनेवाले योगी उस समय संसारस्वरूपका विचार कर क्रोध न कर प्रसन्न होते हैं, और क्षमा धारण कर लेते हैं। पत्थर आदिकी भी यदि उनपर बोछार की जावे तो भी उनका मन चलायमान होकर क्रोधित नहीं होता, अपितु उनके रोम रोम विस्फुरित हो जाते हैं—जैसा स्कंधकमुनि महाराज के सम्बन्धमें हुआ था। उनकी खाल खिंचनेके लिये जब पुरुष गये तो उनको अत्यन्त आनन्द हुआ और वे विचारने लगे कि ये मनुष्य मेरे लिये भाईसे भी अधिक उपकारी है, कारण कि बहुत कालमें छूटनेवाले कर्मऋणको ये प्राणी शीघ्रही चुका देंगें। गजसुकुमालको अपने ससुरेपर कुछ भी क्रोध न हुआ और मेतार्य मुनिके मनमें सोनिद्वारा प्राणान्त कष्ट दिये जानेपर भी अत्यन्त हर्ष हुआ था। इसीप्रकार दमदत्त मुनिपर कौरवोंने पत्थरोंकी बोछार की थी तिसपर भी उनका मन चलायमान नहीं हुआ और न पाण्डवोंके अनुनय, विनय करनेपर भी अति हर्ष ही हुआ

१ शालिनीमें ११ अक्षर होते हैं।
मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः म, त, त, ग, ग.
– – – – – ᴗ – – ᴗ – –

था। इसका क्या कारण था ? उनमें सच्ची विचारशक्ति थी, संसार-स्वरूप का यथास्थित ज्ञान हो गया था, उसीप्रकार आत्म तथा पुद्गलका भेद बराबर समझते थे और तदनुसार चलनेकी उनकी उत्कट अभिलाषा थी। वह अभिलाषा ऐसे समयमें फलदायक हो जाती है ऐसा विचारकर—देखकर उनको आनन्द प्राप्त हुआ था। क्रोधपर जय और मानत्यागके जो जो दृष्टान्त दिये गये हैं वे विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इस सम्बन्धमें विशेष ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि वे अशक्तिसे क्षमा धारण करते हों ऐसा कदापि नहीं था। कोई प्राणी यदि शरीरसे शक्तिहीन हो, वृद्ध हो, व्याधिग्रस्त हो या पागलके समान हो, तो वह कितने ही अपशब्द अपनी अशक्तिके कारण सुन सकता है, कितना ही अपमान सहन कर सकता है, कड़वा जानपड़े तो भी क्या करे ? क्या कर सकता है ? किन्तु इन महात्माओंके सम्बन्धमें यह बात घटीत नहीं हो सकती है। ये बहादुर थे, असाधारण क्षात्रबल वीर्यवान थे, संग्राममें अनेकोंको अजय मालूम होनेवाले थे, फिर भी उसी आत्मबलसे वे क्षमा धारण करते थे, मानका परित्याग करते थे और मनोविकारपर सख्त अंकुश रखते थे। इसीलिये ऐसे महात्मा पुरुषोंको योगी कहनेमें बिलकुल अतिशयोक्ति न होगी।

ऐसे प्राणी दूसरोंके दोषोंको नहीं देखते हैं, वह अपने कर्मोंका ही दोष समझते हैं। जिसप्रकार चलते चलते दिवारसे टकरानेसे दिवार गिरजावे तो उसपर प्रहार करना अथवा द्वेष करना मूर्खता है, इसीप्रकार दूसरोंके आक्रोश ताड़नासे उसपर क्रोध करना मूर्खता है। यहां वर्णित क्षमा गुणवालें प्राणी यदि शीघ्र ही मोक्षप्राप्ति करले-तो यह तद्दन स्वाभाविक ही है।

कषायनिग्रह.

को गुणस्तव कदा च कषायैर्निर्ममे,
भजसि नित्यमिमान् यत् ।
किं न पश्यसि च दोषममीषां
तापमत्र नरकं च परत्र ॥ ५ ॥

" कषायोंने तेरा कौनसा गुण किया ? यह गुण कब किया कि तू हमेशा उनकी सेवा करता है ? इस भवमें संताप और परभवमें नरक देनेरूप अनेक दोष हैं यह तू क्यों नहीं देखता है ? " स्वागता

विवेचन—कषायमें कोई गुण तो दृष्टिगोचर नहीं होता है, किसी प्राणीको किसी समय किसी भी प्रकार का गुण हुआ हो ऐसा भी नहीं सुना गया है । हरएक कषायसे उसके विषयमें कैसी कैसी पीड़ा होती है इन सबका दृष्टान्त दे दे कर बता-दिया गया है । क्रोधमें शिघ्रतया मानसिक उत्तेजना, अहंकारसे मानभंग होते समय मस्तिष्ककी बदलती स्थिति, मायासे हररोज झूठा दिखाव होनेकी पीड़ा, और लोभसे सम्पूर्ण जीवनभर की चिन्ता, ऐसे इस भवके संताप और परभवमें उनके परिणामसे होनेवाली दुःखसंततिपर विचार करके कषाय न करना, ऐसा न हो सके तो बहुत कम करना, ऐसा प्रसंग ही न आने देना, आता हो तो रोकना और संसारको बढ़ाते न जाना, परन्तु कुछ ऊंचे चढ़नेका विचार करना यह सुज्ञ पुरुषोंका कर्तव्य है ।

कषायसेवन–असेवनके फलपर विचार.

यत्कषायजनितं तव सौख्यं,
यत्कषायपरिहानिभवं च ।

तद्विशेषमथवै तदुदर्कं,
संविभाव्य भज धीर ! विशिष्टम् ॥८॥

" कषायसेवनसे तुझे जो सुख हो और कषायके क्षयसे तुझे जो सुख हो उनमें अधिक सुख किसमें है ? अथवा कषायका और उसके त्यागका क्या परिणाम है ? उसका विचार करके हे पंडित ! उन दोनोंमेंसे जो अच्छा हो उसीका आदर कर। "　　　　स्वागतावृत्त.

विवेचन—सर्व प्राणियोंको सदैव सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषा होती है इसलिये विचारशील प्राणी किसी भी कार्य्य को करते समय विचार करते हैं कि इस कार्य्यके करनेसे सुख कितना और दुःख कितना मिलेगा। अब यदि हम एक प्राणीपर क्रोध करें, कपट करें अथवा अभिमान करें तो उसमें क्या सुख है ? जब एकमें मानसिक उत्तेजना होती है दूसरेमें हृदयका उद्वेग होता है। अनेकों वार तो तात्कालिक मनोविकारोंकी पुष्टि होती है, परन्तु जब क्रोध करनेके पश्चात् दो-चार घंटे शान्तिका समय आता है तब हमारी क्या दशा हो जाती है ? पश्चाताप अथवा उसके परिणामस्वरूप भविष्यमें होनेवाले पराभवके विचारसे अत्यन्त दुःख, अथवा क्रोध तथा मानका परिणाम कैसा होता है ? एक कहावत है कि—यदि तुम क्रोध करोगे तो दूसरी ओरसे उसके बदलेमें भी वह ही मिलेगा। इसलिये इसके परिणाममें भी खराबी ही है। अब इसके विपरित दूसरी ओर किसी भी प्रकारका कषाय न करनेवालेकी स्थितिको देखिये तो जान पड़ेगा कि उसको न तो मानसिक उद्वेग है न हार्दिक ग्लानि ही है। इसके उपरान्त मानो उसने एक महान् कार्य्य किया हो—एक कर्त्तव्य पूरा किया हो ऐसे विचारसे उसके मनको अत्यन्त आनन्द मिलता है। क्रोध अथवा लोभके प्रसंग

उपस्थित होने पर उसको न करनेसे मनको कितना आनन्द प्राप्त होता है ? और दूसरा पुरुष कितना लज्जाकर क्रोध करनेके स्थानमें क्षमा प्रार्थना करता है, यह सबके अनुभवकी बात है । इसके उपरान्त परभवमें तो उसको इससे बहुत लाभकी प्राप्ति होती है ।

इसप्रकार कषाय त्यागसे सबको सब समय आनन्दकी प्राप्ति होती है और कषायसे उद्वेग होता है । इस स्थितिपर विचार करके दोनोंमेंसे एक जो तुझे उत्तम जान पड़े उसको व्यवहारमें ला ।

कषायत्याग-माननिग्रह-बाहुबलि

सुखेन साध्या तपसां प्रवृत्ति-
र्यथा तथा नैव तु मानमुक्तिः ।
आद्या न दत्तेऽपि शिवं परा तु,
निदर्शनाद्बाहुबले: प्रदत्ते ॥ ७ ॥

" जिसप्रकार तपस्यामें प्रवृत्ति करना सहज है उसप्रकार मानका त्याग करना सहज नहीं है । केवल तपस्याकी प्रवृत्ति मोक्षकी प्राप्ति नहीं करा सकती है, किन्तु मानका त्याग तो बाहुबलिके दृष्टान्तके समान मोक्षकी अवश्यमेव प्राप्ति करा सकता है । " उपजाति

विवेचन—दुनियाका अवलोकन करनेवालोंको ज्ञात होगा कि तपस्यामें प्रवृत्ति करना यह कठिन अवश्य है, किन्तु उसमें एक बार प्रवृत्ति होनेके पश्चात् अधिक कठिनता नहीं होती है, परन्तु उसका तथा दूसरी किसी भी वस्तुका, गुणका तथा धनका अहंकार न करना यह बहुत ही कठिन बात है, इतनी अधिक कठिन है कि मनुष्य न जानते हुए भी मान-मगरुरी कर डालते हैं । जब अपनी नम्रताको मुख्यतया बताने जाते हैं । तब

भी उसके द्वारा श्लाघ्यता प्राप्त करनेकी अंतर्वृत्तिमें प्रवृति होती है। इसप्रकार मानमुक्ति अत्यन्त कठिन है। मनोविकार इतनी विचित्रतासे कार्य्य करता है कि यह प्राणी मोहके वशीभूत हो कर वस्तुस्वरूपको नहीं समझ सकता है, अन्धा हो जाता है, अचेत हो जाता है और अनेकों अकार्य करता है; परन्तु उनका हेतु-फलका कुछ भी विचार नहीं करता है। केवल तपस्याकी प्रवृति जब कि एकान्त मोक्ष नहीं प्राप्त करा सकती उस समय मानमुक्ति शिघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति करा देती है। (मानमुक्तिका समय नवमें गुणस्थानमें बहुत उच्च स्थितिपर पहुँच जाने पर प्राप्त होता है)।

मेरेसे छोटे भाइयोंको वन्दना क्यों कर करुं? ऐसे अहंकारसे बाहुबलिने एक वर्ष तक घोर तप किया और उस समय विचार किया कि यदि तपसे केवलज्ञान प्राप्त करके मैं भाइयोंके समीप जाउंगा तो मुझे वन्दना न करनी पड़ेगी, परन्तु घोर तपस्या करने पर भी उसके साथ मान होनेसे उसको इष्ट फलकी प्राप्ति न हुई। उसकी अभिलाषा होती तो वह देववैभवको प्राप्त कर सकता था, किन्तु वह तो उसे चाहता ही न था। "वीरा मारा गज थकी उतरो, गज चढ्या केवल न होय रे" ऐसे प्रतिबोधका अवसर उपस्थित हुआ जान कर बहेनोंके कहे हुए मधुर स्वरको सुन कर सुज्ञ वीर सचेत हुआ, चमका और गजको पहचान गया। ज्योंहि उसने गजका परित्याग किया कि उसी क्षण उसको इष्ट फलकी प्राप्ति हो गई, जिस फलकी एक वर्ष तक कठिन तपस्या करने पर भी प्राप्ति नहीं हुई थी। ऐसी वृत्ति धारण करनेकी बहुत आवश्यकता है। गजपर चढ़नेकी वृति बहुधा दिख पड़ती है। जमानेकी प्रवृति मानके अनुकूल है और संसारमें परिभ्रमण करानेवाला इस महान् दुर्गुणको

सम्मान-स्वत्व (Self-respect) व्यक्तित्व स्थापन (Individuality) आदि उपनाम देकर सद्गुणोंमें परिवर्तन कर दिया है। विवेकवान् प्राणीको इससे सचेत होनेकी आवश्यकता है। मानसे दूसरोंके महान् गुणोंकी परीक्षा नहीं हो सकती है, कदाच दृष्टिमें आ भी जावें तो भी उनकी असली किमतसे बहुत कम किमत होती है, कई बार तो बिलकुल ही किमत नहीं लगाई जाती है और विनयधर्म कि जिसको पूर्वपुरुष "विणओ धम्मस्स मूल" जैन धर्मका मूल विनय है ऐसा कह गये हैं उसपर पानी फिरा दिया जाता है। व्यक्तित्व स्थापन करनेके, न हो उसमें सद्गुण धराने का दिखावा करने की और विवेकविचार-कर्त्तव्यशून्य हो जानेकी पूरी आदत पड़ जाती है और उससे परिणाममें शून्यता ही आती है।

इस श्लोकमें कितनी ही बातें खास विचारने योग्य हैं। प्रथम मानस्वभावको लेकर तपवृत्तिकी सरलता और मानमुक्ति की विषमता बताई गई है। जिद्दे दुर्गुणोंको परित्याग करनेमें सदैव विशेष कठिनता होती है, कारण कि उनको पालन करते समय एक प्रकारका पौद्गलिक आनन्द आता है। अन्यथा वस्तुतः देखा जावे तो मानमुक्ति कोई विषममार्ग नहीं है। जीवनकी अस्थिरता, मान करनेवाले और करानेवालेकी स्थिति, पौद्गलिक आत्मिक वस्तुओं का सम्बन्ध और उनके स्थिर रहनेके समयका बराबर विचार किया जावे तो मान शिघ्र ही लोप हो जायगा, एक मात्र बात यही है कि यह जीव कभी भी विचार नहीं करता है। दूसरी बात यह है कि इस वर्तमान जमानेमें स्वमान आदि ऊपर बताये अनुसार अनेकों दुर्गुणोंका प्रवेश हो गया है जिन पर बहुत विचार करना योग्य है। अमुक हकीकतको उसके बाहरी स्वरूपमें लेकर विचार किया जावे तो

कितनी ही वार भूलभरे परिणामोंको भोगना पड़ता है परन्तु जो यदि प्रथकरण करके उसके अवयवोंकी ओर ध्यानसे देखा जावे तो गुणदोषकी परीक्षा हो जाती है। इसीप्रकार स्वमान, व्यक्तिस्वातंत्र्य आदि सबका विचार करना, उनकी आन्तरिक खोज करना और उसमें तथा आत्मिकदशामें क्या सम्बन्ध है इसका विचार करना चाहिये। फिर यदि उनमें दोष जैसा पौद्गलिक कुछ भी न जान पड़े तो उसका अवश्य आदर करना उचित है और जो यदि उनमें कषायका स्वरूप—अंश जान पड़े तो फिर उनपर विचार करना योग्य है। इसदृष्टिसे ठीक ठीक तत्त्वगवेषणा करके, स्वमान, व्यक्तिस्वातंत्र्य आदि इस जमानेके माने हुए सद्गुणोंका जब विचार किया जायगा तब ही उनके सम्बन्धमें उपरोक्त निर्णय हो सकेगा यह निस्संदेह है।

मानत्याग–अपमानसहन.

सम्यग्विचार्येति विहाय मानं,
रक्षन् दुरापाणि तपांसि यत्नात्।
मुदामनीषी सहतेऽभिभूतीः,
शूरः क्षमायामपि नीचजाताः ॥ ८ ॥

" इसप्रकार ठीक ठीक विचार कर मानको परित्याग कर और अत्यन्त कष्टसे मिलनेवाले तपका यत्नसे रक्षण करके क्षमा करनेमें शूरवीर पंडित साधु नीच पुरुषोंद्वारा किये हुए अपमानको भी प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं।"

उपजाति.

विवेचन—यहाँ कषायत्यागकी पराकाष्ठा बताई गई है। तपस्या करनी और उसके साथ साथ मानका भी त्याग करना यह पहले बता दिया गया है। यहां बतलाते हैं कि नीच पुरुषोंकी ओरसे अपमान होनेपर भी क्षमा धारण करनेमें

शूरवीर प्राणी उसको सहन करते हैं। यह दशा प्राप्त करने की आवश्यकता है। मेरा कोई वैरी नहीं है, किये हुए कर्मों पर विचार करके जब जीव अपने आत्माके दोषोंको देखना सिख जाता है और क्षमा धारण कर लेता है तब आप जान लेना चाहिये कि उसकी यह वृत्ति हो गई है। मानत्याग, क्षमाधारण और अपमानसहन इन तीन विषयोंपर यहां उपदेश किया गया है। मानके परित्याग करनेके उपरान्त अपमान सहन करनेका जो यहाँ उपदेश किया गया है उसको बहुत ध्यानमें रखना योग्य है। अपमान क्या वस्तु है? अपमान करनेवाला कौन है? अपमान क्या किया जा रहा है? इसका प्रथम विचार करना चाहिये। प्रथम तो यह अवश्य होगा कि खानदानरहित, अधम कुलमें उत्पन्न होनेवाले अथवा संयोगवश अधम प्रकृति-वाले पुरुष ही अपमान करनेमें अग्रेसर होते हैं। शुद्ध, कुलीन, विचारशील पुरुष कभी स्वप्नमें भी ऐसा करनेका विचार नहीं कर सकता, अतः प्रथम तो अपमान करनेवालेकी नीचताका विचार कीजिये और दूसरा ऐसे प्रसंग उपस्थित होनेपर मनकी स्थिति स्थापित रखना अति कठिन है। संसारमें रसिक प्राणियों-का मान अपमानका ख्याल विचित्र प्रकारका होनेके कारण उस स्थितिको स्थापित रखना लगभग अशक्य है ऐसा भी यदि कह दिया जाय तो कोई गलती न होगी, तो फिर वैसे समयमें वैसे संयोगमें बहादुरी इसीमें है कि मनको वशमें रख कर अपमान-को सहन कर लेना इसीको मनपर असाधारण अधिकार तथा शूरवीरपन कहते हैं। इसी लिये ग्रन्थमें भी शूरवीर शब्दका प्रयोग किया गया है। यह समझना अत्यन्त भूल है कि अप-मान सहन करनेवाले निर्बल—नरम—पागल होते हैं, यह काम बहादुरोंका है, मनोबलवालोंका है, तथा ज्ञानियोंका है। ऐसी

वार्तोंमे चलते प्रवाहके विचारोंके वशीभूत न होकर प्रत्येक वावतका प्रथक्करण करते सिखना ही विशेष लाभदायक है।

संक्षेपसे क्रोधनिग्रह.

पराभिभूत्याल्पिकयापिकुप्य-
स्यघैरपीमां प्रतिकर्तुमिच्छन्।
न वेत्सि तिर्यङ्नरकादिकेषु,
तास्तैरनन्तास्त्वतुला भवित्रीः ॥ १ ॥

"साधारण पराभवसे भी तूं कोप करता है और कितने ही पापकर्मोंसे उसका वैर लेनेकी अभिलाषा करता है, परन्तु नारकी, तिर्यंच आदि गतियोंमें जो बेहद अतुल परकृत दुःख होनेवाले हैं उनको तो तूं न तो देखता ही है, न विचार ही करता है।" उपजाति.

विवेचन—यह जीव अल्पमात्र पराभवसे क्रोध करने लगता है और उसे शब्दोंसे, हस्तसे अथवा हथियारसे मारनेको उद्यत हो जाता है अथवा हृदयमें द्वेषभावना रखकर वैरको खोजता रहता है, कोई वहाना या छिद्र ढूंढ़ता रहता है और सब दिन इसी उधेड़बुनमें लगा रहता है। इस मनोविकारके प्रभावमें आये हुए प्राणीको कृत्याकृत्यके विवेक तथा भविष्यका विचार नहीं रहता है। वह तो अपने मस्त मानसिक विचारोंमें मग्न होकर निरंकुश वृत्तियोंका प्रयोग करता है, परन्तु बेचारे जीवको यह भान नहीं होता कि ऐसा करनेसे पहले बतायेअनुसार इस भवमें भी दुःख प्राप्त होता है और इसके भी उपरान्त पर-भवमें भी अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं। मानसिक विकारों जैसे कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिके परिणामस्वरूप अनेक कठिन दुःख उठाने पड़ते हैं। जवकि अल्पकालके लिये किये हुए भोजनके अन्तराय जैसे स्थूल पापके परिणामस्वरूप श्री आदि-

प्रभुको वर्षपर्यन्त भोजन न मिल सका तो फिर चित्तवृत्तिको तोड़कर अस्तव्यस्त करदेनेवाले कषायोंका तो क्या परिणाम होगा ! इसके विचार करनेकी आवश्यकता है ।

पड्रिपुपर क्रोध–उपसर्ग करनेवालेके संग मित्रता

घत्से कृतिन् ! यद्यपकारकेषु,
क्रोधंस्ततो धेह्यरिषट्क एव ।
अथोपकारिष्वपि तद्भवार्त्ति-
कृत्कर्महृन्मित्रबहिर्द्विषत्सु ॥ १० ॥

" हे पण्डित यदि तू अपने अहित करनेवालेपर क्रोध करना चाहता है तो षट् रिपु (छ शत्रु–काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष) पर क्रोध कर, और जो यदि तूं अपने हित करनेवालेपर भी क्रोध करना चाहता है तो संसारमें होनेवाले सब कष्टोंके दाता कर्मोंको हरनेवाले (उपसर्गों, परिषहों आदि) जो तेरे वास्तविक हितेच्छु हैं किन्तु बाह्य दृष्टिसे जो तुझे शत्रु मान पड़ते हैं उनपर क्रोध कर । " उपजाति

विवेचन—सचमुच मनुष्य अपने ऊपर अपकार हानि करनेवालेपर क्रोध करता है । हानि करनेवाला शत्रु कहलाता है । छह शत्रुने विचारशील पुरुषोंको घेर रक्खा है । इनका स्वरूप निम्ने लिखेअनुसार है जिसका ध्यान रखकर विचार किजिये ।

१—अन्यकी अथवा स्वस्त्रीके साथ अथवा अविवाहित या वेश्याके साथ विषय सम्बंध करना, करनेकी अभिलाषा रखना अथवा कुचेष्टा करना ' काम ' कहलाता है ।

२—दूसरे प्राणियोंपर क्या प्रभाव पड़ेगा अथवा अपनी

१ मार्गस्थित या परस्त्री ।

तथा दूसरोंकी कितनी हानि होगी ऐसे किसी भी प्रकारके परिणामका विना विचार किये मनका अव्यवस्थितपनसे गुस्सेमें प्रवर्तन होना 'क्रोध' कहलाता है।

३—दान करने योग्य सामग्री होनेपर भी दानयोग्यको दान न देना, निष्कारण दूसरोंके धनको ले लेनेकी अभिलाषा रखना, तृष्णा रखना और द्रव्य अथवा किसी भी पौद्गलिक वस्तुनिमित्त एक वृत्तिसे ध्यान करना 'लोभ' कहलाता है।

४—अपनेमें न होनेवाले गुणोंको मान लेना और वैसे ही होनेका दिखाव करना 'मान' (Vanity) कहलाता है।

५—कुल, विद्या, धन आदिका अहंकार करना 'मद' (Pride) कहलाता है।

६—निष्प्रयोजन ही दूसरोंको खेद पहुंचाकर अथवा द्यूत आदि व्यसनोंका आश्रय लेकर मनमें प्रसन्न होना 'हर्ष' कहलाता है[1]।

ये ६ सच्चे शत्रु हैं, कारण कि दुःख देनेवाला दुश्मन कहलाता है इसलिये अनन्त भवभ्रमणमें नारकी–निगोदके दुःख देनेवाले ये दुश्मन हैं, ये दिखाईमें सुन्दर जान पड़ते हैं परन्तु वास्तवमें ये सच्चे शत्रु हैं; अतः इनपर सचमुच क्रोध करना चाहिये और वह भी यहाँ तक कि क्रोध करके इनकी मित्रता ही तोड़ देनी उचित है।

कर्म संसारमें भटकानेवाले हैं और उपसर्ग–परिषह आदि उन कर्मोंका क्षय करानेवाले हैं। ये तेरे दुःखोंको दूर करनेवाले वास्तविक मित्र हैं। इसलिये इनको ऐसा समझकर फिर भी यदि तूं अपने उपकारियोंपर क्रोध करना चाहता हो तो इनपर

---

१ पड् रिपु अन्य प्रकारसे भी गिने जाते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, हर्ष (हर्ष के स्थान में क्वचित् इर्षा भी लिखा जाता है।

क्रोध कर। कहनेका तात्पर्य यह है कि उपकार करनेवालेपर किसीको क्रोध नहीं होता है इसलिये तेरा भी यह कर्तव्य है कि यह रिपुओंका परित्याग कर और उपसर्ग परिषह आदिको मित्रभावसे ग्रहण कर उनके साथ मित्रता करनी। गजसुकुमालने उनके श्वसुर सोमिलपर प्रेम किया, क्योंकि यद्यपि वह बाह्य दृष्टिसे दुःख दे रहा था, परन्तु वास्तवमें तो वह एक बड़ा उपकारी था, इसीप्रकार अवंतिसुकुमालके लिये भी शियालनी वास्तवमें बड़ी उपकारी सिद्ध हुई थी। इनके भी उपरांत स्कंदक, मर-त्रीक, मेतार्य मुनिमहाराजाओंके दृष्टान्तोंपर विचार किजिये।

इसप्रकार द्वेषके घर क्रोध और मानके सम्बंधमें उपदेश किया गया है, इसका विशेष विवेचन इस अधिकारके अन्त भागमें किया गया है। अब राग के घर माया और लोभ का विवरण किया जाता है।

मायानिग्रह उपदेश

अधीत्यनुष्ठानतपःशमाद्यान्
धर्मान् विचित्रान् विदधत्समायान्।
न लप्स्यसे तत्फलमात्मदेह—
क्लेशाधिकं तांश्च भवान्तरेषु ॥ ११ ॥

" शास्त्राभ्यास, धर्मानुष्ठान, तपस्या, शम आदि आदि अनेक धर्मों अथवा धर्मकार्योंको मायाके साथ करता है, जिससे तेरे शरीरको क्लेश होनेके उपरान्त भवान्तरमें भी दुसरा कोई फल नहीं मिल सकता है और वे धर्म भी भवा-न्तरमें मिलना कठिन है। " उपजाति

विवेचन—शास्त्राभ्यास, प्रतिक्रमण (आवश्यक) आदि धार्मिक अनुष्ठान बाह्याभ्यन्तर बारह प्रकारके तप, उपशम, दम, यम, दान आदि अनेक धर्मकार्य करते समय यदि साथमें

माया होती है तो ये सब निष्फल होजाते हैं, कुछ भी लाभ नहीं होता है। माया-कपट-लुचाई-ठगवृत्ति इनका त्याग करना अति कठिन है, अपितु क्रोध तथा मान तो बहुवा दृष्टिगोचर हो जाता है, किन्तु माया तो गुप्तरूपसे कार्य करती है जिससे दूसरे पुरुषको उसकी खबर नहीं पड़ सकती है और कितनी ही बार तो माया करनेवाले पुरुषको भी इसका ठीक ठीक भान नहीं रहता है। जिसको संसार 'भद्रक' जीव कहता है ऐसा बननेकी बहुत आवश्यकता है। यह सत्य है कि ऐसे भद्रक प्राणियोंको कर्मबन्ध बहुत कम होते है। उपाध्यायजी महाराज कह गये हैं कि "केशोंका लोच कराना, शरीरपरसे मेलका त्याग न करना, भूमिपर शयन करना, तपस्या करना, व्रत रखना आदि आचरणोंको व्यवहारमें लाना तो साधुके लिये सुगम है किन्तु मायाका त्याग करना अति कठिन है।" ऐसे अवलोकन करने-वाले विद्वान्के वचनोंकी ओर विशेषतया ध्यान आकर्षण करनेकी आवश्यकता है। माया बहुत गहरी होती है इससे बहुवा वह समझमें नहीं आती है। सीफत (Manner) ऐटीकेट (Etiguette) गृहस्थाई के नियम, अनावश्यक विवेक (Form ality) आदि मायाके अनेक भेद हैं। इस युगके जीवनमें मायाके प्रसंग बढ़ते जाते हैं। राज्यका अंग बहुधा क्रोध और मान होता है उसके स्थानमें माया और लोभ होता जाता है। इस युगमें बाहरी टापटीप अधिक बढ़ती जाती है और फिर भी बढ़ेगी ऐसा प्रतीत होता है। अपितु बनयापन-मायाके पर्यायरूप प्रयोग किया जाता है। अतः जैनधर्मके अनुयायियोंको बहुधा इस पापसे विशेषतया डरनेकी आवश्यकता है। उदयरत्नजी कहते हैं कि "मुख मिठ्ठो झुठो मनेजी, कूड कप-टनो रे कोट; जीभे तो जी जी करेजी, चित्तमां ताके चोट रे,

प्राणी ! न करोगे माया समार ।" इसप्रकार मायाके सबे स्वरूपको पहचान कर, उसके परित्यागके कठिन विषयपर विचार कर, उसकी ओर ध्यान दे कर, मायाका परित्याग करना चाहिये ।

शास्त्रकार कहते हैं कि तुम चाहे जितना धर्मकार्य क्यों न करो, परन्तु यदि तुम्हारे हृदयके अन्दर माया–कपट होगा तो तुम्हारा सब परिश्रम असफल होगा । उपाध्यायजी महाराज कहते हैं कि कुसुमपुर नामक ग्राममें एक सेठके घरपर दो साधु आकर ठहरे थे । एक मुनि भोला, साधारण बुद्धिवाला, सरल, गुणग्राही और सारांशमें कहा जाय तो ' भद्रक ' था, जब कि दूसरा बहुत विद्वान् था किन्तु कपटी और निन्दक था । ज्ञानीमहाराज कहते हैं कि लोग तो दूसरेकी वाह वाह करते थे, परन्तु पहला साधु तो अल्पकालमें मोक्षको प्राप्त करेगा जब कि दूसरा बहुत संसारभ्रमण करेगा । मायायुक्त ज्ञान केवल निरर्थक ही नहीं किन्तु बहुत हानिकारक भी है । "शास्त्रके अन्य अनेकों विषयमें स्याद्वाद है, परन्तु माया करनेके प्रसंगो (धर्मोपदेशादि) के उपस्थित होनेपर निष्कपट रहना यह आज्ञा तो जैनशास्त्रमें एकांत ही है । " ये वचन उपाध्यायजी महाराजके हैं । जिसप्रकार मायासे इस भवमें लाभ नहीं होता है उसीप्रकार परभवमें भी लाभ नहीं होता है । श्रीसिंदूरप्रकरमें कहा है कि—

> विधाय मायां विविधैरुपायैः,
> परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ।
> ते वञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्ग-,
> सुखान् महामोहसखाः स्वमेव ॥

" जो प्राणी अनेक प्रकारके उपायोंसे माया करके दूस

रोंको कष्ट पहुँचाते हैं वे महामोहके मित्र बन कर अपने आत्माको ही देवलोक और मोक्षके सुखसे वञ्चित करते हैं।" ऐसे ऐसे अनेकों कारणोंसे मायाका परित्याग करना ही उत्तम है। माया अन्तरका विकार है इसलिये दूसरे पुरुष उसको देखकर उसके निमित्त उपदेश या शिक्षा करे यह भी अधिकांश अशक्य है।

लोभनिग्रह उपदेश.

सुखाय धत्से यदि लोभमात्मनो,
ज्ञानादिरत्नत्रितये विधेहि तत्।
दुःखाय चेदत्र परत्र वा कृतिन्,
परिग्रहे तद्बहिरान्तरेऽपि च ॥ १२ ॥

"हे पण्डित! जो यदि तूं तेरे खुदके सुखके निमित्त जो लोभ रखता हो तो ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप तीन रत्नोंकी प्राप्ति निमित्त लोभ कर और जो यदि इस भव तथा परभवमें दुःख मिलने निमित्त जो लोभ रखता हो तो आन्तरिक तथा बाह्य परिग्रह निमित्त लोभ कर।" उपजाति.

विवेचन—आत्मिक सुख निमित्त जो लोभ करता हो तो आत्मिक मूल गुणोंको प्राप्त करने निमित्त लोभ कर। यदि बाह्य वस्तुओंके लिये (स्थूल) लोभ करेगा तो उससे आन्तरिक तथा बाह्य परिग्रह बढ़ेगा, जिन दोनोंसे इस भव और परभवमें निरन्तर दुःख प्राप्त होगा। इस भवमें मन चिंतामें व्याकुल रहता है और परभवमें अधोगति होती है। बाह्य परिग्रह धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, चांदी, सोना, धातु, द्विपद और चतुष्पद ये नवविध हैं, और आन्तरिक परिग्रह मिथ्यात्व, त्रण वेद, हास्यादि षट्क और चार कषाय ये चौदह हैं। इन परिग्रहोंसे अनन्त दुःख होना तो स्पष्ट ही है, इसलिये यदि

सुख निमित्त लोभ रखता हो तो ज्ञान आदि तीन रत्नोंको प्राप्त करने निमित्त लोभ कर। ये प्रशस्त लोभ हैं।

लोभके स्वरूपको जाननेकी अत्यन्त आवश्यकता है। लोभ इतना महान् विशाल समुद्र है कि उसकी भँवरमें एक बार पड़े पश्चात् निकलना अत्यन्त कठिन है; क्यों कि समुद्रकी दृष्टि-मर्यादा बढ़ती जाती है और मनममत्वमोचन अधिकारमें कहेअनुसार सो वालेको हजार और उनके मिलने पर उत्तरोत्तर लाख, करोड़, अरब, राज्य, स्वर्ग और इन्द्रपदवीका लोभ होता जाता है। लोभी प्राणीको किसी भी दिन सुख नहीं मिलता है और लोभसे अनेक हानियें होती हैं। लोभसे मन सम्पूर्ण दिन भट कता रहता है और लोभसे दुर्घट मार्ग प्राप्त किये जाते हैं। लोभी प्राणी क्या क्या कर बैठता है यह भर्तृहरिने अपने वैराग्यशतक के ३-४-५-६-७ वे श्लोकों में स्पष्टतया लिख दिया है। सिन्दूरप्रकरमें कहते हैं कि—

यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरम्,
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनुक्लेशां कृषिं कुर्वते।
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासंघट्टदुःसंचरम्,
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितम्॥

"धनसे अन्ध हुई हुई बुद्धिवाले पुरुष जो भयकर अटवीमें भटकते हैं, विस्तीर्ण देशान्तरमें भ्रमण करते हैं, गहन समुद्रमें अवगाहन करते हैं, अनेक कष्ट सहकर भी खेती करते हैं, कृपण सेठकी नौकरी करते हैं, जिस युद्धमें हाथियोंके झुंडका भी विजयकी अभिलाषा रख कर प्रवेश करना कठिन है उसमें प्रवेश करते हैं—यह सब लोभकी ही चेष्टा है।" लोभके वशीभूत होकर प्राणी अनेकों कौतुक करता है, पुरुष होकर स्त्रीका भेष धारण करता है, भीख मागता है और किसी भी प्रकारका

अकार्य, अप्रमाणिककथन या विश्वासभंग करनेमें किञ्चित मात्र भी नहीं हिचकचाता है। अतिशय लोभी प्राणी तो किसी भी प्रकारका अकार्य कर सकता है। लोभीका मन सगपण या स्नेहके हिसाबमें नहीं होता है। श्री उमास्वातीवाचक महाराज प्रशमरतिमें कहते हैं कि " सर्वगुणविनाशनं लोभात् " लोभसे सर्व गुणोंका नाश होता है। सच्चे अनुभवियोंका कथन है कि क्रोध, मान और माया से जब कि एक एक गुणका नाश होता है तब लोभ से सब गुणोंका नाश हो जाता है, कारण कि लोभ अन्त रहित है।

लोभसे दुःखित अनेकों प्राणियोंके अनेकों दृष्टान्त शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। सुभूमको छ खण्डका राज्य प्राप्त होनेपर भी लोभकी तृप्ति न हुई और फिर अधिक प्राप्त करनेका प्रयत्न किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वपुण्यसे प्राप्त हुए छ खण्डोंको भी खोना पड़ा और तदुपरान्त अपने प्राण खो कर सातवीं नारकीमें जाना पड़ा। सीताके स्वर्णमृगपर लोभ करनेसे रामको अनेक कष्ट उठाने पड़े तथा स्वयं सीताका भी हरण हुआ। मम्मण शेठको अतुल सम्पत्तिके होने पर भी तैलके चौलोंपर निर्वाह करना पड़ा। धवल सेठने धनके लोभसे श्रीपालकी सज्जनताको न पहचाना और अन्तमें अपने ही हाथसे मृत्युको बुला कर सातवें नरकमें गया। ऐसे ऐसे अनेकों दृष्टान्त शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। इसके बादके इतिहासमें भी सीजर, नेपोलीयन, ऐलेक्ज़ेन्डर आदि की भी यही दशा हुई और हिन्दुस्तानमें भी अलाउद्दीन आदि अनेक मुसलमान राजाओंको लोभवश अनेकों कष्ट सहने पड़े।

लोभका दुश्मन संतोष है। संतोष हो जानेपर मनका जो बोझा उतर जाता है, जो आनन्द होता है और जो सुगमता हो

जाती है उसका वर्णन लेखनीद्वारा नहीं किया जा सकता है। एक पुरुषको रोटी-शाकसे संतोष हो जाता है और दूसरेको घेवर आदिकी प्राप्ति होनेपर भी दूधपाक-पूरी आदिकी अभिलाषा रहती है अथवा एकको दूधकी छाछ तथा खादीके कपड़ेसे भी संतोष हो जाता है जब कि दूसरेको रेशमी कपड़े मिलते हों फिर भी कसबी कपड़ेकी अभिलाषा रहती है, तो फिर दोनोंमेंसे कौन सुखी है ? दुनियाके विचारशील पुरुषोंमेंसे कोई भी यह कहनेमें न हिचकचायगा कि "संतोषी ही सच्चा सुखी है" नीतिकार कहते हैं कि "मनके संतोषी हो जानेपर गरीब कौन और धनवान कौन ?" संतोषका सुख तो अतुल्य है। केमेरीज केम्ब्र अथवा गिरनारकी ऊंची गुफाओंमें निवास करनेवाले, संसारपर उदासीन वृत्ति रखनेवाले, आत्मभावना भानेवाले, तथा आगंतुकके रक्खे हुए खाद्य पदार्थोंपर निर्वाह करनेवाले ध्यानमग्न महायोगियोंके सामने रुसके जार तथा इंग्लैण्डके शाहन्शाह का सुख किस गिनतीमें है ?

वर्तमान समयमें जैन कौममें प्रथम कालकी अपेक्षासे यह दोष अधिक देखा जाता है, अतः इसकी ओर विशेष ध्यान खिंचनेकी आवश्यकता है। दूसरे कषाय जब कि नवमे गुणस्थानकके अन्तमें नष्ट हो जाते हैं तब लोभ दशमें गुणस्थान तक रहता है। इससे प्रतीत होता कि लोभकी स्थिति विशेष अधिक है। इस मनोविकारपर जय प्राप्त करनेका पूरा पूरा पुरुषार्थ करना तथा उसकी पहचान करनी चाहिये।

मद मत्सर निग्रह उपदेश.

करोषि यस्प्रेत्यहिताय किञ्चित्,
कदाचिदल्पं सुकृतं कथञ्चित्।

१ मनसि च परितुष्टे, कोऽर्थवान् को दरिद्रः। भर्तृहरि

मा जीहरस्तन्मदमत्सराद्यै,
र्विना च तन्मा नरकातिथिर्भूः ॥ १३ ॥

"किसी समय अत्यन्त कठिनता उठाकर भी परभवके लिये तुझे यदि कुच्छ अल्पमात्र उत्तम कार्य (सुकृत्य) करनेका अवसर प्राप्त हो जावे तो फिर उसका मद मत्सर-द्वारा नाश न कर, और सुकृत्य विना नरकका महमान न बन।" उपजाति.

विवेचन—किसी समय तेरह काठियोंसे मार्ग दिये जाने पर गुरु महाराजका योग होता है। जिससे अनेक कर्मोंके क्षय होने पर दान-शीलादिक धर्मकार्य्य करनेकी अभिलाषा होती है। पहले तो मनुष्यपन ही मिलना दुर्लभ है और यदि कदाच वह मिल भी जावे तो भी श्रावक कुल, उत्तम जाति, उत्तम देह, देवगुरुकी जोगवाई और श्रद्धा नहीं मिलती है। इन सब योगों-के प्राप्त होनेपर भी निम्नलिखित काठिये धर्मकार्य्यमें प्रवृत नहीं होने देते हैं और कदाच मोहराजका बन्धन तोड़ कर गुरुके समीप भी चला जावे तो यहां अहंकार तथा अभिमान करके धर्मधनका नाश कर देता है। ऐसे प्रसंगोंमें जब अहंकार या मत्सर रखते हैं तब उनका अधःपतन हो जाता है और फिर चढ़नेका अवसर नहीं आता है। इसलिये ऐसे प्रसंगोंमें तूं बराबर सचेत हो कर पैर रखना। तूं चाहे कितना ही धनवान्, गुणवान्, पुत्रवान् क्यों न हो किन्तु तेरेसे भी दुनियांमें अधिक बड़े, तेरेसे भी सवाये अनेकों पड़े हैं; और यदि तूं धन, पुत्र अथवा सम्पत्तिमें कम हो तो वे जिनके पास हो उनसे ईर्षा न कर, कारण कि वे सब कर्मजन्य हैं। वे तो दोनों एक स्थानमें मिले हैं और चन्द दिनोंमें पिछे दोनों अलग अलग हो जायेंगे। यदि ऐसी वृत्ति न रक्खेगा तो इसका परिणाम अच्छा न होगा!

गुरुके समीप न आना वह आलस्य, घरके कामोंमें पड़ा रहना मोह, वे मुझे पहचानेंगे या नहीं इससे अवज्ञाका भय, अभिमानसे न आना स्तंभ, साधुवर्गमेंसे उसपर स्वयं क्रोध करना क्रोध, मद्यपानादिके व्यसनसे न आना प्रमाद, आऊंगा तो रीप कितनी पड़ेगी या कुछ देना पड़ेगा ऐसा विचार कर न आना कृपणता, नारकी आदिके दुःखोंका वर्णन सुनना भय, इष्ट वियोगसे न आना शोक, मिथ्याशास्त्रसे मोह रखना अज्ञान, बहुतसे कामोंमें फँसा हुआ होनेसे अवकाश न मिलनेसे न आना बहुकर्तव्यता, खेल देखनेको खड़ा रह जानेसे न आना कुतूहल, मर्दोंके साथ खेलनेमें लग जाना रमणत्व, इस प्रकार टीकाकार तेरह काठियोंका वर्णन करते हैं। अधिक जाननेकी अभिलाषा रखनेवालोंको श्रीजैन धर्म प्रकाश तथा परिशिष्टकी दूसरा भागमें लिखित तेरह काठियोंकी कथाओंको पढ़ना चाहिये। इन तेरह काठियोंसे मार्ग दिये जाने पश्चात् भी गये न गये समान हो जाय तो वह बहुत बुरा है, अतः यही उपदेश है कि किये हुए धर्मका अहंकार करके तथा दूसरोंकी ईर्षा करके उसे न खो बैठे।

विशेषतया ईर्षा न करना.

पुरापि पापैः पतितोऽसि संसृतौ,
दधासि किं रे गुणिमत्सर पुनः? ।
न वेत्सि किं घोरजले निपात्यसे?
नियंत्र्यसे शृङ्खलया च सर्वतः ॥ १४ ॥

"अरे! पहले ही तू पापोंके द्वारा संसारमें पड़ा है, तो फिर और गुणवान् पर ईर्षा क्यों करता है? क्या तू नहीं जानता है कि इस पापसे तू गहरे पानीमें उतर रहा है और तेरा सम्पूर्ण शरीर सांकलोंसे जकड़ा हुआ है।" वंशस्थविल

विवेचन—संसारमें भ्रमण करानेवाले पापकर्मोंके अतिरिक्त और कोई नहीं है। यह तुझे स्पष्टतया मालूम है फिर भी तूं गुणवानों से ईर्षा क्यों कर करता है ? एक तो गुणवानों का वर्ग (Class) ही दूसरोंसे भिन्न हो जाता है; और फिर शामल-भट्टके कथनानुसार ' 'वैर सूम दातार, वैर कायर अरुशूरो " हो जाता है। ज्ञान, शक्ति, धनव्यय, सन्तोष, ऋजुता, प्राज्ञता, विद्वत्ता, ब्रह्मचर्य्य, दयालुता, नम्रता आदि ऐसे गुण हैं कि ये गुण जिनमें न हो वे पुरुष गुणवानोंसे द्वेष, ईर्षा अथवा स्पर्धा करते हैं, और जिसके परिणामस्वरूप वे महान् अधोगतिको प्राप्त होते हैं, और संसार–वंदीखानेमें पड़नेपर ऐसी मजबूत जन्जिरोंसे बाँधे जाते हैं कि जिनसे यह जीवरूप कैदी उसमेंसे निकल कर शिघ्रतया नहीं भग सकता है। इस सबका सार यह है कि यदि संसारसे छूटकारा पानेकी अभिलाषा हो तो गुणवान् का बहुत आदरसत्कार करना। साधारण पुरुषसे भी डाह ईर्ष्या न करे यह तो इसीसे सिद्ध है; कि विशेषतया गुणवान्के तो पैर पूजने चाहिये। गुणप्राप्तिका यही सहज उपाय है कि गुणवान्की सेवा करें। " स्वामी गुण ओळखी, स्वामीने जे भजे, दर्शन शुद्धता तेह पामे " गुणके ज्ञानकी इस महिमाको समझो, विचारो और गुणोंको ग्रहण करो, यह ही तुम्हारा कर्त्तव्य है और इसीकी ओर प्रेरणा की गई हैं। गुणवान् पर मत्सर करनेसे समकित-की चार भावनायें, जिनका वर्णन प्रथम अधिकारमें किया गया है उनमेंसे प्रमोद भावनाका नाश हो जाता है। जिनके नाश हो जाने पर मैत्रीभाव नहीं रहता है और विना भावना समकितकी शुद्धि न रहे इतना ही नहीं अपितु अन्तमें उसका क्षय भी हो जाता है, अतः गुणवानपर प्रेम रखना शुद्ध जीवन-का मुख्य कर्त्तव्य है।

कषायसे सुकृतका नाश.

कष्टेन धर्मो लवशो मिलत्ययं,
क्षयं कषायैर्युगपत्प्रयाति च ।
अतिप्रयत्नार्जितमर्जुनं ततः,
किमङ्ग ! ही हारयसे नभस्वता ॥ १५ ॥

"महाकष्ट भोगने पर भी थोड़ा थोड़ा करके 'धर्म' प्राप्त होता है वह सब कषाय करनेसे एक ही झोंके-में एकदम नाश हो जाता है। हे मूर्ख ! अत्यन्त परिश्रमसे प्राप्त किया हुआ सोना एक फूंक मार कर क्यों उड़ा देता है ?" वंशस्थ

विवेचन—श्रुतचारित्रलक्षण धर्म अत्यन्त कठिनतासे जरा जरा करके प्राप्त होता है। अनेक पुद्गलपरावर्तन करनेके पश्चात् आखिरी पुद्गल, परावर्तनमें कुछ धर्मप्राप्तिका होना सम्भव होता है। वह प्रबल पुरुषार्थद्वारा रक्षण करने योग्य है, परन्तु कषाय करनेके पश्चात् भी प्राणी कषायमोहनीयसे एकदम अधोगतिको प्राप्त होता है और कई वक्त तो उसका उस समय इतना अधःपतन होता है कि फिर उसको फिरसे गुणस्थान मिलनेका अवसर भी कठिन हो जाता है। जिसप्रकार कोई पुरुष रातदिन कठिन परिश्रम करके स्वर्ण प्राप्त करे और फिर उसकी संभाल न रखकर प्राप्त किया हुआ स्वर्णरज फूंकके एक सपाटेमें उड़ादे, उसीप्रकार अत्यन्त कष्टसे प्राप्त किया हुआ धर्मरूप स्वर्ण, कषायरूप पवनका सपाटा आने पर एकदम नाश हो जाता है। कषाय संसारको बढ़ानेवाला, धर्मका घात करनेवाला और उसको छिन्नभिन्न करनेवाला है, इसलिये उच्च स्थान प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखनेवाले मुमुक्षुओंको इससे सचेत रहना जरुरी है। विशेष जाननेके लिये १८ वां श्लोक पढ़े।

धर्म मिलना कठिन है इसको वारंवार बताने की आवश्यकता नहीं है। ऐकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियमें तो इसकी प्राप्ति लगभग अशक्य है और विकासक्रमानुसार आगे बढ़नेपर विशेषतया मनुष्य जन्ममें ही इसकी प्राप्ति होना संभव है। मनुष्य जन्म प्राप्त करना कितना कठिन है इसका सविस्तार वर्णन इसी अधिकारके उन्नीसवें श्लोकमें किया गया है। ऐसी कठिनतासे प्राप्त किया हुआ मनुष्यभव भी पौद्गलिक इच्छाओंकी तृप्तिमें, व्यर्थ खटपट करनेमें, उदरपूरणकी चिन्ता और कामभोगकी तृप्तिमें व्यतीतकर दिया जाता है और पापके संचार होनेसे अन्तमें प्राणी फिरसे अधःपतनको प्राप्त होता है और मनुष्य भव प्राप्त करनेकी स्थितिको अपने आपसे बहार कर देता है। मनुष्यभवमें भी शारीरिक आरोग्यता, ज्ञानप्राप्तिद्वारा ग्रहण करने योग्य मानसिक बल, उसको बतानेवाले शुद्ध गुरुका संयोग और उसको अनुकरण करनेकी प्रबल अभिलाषा प्राप्त होना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ऐसी अनेकों कठिनाइयोंमें फँस जाने पश्चात् भी यदि कदाच इस जीवको धर्मरत्नकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर भी वह उससे लाभ उठानेके स्थानमें यातो न जैसी बातोंमें क्रोध करने लगता है, किसीसे वैर करता है, धर्मके नामपर झूठे झगड़े करता है या थोड़ासा खर्च करके कर्णके समान दानी कहलानेमें आनंद मानता है, अपने उत्तम ज्ञानका अभिमान करता है, अपने समान पहले कोई नहीं हुआ है और इस समयमें तो कोई मेरे समान है ही नहीं ऐसा मानता है, दूसरोंको मनाने के लिये बाध्य करता है और अपनेसे विरुद्ध विचार रखनेवालेकी हँसी उड़ाने निमित्त सीधा तथा टेढ़ा मार्ग ढूंढ़ता है; या अपनेमें कोई गुण नहीं है ऐसा ऊपर ऊपरसे बताकर मान प्राप्त करना

चाहता है, अत्यन्त अधम आचरणवाला होनेपर भी ऊपर ऊपरसे महासद्गुणी होनेका झूठा आडंबर करता है, धर्मके नामपर लोगोंको धोखा देता है, अपनी धार्मिकवृत्तिके देखावका अनुचित लाभ लेता है, या तो धर्मके लिये एक फूटी कौड़ी भी व्यय नहीं करता है, या मानके लिये लाखों रुपये व्यय करता है परन्तु सच्चा धर्म गुप्तरीतिसे नहीं करता है, एक समय खर्च करनेका निश्चय किये हुए पैसोंको दश बख भिन्न भिन्न प्रकारसे भिन्न भिन्न आकारमें मान लेता है और ऐसा करके धर्मरूपी धनसे हाथ धो बैठता है। एक ही फुँकसे धर्मसुवर्ण रज को उड़ा देता है और फिर अपनी वस्तुस्वरूपकी अज्ञानता-के कारण एक गड्ढेमेंसे दूसरेमें और दूसरेमेंसे तीसरेमें गिरता रहता है इसलिये इस विषयमें इस श्लोकका विशेष विचार करना चाहिये।

कषायसे होनेवाली हानिकी परम्परा

> शत्रूभवन्ति सुहृदः कलुषीभवन्ति,
> धर्मा यशांसि निचितायशसीभवन्ति।
> स्निह्यन्ति नैव पितरोऽपि च[1] बान्धवाश्च,
> लोकद्वयेऽपि विपदो भविनां कषायैः ॥ १६ ॥

"प्राणीको कषायसे मित्र शत्रु हो जाता है, यश अपयशका घर हो जाता है, मा बाप भाई तथा सगे स्नेही स्नेह रहित हो जाते हैं, और इस लोक तथा परलोकमें अनेक विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है।" वसंततिलका

विवेचन—कषायसे अनेकों हानियें होती हैं उनमेंसे कुछ निम्नस्थ हैं।

१ कषायसे मित्र भी शत्रु हो जाता है, यह बात विश-

[1] च स्थाने न इति वा पाठः।

कुल सत्य है। यदि एक पुरुषको क्रोध करनेकी आदत हो तो उसके मित्र उसके पास कभी नहीं रह सकते हैं। अभिमानी मित्रसे कभी भी द्वेष हुए विना नहीं रह सकता है। कपटी मित्रको तो मित्र कह ही नहीं सकते हैं, कारण एक वार उसका कपट प्रगट होजानेपर उसकी गुप्त रीतिसे काम करनेकी वगवृत्ति मालूम हो जाती है और फिर उसके मित्र उसको शिघ्र ही छोड़कर चले जाते हैं। अपनी जो एक फूटी कौड़ी भी व्यय न करने और दूसरोंके अनेकों रुपये तथा पदार्थोंको हड़प कर जानेवाले लोभी मित्रकी मित्रता तो क्षणिक होती है। ऐसे कषाय करनेवालोंकी किसीके साथ मित्रता न हो इतना ही नहीं अपितु जो उनके मित्र होते हैं वे भी शत्रु होजाते हैं। किसी समय तो उसके आचरणोंका दूसरोंके सामने वर्णन करके शत्रुका कार्य्य करते हैं, किसी समय उनकी प्रीतिकी किमत अपने मनमें जानकर अवसर पड़नेपर उसका परिणाम वताते हैं, और किसी समय प्रगटरुपसे मानभंग होजाने पर उसको प्रख्यात कर देते हैं। कषाय करनेवाले राजओंका राज्य भी उनकी प्रजा अथवा समीपवर्त्ति राजालोग हड़प कर जाते हैं और उनको शत्रु समझते हैं यह वात इतिहाससे स्पष्टतया सिद्ध है; सीजर, नैपोलियन, पोम्पी, हानीवाल, चार्लस द्वितीय, औरंगजेव, वालाजी और करणघेलाके अधःपतनका कारण कषाय ही था। यह विचारणिय विषय है कि कषायके कारण सम्पूर्ण प्रजा भी अपने राज्य धर्मको तिलाञ्जली देकर राज्यकी ओर पराङ्मुख हो जाती है।

२ कषायसे धर्म मलीन हो जाता है। अगले श्लोक में हमने पढ़ाही है कि कषायसे धर्मका नाश हो जाता है। यहां वताते है कि वह मलीन हो जाता है। धर्म के

मलीन हो जानेसे यह तात्पर्य है कि सुकृत-पुण्यधन एकत्र करनेके स्थानमें पाप अधिक एकत्र कर लिया जाता है जिससे पुरुषमें बट्टा लग जाता है। इस विषयका ऊपरके श्लोकमें काफी विवेचन हो चुका है इससे यहाँ विशेष स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

१—यशका अपयश हो जाता है। प्राप्त किया हुआ ऐश्वर्य भी मिट्टीमें मिल जाता है। क्रोधी पुरुषके साथ अनेकों समय तक सम्बन्ध नहीं ठहर सकता है और जो उसके मित्र होते हैं वे ही उसके निन्दक हो जाते हैं। अहंकारी-अभिमानी पुरुष इतना अधिक अकड़ अकड़ कर चलता है कि उसके सम्बन्धमें आनेवाले पुरुष उसके वचनको एक बार देखकर फिर कभी उससे परिचय करना नहीं चाहते; और यदि कदाच पूर्वसंचित पुण्यके योगसे उसको धन या विद्या मिल गई हो तो उसकी अनुपस्थितिमें उसका इतना पतन कर देता है कि अज्ञ बालक भी उसकी ओर संकेत कर करके उसकी हँसी उड़ाते रहते हैं। कपटी-मायावी पुरुषको तो अनेकों दूर ही से नमस्कार करते हैं, कारण कि वे जानते हैं कि इसके साथ अधिक सम्बन्ध होगा तो यह अवश्यमेव हानिके गड्ढे में धकेल देगा और यह कब तथा किसप्रकार धकेलेगा इसका मान न होनेसे प्रत्येक पुरुष छोटेसे लगाकर बड़ेतक चाहे वह धनी हो या निर्धनी, सबल या निर्बल, बच्चा या बुड्ढा, निरोगी या रोगी और पुरुष या स्त्री सब कोई उसका सिधे या उल्टे रीतिसे अपमान करते हैं। लोभी पुरुषके ग्राहक नहीं ठहरते हैं, उसके भाइ लिये, ग्राहक और सेवक जानते हैं कि वह केवलमात्र अपने स्वार्थको ही देखनेवाला है, तथा अपने एक पैसेके लाभके लिये

दूसरे पुरुषोंके हजारों रुपयोंके नुकशानकी ओर ध्यान भी नहीं देता है। व्यवहारमें ऐसी प्रतिष्ठाकी हानि सहन करना अधमाधम है। इसप्रकार क्रोध, मान, माया अथवा लोभ करनेवाले प्राणीको किञ्चित्मात्र भी यश प्राप्त नहीं हो सकता है और जो मिला हुआ होता है उसका भी अपयशमें परिवर्तन हो जाता है। ऐसा पुरुष यदि संसारको दिखाने निमित्त किसी समय कोई ज्योंहार या जीमनवार करता है तो करते समय और करने पश्चात् मनुष्य उसके प्रति क्या भाव प्रगट करते हैं उनको सुननेसे अथवा देखनेसे उसके अपयशका सच्चा सच्चा पत्ता लग जाता है।

४—मावाप तथा भाई भी ऐसे प्राणीपर प्रेम नही रखते हैं। मावाप प्रेमके सोते (झरा) कहलाते हैं जो कभी भी नहीं सुखते हैं, किन्तु वे तथा भाई भी जब जानते हैं कि यह भाई क्रोधी, अभिमानी, कपटी अथवा लोभी है तो वे भी उससे प्रेम करना छोड़ देते हैं। कषाय करनेवाला पुत्र अथवा भाई एक मात्र अपने हितकी ओर ही देखता है और स्वार्थसंघट्ट समय तो अति अधम व्यवहार करता है। उस समय उसका पिता अथवा भाई उसको किस प्रकार चाह सकता है? मातापिताका प्रेम त्याग करने योग्य है यह सच बात है किन्तु उस त्यागकी अपेक्षा होती है। संसार व्यवहारकी अपेक्षासे और क्रोधादिका सत्य स्वरूप निरुपण करते समय व्यवहारपर उसका कैसा असर होता है यह बतानेमें मावापका प्रेम या बन्धुवर्गमें प्रीति यह मनुष्योंके उत्तम स्वभावका दिग्दर्शन करानेवाले हैं और इसलिये आदरणीय हैं। कषाय करनेवाले पुरुषकी इस प्रकार घरमें भी प्रीति नहीं होती है। बाहर भी अपयश होता है और कोई उससे मित्रता नहीं रखता है।

९–कषायसे इस भव तथा परभवमें अनेक हानियें होती हैं जिसका थोड़ा बहुत स्वरूप ऊपर बताया गया है। मलीन अध्यवसाय और उससे मलीन व्यवहार करनेवाला पुण्य उपार्जन नहीं करता है, पाप उपार्जन करता है जिससे उसके कर्मनिर्जरा नहीं होती हैं और परभवमें भी अनेक दुःख सहन करता है। यहाँ क्रोधीको परतन्त्रता, अभिमानीको नीच गोत्र आदिक, मायावीको स्त्रीपन और लोभीको दरिद्रता आदि अनेक दुःखपरम्परा होते हैं। उनको भुगतनेके लिये वह फिर अनेकों पापोंका समह कर लेता है जिससे इसप्रकार उत्तरोत्तर एक खड्डेमेंसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें इसीप्रकार गिरता जाता है और कभी ऊँचा नहीं उठ सकता है। इसप्रकार कषायसे हानिकी परम्परा चलती है, ये बहुत ध्यानमें रख कर, समझ कर, विचार कर मनन करने योग्य है।

मदनिग्रह–खास उपदेश

रूपलाभकुलविक्रमविद्या–
श्रीतपोवितरणप्रभुताद्यैः ।
किं मदं वहसि वेत्सि न मूढा–
नन्तशः स्वभृशलाघवदुःखम् ॥१७॥

"रूप, लाभ, कुल, बल, विद्या, लक्ष्मी, तप, दान, ऐश्वर्य आदिका मद तू क्या देख कर करता है ? हे मूर्ख ! अनन्तवार जो तुझे लघुताईका दुःख सहना पड़ा है क्या तू उसको भूल गया है ?" स्वागता

विवेचन—जिस प्रकार ऊपरकी बातमें अनेक बार लघुताईको प्राप्त हुआ है, ऐसा कहा गया है उसीप्रकार श्री हेमचन्द्राचार्य्य भी कहते हैं कि—

१ स्व स्थाने स्व इति वा पाठः ।

जातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतपःश्रुतैः ।
कुर्वन् मदं पुनस्तानि हीनानि लभते जनः ॥

इन आठोंका मद करनेसे वे ही वस्तुएं प्रतिकूल दशामें प्राप्त होती है। आठ प्रकारके मद करनेवालोंकी क्या दशा हुई है इसकी विस्तारपूर्वक कथा देखनी हो तो जैन कथारत्न-कोष ६ वें भागके गोतमकुलकको ९३ पृष्ठसे पढ़े। (१) जातिमद—मैं उत्तम जातिका हूँ ऐसा अहंकार करना। हरिकेशी मुनिको जातिमद करनेसे चाण्डालके कुलमें उत्पन्न होना पड़ा। (२) लाभमद—छ खण्डके लाभसे मदमें आ कर सर्व चक्रवर्तियोंसे बड़ा होने निमित्त सुभूम सातवां खण्ड प्राप्त करनेको गया था, परन्तु अहंकारके कारण उसकों अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा। अब भी व्यौपारमें हानि होने पर कर्मकी निन्दा की जाती है और लाभ होने पर उसका अभि-मान किया जाता है। (३) कुलमद—हम ऐसे हैं, हमारे बापदादोंने ऐसे ऐसे बड़े महान कार्य्य किये हैं आदि। मरिचीको अपने कुलका मद हो गया था जिससे नीच गोत्र कर्म बांधा, और वह अनेक भवतक सहन करना पड़ा। (४) ऐश्वर्य्यमद—यह मद दशार्णभद्रको हुआ था। ऐसा ही मद रूस (Russia) के जार (Czar) को हुआ था। दूसरे भी अनेकों जो अधिकार पाकर, स्वामीत्व प्राप्त करके अभिमानी हो जाते हैं यह सब ऐश्वर्य्यमद कहलाता है। (५) बलमद—श्री आदिनाथप्रभुके पुत्र अत्यन्त बलशाली बाहुबलिको यह मद हुआ था जिससे उसने अपने भाईके साथ ही घोर संग्राम किया था। (६) रूपमद—सनत्कुमार को यह मद हुआ था, अब भी गोरी कौमोंको यह मद होता है। स्त्रियोंमें यह मद विशेष-तया होता है, परन्तु इससे परिणाममें अत्यन्त हानि होती

है। (७) तपमद—तपस्वीको यह मद हो जाता है जिससे उसकी तपस्याके फलका नाश हो जाता है। कुरगडु और चार मुनियोंके दृष्टान्तको देखिये। (८) श्रुतमद—विद्याका मद तो इस जमाने में अनेकों पुरुषोंको होता है। स्थूलिभद्रको श्रुतमद हुआ था जिससे पिछले पूर्वको श्रीसंघके आग्रहसे एक मात्र सूत्ररूपमें बताया गया-अर्थसे नहीं बताये। इन आठों मदोंका बहुत विचार करना चाहिये। सिधा या उल्टा किसी न किसी तरह प्रत्येक पुरुष इनके जालमें फँस जाता है और संसारको दीर्घ बना देता है, इसलिये इनके वशीभूत न होना ही मनपर अंकुश रखना तथा जीवनयात्रा को सफल बनाना है।

अनेक लेखक मान तथा मदकी भिन्नताका ध्यान नहीं रखते हैं। नहीं होनेवाले गुणोंका सद्भाव और होनेवाले गुणोंका उत्कर्ष बताना इसको यदि हम अनुक्रमसे मान और मद समझें तो मदके विषयमें बहुत कुछ विचार करनेकी आवश्यकता रह जाती है। मद किसके लिये किया जावे इसका जरा विचार किजिये। ऐश्वर्य, धन या विद्या प्राप्त हो अथवा जाति, कुल या बल प्राप्त हो तो उसमें किस का मद किया जावे? पूर्व शुभ कर्मोके उदय होनेसे ये सब प्राप्त होते हैं, उसमें तुझे मुदको किसका मद करना है? अपितु तेरेसे ज्ञान, धन, समृद्धि, बल आदिमें अनेकों बड़े बड़े हो गये हैं, अब भी तेरे शिरपर सवा-सेर संसारमें कितने ही हैं तो फिर तू किस बातपर अहंकार करता है? जो वस्तु तेरी खुदकी नहीं है, स्थाई नहीं है, किसी-की नहीं हुई उसका एक अंशमात्र प्राप्त करके तू क्यों अहंकार करता है? मोजकुमारने उसके काकाको कहलाया था कि " मान्धाता जैसे बड़े २ राजा चले गये उनके साथमें तो पृथ्वी

नहीं गई थी किन्तु मुझे आशा है कि काका ! तुम्हारे साथ तो यह अवश्यमेव आयगी " यह छोटीसी बात अत्यन्त रहस्यमय है। सम्पूर्ण छ खण्डोंको भोगनेवाले चक्रवर्ती भी जब खुले हाथों चले जाते हैं तो फिर तूं तो किस गिनतीमें है ? तुझको क्या मिला है ? मिला है उसमें भी तेरा क्या है ? और उनमेंसे तेरे साथ क्या क्या आनेवाला है ? इसका विचार कर और व्यर्थकी झंझटोंको छोड़ कर सीधे मार्गका पथिक बन।

संसारवृक्षका मूल कषाय.

विना कषायान्न भवार्तिराशि-
र्भवेद्भवेदेव च तेषु सत्सु ।
मूलं हि संसारतरोः कषायास्त-
त्तान् विहायैव सुखी भवात्मन् ! ॥ १८ ॥

" विना कषायके संसारकी अनेकों व्याधियें नहीं हो सकती हैं और कषायोंके होनेपर पीड़ायें अवश्यमेव होती हैं। संसारवृक्षका मूल ही कषाय है। इसलिये हे चेतन ! इनका परित्याग कर सुखी हो। " उपजाति.

विवेचन—सम्पूर्ण अधिकारका सार यहाँ है। अर्थ भी स्पष्ट ही है। कषाय हैं वहां संसार है और जहां कषाय नहीं हैं वहां संसार भी नहीं है। कषाय अर्थात् संसारका लाभ, संसरण—गति करानेवाला—भटकानेवाला संसार और कषाय भी उसी तरह गति कराते हैं। किसको ? आत्माको। इनका त्याग अर्थात् गतिका बन्द हो जाना इस अन्वय व्यतिरेक धर्मको बराबर समझना, विचारना, मनन करना और हृदयमें स्थापन करना। कषाय न हो तो संसाररूप वृक्ष ही उत्पन्न न हो और कदाच कषाय होनेसे उत्पन्न हो भी गया हो तो उसको भी उखेड़ देना चाहिये और फिर वह कभी न उत्पन्न होने पावे

इसके लिये उसके मूलको ही जला देना चाहिये । (इसको जला देना पाप है इससे न डरे । इस कषायवृक्षको तो अनन्त दयाके स्थान परमात्मा तीर्थंकरोंने भी मूलसे उखेड़ कर फेंक दिया था) ।

प्रत्येक अध्यात्मार्थीके घरमें यह वाक्य लिख देना चाहिये कि " मूलं हि संसारतरोः कषायाः " इस वाक्यके भलिभाँति समझ लेने पर भविष्यकी स्थितिका आधार है ।

कषायके सहचारी विषयोंका त्याग.

समीक्ष्य तिर्यङ्नरकादिवेदनाः,
श्रुतेक्षणैर्धर्मदुरापतां तथा ।
प्रमोदसे यद्विषयैः सकौतुकैस्[1]-
ततस्तवात्मन् ! विफलैव चेतना ॥ १९ ॥

" शास्त्ररूप नेत्रोंसे तिर्यंच, नारकी आदिकी वेदनाओंको जान कर, तथा उसीप्रकार धर्मप्राप्तिकी कठिनताको भी जान कर, यदि तू कुतूहलवाले विषयोंमें आनन्द मानेगा तो हे चेतन ! तेरा चेतनपन सहज व्यर्थ है । " वंशस्थ

विवेचन—विषय तथा प्रमादमें परस्पर साधर्म्य है और विषय तथा कषाय सहचारी हैं इसलिये कषायद्वारमें विषयोंका उपदेश किया जाता है । देवताओंको च्यवन समय अनन्त दुःख होता है, मनुष्यभवमें प्रसूति, वियोग, व्याधि, जरा, मृत्यु आदि दुःख हैं, तिर्यंचको परस्वाधीनवृत्तिका दुःख है और नारकी तो दुःखमय ही है । यह सब बातें शास्त्रमें पढ़ी जाती हैं इसलिये शास्त्ररूप ज्ञानचक्षुसे तुमने ये सब देखी हैं और तू यह भी

---

१ सकौतुक इति पाठोऽपि क्वचिद्दृश्यते.

२ मनमें जब कोई विषय बराबर प्रगट होता है तब उसका ज्ञान चक्षुओंके सामने स्पष्ट दर्शन होता है । नहीं देखी हुई वस्तुओंका वर्णन सुन

भलिभाँति जानता है कि पंचेन्द्रियपन अनेक कष्टसे प्राप्त होता है तथा धर्मका मिलना तो अत्यन्त कठिन है। इतना इतना सब अपनी खुदकी आँखोंसे देखनेपर भी यदि तेरी वृत्ति नहीं पलटती है, तुझको अल्पमात्र भी निर्वेद नहीं होता है तो समझना चाहिये कि तेरे पढ़ने-लिखनेमें धूल है, वागाडंबर है, देखावमात्र है, निष्फल है, बंधनरूप है।

धर्म कितनी कठिनतासे प्राप्त होता है यह प्रसिद्ध ही है। दस दृष्टान्तसे मनुष्यभवकी दुर्लभता जानी जा सकती है। इन दस दृष्टान्तोंके सम्बन्धमें टीकाकारने दस श्लोक पेश किये हैं वे कण्ठाग्र करके हृदयपर लिखलेने तथा सरल अर्थवाले हैं अतः यहां लिखदिये गये हैं।

विप्रः प्रार्थितवान् प्रसन्नमनसः श्रीब्रह्मदत्तात् पुरा,
क्षेत्रेऽस्मिन् भरतेऽखिले प्रतिगृहं मे भोजनं दापय।
इत्थं लब्धवरोऽथ तेष्वपि कदाप्यश्नात्यहो द्विः स चेद्,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न ॥१॥
स्तम्भानां हि सहस्रमष्टसहितं प्रत्येकमष्टोत्तरं,
कोणानां शतमेषु तानपि जयन् द्यूतेऽथ तत्सङ्ख्यया।
साम्राज्यं जनकात्सुतः स लभते स्याचेदिदं दुर्घटं,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न ॥२॥
वृद्धा कापि पुरा समस्तभरतक्षेत्रस्य धान्यावलिं,
पिण्डीकृत्य च तत्र सर्षपकणान् क्षिप्त्वाढकेनोन्मितान्।
प्रत्येकं हि पृथक्करोति किल सा सर्वाणि चान्नानि चेद्,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न ॥३॥
सिद्धद्यूतकलाबलाद्धनिजनं जित्वाथ हेम्नां भरै-

फर उनका उल्लेख हम कईवार करते हैं। इसलिये यहां देखी है ऐसा कहा गया है। इसका भावार्थ यह है कि ऐसा सुना है।

आणाक्येन नृपस्य कोशनिवहः पूर्णीकृतो हेलया।
दैवादाज्ञजनेन तेन स पुनर्जीयेत मन्त्री क्वचित्,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न। ४॥
रत्नान्याश्वसुतैर्वितीर्य वणिजां देशान्तरादीयुषां,
पश्चात्तापवशेन तानि पुनरादातुं कृतोपक्रमैः।
लम्पन्तो निखिलानि दुर्घटमिद दैवादूघटेत्तत्क्वचित्,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न॥५॥
स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे श्रीमूलदेवेन च,
प्रेक्षयेन्दु सकल कुनिर्णयवशाद्स्वप फल प्राप्य च।
स्वप्नस्तेन पुनः स तत्र शयितेनालोक्यते कुत्रचित्,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न॥६॥
राधाया वदनादधः क्रमवशाच्चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण तदधो मन्थी स्थितोऽर्वाङ्मुखः।
तस्यावामकनीनिकामिषुमुखेनैवाशु विध्यत्यहो,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न॥७॥
दृष्ट्वा कोपि हि कच्छपो ह्रदमुखे सेवालयन्वच्युते,
पूर्णेन्दु मुदितः कुटुम्बमिह त द्रष्टु समानीतवान्।
सेवाले मिलिते कदापि स पुनश्चन्द्र समालोकने,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न॥८॥
शम्या पूर्वपयोनिधौ निपतिता भ्रष्ट युग पश्चिमा-
म्भोधौ दुर्धरवीचिभिश्च सुचिरात्सयोजित तद्द्वयम्।
सा शम्या प्रविशेद्युगस्य विवरे तस्य स्वय क्वापि चेत्,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न। ९॥
चूर्णीकृत्य पराक्रमान् मणिमय स्तम्भ सुरः क्रीडया,
मेरौ सन्नलिका समीरवशतः क्षिप्त्वा रजो दिक्षु चेत्।

स्तम्भं तैः परमाणुभिः सुमिलितैः कुर्यात्स चेत्पूर्ववत्,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न॥१०॥

भोजन—ब्रह्मराजाका पुत्र ब्रह्मदत्त जब केवल दो वर्षका था तब उस राजाकी मृत्यु हो गई। राजकार्य्य दीर्घ नामक मंत्रीको सोंपा गया। इस मंत्रीके साथ ब्रह्मराजाकी रानी चुलणी प्रेमासक्त हुई और विषयभोगोंका सेवन करने लगी। ब्रह्मदत्तको जब इस बातकी खबर मिली तो उसने इस दुष्ट संयोगको तोड़नेका गुप्तरूपसे प्रयास किया, परन्तु रानीने तो इसके विपरित उसका प्राण हरण करनेका दृढ़ संकल्प किया और एक लाक्षागृह बनवाकर उसमें नवपरिणीत वधूके संग कुँवरको भेजा तथा रात्री होनेपर उस गृहमें आग लगा देनेका विचार किया। इस दुष्ट निर्णयकी सूचना दूसरे मंत्रीने कुँवरको दी और भूमिमें किये हुए सुरंगके रास्तेद्वारा कुँवरको बाहर सहि-सलामत निकाल दिया। अरण्यमें एकला भटकता भटकता कुँवर एक महाअटवीमें आ पहुंचा। उस समय एक ब्राह्मणका साथ हुआ जिससे उसने अटवीको पार किया। राज्य मिलने पर उसे आनेको कह कर ब्रह्मदत्तने अपना कृतज्ञपन प्रगट किया। अनुक्रमसे कितने ही समय पश्चात् ब्रह्मदत्तको कांपिल्यपुरका राज्य मिला और छ खण्ड पृथ्वीको जीत कर चक्रवर्ती हुआ। उक्त ब्राह्मण यह हाल सुनकर कांपिल्यपुर पहुंचा और अत्यन्त प्रयास करने पश्चात् चक्रवर्तीसे मिला। चक्रवर्तीने उसे यथारुचि वर मांगनेको कहा। ब्राह्मणने विचार कर उत्तर देनेकी प्रार्थना की। घरपर आकर उसने अपनी स्त्रीसे इसके विषयमें पूछा तो स्त्री विचार करने लगी कि जो यदि इसको गामग्रास मिलेग तो इसे वहीवटकी खटपट करनी पड़ेगी और ऋद्धिके प्राप्त हो जाने पर गरीव अवस्थाकी विवाहित स्त्री पसंद नहीं आयगी

तो मेरा त्याग कर देगा। इसलिये उसने ऐसी सलाह दी कि अपने कुटुम्बको प्रत्येक दिन एक एक चूल्हे खानेको मिले और एक मोहर दक्षिणा मिले ऐसा वरदान मांगो। ब्राह्मणने यह ही वरदान मांगा। राजाने उसकी पश्चिम बुद्धिपर खेद प्रगट किया। अब ब्राह्मणको प्रथम दिन ब्रह्मदत्तके रसोड़ेपर भोजन करना था, वहां भोजन करके उसने एक मोहर प्राप्त की। इसके पश्चात् चक्रवर्तीकी एक लाख बानवे हजार रानीयोंके यहां भोजन किया। इस प्रकार छ खण्डमें प्रत्येक घरपर भोजन करता था, परन्तु प्रथम दिनके भोजनमें जो मिठास था वह फिर नहीं आया इसलिये प्रत्येक दिन प्रथम दिनके भोजनकी अभिलाषा रखने लगा। इसलिये प्रथम श्लोकमें कहा गया है कि–" प्रसन्न मनवाले ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीसे ब्राह्मणने प्रार्थना की कि–'मुझे सम्पूर्ण भरतक्षेत्रके प्रत्येक घर भोजन करनेका वरदान दो ' इस प्रकार वरदान पाकर वह ब्राह्मण अभिलाषा करता है कि कदाचित् प्रथम दिन किया हुआ भोजन फिर मिलेगा, परन्तु जो अभागी प्राणी मनुष्य भव पाकर उसे हार जाता है वह उसे फिरसे नहीं पा सकता है। "

द्यूत—एक राजा बहुत वृद्ध हो गया था, किन्तु किसी भी तरह उसकी मृत्यु न हुई। उसका पुत्र भी बहुत बड़ा हो गया था, और प्रत्येक दिन वह अपने पिताकी मृत्युकी राह देखा करता था। वृद्ध राजाको भी राज्यसे बड़ा तीव्र मोह हो गया था इसलिये वह भी अपने पुत्रको राज्य सोंपना नहीं चाहता था। अन्तमें पुत्रकी यह अभिलाषा हुई कि पिताको मार कर भी राज्य प्राप्त करना चाहिये। जब वृद्ध राजाको इस बातकी खबर मिली तो उसने एक युक्ति की। उसकी राज्यसभा के एकसौ आठ स्तम्भ थे और प्रत्येक स्तम्भपर एकसौ आठ

कोने थे। राजाने पुत्रको बुलाकर कहा कि मेरी अभिलाषा अब तुझे राज्यभार सौंप देनेकी है, परन्तु अपने कुलकी ऐसी प्रथा है कि पुत्रको राज्य लेनेसे पहिले पिताके साथ जुआ खेलना चाहिये और जूएमें एक बार जीत होनेपर एक कोना जीता जाता है और इसप्रकार एकसौ आठ बार जीतने पर एक स्तम्भ जीता जाता है। ऐसे एकसौ आठ स्थम्भ जीत लेने पर पुत्रको राज्य प्राप्त हो सकता है, किन्तु खेलते खेलते यदि बिचमें एक भी बार हार जाता है तो पहलेकी सब जीत व्यर्थ हो जाती है और फिर पिछला खेल नये रूपसे प्रथम कोनेसे प्रारम्भ किया जाता है। यह बात पुत्रने स्वीकार की और द्यूत खेलना प्रारम्भ किया। इसप्रकार खेलते खेलते कितनी ही बार जीतता है और फिर हार जाता है, परन्तु खेल सम्पूर्ण तो कभी भी नहीं होने पाता है। इसलिये द्वितीय श्लोकमें कहते हैं कि–"एकसौ आठ स्तम्भोंमेंसे प्रत्येक स्तम्भमें एकसौ आठ कोने हैं और उन प्रत्येक कोनेको पुत्र पिताके साथ द्यूत खेल कर जीते तब उसको साम्राज्य मिल सकता है; किन्तु ऐसा होना अत्यन्त दुर्लभ तो है; फिर भी कदाच ऐसा होभी जावे परन्तु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्य भवको प्राप्त कर इसे व्यर्थ खो देता है वह तो फिर इसको कदापि प्राप्त नहीं कर सकता है।"

धान्यः—एक राजाने भरतक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले सर्व प्रकारके अन्नोंको कौतुक निमित्त एकत्र किये और उनमें कुछ सरसोंके दाने डाल दिये, तत्पश्चात् एक वृद्ध स्त्रीको बुला कर अन्नके ढेरमेंसे सरसोंके सब दाने अलग करनेकी आज्ञा दी। बिचारी वृद्ध स्त्री ऐसा किस प्रकार कर सकती थी? अतः तीसरे श्लोकमें कहा गया है कि–"सम्पूर्ण भरतक्षेत्रके सर्व अन्नोंके समूहमें थोड़ेसे सरसों डाले हुए हों और उन्हीं दानोंको अलग

करनेकी आज्ञा एक वृद्ध स्त्रीको दी गई हो तो वह वृद्ध स्त्री तो कदाच सर्व धानोंको तथा सरसोंको अलग करनेमें समर्थ हो सकती है, किन्तु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्य भव प्राप्त कर उसे व्यर्थ खो देते हैं वे फिरसे उसको कदापि प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

पाशाः—चाणक्य नामक ब्राह्मणपुत्र नन्द राजाकी सभामें आया और आकर सिंहासनपर बैठ गया। राजा तो उस समय राजसभामें उपस्थित नहीं था, परन्तु सेवकोंने चाणक्यका तिरस्कार करके उसे वहाँसे उठा दिया। इसपर चाणक्यने वहाँ पर घोर प्रतिज्ञा की कि—जो यदि मैं सच्चा चाणक्य हूँगा तो नन्द राजाको समूल नष्ट कर दूँगा। राज्ययोग्य कुँवरको ढूंढते ढूंढते वह एक मयूरपोषककी लड़कीके समीप गया। उसको चन्द्रपान करनेका दोहद (इच्छा) हुआ था। चाणक्यने उत्पन्न होते ही पुत्रको उसे सौंप देनेकी उससे प्रतीज्ञा कराकर युक्तिसे उसके दोहद (इच्छा) को पूर्ण किया। वह इस प्रकारसे कि उसने एक छिद्रयुक्त तृणका गृह निर्माण कराया और एक पुरुष छिद्रको ढकने निमित्त ऊपर बैठाया गया। एक विशाल थालमें परमान्न (खीर) भर कर छिद्रके नीचे उस थालको रक्खा और पुत्रीको चन्द्रपान करनेको कहा गया। स्त्री पान करती जाती है और छप्पर पर बैठा हुआ पुरुष छिद्रको ढकता जाता है। इस प्रकार उसके मनको पूरा किया गया। नियत समयपर उसके पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ जिसका नाम चन्द्रगुप्त रक्खा गया। चन्द्रगुप्त बाल्यकालसे ही राजा होनेके चिन्ह प्रगट करने लगा। छोटे छोटे बालकोंकी सभायें करके उसमें स्वयं राजाका पद ग्रहण करने लगा, न्याय करने लगा, गामग्रास भेट देने लगा, सजायें देने लगा और युद्ध भी करने लगा। चाणक्य और चन्द्रगुप्तने अनेक सिद्धियें प्राप्त करके पाटलीपुत्र-

को जा घेरा डाला। नन्दराजा जब लड़नेको आया तो चाणक्यकी सैनामें खलबली मच गई और सैनिक इधरउधर भगने लगे। चाणक्य भी भगा तो राजाने उसको मारने निमित्त सामन्तोंको भेजे। चन्द्रगुप्तको एक कुएमें छिपा कर स्वयं साधुका वेष धारण कर चाणक्य कुएपर बैठ गया और सामन्तोंसे कहा कि चन्द्रगुप्त अन्दर चला गया है। सामान्तगणोंने जब हथियार वाहर छोड़ कर कुएमें प्रवेश किया तो चाणक्यने लघुलाघवी कलासे उनके शस्त्रोंसे उन्हींको मार डाला। इसप्रकार अनेक कष्टोंसे चन्द्रगुप्तकी रक्षा करके स्वयं भी युक्तिद्वारा वच गया। चाणक्य नीतिशास्त्रमें वड़ा प्रविण था। युक्ति किस प्रकार करना, छल किस प्रकार करना और किसी भी प्रकारके प्रतिकुल संयोगोंमें अपना कार्य्य किस प्रकार सिद्ध करना यह वह वहुत अच्छी तरह समझता था। एक पर्वत नामके राजाको अपना वना कर नन्दराजा पर फिरसे आक्रमण किया, किन्तु इस समय सीधा पाटलीपुत्रपर घेरा न डाल कर समीपवर्ति गॉवोंको जीतने लगा। नन्दराजा हार गया और चन्द्रगुप्त सिंहासनारूढ हुआ। पर्वत राजा भी विषकन्याके संयोगसे मर गया जिससे उसका भी भय जाता रहा। पाटलीपुत्रकी प्रजाको वहुतसा कर देना पड़ा जिससे प्रजामें असन्तोष फैल गया और चन्द्रगुप्तसे विनति की गई। चाणक्यने विचार किया कि यदि प्रजा असन्तोषी होगी तो राज्य छोड़ कर चली जायगी, इस लिये उसने लोगोंका कर माफ कर दिया। धन एकत्र करनेका दूसरा कोई उपाय सोचते सोचते उसने देवताओंके पाससे अजय पासे प्राप्त किये। ग्रामके प्रतिष्ठित सेठोंको वुला कर उनके साथ जुआ खेलने लगा। वह स्वयं तो वड़ी रकम दावपर लगाता था किन्तु उसकी जीत हो जानेपर अपने दावके प्रमा-

णमें बहुत कम वस्तु सेता था। ऐसा दाव लगाने पर भी सब लोग उसके साथ खेलमें हार जाते थे किन्तु चाणक्य किसी भी दिन नहीं हारता था। इस लिये चौथे श्लोकमें कहा गया है कि—" सिद्धके पाससे प्राप्त किये हुए जुए खेलनेके पासोंके उपयोगसे अनेक लोगोंको जीत कर चाणक्यने केवल खेलमात्रसे ही राजाके भंडारको सुवर्णसे भर दिया था। कदाचित् देवकृपासे ग्रामके सेठलोग उस मन्त्रीको जीतलें, परन्तु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्यभवको व्यर्थ खो देते हैं वे फिरसे उसको प्राप्त नहीं कर सकते हैं। "

रत्न—वसन्तपुर नगरमें धना नामक एक सेठ रहता था। उसके पांच पुत्र थे। वह धना सेठ रत्नकी परीक्षामें अत्यंत प्रवीण होनेसे सब लोग उसको रत्नपरीक्षकके नामसे पुकारते थे। उस सेठकी यह टेव पड़ी हुई थी कि बहु मूल्यवान जो जो रत्न आते थे उनको वह खरीद कर संग्रह किया करता था किन्तु उन्हें बेचता न था। उसके पुत्र भी उसे बारम्बार कहा करते थे कि जब रत्नोंके दुगने तिगुने दाम मिलते हैं तब फिर तुम इन्हें क्यों नहीं बेच देते हो? इसप्रकार बारम्बार कहा करते थे तो भी सेठ तो बेचने की बात ही नहीं करता था। एक दिन सेठ परदेश गया और कितने ही दिन पश्चात् पिछा लौटा तो मालूम हुआ कि उसके लड़कोंने सब रत्न परदेशी पुरुषोंको बेच दिये हैं। जब सेठने यह समाचार सुना तो उसने अपने सब पुत्रोंको घरसे बाहर निकाल दिया और कहा कि सब रत्नोंको लेकर ही फिर वापीस घरको आना, अन्यथा नहीं। पुत्र तो बेचारे परदेशको चल दिये, परन्तु वे ही सब रत्न किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? इसलिये पांचवें श्लोक में कहते हैं कि-" सेठके लड़कोंने परदेशी व्यौपारियोंको रत्न बेचदिये और

फिर पश्चाताप करके उन्हींको फिरसे प्राप्त करने निमित्त प्रयास करने लगे; किसी देवकी सहायतासे कदाच वणिकपुत्र उन्हीं सब रत्नोंको फिरसे प्राप्त करले, परन्तु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्य भवको प्राप्त कर उसे व्यर्थ खो देते हैं वे उसे फिरसे कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं।"

स्वप्न—उज्जैन नगरीमें एक मूलदेव नामक चतुर राजपुत्र था। वह देवदत्ता नामक वेश्यापर आसक्त था। एक दिन एक शेठने उसका अपमान करके उसे वहाँ से निकाल दिया तो वह परदेशमें भ्रमण करने लगा। अनेक प्रकारके सृष्टि-वैभवका उपयोग करनेवाला मूलदेव एक समय रात्रीको एक मठमें सोता था, उस समय उसने एक स्वप्न देखा कि चन्द्र उसके मुह-में प्रवेश कर रहा है। स्वप्न देखकर वह जग पड़ा। उसी समय एक गुसांईके चेलेने भी वैसे ही स्वप्नका कारण अपने गुरुसे पूछा। गुरुने उत्तर दिया कि 'तू आज घृत-खाण्ड सहित रोटी पायगा' शिष्यको तदनुसार भोजन मिला; किन्तु मूल-देव तो शास्त्रज्ञ था इसलिये मठमेंसे बाहर निकलकर फलफूलादि लेकर शास्त्रोक्त विधि अनुसार स्वप्नपाठकके समीप गया और उसके सामने उन्हें रखकर उससे स्वप्नका हाल पूछा। स्वप्नपाठक बोला कि—'तुमको राज्य प्राप्त होगा।' मूलदेवने इस वचनपर विश्वास कर लिया। नगरसे अन्न लेकर मासोप-वासी साधुको भोजन कराया और देवताओंके संतुष्ट होनेपर हजार हाथी रख सके ऐसा राज्य देवदत्ता गणिका सहित एक ही वचनमें मांगलिया। सात दिनके पश्चात् एक मरे हुए अपुत्र राजा-के ग्राममें प्रवेश करते पंच दिव्य प्रगट हुए और मूलदेवको राज्य मिला। जब गुसांईके शिष्यने यह सन्देश सुना तो उसको अत्यन्त खेद हुआ। एकही प्रकारके स्वप्न दोनोंको आनेपर

भी गुरुको विधिका ज्ञान न होनेसे अल्पमूल्य लाभको लादिया यह बात उसके हृदयको भेदने लगी, इसलिये वह प्रत्येक दिन मठमें आकर सोने लगा और फिरसे उसी स्वप्नको देखनेकी अभिलाषा करने लगा, परन्तु वह स्वप्न फिरसे नहीं दिखाई देता है। इसलिये छठे श्लोकमें कहा है कि—"मूलदेव और कार्पटिक (गोसाईंका शिष्य)ने स्वप्नमें चन्द्र देखा, परन्तु कार्पटिकने कुनिर्णय किया जिससे अल्प फल पाया। फिरसे उसी स्थानपर आकर वह सोता है और कदाच दैवयोगसे वही स्वप्न वह फिरसे भी देखले, किन्तु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्य भवको व्यर्थ गमा देते हैं वे फिरसे उसे कदापि प्राप्त नहीं कर सकते हैं।"

चक्र—इन्द्रपुर नगरमें इन्द्रदत्त राजा रहता था। उसके २२ रानियोंसे उत्पन्न हुए २२ पुत्र थे। राजाने फिरसे तेईसवी स्त्रीसे जो अपने ही मंत्रीकी पुत्री थी व्याह कर लिया, किन्तु शीघ्र ही राजाको उससे द्वेष हो गया इस लिये वह अपने पिताके घर आकर रहने लगी। एक दिन राजा भ्रमण करनेको निकला तो उस रूपसौंदर्यकी भंडार स्त्रीको झरोखेमें देखकर उसपर आसक्त हो गया, किन्तु उसको पहचान न सका। राजा रात्रिभर वहीं रहा और संयोगवश उसी रात्रिको मंत्रीपुत्री गर्भवती हुई। मंत्रीने सब वृत्तान्त पत्रपर लिख लिया। उचित समयपर अत्यन्त सुन्दर सुकुमार पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसको कलाचार्य्यके पास अध्ययन निमित्त रक्खा। वह बहुत विद्वान् तथा धनुर्विद्यामें निपुण हुआ। गर्विष्ट राजपुत्र बहुत अच्छी प्रकारसे नहीं पढ़ सके। मंत्रीपुत्रीके पुत्रका नाम सुरेन्द्रदत्त रक्खा गया था। इसी समय मथुरानगरके राजा जीतशत्रुकी निर्वृत्ति नामक पुत्री रूपयौवनसंपन्न हो गई थी। वह शृंगार सज कर अपने पिताके

समीप गई तो पिताने स्वयंवरद्वारा अपना वर वरनेकी अपनी इच्छा उससे प्रगट की । पुत्रीने भी राधावेध साधनेवालेको वरनेकी अभिलाषा प्रगट की । उच्च कुलमें अपनी इच्छानुसार वर वरनेकी प्रथा पूर्वकालमें होना अनेकों प्रसंगोंमें पाया जाता है । राजाने भी अपनी पुत्रीके इच्छानुसार सर्व देशोंसे राजपुत्रोंको बुलवाया । इन्द्रदत्त राजा भी अपने पुत्रों सहित उपस्थित हुआ । अपने मंत्री सुरेन्द्रदत्तको भी साथ ले आया था । स्वयंवर मंडपकी शोभा निराली ही थी । मण्डपके मध्यमें एक स्तम्भ खड़ा किया गया था । उसके ऊपर चार चार चक्र मंडाये गये थे । एक चक्रमें अनेकों आरे बनाये और प्रत्येक चक्रको इस ढंगसे रखकर मिलाया कि एक दाहिनी ओर घूमने लगा और दूसरा बांई ओर घूमने लगा । उस स्तम्भपर एक सुन्दर पूतली रक्खी और उसका मुँह नीचेकी ओर कराया । नीचे एक तेलकी बड़ी भारी कढ़ाई रक्खी गई । उसके समीप कन्या पंचवर्णी फूलमाला हस्तमें लेकर खड़ी रही । नीचेकी कढ़ाईमें नजर रखकर, ऊपर आठ चक्रमें घूमती हुई, राधाकी दाहिनी आंखको छेदे, इसप्रकार जो राजपुत्र बाण चलावे उसको ही वरना ऐसी उसकी प्रतिज्ञा थी । राजपुत्रोंने कार्य्य आरम्भ किया । कितने ही तो अपने स्थानसे ही न उठे, कितने ही कढ़ाई तक जाकर वापीस लौट आये, कितने ही धनुष्य रखकर चले आये और इसप्रकार सब निष्फल हुए । इन्द्रदत्त राजाके बाईस पुत्रोंकी भी जब यही दशा हुई तो राजा अत्यन्त दुःखी हुआ । मंत्रीने फिर तेईसवें पुत्रकी वार्ता कह कर राजाको बोध दिलाया । राजाको सब वार्ता स्मरण हो आई । सुरेन्द्रदत्तको कार्य्य करने निमित्त राजाने हुक्म दिया । वह उठा, चला, धनुष उठाया, नीचेकी ओर नजर डाली, धनुष ताना, बालको

लक्ष्यकी ओर लिया और जब चक्र जब अमुक दिशामें आये तब बाण लगाया, जिससे आठ चक्रोंके बीचमें होकर बिना किसी आरेको स्पर्श किये हुए राधाकी दाहिनी आंखको छेद दिया। राजकुमारीने शीघ्र ही वरमाला उसके गलेमें डाल दी। इस हकीकतपर विचार करते हुए सातवें श्लोकमें कहते हैं कि— " राधाके मुँहके नीचे आठ चक्र अनुक्रमसे एक दूसरेकी विरुद्ध दिशामें भ्रमण करते थे और उनके नीचे धनुर्धर पुरुष नीचे मुँह किये खड़ा रहा था। कदाच कोई भाग्यवत निपुण उस राधाकी दाहिनी आंखको बाणके मुखसे छेदनेमें समर्थ हो सकता है, परन्तु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्यभवको व्यर्थ खो देता है वह फिर उसे कदापि प्राप्त नहीं कर सकता है। "

कूर्म—एक बहुत बड़ा द्रह है उसमें एक कछुआ रहता है। उसे एक समय पानी परकी सेवालके दूर हो जानेसे आसोज शुक्ला पूर्णिमाकी रात्रीको आकाशमण्डपमें सकल कलासम्पूर्ण, नयनानंदकारी, समग्र नक्षत्रसहित विराजमान चन्द्र दिखाई दिया। इससे उसे अत्यन्त आनंद हुआ और इस कुदरतके देखावको अपने कुटुम्बको दिखाने निमित्त उसने पानीमें डुबकी लगाई और कुटुम्बको लेकर पिछा आया, लेकिन तबतक सेवाल वापिस फैल गई थी जिससे बिना चन्द्रका दर्शन किये हुए ही उसके कुटुम्बको पिछा लौट जाना पड़ा। पूर्णिमाकी रात्रि, सेवालका स्फोटन और कुटुम्बसहित उसकी उपस्थिति, ये सब योग फिरसे मिलना कठिन हैं। इसलिये आठवें श्लोकमें कहते हैं कि—" सेवाल जब छूटनेसे एक सरोवरमें रहनेवाला कछुआ पूर्ण चन्द्रके दर्शन करनेसे अत्यन्त आनंदित हुआ और उसका दर्शन करने निमित्त अपने कुटुम्बको ले आया, किन्तु सेवाल फिरसे मिल गई। इसप्रकार कदाच वह पुनर्दर्शन भी

करले, परन्तु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्यभवको व्यर्थ खो देता है वह फिरसे उसको नहीं पा सकता है"।

युग—"पूर्व समुद्रमें शमी (कील) डालें और पश्चिममें युग (धोसरु) डालें और दोनों समुद्रोंमें भयंकर प्रचण्ड तरंग आते रहते हों। फिर भी कदाच उस युगमें शमी प्रवेश कर सके, परन्तु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्यभवको व्यर्थ खो देता है वह फिरसे उसको प्राप्त नहीं कर सकता है।" वैलकी गर्दनपर डाला हुआ जुआ धोंसर कहलाता है। उसमें जोत डालने निमित्त डाली हुई मेंख शमी कहलाती है। असंख्य द्वीप–समुद्रके पश्चात् आखिरी स्वयंभूरमण समुद्र अर्धराजप्रमाण आता है। उसके पश्चिम भागमें युग हो और दूसरी ओर पूर्वी भागमें शमी हो तो इन दोनोंका योग किस प्रकारसे हो सकता है? समुद्रमें अनेक जलतरंग होते रहते हैं इस वातको अवश्य लक्षमें रक्खें।

परमाणु—"देवता लोग क्रीड़ा करते करते एक पाषाण-के स्तम्भको वज्रद्वारा छिन्नभिन्न कर दिया और फिर मेरुपर्वत पर खड़े रहकर एक नलीमें सब परमाणु एकत्र करके फूँक मार कर उन्हें चारों दिशाओंमें उड़ादिये, उन्हीं परमाणुसे बना हुआ स्तम्भ कदाच वे फिरसे निर्माण कर सकें, परन्तु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्यभवको व्यर्थ खोदेते हैं वे फिरसे उसे कदापि नहि पा सकते है।" लाख योजन ऊँचे मेरुपर्वतसे पवनके सपाटेके साथ उड़ाये हुए परमाणुके पिछे देवताओंकी जबरदस्त फूँक, इन सबको साथ लेते हुए और परमाणुकी अणुताका विचार करते हुए ऊपरकी हकीकत लगभग समझमें आ सके ऐसी मालूम होती है।

दशों दृष्टान्तोंको इसीप्रकार समझना चाहिये। प्रत्येक दृष्टान्त अत्यन्त रहस्यमय है, इससे इनमेंसे प्रत्येक मनन करके-समझने योग्य है। मनुष्यभवकी दुर्लभता वहुत विचारने योग्य

है। दृष्टान्तकी सत्यताको देखनेके स्थानमें सदैव उनसे प्रकाशित भाव अत्यन्त विचारने योग्य है। देवकृत मंत्र, चमत्कार या अन्य कोई बात स्थूलवादके इस जमानेमें चाहें गले न भी उतरे तो भी उसपर विचार करनेकी अगत्य नहीं है; किन्तु प्रत्येक दृष्टान्तमें एक अद्भुत भाव है और वह यह कि ऐसा मनुष्य भव अत्यन्त कष्ट सहनेपर प्राप्त हुआ है और फिर मिलना महादुर्लभ है। जिसके परिणामस्वरूप मनुष्यभवको सफल बनानेका मुख्यतया उपदेश है। धर्मसामग्री मुख्यतया मनुष्यभवमें ही प्राप्य है जिससे इन सब दृष्टान्तोंकी उपयोगिता सिद्ध होती है।

इस सबका प्रयोजन यह है कि धर्मका महत्व समझकर कषाय न करना चाहिये और ऐसा करने निमित्त उसके सहचारी पांच इन्द्रियोंके २३ विषयोंका विशेषतया परित्याग करदेना चाहिये।

कषायके सहचारी प्रमादका त्याग.

चौरैस्तथा कर्मकरैर्गृहिते,
दुष्टैः स्वमात्रेऽप्युपतप्यसे त्वम्।
पुष्टैः प्रमादैस्तनुभिश्च पुण्य,
धनं न किं वेत्स्यपि लुप्यमानम्॥ २०॥

"चोर अथवा कामकाज करनेवाले (नौकर-चाकर) जब तेरा थोड़ासा भी धन व्यय कर देते हैं तब तो तू क्रोध के मारे लाल लाल हो जाता है, किन्तु पुष्ट अथवा पतले प्रमाद तेरा पुण्यधन लूट लेते हैं यह तो तू जानता भी नहीं है?" उपजाति

विवेचन—घरमें थोड़ीसी चोरी हो जाने पर हाहाकार मचा दिया जाता है, पुलिस बुलाई जाती है, सच्चा दिखाई जाती है और कानून हाथमें लेकर चोरकी हड्डी-पसली ढीली कर

दी जाती है; किन्तु यह सब किस कारण ? धनके लिये, स्थूल द्रव्य निमित्त, परन्तु मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रारूप प्रमाद चोर तेरा पुण्यधन लूंटते रहते हैं। क्या इसका भी तूने विचार किया है ? विषयकषाय ये बलवान चोर हैं और विकथा, निद्रा, नोकषाय ये पतले चोर हैं, परन्तु सब चोर एकत्र होकर तेरे गुप्त पुण्यधनके भंडारपर आक्रमण करते हैं। इस लिये जरा सचेत हो जा। धन लूट जानेके बाद यदि बोध हुआ तो वह निरर्थक है। तूं जो मूढ़की भांति बैठा बैठा देखा करता है यह तेरी मूर्खता है, इसलिये उठ जागृत हो और विचार कर।

थोड़ा नीचे देखकर चल–उपसंहार–औद्धत्य त्याग.

मृत्योः कोऽपि न रक्षितो न जगतो,
दारिद्र्यमुत्त्रासितं।
रोगस्तेन नृपादिजा न च भियो,
निर्णाशिताः षोडश ॥
विध्वस्ता नरका न नापि सुखिता,
धर्मैस्त्रिलोकी सदा।
तत्को नाम गुणो मदश्च विभुता
का ते स्तुतीच्छा च का ? ॥ २१ ॥

"हे भाई ! तूंने अभीतक किसी भी प्राणीकी मरणसे रक्षा न की, तूंने जगतका कोई दलीद्दर दूर नही किया, तूंने रोग, चोर, राजा आदिसे किये हुए सोलह मोटे भयोंका नाश नही किया, तूंने किसी नरकगतिका नाश नहीं किया और धर्मद्वारा तूंने किसी तीन लोकोंको सुखी नहीं किये, तब फिर तेरेमें कौनसे गुण हैं कि जिसके लिये तूं मद करता

है ? और फिर ऐसा कोई भी कार्य्य किये बिना तू किससे स्तुतिकी अभिलाषा रखता है ? (अथवा क्या तेरे गुण और क्या तेरा मद ! इसीप्रकार कैसा तेरा बड़प्पन और कैसा तेरा खुशामदका प्रेम !) शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—अरे जीव ! तू लम्बा चौड़ा होकर चलता है किन्तु तूंने कौनसा ऐसा महान कार्य्य किया है कि जिसका तुझे अभिमान है ? तेरा जो सच्चा धन है उसकों भी तूं नहीं पहचान सकता है । हे चेतन ! जरा विचार कर । इस जीवनमें मृत्युका बड़ा भय है । क्या तूंने एक भी प्राणीको उससे बचाया है ? अरे ! तेरे स्वयंके सिरसे ही क्या उसका भय कम हो गया है ? सम्पूर्ण हिन्दुस्तानमें गरीबी बढ़ती जाती है, चार करोड़ मनुष्य दिनमें एक समय रोटी या चने खाकर पानी पी कर सो रहते हैं । ऊपराऊपरी दुष्कालोंमें लाखों जीव बिना अन्नके मृत्युके मुखमें चले जाते हैं—ऐसा दलीदर क्या तूंने किसीका दूर किया है ? क्या दूर करनेका प्रयास भी किया है ? अथवा क्या तूंने महान क्षय, अतिसार जैसी व्याधियोंको दूर किया है ? या सोलह भयसे कांपते हुए प्राणियोंको उनमेंसे बचाया है ? इस भवमें तूने कौनसा उत्तम कार्य्य किया है ? क्या तूने भविष्य भवके लिये नरकको काट दिया है ? क्या तुझे इस बातकी गारंटी मिल गई है कि तू नरकमें तो कभी नहीं जायगा ? अथवा क्या तूंने नरकका ही नाश करदिया है कि जिससे किसी भी प्राणीको वहाँ न जाना पड़े ? क्या तूंने अपने कर्तव्यका पालन करके जनसमूहके या प्राणीसमूहके सुखमें वृद्धि की है ? इसमें तो तू थोड़ा अधिक कुछ भी नहीं कर सका किन्तु फिर तू जो अहंकार अथवा अन्य पुरुषोंसे स्तुति करवाना चाहता है यह तद्दन

अस्थान, अयोग्य, अघटित है। तेरा उनपर कोई अधिकार नहीं है। सचेत हो, जरा विचार कर। ऐसे गुणवाले प्राणी तो इसका अहंकार ही नहीं करते थे, परन्तु तूं तो अहंकार करनेका अधिकारी ही नहीं है। जो यदि सचेत न होगा तो अनन्त कालचक्रके प्रवाहमें फँस जायगा और फिर तेरा पत्ता भी लगना अत्यन्त कठिन हो जायगा। अनुकूल समय, स्थान और संयोगोंसे लाभ उठा।

ऊपरकी गाथामें सोलह भय बतलाये गये हैं उनके नाम—रोग, पानी, अग्नि, सर्प, चोर, शत्रु, मत्तहस्ती, सिंह, युद्ध ये नो और इहलोक भय (मनुष्यको मनुष्यसे भय, इसी प्रकार स्वजातिय भय), परलोक भय (मनुष्यको तिर्यंच अथवा देवता या असुरोंसे भय), आदान भय (धन चुरा जानेका भय), अकस्मात् भय (घरमें बैठे बैठे जो बिना किसी कारणके भय उत्पन्न हो वह), आजीविका भय (किस प्रकार उदरपोषण होगा इससे जो निर्धनको चिन्ता होती है वह भय), मरणभय, अश्लोक भय (संसारमें अपकीर्ति होनेका भय).

इस प्रकार अपने प्रत्येक संसारिक कार्यमें अगत्यका भाग बजानेवाला बहुत अगत्यका विषय समाप्त हुआ। इस विषयकी अगत्यता इस बातमें है कि जब लोग बाह्याचार और देखाव पर बहुत ध्यान देते हैं, अनेकबार इससे अत्यन्त भूल भी खाते हैं तब शास्त्रकार इनको तद्दन उल्टी दृष्टिहीसे देखते हैं। दुनियाके दिखावमें ' भगत ' के नामसे प्रसिद्ध होनेवाले कितनीही वार तीव्र विषयी या कषायी होते हैं जबकि भद्रक जीव शास्त्रकार की दृष्टिमें महाभाग्यशाली जान पड़ते हैं। इस बातका कितनीही वार स्पष्ट भान हो जाता है, किन्तु आवश्यक्ताके समय बहुत भूल जाते हैं। अध्यवसाय और आंतरवृत्ति पर

कितना आधार है और इसमे कर्मबन्धनमें कितना फेर पड़ता है इसके लिये एक ही दृष्टान्त काफी होगा। लड़का उत्तम मार्गपर न चलता हो अथवा कुचाल चलता हो उसको शिक्षा देने निमित्त लाल लाल आँखे करनी पड़ती है, इसीप्रकार गालियाँ देनेवाले-पर भी लाल आँख की जाती है, किन्तु इन दोनों परके क्रोधमें बहुत भिन्नता है। इस भिन्नताको समझनेमें खूबी है, परन्तु ऐसे प्रसगोंके सिवाय किसीभी मनुष्यप्रकृतिके निमित्त बाह्य देखावसे आकर्षित होकर कितनी बार खेद पहुचानेके प्रसंग उपस्थित होते हैं।

संसारके सब कार्योंमें कषाय एक या दूसरी तरहसे मिला हुआ रहता है। राग और द्वेषके बिना संसारके कार्य्य नहीं बन सकते हैं इसलिये गुप्तरूपसे अथवा प्रगटरूपसे कषाय हो ही जाता है। कषायको समझनेकी बहुत ही आवश्यकता है। इसलिये उसके प्रत्येक श्लोकपर उचित विवेचन करने उपरान्त यहाँ भी प्रत्येकके लिये कुछ नवीनरूपमें विवेचन किया जाता है।

क्रोधपर पहला तथा चोथा ये दो श्लोक हैं। शास्त्रकार मुख्यका रूप देते हैं, जिसका विवेचन हो चुका है। गौतम-कुलकमें कहते हैं कि 'कोहाभिभूया न सुहं लहति' क्रोधीको सुख नहीं मिल सकता है। भवभावनामें सूर नामक ब्राह्मणकी कथा है, उसको क्रोध करनेसे अनन्त भवमें भटकना पड़ा था। क्रोध यह द्वेष है जो विवेकहीन बना देता है। शास्त्रकार कहते हैं कि 'कोहसमो वेरिओ नत्थि' क्रोधके समान कोई दुश्मन नहीं है। महात्मा, भावितात्मा, अनगार और साधु भी क्रोधसे भटकने लगे हैं। क्रोध क्या क्या करता है इस विषयमें एक विद्वान् लिखता है कि—

संताप तनुते भिनत्ति विनय सौहार्दमुत्सादय-

**त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं सूते विधत्ते कलिम् ।
कीर्तिं कृन्तति दुर्मतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयं,
दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम् ॥**

क्रोध +संताप करता है, विनय धर्मका नाश करता है, मित्रताका अन्त करता है, उद्वेगी बनाता है, अवद्य वचन भाषण कराता है, क्लेश कराता है, कीर्तिका नाश कराता है, दुर्गति उत्पन्न करता है, पुण्योदयका नाश करता है और कुगतिप्रदान करता है। ऐसे ऐसे अनेकों दोष क्रोधसे उत्पन्न होते हैं, जिसको सुज्ञ पुरुष अनुभवद्वारा समझ सकते हैं। क्रोध करनेसे हानि होना तो प्रत्यक्ष ही है। सिन्दुरप्रकर, उपाध्यायजीकी सज्झाय आदि अनेक ग्रन्थोंमें इस विषयका बहुत विवेचन है । क्रोधका त्याग अर्थात् क्षमा—क्षमा अर्थात् जैनशास्त्र का सार; इसमें अहिंसा, अभयदान, अनुकम्पा आदि सबोंका समावेश हो जाता है। स्कन्दकाचार्यने क्रोधसे भवभ्रमण किया और उसके त्यागसे गज-सुकुमाल, मेतार्य आदि अनेकों जीवोंने महानंद प्राप्त किया ।

मान—इसके लिये २–३–७–८–१७ वाँ श्लोक दिया गया है। यह मीठा कषाय है, सबोंसे हो जाता है, अनेकबार अपनेको निर्गुणी बतानेवाले भी अंतरंगमें अहंकार रखते हैं। कितने ही जो अहंकारी होते हैं वे भी अपने पास होनेवाली वस्तुहीके लिये होते हैं, इसको मद (Pride) कहते हैं; कितने

+ क्रोध और ताव (ताप Fever) बराबर एकसे हैं । क्रोधसे आँखे लाल हो जाती हैं, तावसे भी ऐसा ही होता है; क्रोधसे मुख लाल हो जाता है, तावसे भी वैसा ही होता है; तावसे कंठ शुष्क हो जाता है, क्रोधसे भी वैसा ही होता है; तावसे हृदय तथा नाड़ी बड़े वेगसे चलती हैं, क्रोधसे भी ऐसा ही होता है; तावसे क्षुधा नहीं लगती, क्रोधके समय अन्न नहीं रुचता है; आदि आदि ।

ही जो अहंकार करते हैं वे नहीं होनेवाली वस्तुके लिये भी करते हैं इसे Vanity, Hypocrisy कहते हैं। अहंकारका गर्व रखनेके अलावा भी दंभ करना अधिक बुरा है। वर्तमान समयमें पुरुष अधिक दंभी होते हैं। दूसरी बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि वर्तमान युगमें कितने ही दुर्गुणोंको सद्गुणोंमें गिना जाता है। कितने ही पुरुष स्वमानरक्षण (Self-respect) अथवा जातियमानके नामसे बहुत अहंकार करते हैं। इस विषयमें विशेषतया सचेत रहनेकी आवश्यकता है। इसमें क्या खूबी है इसके देखनेकी जरूरत है। अपनी जातिके विचारको दूर फेंक दो, इससे यह प्रयोजन कदापि नहीं है कि अपमानके पात्र बन जाओ, परन्तु ऐसा दिखाव करते समय जो अहंभाव आ जाता है उसके लिये पूरा ध्यान रखना चाहिये। अहंकार तथा दंभ अनेक प्रकार के होते हैं। शास्त्रकार मद आठ प्रकार के होना प्रगट करते हैं, जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है और वे मद करनेसे दुःखी हुए प्राणियोंके दृष्टांत भी साथ ही साथ दिये गये हैं। वर्तमान युगमें इनसे सचेत रहनेकी विशेष महत्व है। भवभावनामें एक उज्झितकुमारकी कथा है वह इस विषयमें ध्यानमें रखने योग्य है। मानसे विनयका नाश हो जाता है, ऐंठ कर चलनेकी इच्छा होती है; इसलिये मनुष्य अभिमानी पुरुषके साथ सम्बन्ध कम कर देते हैं। भले पुरुष[1] सम्पूर्ण संसारमें हिन्दुस्तान क्या ? उसमें मेवाड़ क्या ? और उसमें तेरा गाम क्या ? आधुनिक गिनती प्रमाणे संसारमें लगभग एक अरब और आठ करोड़ पुरुष हैं उनमेंसे एक भी पुरुष सो बरस पश्चात् यहाँ नहीं रह सकेगा तो फिर तू क्या देख कर अहंकार करता है ? अन्तकी गाथामें कहेमनुसार तेरेमें ऐसा

१ इस अधिकारके १० वे श्लोकके श्लोकको देखिये।

कौनसा असाधारण गुण है कि जो तू मान्न करता है ? जरा विचार, जरा गहरा उतर, शास्त्रकार मानको *'हाथी' की उपमा देते हैं। उसपर बैठनेवाला डोला करता है और उपाध्यायजी कहते हैं कि मानत्यागका यही सरल उपाय है कि पहले जो बड़े बड़े पुरुष होगये हैं उनके दृष्टान्तोंको पढ़कर, उनका मनन कर उनके सामने अपनी लघुताका विचार करना चाहिये। विद्वान् पुरुष कह गये हैं कि—

बलिभ्यो बलिनः सन्ति, वादिभ्यः सन्ति वादिनः।
धनिभ्यो धनिनः सन्ति, तस्माद्दर्पं त्यजेद् बुधः॥

"बलवान्से भी बलवान्, वादीसे भी वादी और धनवान से भी अधिक धनवान पुरुष संसारमें उपस्थित हैं; अतः बुद्धिमान् पुरुषोंको अहंकार न करना चाहिये।" सेरके सिरपर सवासेर कितने ही वर्तमान कालमें विद्यमान हैं। सुज्ञोंको इतना ही कहना काफी है। उदयरत्नजी महाराज कहते हैं कि मानसे विनयका नाश हो जाता है, विनय विना समकितकी प्राप्ति नहीं हो सकती, समकितकी प्राप्ति विना चारित्र ग्रहण नहीं कर सकते और चारित्र विना संसार–बन्धनसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसीलिये परम्परासे मानके कारण मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है। यह विचारवान्के लिये हस्तामलक जैसा है, सुज्ञको चेतावनी देते हुए स्वात्महित साधनेको ये सब प्रेरणा करते हैं।

माया—इसको शास्त्रकार नागनीकी उपमा देते हैं। इसका ११ में श्लोकमें विवेचन किया गया है। यह बहुत मीठा

---

* हेमचन्द्राचार्य मानको वृक्ष कहते हैं, यह वटके वृक्षके समान है यह काट डालने पर भी बढ़ता है, इसको नाश करनेके लिये भरपूर नदीके बहावकी आवश्यकता है, क्योंकि जब इसे समूल नष्ट कर दिया जाता है तब ही इसका फिरसे बढ़ना असंभव होता है।

कषाय है। इसके द्वारा जीव महातीव्र पापका सचय करता है। यह दोष सामान्य पुरुषके अमिश्रित संसारकी दृष्टिमें चतुर-कार्य-कर्ता कहलानेवालेमें विशेषतया होता है। पागलसा के समझदार पुत्रोंका यह मुख्य गुण है। " वणिक उसका नाम है जो झूठ न बोलता हो। " वि० वि० सामलमंडनमें कहाँ इसमें नवीनता जान पड़ती है। अभी तो वाणियापेढा—चिंतापणु-ये मायावि-पणाके पर्याय शब्द हैं। यह माया करनेसे मन बहुत व्याकुल रहता है। शास्त्रकार कहते हैं कि 'मायाविणो हुंति परस्स पेसा' 'मायावि पुरुष दूसरोंके सेवक होते हैं।' यह वचन अनुभव-सिद्ध है। एक बातमें माया—कपट किया उसको निभाना बहुत कठिन है, फिर अनेक युक्तियें लगानी पड़ती हैं, असत्यकी परम्परा चलने लगती है फिर भी मनमें पकड़े जानेका भय लगा रहता है। वाणियापन करनेकी माया उसी प्रकार राजखटपटकी माया—ये तो प्रगटरूपसे ही त्याज्य है। यह माया करनेवालेमें बगवृत्ति, झूठा देखाव बहुत होता है, इतना ही नहीं अपितु मल्लिनाथजीके दृष्टान्तसे जान पड़ता है कि प्रशस्त माया भी नहीं करना चाहिए। विशेषतया कौम, नात या संघके नेताओं, जिनमं-दिरके ट्रस्टियों—आदि नेता पुरुषोंको तो इतना सरल होना चाहिये कि दूसरे पुरुष उनका अनुकरण कर सकें। पाठकों! क्या नात या संघकी किसी मीटींगमें आपको किसी समय प्रसंग आया है? वहाँ क्या होता है? यह जातिकी तथा समस्त देशकी स्थितिको प्रगट करती है, यह दुर्गतिका चिन्ह है। यह बताती है कि आर्य्यावर्तमें जबतक सरलता नहीं, स्थैर्य नहीं, पक्षबुद्धिका त्याग नहीं, स्वारमभोग नहीं तब तक आपानके पड़ोसी होने का गौरव करनेकी इसे किञ्चित् मात्र भी अधिकार नहीं है। भला भाई! तेरे सांसारिक कार्योंमें माया, तेरे धार्मिक कार्योंमें

भी माया ! तूं जैन हो कि हिन्दु हो, चाहे कोई भी क्यों न हो ? तूं साधु हो, कि संन्यासी हो, कि पादरी हो, परन्तु तेरे जीवनकी ओर दृष्टि डाल ! तूं दिखाव कितना करता है ? लोकरंजन करने निमित्त, वाहवाह पुकारे जाने निमित्त कितना करता है ? उसकी ओर दृष्टि डाल ! विचार ! बहुत निरर्थक चला जाता है; तूं समझता नहीं है, और समझनेका यत्न भी नहीं करता है जिससे बहुत भूल होती है।

लोभ—इसको शास्त्रकार आकाशकी उपमा देते हैं[1]। जिस प्रकार आकाशका अन्त नही आ सकता इसीप्रकार यह भी सिमा रहित है। इसका विवेचन १२ वीं गाथामें करदिया गया है। शास्त्रकार कहते हैं कि "सर्वगुणविनाशनं लोभात्" लोभसे सब गुणोंका नाश हो जाता है। पैसोंको इसीलिये ग्यारवां प्राण कहते हैं। यह दश प्राणोंको भूला देता है, अपने गुणोंकी प्रशंसा करता है, और अनेक प्रकारके नाच नचाता है। सम्पूर्ण संसारको अंगुली पर नचानेवाली आशा–तृष्णा अनेक रूपमें काम करती है। राज्यके, धनके अथवा पुत्रके लोभसे अनेकों अकार्य्य किये जाते हैं। इसने अरबों रुपयोंके स्वामी मम्मण सेठको अंधेरी रात्रिमें भरपूर वहनेवाली नदीमें तैराया लकड़े खिचवाये, और इसीने कोणिकका अपनी माके बाप चेड़ा महाराजाके साथ भीषण युद्ध कराया था। इसीने धवल सेठको सातमी नारकीमें भेजा और इसीने नैपोलियनको सेंटहेलीनामें बन्दी बनाया था। इसीने अनेकोंको भटकाया, दौड़ाया और मिट्टीमें मिलाया।

---

१ हेमचन्द्र महाराज इसे 'समुद्र' की उपमा देते हैं। यह मर्यादावाला दृष्टिगोचर होता है, परन्तु जब उठता है तब बहुत बड़ी हद तक पहुँच जाता है, इसका अन्त नहीं होता आदि रूपक घटाना चाहिये।

इसलिये १८ वीं गाथामें कहा गया है कि " मूलं हि संसारतरोः कषायाः " कषाय ही संसाररूप वृक्षकी जड़ है, इसलिये कषायत्याग ही संसारत्याग है। कषायके अनुयायी या सहचारीरूपसे विषय तथा अन्य प्रमाद आते हैं जिनके विषयमें अन्यत्र विवेचन हो चुका है। साधारणतया कषायत्याग करने निमित्त ५-६-१५-१६-१८-२१ वाँ श्लोक है और विषय प्रमाद त्याग निमित्त १९-२० ये दो श्लोक हैं। यह विषय बहुत ही अगत्यका है, मनुष्यजीवनका बहुत बड़ा भाग इस मनोविकारपर विजय प्राप्त करनेसे ही सफल हो सकता है, अतः इस पर विजय प्राप्त करना मनुष्यजीवनकी कसोटी है। इस विषयको आवश्यक समझकर जहाँ तक हो सका वहाँ तक प्रत्येक श्लोकपर भलिभाँति विवेचन करनेका प्रयास किया गया है। कषायका विषय इतना अधिक विस्तृत है कि उसपर बहुत विवेचन किया जा सकता है, परन्तु ऐसा करनेसे ग्रन्थगौरव बहुत बढ़ जाता है, अतएव यहाँ आवश्यक बातपर ही विशेष ध्यान आकर्षण किया गया है, इन चारों कषायोंपर अन्यत्र बहु विस्तारसे लेखकने उल्लेख किया है जिसका विस्तारसे जाननेके अभिलाषीको बहुत उपयोगी सिद्ध होना सम्भव है। श्री जैनधर्मप्रकाश के सौजन्यके विषयके निचे यह मिल सकेगा। यहाँ विशेषतया केवल इतना ही कहना है कि तू चाहे जितना भी प्रयास करके कषायोंपर विजय प्राप्त कर। ऐसा करनेमें ही इस जीवकी सार्थकता है। ऐसा करनेपर ही यह भव यात्रा सफल होगी, नहीं तो जैसे तूं अब तक अनन्त कालचक्रमें फिरता आया है उसीप्रकार यह भव भी एक फेरा समान होगा।

इति सविवरणः कषायनिग्रहनामा सप्तमोऽधिकारः।

अथाष्टमः शास्त्रगुणाधिकारः



अब तक गत सात अधिकारोंमें ममत्वमोचन और कषायत्याग तथा प्रमादत्यागका उपदेश किया गया। इस सब उपदेशका प्रभाव मनपर यदि शास्त्राभ्यास किया जाता है तब तो कायम रहता है वरना हट जाता है। ज्ञान–समझ विना किसी भी वस्तुका त्याग नहीं हो सकता है, यदि हो भी जाता है तो वह कायम नहीं रह सकता है और यदि थोड़ेसे समयके लिये रहता है तो फिरसे वास्तविक स्थिति हो जानेका भय लगा रहता है। शास्त्राभ्यास किस प्रकारका होना चाहिये ? उससे क्या क्या लाभ होवे हैं ? उसको विशेषतया स्पष्ट किया जाता है।

ऊपरचोटिका शास्त्राभ्यास.

शिलातलाभे हृदि ते वहन्ति,
विशन्ति सिद्धान्तरसा न चान्तः।
यदत्र नो जीवदयार्द्रता ते[1],
न भावनाङ्कुरततिश्च लभ्याः ॥ १ ॥

"शिलाकी सपाटी समान तेरे हृदयपर होकर सिद्धान्तजल वह जाता है, परन्तु वह तेरे अन्दर प्रवेश नहीं करता है; कारण कि उसमें (तेरे हृदयमें) जीवदयारूप भिनाश नहीं है। इसलिये उसमें भावनारूप अंकुरोंकी श्रेणी भी नहीं हो सकती है।" उपेंद्रवज्रा.

---

१ स्ते इति वा पाठः क्वचिल्लभ्यते।

विवेचन—साधुके व्याख्यान, ग्रन्थोंका अभ्यास, शास्त्रका श्रवण आदि प्रसंग हृदयतटपर ज्ञानलहरीका सुगन्धित पवन थोड़ेसे समयके लिये बहाते हैं और अनेकों मनुष्योंको तो यह थोड़ासा आनन्द देकर विलीन हो जाता है। जिस प्रकार पानीका प्रवाह शिलापर होकर चला जाता है लेकिन यदि आध घण्टे पश्चात् देखो तो शिला फिरसे वैसीकी वैसी पड़ी हुई दिखाई देती है, उसपर भिनाश भी नहीं रहने पाती और उसपर अंकुर भी नहीं उगने पाते हैं। उसपर जो अनेकों दिनों तक पानी बहता रहा है वह सब निरर्थक हुआ, कारण कि जल अपना असर उसपर कहीं भी नहीं कर सका अथवा दूसरी तरहसे देखा जावे तो शिलामें कोई ऐसा स्वभाव है कि पानीके प्राप्त होनेपर भी उससे लाभ उठानेमें वह अशक्य है। अतः शिला जैसे हृदयसे कुछ लाभ नहीं हो सकता है। जो ज्ञान ऊपर ऊपर ही से चला जाता है उससे लाभ क्या ? शास्त्रकार ऐसे ज्ञानको विषयप्रतिभास ज्ञान कहते हैं। मतिअज्ञानके क्षयोपशमसे यह ज्ञान प्राप्त होता है। वस्तुतः यह मतिज्ञानका विषय होकर अज्ञान ही है। इससे इन्द्रिय प्रत्यक्ष कितनी ही बातोंका ज्ञान होता है, परन्तु बालकको जिस प्रकार विष, कंटक या रत्नमें हेय उपादेयपनका ज्ञान नहीं होता है, उसीप्रकार इस ऊपर ऊपरके ज्ञानवालेको भी वस्तुतः हेय उपादेयपनका बोध नहीं होता है। व्यवहारसे वह महातत्त्वज्ञानी या फिलोसफर भी कहला सकता है, परन्तु जबतक उसकी प्रवृत्ति निरपेक्ष है तबतक उसका ज्ञान लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता है। हृदय जब क्षेत्रकी फलद्रुप भूमिके समान बन जाता है तब उसपर सिद्धान्तजल पड़ने पर उसमें सर्व जीव प्रति मैत्रीभावरूप आर्द्रता प्राप्त हो जाती है और ऐसा

होनेपर ही भावनारूप अंकुर भी उसमें उग सकता है। इस प्रकार वर्तनपर प्रभाव डालनेवाला तत्त्वसंवेदन ज्ञान जब प्राप्त हो जाता है तब शास्त्राभ्यास बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। मति-अज्ञानके क्षयोपशमसे जो थोड़ा थोड़ासा वस्तुस्वरूप जाना जाता है वह तदन ऊपर ऊपर ही का है, परन्तु जब वस्तुतः स्वरुपज्ञान प्राप्त हो जाता है तब वर्त्तनपर भी उसका गहरा प्रभाव पड़ता है। लोगोंका ज्ञान बहुधा उपयोगिताके स्थानमें आडम्बर निमित्त और स्वात्मगुणवृद्धिके विकासके स्थानमें स्वकीर्त्तिरूप क्षुल्लक ऐहिक-वृत्तिसे उत्पन्न हुआ हुआ होता है, जो किसी भी प्रकारसे ज्ञान नहीं कहला सकता है। इसलिये इस अधिकारके आठवें श्लोकमें कहते है कि "आगम केवल अभ्यासमात्रसे कोई फल नहीं दे सकते हैं"। विषयप्रतिभास ज्ञान तो जीवको कईवार प्राप्त होता है परन्तु साध्यकी प्राप्ति तो केवल तत्त्वसंवेदन ज्ञानसे ही प्राप्त हो सकती है।

शास्त्राभ्यासी प्रमादीको उपदेश—

यस्यागमाम्भोदरसैर्न धौतः,
प्रमादपङ्कः स कथं शिवेच्छुः ?
रसायनैर्यस्य गदाः क्षता नो,
सुदुर्लभं जीवितमस्य नूनम् ॥ २ ॥

"जिस प्राणीका प्रमादरूप किचड़ सिद्धान्तरूप बरसादके जलप्रवाहसे भी नहीं धोया जा सकता वह किस प्रकार मुमुक्षु (मोक्षप्राप्तिका अभिलाषी) हो सकता है ? खरेखर, रसायणसे भी जो यदि किसी प्राणीकी व्याधियोंका अन्त न हो सके तो समझना चाहिये कि उसका जीवन रह ही नहीं सकेगा।" उपजाति.

विवेचन—जब शास्त्रश्रवणसे भी प्रमादका नाश न हो सके

तो यह समझना चाहिये कि इस जीवको अनन्तकालपर्यंत संसारभ्रमण करना पड़ेगा। प्रमाद आठ प्रकारके हैं:— १ संशय, २ विपर्यय (उलटा बोध), ३ राग, ४ द्वेष, ५ मतिभ्रंश, ६ मन, वचन, कायाके योगोंका दुष्प्रणिधान, ७ धर्मपर अनादर, ८ अज्ञान, अथवा पांच प्रकारके भी प्रमाद हैं:—मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा। इनका विशेष स्वरूप छट्ठे अधिकारमें बता दिया गया है। यहाँ आठ प्रकारके प्रमादोंका त्याग करना समझना चाहिये। शास्त्राभ्यास या श्रवणके पश्चात् भी यदि ये बने रहें तो समझना चाहिये कि उनका नाश होना कठिन है। वैद्यक शास्त्रोक्त विधिपूर्वक भस्म किये हुए ताम्र या पारेके सारके प्रयोगसे भी जब व्याधिका अन्त न हो तो फिर उस रोगीकी आशा छोड़ देना चाहिये। इसीप्रकार संसार-दुःखरूप व्याधि भी यदि उसको हरनेवाले रसायणरूप शास्त्रसे भी न मिट सके तो समझना चाहिये कि वह व्याधिवाला प्राणी "दुःसाध्य" या "असाध्य" के वर्गमें है। प्रत्येक मूर्खको सुधारनेका उपाय होता है, प्रत्येक विमार्गगामीको सुमार्गमें लानेका साधन होता है और प्रत्येक व्याधिकी औषधि होती है।

प्रमादका पारिभाषिक अर्थ न किया जावे तो सामान्य भाषा में इसे आलस—पुरुषार्थका अभाव कहते हैं। हरेक व्यक्ति चाहे वह उपाधि सहित अथवा रहित क्यों न हो उसको स्वकर्तव्यसे च्युत करनेवाला यह महादुर्गुण है। इसकी उपस्थितिमें कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता और प्रत्येक पद पद पर बाधा उपस्थित होती रहती है। साधु जीवन में प्रमत्त अवस्था अध पतन करानेवाली है। यह साध्यकी ओर अग्रेसर करनेके साथ उसके पैरको पीछे हटाती रहती है।

इस प्रमत्त अवस्थाको दूर करनेका शास्त्राभ्यास परम

उपाय है। शास्त्राभ्याससे मैं कौन हूँ? मेरा कर्त्तव्य क्या है? मेरा साध्य क्या है? उस साध्यको प्राप्त करनेका उपाय क्या है? इसके जाननेका—समझनेका अवसर प्राप्त होता है और इसीलिये प्रमादको दूर करनेकी योग्यता शास्त्राभ्यासीको प्राप्त हो जाती है। यह अभ्यास भी मननपूर्वक और व्यवहारपर प्रभाव डालनेवाला होना चाहिये। वागाडंबर या चपलता पैदा करनेवाला शास्त्राभ्यास अत्यन्त लाभदायक नहीं है, कारण कि ऐसी स्थितिमें व्याधिके औषधरूप उसमें जो गुण होते हैं उनका नाश हो जाता है और वांछित परिणाम न देनेवाली औषधि व्यर्थ हो जाती है। इसीप्रकार शास्त्राभ्यास भी ऐसे संयोगोंमें व्यर्थ हो जाता है। रसायनका उक्त दृष्टान्त इससे खराब हो जाता है। कहनेका यह तात्पर्य्य है कि शास्त्राभ्यास बहुत मननपूर्वक करना चाहिये, उसीके अनुसार व्यवहार करना और प्रमाद आदि दुर्गुणोंको दूर करनेका साध्य लक्ष्में रखना चाहिये। यह विशेषतया ध्यानमें रक्खे कि परम साध्य तो शिव (मोक्ष) ही है और बुद्धि तथा शक्तिका आविर्भाव करनेवाले ऐसे अनुकूल प्रसंगोंके उपस्थित होनेपर भी उसका सदुपयोग न हो सके और प्रत्येक शुभ कार्यमें प्रमाद होते ही रहें इस स्थितिको दूर करनेकी आवश्यक्ताको समझना और दूर करने निमित्त परम पुरुषार्थ करना चाहिये।

स्वपूजा निमित्त शास्त्राभ्यास करनेवालोंके प्रति.

अधीतिनोऽर्चादिकृते जिनागमः,
प्रमादिनो दुर्गतिपापतेर्मुधा[1]।
ज्योतिर्विमूढस्य ही दीपपातिनो,
गुणाय कस्मै शलभस्य चक्षुषी ॥ ३ ॥

---

१ पनीपत्यत इति पापतिः यङन्तपत्धातोरिदं क्विप्रत्ययांतं आदगमहन जनः क्किकिनौ लिट्च ३-२-१७१ पाणिनिकृताष्टाध्यायीस्थसूत्रं तत्रस्थेन सासहि वावहि चाचली पापतीनामुपसख्यानमिति वार्तिकेन।

"दुर्गतिमें पड़नेवाले प्रमादी प्राणी जो स्वपूजा निमित्त जैन शास्त्रका अभ्यास करते हैं वह निष्फल है। दीपककी ज्योतिसे लुभाकर दीपकमें गिरनेवाले पतंगियोंको उनकी आँखें क्या लाभ देनेवाली हैं ?" वसन्त

विवेचन—नेत्रोंके बिना जीवन शून्य है, परन्तु यदि उन्हीं नेत्रोंका दुरुपयोग हो तो वेही नेत्र इस जीवनका नाश करनेवाले हैं। पतंगिया आँखसे ही फँसता है। शास्त्राभ्यास बिना दुर्गतिका नाश नहीं हो सकता है, परन्तु जब वह ही अभ्यास स्वपूजामत्कारनिमित्त अथवा प्रथम कुर्सी मिलने निमित्त किया गया हो तो वह निष्फल हो इतना ही नहीं अपितु हानिकारक है। थोड़ासा मान मिलता है उसे चाहे तुम लाभ कहो परन्तु शास्त्रकार तो इसे हानि ही कहते हैं। शास्त्राभ्यास के परिणाममें सब कुछ मिलता है मान मिलता है, प्रमुखकी कुर्सी मिलती है, ग्रन्थकार बनते हैं, परन्तु अभ्यासीके अभ्यासके फलरूप यह अभिलाषा न होनी चाहिये। ऐसी अभिलाषा जागृत होनेपर समझना चाहिये कि सब कुछ नष्ट होनेवाला है। श्रीमान् हरिभद्रसूरि महाराज इस निमित्त विषयप्रतिभास ज्ञानकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इस ज्ञानसे कैसी प्रवृत्ति करना इस सम्बन्धमें बहुत निरपेक्ष वृत्ति होती है, और व्यवहाररहित ज्ञानसे कुछ लाभ नहीं हो सकता है। यह जिसप्रकार यहाँ दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया गया है उसीप्रकार अष्टकमें वैसे ज्ञानको महा अपायका कारण कहा गया है[1]। हम व्यवहारमें भी इस बातको बारम्बार अनुभव करते रहते हैं। जिन्होंने अठपटायितपनसे बहुत अभ्यास करलिया हो उनको अपनी प्रवृत्तिके सबधमें बहुत विवेक नहीं रहता है। केवल मस्तिष्क सत्कारितहुआ हो किन्तु अन्त करणपर

१ हरिभद्रसूरिके नवमें अष्टकका तीसरा श्लोक देखिये।

यदि उसका प्रभाव न पड़ा हो तब ऐसा भयंकर परिणाम आता है। मानसिक विद्वत्ता (Mental Education) और अन्तः-करणकी केलवणी (Moral Education) की भिन्नता यहाँ भलिभांति दृष्टिगोचर हो जाती है। एक विद्वान् कहलानेवाले पुरुषको अशुद्ध व्यवहारमें प्रवृत्त होते देखाजावे तब समझना चाहिये कि उसका ज्ञान अभीतक प्रथम पंक्तिपर ही है। प्रवृत्तिमें आत्माको यथास्थित लाभ अलाभका सद्भाव बतानेवाला जबतक उसके ज्ञानका विषय न हो तबतक ज्ञान केवल आडंबर मात्र होता है, और ऐसे ज्ञानको शास्त्रकार अनेक प्रसंगपर अज्ञान ही कहते हैं।

यह और इसके बादके दो श्लोक विपरीत मार्गमें भ्रमण करनेवाले, पण्डित होनेका दावा रखनेवाले और शुष्कवादियोंपर गहरा आघात करते हैं। प्रत्येक अभ्यासीको इसपर ध्यान देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है।

परलोकहितबुद्धिरहित अभ्यास करनेवालोंको.

मोदन्ते बहुतर्कतर्कणचणाः,
केचिज्जयाद्वादिनां।
काव्यैः केचन कल्पितार्थघटनै,
स्तुष्टाः कविख्यातितः॥
ज्योतिर्नाटकनीतिलक्षणधनु,
र्वेदादिशास्त्रैः परे।
ब्रूमः प्रेत्यहिते तु कर्मणि जडान्,
कुक्षिम्भरीनेव तान्॥ ४॥

"कितने ही अभ्यासी अनेक प्रकारके तर्कवितर्कोंके विचारोंमें प्रसिद्ध होकर वादियोंको जीतकर आनंद अनुभव

करते हैं, कितने ही कल्पना करके काव्य–रचना कर कविकी बड़ाई पाकर आनदका अनुभव करते हैं और कितने ही ज्योतिषशास्त्र, नाट्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, धनुर्वेद आदि शास्त्रोंके अभ्यासद्वारा आनंदित होते हैं; किन्तु आनेवाले भवके हितकारी कार्यकी ओर यदि वे अज्ञ (अथवा बेपरवाह) हो तो हमें तो उन्हें पेटु (पेट भरनेवाले) ही कहना चाहिये। ”   शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—ऊपरके श्लोकमें कई हकीकतोंका वर्णन किया गया है। कितने ही न्याय (Logic) की कोटिमें गहरे उतरनेमें आनन्द मानते हैं, कितने कई कवि बनते हैं, कितने ही जोशी, नाटककार, राजद्वारीनीतिमें कुशल, सामुद्रिकज्ञानमें कुशल, शब्दविद्यामें कुशल और कितने ही रसायनशास्त्री (Chemist), आंकड़ाशास्त्री (Statistician), अर्थशास्त्री (Economist) खगोलवेत्ता (Astronomer), भूतलवेत्ता (Geologist) वनस्पतिविद्याकुशल (Botanist), गणितशास्त्रमें प्रवीण (Mathematician), वैयाकरण (Grammarian) आदि आदि होते हैं, क्षयोग, गुरुकृपा और क्षयोपशम अनुसार विद्या प्राप्त करते हैं, परन्तु यदि उनको भवका भय नहीं है तो आनेवाले भवमें हितकारी धर्मानुष्ठान नहीं कर सकते हैं और धर्मानुष्ठान किये बिना आनेवाले भवके लिये तैयारी नहीं हो सकती है और ऐसा होनेपर वे धर्मी होते हुए भी धर्मी होनेका देखावमात्र करते हैं। इसप्रकार हो तो मानना चाहिये कि वे पुरुष केवल उदरपूर्ति करनेवाले ही हैं और कालकी सपाटिमें लगनेवाले पवनके अनुसार अहंकार करनेवाले हैं। अष्टकजीके टीकाकार कहते हैं कि—

अविसेसिया मइ चिय सम्मदिट्ठिस्स सा मइनाण।
मइ अन्नाणं मिच्छादिट्ठिस्स सुयपि एमेव॥

"सम्यग्दृष्टिकी बुद्धि 'मतिज्ञान' कहलाती है और मिथ्यादृष्टिकी बुद्धि 'मति अज्ञान' कहलाती है। मतिमें कोई फेरफार नहीं है। श्रुतज्ञानके सम्बन्धमें भी इसीप्रकार समझे" महातर्क करनेवाले हों फिर भी जबतक ज्ञानका प्रभाव आत्मिक शुभ प्रवृतियोंपर नही होता तबतक उस ज्ञानको शास्त्रकार अज्ञान ही कहते हैं; और अज्ञान तो कषायादि महारिपुओंसे भी अधिक खराब है। अतः यदि कोई पुरुष केवल विद्वान हो तो उससे कोई विशेष खुशी नही होती है। वास्तविक तुलना तो प्रवृतिपर ही होती है, और जो यह नहीं विचारते कि मेरे अमुक कार्य्यका आत्मिक उन्नति तथा अवनतिके साथ क्या सम्बन्ध है अथवा जो विचार करनेकी आवश्यकता भी नहीं समझते हैं और जो विचार करके उन्नतिके मार्गमें प्रवृत्ति नही करते हैं वे वस्तुतः अज्ञानी ही हैं, संसाररसिक ही हैं, संसारमें भटकनेवाले ही हैं और इसलिये उनको पेटु कहना उपयुक्त ही है। जो अपने पेट भरने तक का विचार करके बैठ रहते हैं वे पेटु कहलाते हैं। यहा संसारकी वृद्धि करनेवाले को यह नाम देना सार्थक है, विचारपूर्वक समझने योग्य तथा समझमें आसके ऐसा है।

हमारे अनुसार मुनिसुन्दरसूरि महाराज भी जोर देकर कहते हैं। ग्रन्थकारको बहुवचनमें लिखनेका अधिकार है अतः इसमें मान जैसा कुछ नहीं है। विषयकों पुरुषोंके मनपर जमाने निमित्त जोरके साथ कहनेकी यह पद्धति बहुत प्रभावदायक है। टीकाकारके कहने अनुसार उसी समान धर्मवालोंकी एक वाक्यता अर्थात् एकसे विचार रखनेवालोंका सर्वानुमति अनुसार हुआ निर्णय बताते हैं।

शास्त्र पढ़कर क्या करना ?

किं मोदसे पण्डितनाममात्रात्?
शास्त्रेष्वधीती जनरञ्जकेषु ।

तत्किंचनाधीष्व कुरुष्व चाशु,
न ते भवेद्येन भवाब्धिपातः ॥ ५ ॥

"लोकरञ्जनकारक शास्त्रोंका तू अभ्यासी होकर तू पण्डित नाममात्रसे क्यों कर प्रसन्न हो जाता है? तू कोई ऐसा अभ्यास कर और फिर कोई ऐसा अनुष्ठान कर कि जिससे तुझको संसारसमुद्रमें पड़ना ही न पड़े।" उपजाति

विवेचन—उक्त हकीकतको यहां स्पष्ट किया जाता है। शास्त्राभ्याससे प्रसन्न न हो जाना चाहिये, किन्तु कुछ करना चाहिये-कुछ दान, शील, तप, भाव अथवा शुद्ध वर्तन, विवेक, अनुकम्पा—वर्तनमें आसके ऐसा कुछ न कुछ करना चाहिये। इनके संयोगमें यदि आदर, कीर्ति आवें तो भले ही आवें किन्तु उनको लेने न जावे। तू तो आंखें बन्द कर ऊंची पदवी प्राप्त करनेको, गुणस्थान आरोहण करनेको आगे बढ़ता जा। अभ्यासका यह ही हेतु है, यही फल है और यही पराकाष्ठा है।

ज्ञान दो प्रकारका है। एकमें केवल मानसिक उन्नति होती है और दूसरेमें हार्दिक उन्नति होती है। जो वादविवाद करने मात्रमें ही कुशल हो, जो भाषण करने मात्रमें ही कुशल हो, जो लेख लिखने मात्रमें ही कुशल हो, वे इनमेंसे किसी भी प्रकारका आनंद उपभोग नहीं कर सकते हैं। ऐसे ज्ञानसे न रुक कर हृदयको उन्नत बनानेकी बहुत आवश्यकता है। शास्त्रकार कहते हैं कि "जनमनरंजन धर्मका, मूल्य न एक बदाम" अमुक अपेक्षामें यह वचन सत्य है और इस अपेक्षाको ध्यानमें रख कर ही इस अधिकारका उद्देश किया गया है।

दूसरा आत्मपरिणतिमत् ज्ञान है। उसमें अमुक कार्य्यसे आत्मिक गुण विकासित करनेमें कितना लाभ तथा हानि होती

है यह बहुत उत्तम रीतिसे समझाया गया है, परन्तु अनर्थका त्याग नहीं हो सकता है। यह ज्ञान शुद्ध श्रद्धावाले अविरतीको होता है। इस ज्ञानमें उस प्रकारकी प्रवृत्ति नहीं होती है, परन्तु वह ज्ञानवान् शुद्ध मार्गके सन्मुख है और वैराग्य उत्पन्न होनेका उसको कारण प्राप्त हुआ है। ऐसे ज्ञानवालेको भी खुशी न हो जाना चाहिये। जबतक ऐसा अभ्यास न किया जाय कि जिससे भवचक्रमें भटकना बन्द हो जावे तबतक इच्छानुसार कोई उपयोगी नहीं हो सकता है।

शास्त्राभ्यास करके संयम रखना.

धिगागमैर्माद्यसि रञ्जयन् जनान्,
नोद्यच्छसि प्रेत्यहिताय संयमे।
दधासि कुक्षिम्भरिमात्रतां मुने,
क्व ते क्व तत् क्वैष च ते भवान्तरे॥ ९॥

" हे मुनि! सिद्धान्तोंद्वारा तू लोगोंको रंजन करके प्रसन्न होता है परन्तु तेरे स्वयंके आमुष्मिक हितनिमित्त यत्न नहीं करता है अतः तुझको धिक्कार है! तू एक मात्र पेटभरापन ही धारण करता है; परन्तु हे मुनि! भवान्तरमें वे तेरे आगम कहाँ जायेंगे, वह तेरा जनरंजन कहाँ जायगा और यह तेरा संयम कहाँ चला जायगा ?" उपजाति.

विवेचन—शास्त्राभ्यास करके क्या करना चाहिये वह ऊपर सामान्य शब्दोंमें बताया गया है, यहां स्पष्ट शब्दोंमें मुनिको उद्देश करके कहते हैं कि यदि पांच इन्द्रियोंपर संयम न हो तो तेरा सब अभ्यास व्यर्थ है, पेटभरापन ही है अर्थात् सर्वसंपत्करी भिक्षाका[1] अधिकारी तू हो ही नहीं सकता है। ऐसे साधु नहीं तो इस भवको सिद्ध कर सकते हैं न परभवको ही सिद्ध कर

1 हरिभद्रसूरिका पांचवा अष्टक पढ़िये।

सकते हैं, इसीप्रकार होनेका आडम्बर करनेवाले कितने पुरुष इस वर्गमें आते हैं । अभ्यासका फल यही है कि आत्मपरिणति सुधारना, यह न हो सके तो फिर अभ्यास बध्य है । ग्रन्थकार स्वयं निचेकी आठवीं गाथामें इससे भी मीठी ढबमें इसबातको रखते हैं । जीवनका हेतु, अभ्यासका हेतु क्या है और कहाँ रह सकता है इसका विचार करें । लोकरंजन करनेवाले अभ्यासीका पेटुपन चौथे श्लोकमें हम विस्तारपूर्वक पढ़ चुके हैं । इसमें विशेष विचार करने योग्य बात यही है कि परभवमें तू कहां जायगा ? तेरे आगम कहां जायेंगे ? तेरा संयम कहां जायगा ? तेरा प्रेत्य हित कहां जायगा और जिनसे तू कीर्तिकी अभिलाषा रखता है वे कहां जायेंगे ? थोड़ेसे माने हुये मान नामके मनोविकारको तृप्त करने निमित्त तेरा बहुत बिगाड़ होता है और पूरी तृप्ति भी नहीं होती है । यहां मरना तो अनिवार्य ही है फिर बादकी तेरी गतिको तू नहीं जानता है और अन्तमें संसारसमुद्रके विशाल भयंकर खड्डेमें तेरा जीवन—जहाज तेरेको दुःखमें डालदेगा तब फिर तेरा कीर्तिका नाम और इस निमित्त सहन किये हुए परीषह तेरेको कुछ लाभदायक नहीं होंगे । यहां केवल कहनेका उद्देश्य यही है कि शास्त्राभ्यास करके संयम रखना चाहिये ।

टीकाकार नोट लिखते हैं कि " पिता पुत्रको शिक्षा देने निमित्त जो तिरस्कारके शब्द लिखे तो वेह उचित हैं । "

केवल अभ्यास करनेवाले और अल्पाभ्यासी साधकमें कौन श्रेष्ठ है ?

धन्याः केऽप्यनधीतिनोऽपि,
सदनुष्ठानेषु बद्धादरा ।
दुःसाध्येषु परोपदेशलवतः

श्रद्धानशुद्धाशयाः ॥
केचित्त्वागमपाठिनोऽपि दधत
स्तत्पुस्तकान् येऽलसाः ।
अत्रामुत्रहितेषु कर्मसु कथं
ते भाविनः प्रेत्यहाः ॥ ७ ॥

"कितनेही प्राणियोंने शास्त्रका अभ्यास न किया हो फिर भी दूसरोंके थोड़ेसे उपदेशमे काठिनतामे होनेवाले शुभ अनुष्ठानोंका आदर करने लगजाते हैं और श्रद्धापूर्वक शुभ आशयवाले हो जाते हैं। उनको धन्य हैं! कितने ही तो आगम के अभ्यासी होते हैं और उनकी पुस्तकें भी पासमें लिये फिरते हैं फिर भी इस भव तथा परभवके हितकारी कार्योंमें प्रमादी बनजाते हैं और परलोकका नाश करदेते हैं उनका क्या होगा?" शार्दूलविक्रीडित.

विवेचनः—विद्या और मुक्तिप्राप्तिमें क्या सम्बन्ध है यह विचारने योग्य विषय है। विद्वानोंको ही मोक्ष मिलता हो यह ही नहीं, परन्तु अभ्यासके साथ साथ सरलता तथा सद्वर्त्तन होना चाहिये। Smiles नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार कहता है कि असाधारण विद्वत्ताके साथ तुच्छ से तुच्छ दुर्गुण कितने अंशोमें मिले हुए होते हैं, और उच्च चारित्र तथा विद्या के साथ उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता है। देव—गुरु—धर्मपर शुद्ध श्रद्धा, शुद्ध वर्त्तन और सरल सौम्य प्रकृतिसे अनेकों भद्रक जीव तैर गये हैं। ऐसी दशा होनेपर भी यह बात तो निसन्देह है कि विद्यावान्के लिये संसारसागर तैरना सुगम है। ज्ञानी के विचार—व्यवहार उत्तम हो जाना बहुत सम्भव है और अज्ञानी करोड़ों वर्षोंमें जो कर्म क्षय करता है वह ज्ञानी एक श्वासोश्वासमें ही कर सकता है। ऐसी सुगमता होनेपर भी यदि

ज्ञानी प्रमादी हो जावे, आडंबर करनेवाला हो जावे, वादविवाद करानेवाला हो जावे, आशीभाव रखकर धर्माचरण करने लगे तो उसकी बड़ी हानि होती है अर्थात् सारांशमें कहा जाय तो उसका अधःपतन हो जाता है। जिसप्रकार कर्मक्षयका प्रबल साधन ज्ञानीके हाथमें होता है उसीप्रकार कर्मबन्धन और जवाबदारीका भार भी उसपर अधिक रहता है। ज्ञानवान्को बहुत सोचविचार कर कार्य करनेकी आवश्यकता है। मूल श्लोकमें शास्त्रका अभ्यास नहीं करनेवाला जो कहा गया है वह अल्प अभ्यास करनेवाले के निमित्त कहा गया है। इस श्लोकमें अज्ञानवादको कदापि पुष्ट नहीं किया गया है इस संपूर्ण अधिकारमें ज्ञानको बहुत अत्यंत पद दिया गया है वहां विषयप्रतिभास ज्ञानके सम्बन्धमें कहा गया है। जब तत्त्वसंवेदन ज्ञानकी प्राप्ति होती है तब तो इस अधिकारमें वर्णन की हुई स्थिति ही नहीं रहती है। उस ज्ञानवान्को हेय उपादेयका शुद्ध निश्चय होता है, उसकी वृत्ति स्वच्छ होती है और उसकी मुखमुद्रासे शान्तरस टपकता रहता है[1]।

उस ज्ञानवालोंका व्यवहार बहुत शुद्ध होताहै और उसकी तथा अल्प अभ्यासीकी कभी भी समानता नहीं हो सकती है। यह विशेषतया ध्यान में रक्खें कि शास्त्रकार अज्ञानवादकी कभी भी पुष्टि नहीं करते हैं। यहाँ इतना कहनेका उद्देश केवल यही है कि ज्ञानकी पुस्तकोंका भण्डार कण्ठमें रखनेसे तथा बड़ी बड़ी सभाओंमें विजय प्राप्त करने मात्रसे कुछ लाभ नहीं हो सकता है।

मुग्धबुद्धि वि० पण्डित.

धन्यः स मुग्धमतिरप्युदिताईदाज्ञा–
रागेण यः सृजति पुण्यमदुर्विकल्पः।
पाठेन किं व्यसनतोऽस्य तु दुर्विकल्पै–
र्यो दुस्थितोऽत्र सदनुष्ठितिषु प्रमादी ॥८॥

---

१ हरिभद्र अष्टक (५–६)

" बूरे संकल्प नहीं करनेवाला और तीर्थंकर महाराजसे दी हुई आज्ञाओंके रागसे शुभ क्रिया करनेवाला प्राणी अभ्यास करनेमें मुग्धबुद्धि हो तो भी भाग्यशाली है। जो प्राणी बुरे संकल्प किया करता है और जो शुभ क्रियामें प्रमादी होता है उस प्राणीको अभ्याससे और उस टेवसे क्या लाभ ?"

वसंततिलका.

विवेचन—'तीर्थंकर महाराजने जो कुछ कहा है वह सत्य है; बाकी सब मिथ्या है' ऐसी सामान्य बुद्धिवाला प्राणी भी संसार-समुद्र तैर जाता है, किन्तु जो बुरे बुरे संकल्प करता हो संसारमें हिलामिला रहता हो, राजकथादि विकथामें आशक्त हो और शुभ क्रियामें प्रमादी हो वह प्राणी यदि विद्वान् हो तो भी किसी कामका नहीं है। शुद्ध श्रद्धा कितनी लाभदायक है यह यहाँ देखना है। बिना शुद्ध श्रद्धाके कोई कार्य्य सम्पादन नहीं हो सकता, जीवकी गिनती भी तब ही होती है जब उसमें शुद्ध श्रद्धा हो अतीन्द्रिय विषयमें ही श्रद्धा रखनेकी आवश्यकता है। मनुष्य प्रवृत्तिमें प्राणीको विचार करनेका भी बहुत अवकाश नहीं मिलता है, इसलिये जिन्होंने विचार किया हो उनपर विश्वास रखकर उनके पथानुगामी होना श्रेष्ठ है। मनुष्य जीवनकाल अल्प है, बुद्धि मन्द है और अन्य व्यवहारमें कालक्षेप बहुत होता है, इसलिये बहुधा जिनके वचन आप्त प्रतीत होते हों उनकी परीक्षा करके उनका अनुकरण करना ही ग्रहण करने योग्य मार्ग है। एक मन चावल रसोई निमित्त चुल्हेपर चढाये हों तो उनकी परीक्षा निमित्त एक चावल दबाकर देखना काफी है; इसीप्रकार आप्तताकी परीक्षा करलें। वीतरागदशा, शुद्धमार्गकथन, अपेक्षा-ओंका शुद्ध स्थापन, नयस्वरूपका विचार और स्याद्वादविचार-श्रेणी ये आप्तताकी परीक्षा निमित्त काफी हैं। विशेष क्षयोपशम

हो और अनुकूलता हो उस समय विशेषरूपसे परीक्षा करनेका यहां निषेध नहीं किया गया है, परन्तु किसी भी तरहसे आप्तके वचनानुसार अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता यहाँ बताई गई है।

यहा जिस पथका दिग्दर्शन कराया गया है उसमें भी ज्ञान प्राप्त करनेका निषेध नहीं किया गया है, परन्तु यह विशेषतया ध्यानमें रखें कि दुर्विकल्पोंके त्याग करनेका अवश्य उपदेश किया गया है।

शास्त्राभ्यास-उपसहार

अधीतिमात्रेण फलन्ति नागमाः,
समीहितैर्जीवसुखैर्भवान्तरे ।
स्वनुष्ठितैः किंतु तदीरितैः खरो,
न यत्सितायाः वहनश्रमात्सुखी ॥ ९ ॥

" एक मात्र अभ्याससे ही आगम भवान्तरमें अभिलषित सुख देकर फलदायक नहीं होते हैं, उनमें बताये शुभ अनुष्ठानोंके करनेसे आगम फलदायक होते हैं; जिसप्रकार मिश्रीके भारको उठानेमात्रसे गदहा कुछ भी सुखी नहीं हो सकता है। " वशस्थ

विवेचन—' एक मात्र अभ्यास और परभवमें उससे सुख ' यह बात भ्रममूलक है। अध्ययन एक प्रकारके सुख प्राप्त करनेका एक साधनमात्र है, परन्तु इससे यह प्रयोजन कदापि नहीं है कि इससे उसकी प्राप्ति हो ही जायगी, कारण कि कईबार अभ्यासी होनेपर भी फलकी प्राप्ति नहीं होती और कईबार अभ्यासी नहीं होनेपर भी इच्छित फलकी प्राप्ति हो जाती है।

अत एक अभ्यासमात्रपर कुछ विशेष आधार नहीं है। सुख—आत्मिकसुख प्राप्तिका साधन शास्त्रोक्त अनुष्ठान—चारित्र—

---

१ सु इति वा पाठः।

वर्तन हैं। जिसप्रकार गदहेको मिश्रीका भार उठानेमात्रसे उसको कुछ मिष्टाश नहीं आसकता है, उसीप्रकार ज्ञान भी विना व्यवहारके भाररूप ही है। अतः ज्ञानानुसार व्यवहार होनेपर ही ज्ञानका मिष्टाश प्राप्त हो सकता है। उपदेशमालामें धर्मदास-गणि कहते हैं कि—

जहा खरो चंदणभारवाही,
भारस्स भागी न हु चंदणस्स।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो,
नाणस्स भागी न हु सुग्गइए॥

जिस प्रकार चन्दनका—सुखण्डका भार ढोनेवाला गदहा भारका भागी है किन्तु चन्दनका नहीं, उसीप्रकार वर्त्तनरहित ज्ञानको जाननेवाला ज्ञानका भागी है, परन्तु सुगतिका नहीं। यह घटना ऊपरके श्लोकमें भी इसीप्रकार बतलाई गई है।

शास्त्राभ्यास और व्यवहारका विवेचन ऊपर हो चुका है। प्रथम दो श्लोकोंमें श्रवण करनेवालोंको और शेष श्लोकोंमें अभ्यास करनेवालोंको ध्यान देने योग्य बातें बताई गई हैं। जो अभ्यासके निमित्त ही अभ्यास करते हों, सभाओंको जीतकर अपनी विजयका डंका बजवाना चाहते हों, अकारण शुष्कवाद करनेका आमंत्रण देते हों उनके लिये चोथा श्लोक कंठाग्र करने योग्य है। इसके उपरांत नाम मात्रके पुकारे जानेवाले 'पण्डितों' को इस अधिकारमें बहुत फिटकार बताई गई है। "हे चेतन! यह तो ज्ञानी महाराज कह गये हैं कि वि० वि०" प्रत्यक्ष गंभीर शब्दोयुक्त भाषण देते हुए ऐसे पुरुषोंकी उस समय बोलनेका ढंग, मुखका रंग और आँख तथा हाथका हिलना-फिरना देखा जावे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानों अत्यन्त विचारशील तत्त्वज्ञानीका भाषण आरम्भ हुआ

हो। अपितु श्रोताओंकी तो उस समय ऐसी भी धारणा हो-जाती है कि ऐसा महान् तत्त्वज्ञानी पुरुष तो आरम्भादिक तथा आश्रवमें प्रवर्तन भी नहीं करते होंगे, परन्तु यदि घरेलुप्रकारसे जो खानेपीनेमें, सांसारिक सुखभोगमें, व्यवहारमें, लेनदेनमें और प्रमाणिकपनमें उनका व्यवहार देखा हो तो उनके ज्ञानका लेश-मात्र भी प्रभाव उनमें दृष्टिगोचर नहीं होता है। ऐसे कितने ही ढोंगी अत्यन्त हानि पहुंचाते हैं, स्वयं डूबते हैं तथा पत्थरकी नावके सदृश अपने साथ साथ में बैठनेवालोंको भी डूबोते हैं, उसीप्रकार धर्मका भी ह्रास करते हैं। ज्ञान तथा क्रियाकी अमुक हद तक आवश्यकता है। इससे यह प्रयोजन नहीं है कि हम क्रियाका एकान्त पक्ष लें, ज्ञानाभ्यासकी अत्यन्त आवश्यकता है, यह हमें स्वीकार करना चाहिये, परन्तु अनेकों प्रमादी जीव इसकी ओटमें क्रियाकी ओर अप्रीतिका दिखाव करें इतना ही नहीं अपितु शुद्ध क्रिया करनेवाले की हँसी उड़ाते हैं। उनको निम्न लिखित दो महान वाक्योंको लक्षमें रखनेकी आवश्यकता है।

"क्रियारहित केवलमात्र ज्ञान निष्फल है। मार्गका जाननेवाला पथिक भी गति क्रिया बिना वाँछित नगरको नहीं पहुँच सकता है।" (ज्ञानसागर ९-२)

"क्रिया बिना ज्ञान नहीं कबहु,
क्रिया ज्ञान बिनु नाँही।
क्रिया ज्ञान दोउ मिलत रहत है,
ज्यों जलरस जलमाँही॥"

परमगुरु जैन कहो क्यु होवे ?

यह भी एक धुरन्धर विद्वान्का महावाक्य है। कहनेका यह तात्पर्य है कि दिखाव न करो, शुद्ध व्यवहार रक्खो, प्रत्येक

पुरुषके बड़े तथा धनवान् बनने की आवश्यकता नहीं किन्तु भले-उत्तम होनेकी आवश्यकता है।

इस अध्यायसे यह भी जाना जाता है कि विशेष अभ्यास न किया हो फिर भी शुद्ध श्रद्धासे क्रिया करनेवाला जीव उच्च स्थिति प्राप्त कर सकता है।

आखिरी श्लोकमें " रासभ " का दृष्टांत मनन करने योग्य है। ज्ञानप्राप्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है, किन्तु ज्ञान प्राप्त कर उन्नत होना चाहिये; अहंकार या ढोंग नहीं करना चाहिये। मुख्य मार्ग यही है कि ज्ञानप्राप्ति कर उसको व्यवहारमें लावे और दूसरोंके साथ शुद्ध व्यवहार रक्खे, क्योंकि ज्ञानफल विरति है, अन्यथा वह ज्ञानबन्धस्वरूप है। यदि तूं साधु है तो संसारकी असारताका विचार कर, धर्मोपदेशद्वारा मनुष्योंको सुमार्गगामी बना, इन्द्रियोंपर संयम रख, मनपर अंकुश रख, यदि तूं श्रावक है तो व्रतकी दृढ़ता बनाये रख, शुद्ध व्यवहार रख, चित्तवृत्तिमेंसे कचरा निकाल फेंक, दिखाव करनेकी अभिलाषामें न फँसजा। वर्तमानयुगमें फँस जानेका कारण बाह्य देखाव ही है और इसमें अनेकों पुरुष लुभा जाते हैं।

चोदह पूर्वधर जब प्रमादके वशमें होकर निगोदमें भटकते हैं तब साधारण रीतिसे सामायिक करनेवाले मोक्ष प्राप्त करते हैं इसका क्या कारण है? यह सूक्ष्म बुद्धिसे विचारने योग्य है। श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान किये बिना अंगारमर्दकाचार्यका ज्ञान किस काम आया? और स्कंधाचार्य्यके पांचसौ शिष्योंकी क्या गति हुई और उनकी खुदकी गति भी ज्ञान होनेपर भी शमके अभावसे कैसी हुई? उचित ज्ञानके साथ उच्च वर्त्तन, इन्द्रियदमन, चित्तपर अंकुश आदिके होनेपर ही वाञ्छित लाभकी प्राप्ति होती है।

इस विषय निमित्त श्रीहरिभद्रसूरि महाराजका नवमां

अहङ्क बहुत मनन करनेयोग्य है। जब तक विषय प्रतिभास ज्ञान होता है तब तक बहुत लाभ होनेकी सम्भावना नहीं रहती है। वर्तमान युगमें ज्ञानका अभाव नहीं है, ज्ञानियोंका भी अभाव नहीं है, परन्तु विशेषतया ऊपर बताये-मुसार ही ज्ञान देखा जाता है। जिसके परिणामस्वरूप त्याग तथा ग्रहणका शुद्ध स्वरूप मालूम नहीं होता है और इससे त्याग-वैराग्य भी नहीं होता है। शास्त्रकार इस ज्ञानको अज्ञान ही कहते हैं। जब वस्तुस्वरूपका शुद्ध भान करानेवाले तत्त्वसंवेदन ज्ञानकी प्राप्ति होती है तब ही ज्ञानी होनेका दावा किया जासकता है और ऐसे ज्ञानीके विषयमें इस सम्पूर्ण अधिकारमें कुछ कहने योग्य प्रतीत नहीं होता है। यहां जो कुछ आक्षेप किया गया है वह प्रथम प्रकारके ज्ञानके लिये ही किया है।

× × ×

चतुर्गतिके दुःख.

शास्त्राभ्यासके द्वारमें जो हकिकत कही गई है उसको जाननेके पश्चात् शास्त्रके साररूप एक हकिकत यहां बतलाई जाती है। वह यह है कि इस संसारमें कहीं भी क्यों न जाओ परन्तु सुख कहीं भी नहीं मिल सकता है। संसारके सर्व जीवोंका चार गतिमें समावेश होता है—१ नारकी, २ तिर्यंच (जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन और वनस्पति तथा जन्तु, मांकड़, बिच्छु, पक्षी, जलचर, पशु आदि जीवोंका समावेश होता है), ३ मनुष्य और ४ देव।

इन चार गतियोंमेंसे एकमें भी सुख नहीं है ऐसा बतला-कर शास्त्रका रहस्य बतलाते हैं और उसके परिणामस्वरूप जीवको संक्षेपसे उपदेश करना चाहते हैं।

नरकगतिके दुःख.

दुर्गन्धतो यदणुतोऽपि पुरस्य[1] मृत्यु-
रायूंषि सागरमितान्यनुपक्रमाणि ।
स्पर्शः खरः क्रकचतोऽतितमामितश्च,
दुःखावनन्तगुणितौ भृशशैत्यतापौ ॥ १० ॥
तीव्रा व्यथाः सुरकृता विविधाश्च यत्रा-
क्रन्दारवैः सततमभ्रभृतोऽप्यमुष्मात् ।
किं भाविनो न नरकात्कुमते बिभेषि,
यन्मोदसे क्षणसुखैर्विषयैः कषायी ॥११॥ युग्मम्

" जिस नारकीकी दुर्गंधीके एक सूक्ष्म भाग मात्रसे (इस मनुष्यलोकके) नगरकी (इतने नगरनिवासी प्राणियोंकी) मृत्यु होजाती है, जहाँ सागरोपमके समान आयुष्य भी निरुपक्रम होजाता है, जिसका स्पर्श करवतसे भी बहुत कर्कश है, जहाँ शीत–धूपका दुःख यहाँसे (मनुष्यलोकसे) अनन्तगुणा अधिक है, जहाँ देवताओंकी की हुई अनेक प्रकारकी वेदनायें होती हैं कि जिनके रोनें, चिल्लानें और आक्रन्दसे सम्पूर्ण आकाश भरजाता है–इस प्रकारकी नारकी तुझे भविष्यमें प्राप्त होनेवाली है; किन्तु हे कुमति ! इसका कुछ भी विचार न कर तूं क्यों कषाय करके तथा अल्प समयके लिये सुख देनेवाले विषयोंका सेवन करके आनन्द मानता है ! "

वसंततिलका.

विवेचन—नारकीमें इतनी दुर्गंध होती है कि उसके बहुत सूक्ष्म भागसे भी सम्पूर्ण नगरवासियोंकी मृत्यु होजाती है।

१ पुरस्य स्थाने परस्य इति पाठान्तरं अन्य जनस्य–मनुष्यस्य इत्यर्थ ।

मनुष्यका आयुष्य महामारी, शस्त्राघात, भय आदि कारणोंसे नाश होता है इसलिये वह सोपक्रम होता है, परन्तु नारकीके जीवका आयुष्य तो किन्हीं भी कारणोंसे नाश नहीं हो सकता है। शरीरके अनेकों टुकडे होजाने पर भी पारेके समान वे फिरसे जुड जाते हैं। अपितु नारकीका आयुष्य सागरोपम है। सागरोपम अर्थात् असख्याता वर्षोंका एक पल्योपम और दश कोटाकोटि पल्योपमका एक सागरोपम होता है। पल्योपम का भी विचार आना कठिन है। (पांचवें कर्मग्रन्थकी ८५ वीं गाथा देखो) ऐसा बडा आयुष्य और उसमें दुःख ही दुःख हैं अर्थात् क्षणमात्रका भी सुख नहीं है। नरकभूमिका स्पर्श करना करवतकी धारसे भी सख्त है। वहाकी शर्दिके सामने उत्तरीध्रुव-की शर्दि और वहाँके तापके सामने सहाराके रेगिस्तानका ताप किसी भी गिनतीमें नहीं है। क्षेत्रवेदना बहुत सख्त है; कितने ही क्षेत्र तो बहुत ठंडे हैं, जहाँकी ठंडक सहन नहीं की जा सकती है, और कितने ही क्षेत्र बहुत गरम हैं। उनके दुःखोंका ख्याल इससे आ सकेगा कि नारकीके जीवको उष्ण क्षेत्रमें इतनी वेदना होती है कि यदि उनको खेरके अगारोंसे भरी हुई भाईमें भर ग्रीष्मऋतुमें भी सुलाया जावे तो वह उनको भी उस नरक वेदना आगे ऐसा समझेगा मानो कोई मनुष्य कमलकी शय्यापर सुखसे सोता हो और वहाँ वह तमाम रातकी निद्रा लेनेमें उद्यत होगा। यह प्रथम प्रकारकी क्षेत्रवेदना है। जिज्ञासु इसका विशेष स्वरूप जानने निमित्त दूसरे ग्रन्थोंका अवलोकन करें।

दूसरे प्रकारकी परमाधामीकृत वेदना है। इन इसकी जातके देवोंको जीवोंको दुःख देनेमें ही आनन्द आता है। वे उनको मारते हैं, पीटते हैं, उनके शरीरको छिन्नभिन्न करते हैं, काटते हैं, उनको उछालते हैं, पत्थर ऊपरसे गिराते हैं, करवतसे काटते

हैं, जीह्वाको खींचते हैं और इस इस प्रकारकी अन्य अनेकों वेदनायें देते हैं जिनका कि ख्याल आना भी कठिन है।

इसके उपरान्त तीसरी अन्यान्कृत वेदना है, पहलेके वैर-भावसे जीव आपसमें मारकाट करते हैं, लड़ते हैं, कदर्थना करते हैं और कराते हैं।

ऊपरकी हकिकत ऊपरसे मालूम हुआ होगा कि क्रोधी, अहंकारी, कपटी, लोभी, विषयमें आसक्त प्राणी उक्त गतिमें जाते हैं। जो तेरी कल्पनाशक्ति उत्तम हो तो तुझे ऊपरका स्वरूप देख लेनेपर भी नारकीका भय क्यों नहीं होता है? विषयजन्य सुख-कल्पित सुख, क्षणभर-पांच मिनिट-घंटा-दिनभर ही रहता है जब कि उससे प्राप्त किया नारकीका दुःख सागरोपम तक चलता है। इसलिये अब जो तुझे श्रेष्ठ प्रतीत हो उसको ग्रहण कर।

तिर्यंचगतिके दुःख

बन्धोऽनिशं वाहनताडनानि,
क्षुत्तृड्दुरामातपशीतवाताः।
निजान्यजातीयभयापमृत्यु-
दुःखानितिर्यक्ष्विति दुस्सहानि ॥ १२ ॥

"निरन्तर बन्धन, भारका वहन, मार, भूख, तरस, दुष्टरोग, ताप, शीत, पवन, अपनी तथा दूसरी जातिका भय और कुमरण-तिर्यंचगतिमें ऐसे असह्य दुःख हैं।" उपजाति.

विवेचन—बन्धनसे गाड़ी, हल, चक्की आदिके ताप, शीत और पवनसे अनुक्रमसे ग्रीष्म, शरद, वर्षाऋतुओंके उपद्रव होते हैं। अपनी जातिका भय अर्थात् हाथीको हाथीका भय, गदहेको गदहेका भय आदि और दूसरी जातिका भय अर्थात् मृगको सिंहका, चूहेको बिल्ली आदिका भय रहता है। अपितु नाक

कानका छेदना आदि तिर्यंचमें अनेक प्रकारका भय रहता है। बेचारेसे बोझा नहीं जासकता, सहनशीलता रखनी पड़ती है। इसप्रकारके कष्ट विषयकषायमें मस्त प्राणीको भोगने पड़ते हैं अतः सबको इनसे सचेत होजाना चाहिये। यहाँ जिन तिर्यंचगतिके दुःखोंका वर्णन किया गया है वे सब जीवोंके लिये हैं; तदुपरांत अमुक जातिके दुःखोंका विचार किया जाय तो वे बहुत होजाते हैं। दृष्टान्तरूप कितने ही दुःख तो अश्वको विशेषतया होते हैं, कितने ही बैलको विशेषतया होते हैं, कितने ही श्वानको विशेषतया होते हैं, यह प्रत्येक दिनके अनुभवका विषय है, अतः ग्रन्थगौरवके भयसे इसका यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। एकेन्द्रियादिके अव्यक्त दुःखोंका वर्णन करना भी यहा अशक्य है। इस सबका सारांश यह है कि उस गतिमें सुख कदापि नहीं है।

देवगतिके दुःख

सुधान्यदास्याभिभवाभ्यसूया,
　भियोऽन्तगर्भस्थिति दुर्गतीनाम्।
एव सुरेष्वप्यसुखानि नित्य,
　किं तत्सुखैर्वा परिणामदुःखैः ॥ १३ ॥

" इन्द्रादिककी निष्कारण सेवा करना, पराभव, मत्सर, अन्तकाल, गर्भस्थिति और दुर्गतिका भय—इसप्रकार देवगतिमें भी निरन्तर दुःख ही दुःख हैं। अपितु जिसका परिणाम दुःखजन्य हो उस सुखसे क्या लाभ ? "　　उपजाति

विवेचन—१ मनुष्य जो दूसरोंकी नोकरी करता है उसका कारण अपनी आजीविका कमाना होता है, परन्तु देवताओंको आजीविकाका कारण तथा द्रव्यप्राप्तिका कारण

नहीं होनेपर भी अभियोगादि भावनाओंद्वारा पूर्वोपार्जन कर्मके अधिनपनसे विना कारण ही इन्द्रादिककी सेवा करनी पड़ती है ।

२ अपनेसे अधिक शक्तिशाली देवता अपनी स्त्रीको लेकर भग जाय आदि अभिभव–पराभव ।

३ दूसरोंका उत्कर्ष सहन न करना यह असूया । देवताओंको दूसरे देवताओंका विशेष सुख देखकर अत्यन्त ईर्षा होती है ।

४ देवताओंको मृत्युका अत्यन्त भय रहता है । फूलकी मालाका कुम्हलाना आदि मृत्युके चिन्ह देखकर छ महिने पहलेसे ही वे विलाप करना प्रारम्भ कर देते हैं ।

५ मृत्युके पश्चात् गर्भमें नो मास तक अशुचिभंडारमें उल्टा लटकना पड़ेगा। ऐसे विचारोंसे मूर्छित भी होजाते हैं, अथवा पशु–पक्षी या एकेन्द्रियोंमें जाना पड़ेगा इसका भी उनको अत्यन्त भय रहता है ।

६ इसीप्रकार दुर्गतिमें जानेका भी अत्यन्त भय लगा रहता है ।

देवताओंमें खटपट बहुत होती है, लड़ाइयें भी अनेकोंबार होती हैं और चित्तव्यग्रता बहुत रहती है । एकमात्र ऋद्धि उनको प्राप्त होती है, परन्तु उससे उनको कुछ मानसिक आनन्द नहीं मिलता है और उस सुखका देवतालोग उपभोग नहीं कर सकते हैं ।

पौद्गलिक सुख अल्प है ऐसा थोड़ी देरके लिये मान भी लें तो भी देवगतिमें की हुए विषयाशक्तिके परिणाममें जब अधःपतन होता है तो फिर उसको सुख किस प्रकार कहें ? उपदेशमालामें धर्मदासगणि कहते हैं कि 'च्यवन (मरण) के समय देवतालोग अपने पूर्वका सुख और भावीमें प्राप्त होनेवाला दुःख का विचार कर सिर पीटते हैं और दीवारसे सिर फोड़ते हैं । "

पञ्च इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त, अंगमग और रोने तथा विलाप करनेसे छ महिने पहलेसे जामत होनेवाले देवता भी करोड़ों वर्षोंके सुखके अन्तमें सब खो बैठते हैं। इस सबसे यह स्पष्ट तथा सिद्ध है कि पौद्गलिक सुख सुख कदापि नहीं है।

जबतक मानसिक सुख-ज्ञानानन्द नहीं तबतक स्थूल पौद्गलिक सुख चाहे जितना भी क्यों न हो परन्तु उससे अल्प मात्र भी आनन्द प्राप्त नहीं होसकता है। देवगतिमें स्थूल सुख की तो कदाच पराकाष्ठा होती है फिर भी उससे कुछ सुख नहीं होता है और अन्तमें अत्यन्त कष्टोंको देनेवाला है। देवगतिमें भी जिसमें कि अत्यन्त सुख होनेकी सम्भावना रहती है वहाँ भी वास्तविक सुख नहीं है।

मनुष्यगतिके दुःख

सप्तभीत्यभिभवेष्टविप्रया-
निष्टयोगगददुःसुतादिभिः[1]।
स्याच्चिर विरसता नृजन्मनः,
पुण्यतः सरसता तदानय ॥ १४ ॥

" सात भय, पराभव (अपमान), (यो ताड़ना है) प्रेमीका वियोग, अप्रियका संयोग, व्याधियें, कष्टप्रद सन्तान आदिके कारण मनुष्यजन्म भी अने कवार निरस हो जाता है, अतः पुण्यद्वारा मनुष्यपनको मधुर बना।" स्वागता

विवेचन—इसलोकका भय, परलोकका भय, आदान (अपनी वस्तु चुराली जानेका) भय, अकस्मात्भय, मरण-पोषण (आजीविकाका) भय, मरणभय और अपकीर्तिभय[2]

---

१ दुष्कुविकैरिति वा पाठः (खराबकुटुम्ब) आदि। २ लोकापवाद भय अथवा अपयशका भय।

ये सात भय मनुष्यभवमें अनेक कष्ट देनेवाले हैं। इनके भी उपरान्त इस मनुष्यभवमें राजा, चोर आदिकी ओरसे पराभव होता है। प्रेमी पुत्रका मरण, स्त्रीसे वियोग, धन कीर्त्यादिका नाश आदि अनिष्टोंका संयोग, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग यह चेतन अचेतन आदि सब पदार्थोंके सम्बन्धमें होता है, तदुपरान्त खराव संयोगोंमें रहना, मूर्ख राजा अथवा शेठकी नौकरी करना, मूर्ख स्त्रीके साथ जीवन व्यतीत करना, पुत्रकी प्राप्ति न होना, अनेक पुत्रियोंका पिता होना, द्रव्य उपार्जन निमित्त परदेश भ्रमण करना, नीच शैठोंके कूढ़ मस्तिष्कमेंसे निकलनेवाली अनेकों विचित्र आज्ञाओंका पालन करना, ये इस मनुष्यभवमें होनेवाले अनेकों दुःखोंमेंसे कुछ हैं। परन्तु खेद है कि यह जीव तो इनका विचार भी नहीं करता है। संस्कृतमें एक स्थानपर कहते हैं कि " प्रथम तो माताके गर्भमें अनेक दुःख हैं, तत्पश्चात बालपनमें पराधीनवृत्तिका दुःख, युवावस्थामें स्त्रीवियोगका दुःख और वृद्धावस्था तो दुःखपूर्ण होनेसे असार ही है। इस मनुष्यजन्ममें हे भाइयों! कहो कि क्या सुख है ? यदि हो तो बताओ।" ऐसा यह जीव जानता है तिसपर भी संसारमें फँसा रहता है। कोई प्रेमी तो स्नेहीसगेकी मृत्युपर जोरसे चिल्ला कर रोता है; परन्तु विचार भी नहीं करता है कि यदि यह मनुष्यभव अमर भी कर दिया जावे तो भी इस जीवका यहां ठहरना कठिन है। यह तो पचास या साठ वर्ष पर्य्यन्त रहनेवाला है, यह कुछ ठीक प्रतीत होता है। अन्यथा तो बड़े होने पर शोकादिके कारण उत्तरदायित्व तथा पंचायती इतनी अधिक बढ़ जाती है कि यदि यह जिन्दगी अमर हो गई हो तो संसार छोड़ कर भगजानेकी नौबत आ जाय।

इसप्रकार मनुष्यभव भी दुःखजन्य ही है तो फिर दुःखों

से कड़वे हुए मनुष्य जन्मको पारमार्थिक धार्मिक कार्यद्वारा पुण्योपार्जन करके मधुर बना। अब चारों गतियोंमें होनेवाले दुःखोंका वर्णन करके वे दुःख कदापि न हों ऐसा प्रयत्न करने निमित्त उपदेश करते हैं।

उक्त स्थिति दर्शनका परिणाम.

इति चतुर्गतिदुःखततीः कृति-
न्नतिभयास्त्वमनन्तमनेहसम्।
हृदि विभाव्य जिनोक्तकृतान्ततः,
कुरु तथा न यथा स्युरिमास्तव ॥ १५ ॥

"इसप्रकार अनन्तकालपर्यंत (सहन की हुई), अतिशय भय उत्पन्न करनेवाली चारों गतिकी दुःखराशियोंको केवली भगवन्तके कहे हुए सिद्धान्तानुसार हृदयमें विचार कर हे विद्वन्! ऐसा कार्य कर कि जिससे तुझे ये कष्ट फिरसे सहन न करने पड़ें।" द्रुतविलम्बित

विवेचन—कष्टोंको जानकर, विचार कर, अनुभव कर उनका परिणाम यह होना चाहिये कि पुरुषार्थ करके उपाय-प्रतिकार—ऐसा करना चाहिये कि जिससे भविष्यमें ये पीड़ायें ही न होने पावें। सब प्राणी कल्पित सुख मिलनेकी अभिलाषा रखते हैं और मान्यतानुसार उसको प्राप्त करते हैं, परन्तु सिद्धान्तोंके अनुसार वास्तविकतया विचार करनेसे जान पड़ता है कि इस संसारमें सुख अल्पमात्र भी नहीं है और दुःख ही दुःख भरा हुआ है। दुःख दूर करनेका उपाय करना इस जीवकी प्रथम अभिलाषा तथा प्रेरणा है। शास्त्राभ्यास करनेसे संसारकी सब गतियोंमें कितने तथा किस प्रकारके दुःख हैं यह तूने देखा है अब उनके परिणामस्वरूप यदि तुझे सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो तो ऐसा कार्य कर कि जिससे तुझे चतुर्गतिके कष्ट न

भोगने पड़ें। शास्त्राभ्यासद्वारका चतुर्गति दुःखदर्शनके साथ क्या सम्बन्ध है वह यहां स्पष्ट हो जाता है।

सम्पूर्णद्वारका उपसंहार.

आत्मन् परस्त्वमसि साहसिकः श्रुताद्यै-
र्यद्भाविनं चिरचतुर्गतिदुःखराशिम्।
पश्यन्नपीह न बिभेषि ततो न तस्य,
विच्छित्तये च यतसे विपरीतकारी ॥ १६ ॥

" हे आत्मन्! तूं तो असीम साहसी है, कारण कि भविष्यकालमें अनेकों वक्त होनेवाले चार गतियोंके दुःखोंको तूं ज्ञानचक्षुओंसे देखता है तिसपर भी उनसे नहीं डरता है, अपितु उल्टा विपरीत आचरण करके उन दुःखोंके नाश निमित्त अल्पमात्र भी प्रयास नहीं करता है। "

वसंततिलकावृत.

विवेचन—शत्रुओंको आँखोसे देखनेपर भी जो उनकी उपेक्षा करता है उसको यदि बेवकूफ न कहा जावे तो क्या कहा जावे? तूने चार गतिके दुःखोंका अनुभव किया है, भोगे हैं, सुने हैं और अभी भी तेरी ज्ञानदृष्टिके समक्ष प्रगट हुए हैं, इतना होनेपर भी तूं उनके नष्ट करनेका यत्न नहीं करता है तो फिर तेरी बुद्धिमत्ता व्यर्थ कहलायगी और तूं मूर्ख समझा जायगा।

× × ×

इस प्रकार आठवां द्वार पूर्ण हुआ। प्रथम भागमें शास्त्राभ्यासका फल बताया गया उसमें बताया गया है कि जो प्राणी अभ्यासानुसार वर्तन नहीं करते हैं वे चतुर्गतिमें भटकते रहते हैं। उत्तर विभागमें जो भागांशमें चारों गतियोंके दुःख बताये गये हैं वे मनन करने योग्य हैं। शास्त्रकारका यही कर्त्तव्य है कि

वस्तुस्थितिका सचा चित्र भोलालोगोंके सामने रखना और शास्त्र पढ़नेवालेका यह कर्तव्य है कि वस्तुस्वरूपका भान हृदयमें धारण कर उसपर मनन कर तदनुसार वर्तन करे। इन चार गतियोंके दुःखोंका वर्णन जो शास्त्राभ्यासद्वारमें किया गया है उसका कारण ऊपर लिखे अनुसार है। 'विषयप्रतिभास' ज्ञान अनेकों जीवोंको होता है तब वे वस्तुस्वरूपको समझते हैं, वस्तुकी आकृति तथा गुणोंको जानते हैं परन्तु यह सब निरर्थक है। जबतक "तत्त्वसंवेदन" ज्ञान होकर उसमें बतायेनुसार वर्तन नहीं है, जबतक हेय, ज्ञेय, उपादेयकी भिन्नता समझकर उसके अनुसार त्याग अथवा आदर नहीं होता है, जबतक ज्ञानका हेतु स्वमहत्त्व की बढ़ती करना ही रहता है तबतक सब व्यर्थ है। इसमें न तो जीव ऊँची सीढ़ीपर ही चढ़ता है न उसका उत्कर्ष ही होता है। ज्ञान उपार्जन करके, चारगतिकी अर्थात् संसारकी वास्तविक स्थिति क्या है, इसका विशेषतया विचार करना हमारा सबसे प्रथम कर्तव्य है।

पाश्चात्य सुखसूत्र और जैन सुखसूत्रमें यह सबसे बड़ी भिन्नता है। पाश्चात्य तत्त्ववेत्ता यहाँ सुख ढूंढते हैं। जैन शास्त्रकार कहते हैं कि यह सब निरर्थक भटकना है जहाँ वास्तविक सुख है ही नहीं, वहां ढूंढनेसे क्या मिल सकेगा? अतः वास्तविक चिरस्थायी सुख प्राप्त करनेका प्रयास करो। इस संसारके विषयोंकी वासना छोड़दो, अभिलाषा कमकर दो, इन्द्रियोंका दमन करो और मनपर अंकुश रक्खो। जैन सिद्धान्तका—शास्त्र रसका सार यही है कि इसभवके कल्पित थोड़ेसे सुखके लिये तुम अनन्त भवकी वृद्धि मत करो। शास्त्राभ्यास का यही सार है और इसीकी आवश्यकता है, बाकी सब भ्रममूलक है, बहुधा लोकप्रिय होनेका प्रयास है और वह शास्त्रकारकी दृष्टिमें शून्य है।

---

१ त्याग करने योग्य क्या है और अपनाने योग्य क्या है इसको निश्चय करनेको शुद्ध ज्ञान।

शास्त्राभ्यास और वर्त्तनमें बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह हमने तत्त्वसंवेदन ज्ञानकी व्याख्यासे देखा है। शास्त्राभ्यासद्वारमें चतुर्गति क्लेशोंका वर्णन करनेमें ग्रन्थकारका बहुत गहरा आशय भरा हुआ जान पड़ता है। यह प्राणी जिन जिनमें सुख मान बैठा है उसकी यह मान्यता झूठी है इसका सामान्य शब्दोंमें वर्णन किया है और विशेषतया अनुभवसे अवलोकन करनेका आग्रह किया गया है। वस्तुतः संसारमें सुख नहीं है। यह हमने प्रथम समता अधिकारमें बहुत विस्तृत कल्पना तथा प्रमाणसे देखलिया है। इस मृगतृष्णाके लोभसे आकर्षित हुआ अल्पसत्त्वी प्राणी दोड़ादोड़ करता है परन्तु वह कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता है। उक्त चतुर्गति दुःखवर्णन निमित्त कदाच यह कहा जावे कि दुःखके साथ सुख भी है फिर सुखपर भी भार क्यों नहीं दिया जाता है? केवल दुःखकी ही क्यों पराकाष्ठा बतलाई जाती है? इसके उत्तरमें शास्त्रकार कहते हैं कि वहां सुखका लेशमात्र भी नहीं है, जो कुछ है वह काल्पित है। यदि हो तो हमे उसको भूला देनेकी आवश्यकता नहीं। सम्पूर्ण अधिकारका एक ही सार है कि शास्त्राभ्यास उत्तम प्रकारसे करना और अपना साध्य निरन्तर लक्ष्यमें रखना चाहिये। इस साध्यको प्राप्त करनेमें जो जो कारण प्रतिबन्ध करनेवाले हों उनको ढूंढ निकालना और उनको दूर करने तथा साध्यप्राप्तिके मार्गको सीधा और सुगम बनानेका प्रयास करना चाहिये। स्थूल कचरा दूर करनेके साथ साथ मानसिक कचरा भी दूर करदेना चाहिये और वह क्या है? कैसा है? कैसे दूर करना चाहिये? आदि निमित्त आनेवाले अधिकारमें विचार किया जायगा।

॥ इति सविवरणश्चतुर्गत्याश्रितोपदेशगाभितोऽष्टमः 'शास्त्रगुणाख्योऽधिकारः ॥

अथ नवमश्चित्तदमनाधिकारः



न्द्रियोंपर अंकुश, प्रमाद कषायका त्याग, समभाव आदि सब हकिकतोंका जो वर्णन किया गया है, उन सबका यही कारण है कि मनपर अंकुश रखना। मनपर अंकुश न हो तबतक शास्त्राभ्यास और धार्मिक बाह्य क्रिया उससे प्राप्त होनेवाले फलकी अपेक्षा बहुत अल्प फल देती है और पापकार्योंमें भी पराधीनतासे प्रवर्त्तन करनेवाले अकुशित मनवालेको अमुक मृदुता आजाती है, तथा शेष अल्प मान पड़ते हैं। ऐसी बड़ी उपयोगी हकिकत बतानेवाला सम्पूर्ण ग्रन्थमें मध्यबिन्दुरूप यह सबसे उपयोगी केन्द्रस्थ द्वार लगभग बराबर मध्यमें ही आता है। इस अत्यन्त उपयोगी द्वारका प्रत्येक शब्द मनन करने योग्य है।

मन धीवरका विश्वास न करना.

कुकर्मजाले कुविकल्पसूत्रजे–
निबध्यगाढं नरकाग्निभिश्चिरम्।
विसारवत् पक्ष्यति जीव! हे मनः–
कैवर्तकस्त्वामिति मास्य विश्वसीः ॥१॥

" हे चेतन! मनधीवर (मच्छीमार) कुविकल्प डोरियोंकी निर्मित कुकर्म जाल बिछाकर उसमें तुझे मजबूतीसे गुंथ कर अनेकों समय मच्छीके समान नरकाग्निमें भूनेगा, अतः उनका विश्वास न कर।" वंशस्थवृत्त

विवेचन—विषयके प्रारम्भमें ही प्रथम श्लोक बहुत अलंकारिक लिखा गया है। प्रारम्भसे मनपर अंकुश न हो तब क्या करना यह यहाँ बताया जाता है। हे चेतन! तेरी यह धारणा है कि यह मन तो तेरा खुदका ही है, परन्तु यह तो एक धीवरके सदृश दुष्ट है और यह निश्चय जानना कि यह तेरा कदापि नहीं है। यह तो बड़ी बड़ी जाल बिछायगा और उसमें तुझे फँसानेका प्रयत्न करेगा और पकड़ कर फिर नारकीरूप अग्निमें भूनेगा। ऐसे ऐसे तेरे हालहवाल कर डालेगा; अतः हे जीवरूप मच्छ! तू तेरे वैरी मनरूप धीवरका विश्वास कदापि न कर। मच्छी बेचारी पौद्गलिक इच्छासे फँस जाती है, उसको धीवरसे फैलाई हुई जालका भान नहीं रहता है। इसीप्रकार यह अज्ञानी जीव भी मन-धीवरकी जालमें चला जाता है, फँस जाता है और पीछा नहीं निकल सकता है। यह फँसानेवाली जाल तेरे कुविकल्परूप सूत्रकी बनी हुई है। इसलिये ज्ञानी महाराज सरल किन्तु भारवाले शब्दोंमें उपदेश करते हैं कि मन का कदापि विश्वास न कर। मच्छियोंको पकड़ने निमित्त धीवर जालको किस प्रकार फैलाता है इसका जिसको अनुभव हो वह समझ सकता है कि एक बार उसके सपाटेमें आया हुआ मच्छ फिर वापिस कदापि नहीं निकल सकता है।

हम मनपर विश्वास रक्खे और फिर वाड़ ही खेतको खाने लगे तो फिर किसी प्रकारका बचाव या उपाय नहीं रहता है, इसलिये जैसे टूटी हुई वृक्षकी डालीपर बैठनेका विश्वास नहीं किया जाता उसीप्रकार इसपर भी विश्वास नहीं करना चाहिये। मनके कुविकल्पोंसे बनी हुई जाल किसप्रकार और किस प्रसंगपर फैलती है उसका सरल दृष्टान्त देखना हो तो प्रतिक्रमणमें मन किन किन दूरस्थ देशोंकी यात्रा कर आता है उसका

विचार करें। ऐसे शुद्ध स्थानमें, शुद्ध आसनपर, शुद्ध गुरुमहाराजके समक्ष भी यह एकाग्र नहीं रहता है, तो फिर उसका क्या विश्वास किया जाय ?

मनपर विश्वास करनेवाला नरकके दुःख भोगेगा इतना-ही नहीं अपितु उसका यहाँका भी एक भी कार्य्य सिद्ध न हो सकेगा, अतः उसका विश्वास न कर उसको अपने आधीन रखना चाहिये।

मन मित्रको अनुकूल होने निमित्त प्रार्थना.

चेतोऽर्थये मयि चिरत्नसख ! प्रसीद,
किं दुर्विकल्पनिकरैः क्षिपसे भवे माम् ?
बद्धोऽञ्जलिः कुरु कृपा भज सद्विकल्पान्,
मैत्रीं कृतार्थय यतो नरकाद्बिभेमि ॥ २ ॥

" हे मन ! मेरे दीर्घकालके मित्र ! मैं प्रार्थना करता हूँ कि तू मेरेपर कृपा कर। दुष्ट संकल्प करके क्यों मुझे संसारमें डालता है ? (तेरे सामने) मैं हाथ जोड़ कर खड़ा हुआ हूँ, मेरेपर कृपादृष्टि कर, उत्तम उत्तम विचार उत्पन्न कर और अपनी दीर्घकालकी मित्रताको सफल कर—कारण कि मैं नरकसे डरता हूँ। " वसंततिलका

विवेचन—मनपर विश्वास न करना तो सच बात है, परन्तु यह तो अनादिकालसे चला आता है। इसलिये अब आत्मा उसे समझाता है, उसकी खुशामद करता है। मन और जीवमें अनेकों वर्षोंका सम्बन्ध है। जब पंचेन्द्रियपनकी स्थितिमें जीव आता है तबसे उसका मनके साथ सम्बन्ध होता है। इस-

१ मित्रे इत्यादि पाठः क्वापि दृश्यते।

लिये उसको लम्बे समयके मित्रकी संज्ञासे सम्बोधित करते हैं। जिससे काम निकालना हो उससे मधुर भाषण करनेसे कार्य्य शिघ्रतया होता है। हे मित्र मन ! तूं किस कारण मुझे संसारमें फेंक देता है ? तूं जो बुरे संकल्प करता है उनको यदि छोड़दे तो मेरे भवके फेरे नष्ट होजावें। जो लम्बे समयके मित्र होते हैं वे एक दूसरेकी बातको मानते हैं इसलिये कृपया तूं भी मेरी प्रार्थना स्वीकार कर और इन सब तूफानोंको तिलांजली देदे।

मनको इसप्रकार वारम्वार प्रार्थना करनेसे उस विषयमें लक्ष्य रहता है और अन्तमें विकल्प कम होजाते हैं। इसप्रकार वारम्वार प्रार्थनाका पुनरावर्तन होता रहे तो फिर अन्तमें मनपर अंकुश लगजाता है, यह दूसरी सीढ़ी (Stage) है। यह सीढ़ी प्राप्तकर लेनेपर समझना चाहिये कि जीव उसके साध्यबिन्दुके बहुत समीप पहुंच गया है।

" नरकसे डरता हूं " इसका यह मतलब है कि इस भव तथा परभवमें होनेवाली अनेक पीडाओंसे डरता हूं।

मनसे प्रार्थना करनेमें यह प्रयोजन है कि उस बातका मनपर वारम्वार प्रभाव डालना। कार्य्यसिद्धिकी यह प्रथम सिढ़ी है।

मनपर अंकुशका सरल उपदेश.

स्वर्गापवर्गौ नरकं तथान्त-
र्मुहूर्तमात्रेण वशावशं यत्।
ददाति जन्तोः सततं प्रयत्नात्,
वशं तदन्तःकरणं कुरुष्व ॥ ३ ॥

"वश या अवश मन क्षणभरमें स्वर्ग, मोक्ष अथवा नरक अनुक्रमसे प्राणीको प्राप्त कराता है, इसलिये यत्न

करके उस मनको शिघ्रतया वशमें करले। ” उपजाति.

विवेचन—मनपर विश्वास न करना और दुर्विकल्प न करना इन दो बातोंका वर्णन हो चुका, अब उनमे आगे बढ़ने पर दूसरी सीढ़ीमें मनपर अंकुश रखना, मनको वशमें रखना यह बहुत आवश्यक है। मनके वशीभूत होजाने पर देवसुख और मोक्षसुख मिल सकता है और यदि मन वशीभूत न हो तो दोनों मिट्टीमें मिल जाते हैं और दुःखपर दुःख आ घेरते हैं।

संसारसे मुक्त, महान तपस्या करनेवाले, दूतकी बातोंपरसे माने हुए विश्वासघाती क्रूर मन्त्रियोंके साथ युद्ध करनेके विचारसे मनके परतंत्र हुए हुए, पुत्रपरके स्नेहसे शुद्ध मार्गसे मानसिकपनसे भ्रष्ट हुए हुए प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अघोर तप तपनेपर भी सातवीं नारकीमें जानेके लिये तैयार थे, किन्तु थोड़ीसी देरमें विचारमें अपने शस्त्रोंको समाप्त होते जानकर अपने मुकुटका ही शस्त्रके समान प्रयोग करनेका विचार कर जब उन्होंने अपने सिरपर हाथ डाला तो वह राजर्षि सचेत हुए और अपने मनको वशमें करनेका प्रयत्न किया, फिर पाच ही मिनटमें सब कर्मोंका नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। असंख्य भवमें भी जिसकी सिद्धि होना कठिन है उसको उन्होंने पांच मिनिटमें ही सिद्ध किया। शास्त्रमें कहा है कि “ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः ” अतः मनन्त संसारमें भटकाने तथा मोक्षप्राप्तिका साधन भी मन ही है। इसपर जोर देकर कहा गया है इसलिये यह बराबर ध्यानमें रखने योग्य है।

इसीप्रकार बेचारा तंदुलमत्स्य मगरमच्छकी आँखकी भौंहमें उत्पन्न होकर वहाँ बैठा बैठा देखता है कि मगरमच्छ मच्छलियोंका भक्षण करता है उस समय प्रथम पानी मुँहमें लेता है और फिर मच्छलियोंको रोककर पानी निकाल देता है, परन्तु वैसा

करते समय उसके दाँतोंके बीचमें अन्तर होनेसे असंख्य छोटी छोटी मच्छलियें भी पानीके साथ ही साथ निकल जाती हैं। उस समय भौंहमें स्थित तंदुलमत्स्य वहाँ बैठा बैठा विचार करता है कि यदि मैं जो इतने बड़े शरीरवाला हूँ तो एक भी मच्छलीको वापीस न जाने दूं। ऐसा विचार करनेसे तेतीस सागरोपमका आयुष्य बांधकर वह सातवीं नरकमें जाता है।

जीरण शेठने श्री महावीर भगवानको पारणा (भोजन) करानेकी इच्छासे ही शुभ भावना धारण कर बारहवें देवलोकको प्राप्त किया और यदि देवदुंदुभी नहीं बजी होती तो वह थोड़ेसे समयमें ही मोक्षको प्राप्तकर लेता।

इन तीनों दृष्टान्तोंसे यदि मन वशीभूत होजावे तो मोक्ष सुगमतासे प्राप्त हो सकता है और मन वशीभूत न हो सके तो समझना चाहिये कि नरक मिलेगा। इस सम्बधमें दूसरे भी अनेकों दृष्टान्त हैं। इन दृष्टान्तोंका यह तात्पर्य है कि इस प्रकारकी मनकी स्थिति होती है। उसको वशमें करके उसका ठीकठीक उपयोग किया हो तो उससे मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। इसलिये कार्य्यसिद्धिका दूसरा सोपान यह है कि यदि तुमको अव्याबाध सुखकी अभिलाषा है तो मनको वशमें करनेवाले पथके पथिक बनो।

संसारभ्रमणका हेतु-मन.

सुखाय दुःखाय च नैव देवा,
न चापि कालः सुहृदोऽरयो वा।
भवेत्परं मानसमेव जन्तोः,
संसारचक्रभ्रमणैकहेतुः ॥ ४ ॥

"देवता लोग इस जीवको सुख या दुःख नहीं देते हैं,

उसीप्रकार काल भी नहीं, उसीप्रकार मित्र भी नहीं और शत्रु भी नहीं। मनुष्य के संसारचक्रमें घुमनेका एक मात्र कारण मन ही है।" उपजाति

विवेचन—सुख दुःख सदैव होते रहते हैं। कितनी ही बार जीव यह विचार करता है कि गोत्र देवता अथवा अधिष्ठायक देवता दुःख अथवा सुख देते हैं। कितनी ही बार समय खराब है ऐसा कहता है और कितनी ही बार यह जीव कल्पना करता है कि स्नेही से सुख और शत्रुसे दुःख मिलता है, किन्तु यह सब व्यर्थ है। शास्त्रकार कहते हैं कि—

" सुख दुःख कारण जीवने, कोई अवर ना होय।
कर्म आप जे आचर्यां, भोगवीए ते सोय ॥ "

कर्मके उदयसे ही दोनों सुख तथा दुःख होते हैं। यह स्पष्ट है कि कर्मबन्धका आधार मनके संकल्पोंपर है और उसपर और विशेष विवेचन किया जायगा, इसलिये मित्रोंके सुख देने तथा समयके अनुकूल होनेका आधार भी मन ही पर है। संसार भ्रमणका हेतु मनके वशीभूत हो जाना है।

संसार ये बराबर फिरनेवाला चक्र है। एक बार इसे जोरसे फेरने पश्चात् इसको रोकने निमित्त मजबूत ब्रेक (Brake) की आवश्यकता होती है और वह ब्रेक मनपर अंकुश लगाना है। इस मनपर अंकुशरूप ब्रेक लगाते ही संसारचक्रकी गति मन्द होती जाती है। यदि अत्यन्त मजबूत ब्रेक हो तो एकदम रुक जाती है। मनके मंकल्प संसारगमन-समरणमें कितना काम करते हैं वह इसीसे स्पष्ट होजाता है। संसारकी चक्रके साथ उपमा देने में अत्यन्त दीर्घदृष्टि काममें लाई गई है। यह रूपक बहुत सार्थक है और अनेक प्रकारसे अर्थघटनायुक्त है। चक्रको एक समय खूब जोरसे चलाने पश्चात् उसको गति न दी जावे

तो भी चलता रहता है, इसीप्रकार सृष्टि (संसार व्यवहार-आश्रम) चलाने बाद थोड़ेसे समयके लिये दूर हो जावे तो भी वह तो चलती ही रहती है। एक चक्र अनेकों चक्रोंको चलाता है उसीप्रकार सृष्टिकी रचना समझें; उसको रोकने के लिये यदि हाथ लगाया जावें तो हाथ टूट जाय। उसको रोकनेके दो ही उपाय हैं: या तो स्टीम (Steam) (जो चक्रगतिका कारण है) निकाल देना या चक्रके मजबूत ब्रेक लगाना। हमारा सर्व प्रयास तो स्टीम निकाल देना ही है, परन्तु यह जब तक न होसके तब तक मजबूत ब्रेक लगाना । यह ही परम हितकारक है और साध्यको समीप लानेवाला है।

मनोनिग्रह और यमनियम.

वशं मनो यस्य समाहितं स्यात्,
किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ?।
हतं मनो यस्य च दुर्विकल्पैः,
किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ?॥५॥

" जिस प्राणीका मन समाधिवंत होकर अपने वशीभूत होजाता है उसको फिर यम नियमसे क्या प्रयोजन ? और जिसका मन दुर्विकल्पोंसे छिन्नभिन्न किया हुआ है उसको भी यमनियमोंसे क्या प्रयोजन ? " उपजाति.

विवेचन—जिस प्राणीका मन सर्व संयोगोंमें एकसा रहता है, जिसकी सुख दुःख प्रसंगोंमें भी मनकी स्थितिस्थापकता कायम रहती है, अर्थात् जिसने सचमुच मनपर अंकुश लगा रक्खा है उसको यम नियमसे कोई विशेष लाभ नहीं होता है। यम नियम आदि मनको वशमें करने के साधन हैं और साध्यके कब्जेमें आने पश्चात् साधनकी कोई आवश्यकता

नहीं रहती है । मनको नियममें रखनेकी ऐसे महात्माओंको आवश्यकता नहीं रहती है, परन्तु स्वाभाविकतया ही उनका व्यवहार तदनुसार होता है । इसीप्रकार जिस प्राणीके मनमें संकल्पविकल्प उठते रहते हैं उस प्राणीको यमनियमसे क्या लाभ होनेवाला है ? ऐसे प्राणीको साधन परिणामरहित होता है । इससे यह प्रयोजन कदापि नहीं है कि यमनियम निरर्थक हैं, वे चित्तदमनके परम साधन हैं, परन्तु यहां तो कारण दूसरा ही है । मतलब यह है कि यमनियम रखने पर भी यदि मन वशीभूत न हो तो सब व्यर्थ है, इसलिये यमनियमके सबे फलकी अभिलाषा हो तो मनको वशमें करना *सिखो, अभ्यास डालो।*

टीकाकार यमनियमपर नीचे लिखेनुसार उपयोगी नोट लिखता है । जिससे चित्त नियममें—अंकुशमें आवे वे नियम पांच प्रकारके हैं । १ काया और मनकी शुद्धिको शौच कहते हैं । २ समीपके साधनोंसे अधिक प्राप्त करनेकी अभिलाषा न होना संतोष कहलाता है । ३ मोक्षमार्ग बतानेवाले शास्त्रोंका अध्ययन करना अथवा परमात्मजप यह स्वाध्याय कहलाता है । ४ जो कर्मोंको तपावे हैं वे चांद्रायण आदि तप कहलाते हैं । ५ वीतरागका ध्यान करना देवताप्रणिधान कहलाता है । यम पांच प्रकारके हैं । अहिंसा, सुनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अकिंचनता, ये पांच प्रसिद्ध हैं ।

इन यम और नियमका विचार करके इनका पालन करनेसे मनपर अंकुश लगजाता है । इसमें कार्यकारण भाव परस्पर है यह थोडासा विचार करनेसे समझमें आजायगा । इसीप्रकारकी कटाक्ष भाषामें शास्त्रकार अन्य स्थानपर लिखते हैं कि—

रागद्वेषौ यदि स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ?

तावेव यदि न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ?

" यदि रागद्वेष हो तो फिर तपसे क्या प्रयोजन है ? इसीप्रकार यदि वे न हों तो भी फिर तपसे क्या काम है ? "

इस सबका सार यह है कि मनको वशमें रखनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसी विषयको नीचेके श्लोकमें अधिक स्पष्ट करते हैं।

मनोनिग्रहरहित दानादि धर्मोंकी निरर्थकता.

दानश्रुतध्यानतपोऽर्चनादि,
वृथा मनोनिग्रहमन्तरेण ।
कषायचिन्ताकुलतोज्झितस्य,
परो हि योगो मनसो वशत्वम् ॥ ६ ॥

" दान, ज्ञान, ध्यान, तप, पूजा आदि सब मनोनिग्रह बिना व्यर्थ हैं। कषायसे होनेवाली चिन्ता और आकुलव्याकुलतासे रहित ऐसे प्राणीको मन वश करना महायोग है। " उपजाति.

विवेचन—दान पांच प्रकारके हैं। किसी भी जीवको मृत्युसे बचाना अभयदान, पात्रको देखकर योग्य समयपर योग्य वस्तुको योग्य रीतिसे दान देना सुपात्रदान, दीन दुःखीको देखकर दया करके दान देना अनुकम्पादान, सगे स्नेहियोंको यथायोग्य अवसर आनेपर यथायोग्य अर्पण करना उचितदान, और अपना नाम कायम रखने प्रशंसा निमित्त दान देना कीर्तिदान, कहलाता है। इन पांचोंमेंसे प्रथम दो उत्तम प्रकारके होनेसे मोक्षपद देनेवाले हैं और अन्य तीन भोग-उपभोगकी प्राप्ति आदि फल देते हैं।

ज्ञान अर्थात् शास्त्रका अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, मनन आदि।

ध्यान अर्थात् धर्मध्यान, शुक्लध्यान आदि।

तप अर्थात् बारह प्रकारके कर्मोंको तपानेवाला निर्जरा करनेवाला तप।

पूजा अर्थात् तीन, पांच, आठ, सत्तर, इकीस, एकसौ-आठ आदि भेदयुक्त द्रव्यपूजा।

ये सब वस्तुयें—ये सब बाह्य अनुष्ठान अच्छे होनेपर भी यदि मन आधीन नहीं है तो ये सब व्यर्थ हैं। ऊपरके श्लोकमें कहा गया है कि मनोनिग्रह बिना यमनियम व्यर्थ हैं। यहाँ बाह्य अनुष्ठानोंकी निरर्थकता बताई गई है। उपर्युक्त शास्त्रोंमें कहा गया है कि जिसका मन वशमें नहीं है उसका पढ़ना, तप करना तथा परघोड़ा बढ़ाना आदि सब बाह्य आडम्बर व्यर्थ हैं।

अब उत्तम अनुष्ठानोंके साथ साथ मनको वशमें रखनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। जिसके मनमें कषाय न हो अर्थात् कषायसे जो मनमें चिन्ता तथा आकुलव्याकुलता रहती है वह न हो ऐसे शुद्ध प्राणीको अपना मन वशमें रखना 'राजयोग' है, अथवा योगकी परिभाषामें कहा जाय तो यह 'सहजयोग' है। यहाँ पर उद्देश तथा उपदेश इतना ही है कि मनमें जो दुष्ट संकल्पविकल्प होते हैं उनको दूर करदो और मनको एकदम अंकुशमें रक्खो। इसको स्वतन्त्र करदेना हानिकारक है, भयप्रद है, और दुःखश्रेणिका कारण है।

मन सिद्ध किया उसने सब कुछ सिद्ध किया.

जपो न मुक्त्यै न तपो द्विभेदं,
न संयमो नापि दमो न मौनम्।

न साधनाद्यं पवनादिकस्य,
किं त्वेकमन्तःकरणं सुदान्तम् ॥ ७ ॥

"जप करनेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती, न दो प्रकारके तप करनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है, इसी-प्रकार संयम, दम, मौनधारण अथवा पवनादिककी साधना आदि भी मोक्षप्राप्ति नहीं करा सकती; परन्तु ठीक तरहसे वशमें किया हुआ केवल एकमात्र मन ही मोक्षकी प्राप्ति करा सकता है।" उपजाति.

विवेचन—इसका अर्थ बिलकुल स्पष्ट ही है। चाहे ओंकारादिके जप करो या उपवासादि तप करो, ध्यान धरो या आस्रवको रोको, इन्द्रियोंका दमन करो या मौन धारण करके बैठ जाओ, आसनस्थ रहो या ध्यानका आडम्बर करो, गुफामें प्रवेश करो या हिमालयके शिखर पर चढ़ो, जनसमूहके कोला-हलके बिचमें रहो या निर्जन वनके एकान्त मध्यभागमें जाकर बैठ जाओ; परन्तु जब तक तुमने अपने मन पर विजय प्राप्त नहीं किया, जब तक वह दूर देशोंकी यात्रा किया करता है, जब तक उसको स्वपरका ध्यान नहीं है जब तक वह ईर्षासे भरा रहता है, जब तक वह अमुक नियमानुसार नहीं चल सकता है, तब तक ये सब किसी गिनतीमें नहीं हैं, सर्व प्रयास अस्थान है, अयोग्य है, दुःखदायी है, दिखावमात्र हैं। इसीके अनुसार अनुभवी योगी आनन्दघनजी महाराज कह गये हैं कि—"मन साध्युं तेने सब ही साध्युं, यह बात नहीं खोटी"। अनुभव-रसिक महात्माके ये शब्द पूरे पूरे सार्थ हैं, सूचक हैं, बहुत कुछ ग्रहण करने योग्य हैं और इसीके साथ २ जब वे कहते हैं कि यदि कोई पुरुष यह कहता है कि मैंने अपने मनको वशीभूत

कर लिया है तो इस बातपर उसके कहनेमात्रसे विश्वास न करलें, कारण कि मनका साधना–मनोनिग्रह करना यह तो बहुत बड़ी बात है। इसीसे स्पष्ट है कि मनोनिग्रह राजयोग है।

मनकी यह विलक्षणता है कि इसको जिस जिस प्रकार एक ओर आकर्षित करते हैं त्यों त्यों यह प्रथम तो विरुद्ध होता जाता है, सामना करने लगता है। ऐसा अनेकों बार अनुभव किया गया है। दृष्टान्तरूपसे यदि तुम यह विचारो कि अमुक विषयपर तो आज ध्यान ही न देना चाहिये तो विशेष करके वह विषय दिनमें दस बार मनपर आयगा। इसप्रकार मन प्रत्येक बातमें विरुद्ध आचरण करता है, परन्तु फिर भी यदि अभ्यास किया जाय तो यह आरम्भमें अत्यन्त भारी जानपड़ने-वाली कठिनता कम होने लगती है और शनैः शनैः इसका बिलकुल अन्त हो जाता है।

सब विषयोंका सार यह है कि मन वशीभूत होनेपर ही इस संसारदुःखसे निवृत्ति हो सकती है अर्थात मोक्ष मिलनेका यही एक सरल मार्ग है।

मनके वशीभूत हुआ कि भटका.

लब्ध्वापि धर्मं सकलं जिनोदितं,
सुदुर्लभं पोतनिभं विहाय च।
मनःपिशाचग्रहिलीकृतः पतन्,
भवाम्बुधौ नायतिदृग् जडो जनः ॥ ८ ॥

"संसारसमुद्रमें भटकते हुए अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त करने योग्य, जहाजके सदृश, तीर्थंकरभाषित धर्मरूपी जहाजको प्राप्त करने पश्चात् जो प्राणी मनपिशाचके वशीभूत

१ अदूरदर्शी

होकर उस जहाजका परित्याग कर देते हैं और संसारसमुद्रमें गिर जाते हैं वे मूर्ख पुरुष दीर्घदृष्टिवाले कदापि नहीं कहे जासकते हैं।" उपजाति.

विवेचन—यदि तुमने कभी समुद्रकी यात्रा की हो तो मालूम होगा कि समुद्र इतना विशाल, अगाध तथा लम्बा है कि विना जाहाजके हम उसको पार नहीं कर सकते हैं, इसी-प्रकार यदि समुद्र भरपूर भरा हुआ हो और जहाज फट गया हो तो हम उसे पार नहीं करते हैं; परन्तु कदाच कोई ऐसा कर भी सके फीर भी वह पुरुष तो जिसने कि जहाजको छोड ही दिया हो, कभी भी समुद्रको पार नहीं कर सकता है। ऐसे पुरुषको यदि मूर्ख न कहा जाय तो क्या कहा जाय? इसी-प्रकार संसारसमुद्र है, इसका पार पाकर दुःखका अन्त कर तथा मोक्षकी प्राप्ति करना सबका यही दृष्टिबिन्दु है और इसको पार करने निमित्त धर्मरूपी जहाजके साधनकी आवश्यकता होती है। धर्मसे तात्पर्य्य आत्मस्वरूपमें स्थिरता और रमणता है। धर्मसे भ्रष्ट करने निमित्त यह मनपिशाच सदैव इस जीवको प्रमादरूपी मदिरा पिलाकर अंधे समान बना देता है, इसके वशमें जो प्राणी हो जाता है उसको न तो कार्याकार्यका ही विचार रहता है न अपने कर्त्तव्यका ही भान रहता है और कदाच थोडासा भान होता है तो वह भी भूल जाता है। ऐसी स्थिति होनेपर आत्मस्वरूपरमणता तो हो ही कहाँ सकती है? इसके परिणाम-स्वरूप प्राणी धर्मभ्रष्ट होजाता है, जिससे वह समुद्र तैरनेके जहाजका परित्याग कर देता है और अपार समुद्रमें इधरउधर गोते लगाया करता है। किसी समयमें पेंदेंमे चला जाता है और किसी समय बाहर निकल आता है, परन्तु जहाज बिना वह उसको पार नहीं कर सकता है, उलटा अनन्तवार चौराशी लक्ष

योनीमें भटकता रहता है। इसीलिए प्राप्त किये हुए शुभ अव-सरको छोड़ देनेवाले प्राणीको मूर्ख कहा गया है।

अपना कर्तव्य बजाने निमित्त पुरुष अनेकों समय ऐसे उत्तम प्राप्त हुए प्रसगोंपर ध्यान नहीं देता है, उनकी उपेक्षा करता है और उनको इरादेपूर्वक छोड़ देता है। वस्तुस्थितिको देखते हुए वे गत प्रसग फिरसे हाथमें नहीं आते हैं और इस-लिये ऐसा करनेसे एक बड़ा भारी लाभ हाथसे निकल जाता है।

मन हमको संसारसमुद्रमें किस प्रकार फेंक देता है ? यह एक अनुभवसिद्ध बात है। मनुष्यमें कल्पना तथा तर्कशक्ति ये दो मानसिक शक्तियें होती हैं और इन्हीं दोनों पर कार्यरेखा अंकित होती है। जबतक तर्कशक्ति–विचारशक्तिका सामर्थ्य अधिक होता है तब तक तो कार्य्य भलिभाँति होते रहते हैं, परन्तु कितनी ही बार दोनों होती हैं अर्थात् एक कार्य्य करनेसे पहले कल्पना-शक्ति अनेक प्रकारके सकल्प करती है। यह बतलाती है कि शुभ कार्य्यमें न चाही हुई आफतें आजायगी और कभी कभी तो बड़े बड़े पहाड़ खड़े कर देती है। इस कल्पनाके वशीभूत होकर अल्पमति जीव भविष्यकालका बिना विचार किये हुवे ही कार्य्यरेखा अंकित कर देता है जिससे वह वास्तविक लाभके स्थानमें दिखाई देनेवाले लाभकी ओर अर्थात् भविष्यकालमें लाखों समय तक चलनेवाले लाभके प्राप्त होनेके स्थानमें थोड़ेसे तात्कालिक लाभकी ओर ही लक्ष्य रखता है। ऐसे मनके वशीभूत हुए प्राणी धर्मभ्रष्ट होजाते हैं और ससारसमुद्रमें भटकने लगते हैं। मुमुक्षुका यह कर्तव्य है कि मनको निरंकुश कल्पना न करने देवे, उसपर ऊँची तर्कशक्तिका अधिकार रखना चाहिये। ऐसे विद्वान् गुरुके अंकुश नीचे विकस्वर हुआ मनरूप बालक जब बड़ी आयु प्राप्त करता है तब कूर्मापुत्रके समान ससारमें प्रतिष्ठा प्राप्त

करता है और विशेषतया उसकी वृत्ति अस्तव्यस्त स्थितिमें नहीं रहती है ।

परवश मनवालेको तीन शत्रुओंका भय.

सुदुर्जयं ही रिपवत्यदो मनो,
रिपूकरोत्येव च वाक्तनू अपि ।
त्रिभिर्हतस्तद्रिपुभिः करोतु किं ?
पदीभवन् दुर्विपदां पदे पदे ॥ ६ ॥

" अत्यन्त कठिनतासे जीता जानेवाला यह मन शत्रुके समान व्यवहार करता है, कारण कि यह वचन तथा काया-को भी दुश्मन बना देता है। ऐसे तीन शत्रुओंसे घेरा हुआ तू स्थान स्थानपर विपत्तियोंका भाजन होकर क्या कर सकेगा ?"

वंशस्थ.

विवेचन—यहाँ जो कुछ कहा गया है वह परवश मन-के लिये कहा गया है । परवश मन स्वच्छंद आचरण करता हो इतना ही नहीं परन्तु शत्रुवत् करता है । स्वयं अयोग्य विचार करता है और साथ ही साथ वचन तथा कायाको भी शत्रु बना देता है और इसलिये जीवका अपने वचनोंपर अंकुश नहीं रहता है और वह नीति, धर्म तथा मर्य्यादाका कुछ भी विचार न कर पापकृत्य करनेको उद्धत होजाता है । इसप्रकार परवश मन स्वयं शत्रुता करनेके उपरान्त अन्य दोको और साथ लेता है और इन तीन दण्डोंसे दण्डित जीव अपमानित होता है, दुख भोगता है, ग्लानि उठाता है, मार खाता है, मद्यपीनेके लिये भटकता रहता है। बिल्ली दूध देखकर ललचा जाती है, परन्तु शिर-पर गिरनेवाले दण्डे का विचार तक भी नहीं करती है । चोर मार्गमें पड़ी हुई रुपयोंकी थैलीको ही देखता है परन्तु गुप्तवेशमें

समीप खडे हुए जासूस (Detective) को नहीं देखता है, झूठी साक्षी देनेवाला लोभको ही देखता है, परन्तु फिर जो केदकी सजा होनेवाली है उसकी ओर ध्यान नहीं देता है। यह सब मनकी शत्रुता है। मन सबको विपरित मार्गमें दौडाता है। इसका कारण ऊपरके श्लोकमें बतायेअनुसार कल्पनाशक्तिका जोर तथा तर्कशक्तिके अंकुशका अभाव है। अनुभवरसिक योगी भी गा गये हैं कि:—

मुक्तितणा अभिलाषी तपीया, ज्ञान ध्यान अभ्यासे,
वैरिडुं कांई एहवु चिंते, नाखे अवळे पासे।
हो कुंथुजिन ! मनडुं कीम ही न बाजे ॥

इसप्रकार मन महाज्ञानी मुमुक्षुओंको भी उलटे मार्गमें भटकानेवाला है और तीसरे श्लोकमें कहेअनुसार यदि यह ही मन वशमें हो तो एक क्षणभरमें मोक्षसुखकी प्राप्ति करा सकता है।

वचनके उच्चारण तथा कायाकी प्रवृत्तिका आधार मनके हुक्म पर है, इसलिये यदि मन परवश हो गया तो फिर वचन तथा कायापर कुछ भी अंकुश नहीं रह सकता है। मन, वचन और कायाको वशमें रखना अत्यन्त कठिन अवश्य है किन्तु फिर भी यह हमारा आवश्यक कर्तव्य है और इन तीनोंमें परस्पर ऐसा सम्बन्ध है कि यदि एक मन जो वशमें हो जावे तो फिर शेष सब वसमें हो गया समझ लेना चाहिये।

मन तरफ उक्ति.

रे चित्तवैरि ! तव किं नु मयापराद्धं,
यद्दुर्गतौ क्षिपसि मा कुविकल्पजालैः।
जानासि मामयमपास्य शिवेऽस्ति गन्ता,
तत्किं न सन्ति तव वासपदं ह्यसंख्याः ॥१०॥

"हे चित्तवैरी! मैंने तेरा ऐसा कौन-सा अपराध किया है कि जिससे तू मुझे कुविकल्परूप जालमें बांधकर दुर्गतिमें फेंक देता है? क्या तूं यह मनमें विचार करता है कि यह जीव मुझको छोड़ कर मोक्षमें चला जायगा (अतः मुझको पकड़ कर रखता है)? परन्तु क्या तेरे रहनेके लिये दूसरे असंख्य स्थान नहीं हैं?" वसंततिलका.

विवेचन—शान्त स्थानमें, शान्त समयमें, अनुकूल संयोगोंमें शान्त जीव अपने गत कृत्यों-विचार वर्त्तनका अवलोकन करता है तब उसको यहां वर्णित स्थिति प्राप्त होती है। तब थरमामीटर लगानेवालेके नेत्रोंमेंसे बेरके सदृश बड़े बड़े आंसु गिरने लगते हैं। संसार उसको विष सदृश कडुवा जान पड़ता है, इसलिये वह फिर मनको उपदेश देकर भविष्यमें ऐसा न करनेको सावधान करता है। यह स्थिति प्रतिक्रमणादि अवस्थामें प्राप्त होती है। यह लिखना यहाँ अप्रस्तुत नहीं होता इसलिये लिखा जाता है कि आवश्यक क्रियाके इसप्रकार विचारकर करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। जैसे तैसे डावाँडोल मनसे आधे घण्टेमें प्रतिक्रमणको समाप्तकर यह समझनेवाले कि इससे मेरे आत्माका उद्धार हो गया है वह चाहे जो क्यों न माने, परन्तु किये हुए पापका निरीक्षण कर, अन्तःकरणसे पश्चात्ताप कर, फिर वैसा कदापि न करनेका निश्चय करना, नहीं करनेका अभ्यास डालना, यह ही आवश्यक क्रियाका उद्देश है। कहनेका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वैसा न करें परन्तु योग्य रीतिसे, शुद्ध मनसे करना, ऐसा न हो सके तबतक उस दशाकी भावना रखकर प्रमादरहित होकर करनेका अभ्यास डालना यह ही निर्देश है।

ऐसी शान्त अवस्थामें यह जीव ऊँची सीढ़ी. गुणस्थानपर

आरोहित होता जाता है। एक न एक गुणस्थानमें भी गुणोंकी बहुत तरतमता है। जीव जब ऊंच स्थितिकी ओर प्रयाण करता है तब उसके विचार भी शुद्ध होते जाते हैं। मनको तो यहां केवल आक्षेप है। मनको कहा जाता है कि तुझे यह भय लगता होगा कि कदाच यह जीव मेरी सगतीका परित्याग कर देगा, परन्तु तू तो मेरे समान असंख्य जीवोंको तेरे निवासस्थानरूप उपयोगमें ला सकता है। इस सबका सार यह है कि जब शान्त-भाव प्राप्त हो उस समय मनको भलिभांति समझा कर, वस्तु-स्थितिका भान कराके उस पर आधिपत्य स्थापित कर लेना चाहिये।

परवश मनवालेका भविष्य.

प्रतिश्रुतिः श्वेव रतेर्विदूरे,
कुष्ठीव संपत्सुदृशामनर्हः।
श्वपाकवत्सद्गतिमन्दिरेषु,
नार्हेत्प्रवेशं कुमनोहतोऽङ्गी ॥ ११ ॥

" जिस प्राणीका मन खराब स्थितिमें होनेसे सताप उठाया करता है वह प्राणी कृमिसे भरपूर कानवाले कुत्तेके समान आनन्दसे बहुत दूर रहता है, कोढ़ीके समान लक्ष्मी सुन्दरीको वरनेमें अयोग्य हो जाता है और चाण्डालके समान शुभगति मन्दिरमें प्रवेश करने योग्य नहीं रहता है।" -इन्द्रवज्र

विवेचन—अस्थिर मनवाले पुरुष आनन्द, पैसा या अच्छी सगती नहीं पा सकते हैं। सम्पूर्ण शरीरसे दुर्गन्धी आती

१ पृतिश्रुतिरेव इति वा पाठः

हो, शरीर तथा कान पर किड़े लगे हुए हों—ऐसे बिचारे श्वानको कहीं भी चैन नहीं पड़ सकती है। इसीप्रकारकी स्थिति अस्थिर मनवालेकी भी होती है। जिसका मन वशमें न होगा उनको इसका बराबर अनुभव होगा। थोड़ा-सा पढ़िये:—डाक आई, पत्र खोला, पढ़ा, उसमें लिखा है कि पुत्र एकदम सख्त बिमार हो गया है और शीघ्र बुलाता है। गाड़ी मिलनेमें दस घंटेकी देरी है तो शीघ्र ही उक्त श्वानके समान कष्ट होने लगता है। तारपर तार दिये जाते हैं, डाक्टरकी सलाह लेनेको दौड़े जाते हैं, नेत्रोंसे आंसुओंकी धार बहती है, मनमें उकलाट उकलाट हो जाती है, भोजन अच्छा नहीं लगता है, पुत्रका अशुभ हो गया होगा ऐसा विचार दृष्टिके सामने नाचता रहता है। यह सब किसको होता है? परवश मनवालेको। कर्मस्थिति समझनेवाले, भावीपर भरोसा रखनेवाले—मनपर अंकुश रखनेवाले प्राणीका हृदय कदापि डावॉडोल नहीं होता है। इस पर भी खूबी यह है कि उसकी लागणी कम नहीं होती है। लागणी बनी रहती है और वस्तुस्थितिका भान बराबर तादात्म्य बना रहता है। वह ट्रेनमें अवश्य जाता है, परन्तु बेचारे परवश जीवके हृदयमें ग्रामके समीप आनेपर रौद्रध्यानकी धारा प्रवाहित होती है। जब कि स्ववश मनवाला वीर कर्मविपाकके विचारोंमें लीन होकर निर्जरा करता है। यह सब अनुभवसिद्ध है, किन्तु योग्य अवसर प्राप्त होनेपर मनपर विजय प्राप्त करना ही श्रेष्ठ है, केवल बकवाद करनेसे कुछ लाभ नहीं होता है।

कुष्टके रोगीको जिसप्रकार कोई सुन्दरी नहीं वरती है उसी प्रकार परवश मनवालेको लक्ष्मी नहीं वरती है। लक्ष्मीका पीछा करनेवालेको वह नहीं मिलती है और यदि मिलती है तो वह अल्प समयमें ही नष्ट होजाती है। बरबोंकी लाटरीमेंसे

एकदम धनवान हो जानेकी अभिलाषासे किसी ने दस रुपयेका टीकीट लिया और मनमें विचार किया कि यदि दैवयोगसे इस समय घोड़ा लग जावे तो चार लाख रूपये मिलेंगे तो उनसे दूसरा विवाह करुंगा, बंगला बनवाउंगा, व्यौपार करुंगा, मात्र-रंग आनन्द उड़ाउंगा आदि आदि। ऐसे विचार करनेवालेको लक्ष्मी सुन्दरी किसप्रकार मिल सकती है ? और यदि मिल भी जावे तो वेश्यावत् अर्थात् थोड़ेसे समयके लिये आनन्द देकर चलदे और परिणामस्वरूप दुःख ही दुःख छोड़ जाय।

जिस प्रकार चाण्डाल उत्तम पुरुषोंके मन्दिरमें प्रवेश नहीं कर सकता है इसीप्रकार परवश मनवाला पुरुष सद्गति मन्दिरमें प्रवेश नहीं कर सकता है। इसलिये उसको उत्तम संगती नहीं मिल सकती और बिना सत्संगतिके मन विशुद्ध-दशाको प्राप्त नहीं कर सकता है और ऊंची स्थिति प्राप्त करनेका तो उसे ध्यान भी नहीं आता है।

इसप्रकार परवश मनवाले प्राणीको जैसे इस भवमें सपत्ति मिलना, आनन्द मिलना दुर्लभ है उसीप्रकार उसे पर-भवमें भी सद्गति तथा आनन्द मिलना दुर्लभ है।

मनोनिग्रहरहित तप, जप आदि धर्म.

तपोजपाद्याः स्वफलाय धर्मा,
न दुर्विकल्पैर्हतचेतस स्यु.।
तत्खाद्यपेये सुभृतेऽपि गेहे,
क्षुधातृषाभ्यां म्रियते स्वदोषात् ॥१२॥

"जिस प्राणीका चित्त दुर्विकल्पोंसे छिन्नभिन्न किया हुआ है उसको तपजप आदि धर्म अपना (आत्मिक) फल देनेवाले नहीं है, इस प्रकारका प्राणी खानपानसे भरे हुए

घरमें भी अपने ही स्वजन्य दोषोंसे क्षुधा तथा तृषावश मृत्युका शिकार बनता है।" उपजाति.

विवेचन—चाहे जितनी तपस्या क्यों न करो, ग्रीष्मऋतु के तपते हुए दुपहरमें नदीकी गरम गरम वालूमें जाकर आतापना भी क्यों न लो, परन्तु "तबलग कष्ट क्रिया सब निष्फल, ज्यों गगने चित्राम; जबलग आवे नहीं मन ठाम।" यह बात सत्य है। तप करो, ध्यान करो, जप करो, परन्तु 'भगत भया पर जानत बुरी' मनमें इच्छा हो कि छुरी चलानेको उद्यत हो, मनकी वासनाओंका अन्त न हुआ हो, संसारका प्रेम जैसाका तैसा चीकना हो तब तक कष्टक्रिया निष्फल है। संसारके रसिक जीवके यह बात गले उतरते कुछ देर लगेगी। उसको तो प्रवृत्तिद्वारा पैसे एकत्रित कर धर्म करना है, परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसा करनेमें न तो धर्मही है न सुख ही है। सुख आत्मारामपनमें विकल्परहित स्थिर मनमें है और जब तक ऐसी स्थिति न हो तब तक जैसे अन्नजलसम्पन्न गृहमें भी प्रमादी पुरुष क्षुधा तथा तृषासे आकुळव्याकुल प्राणी पड़ा पड़ा चिल्लाया करता है, उसीप्रकार यह प्राणी भी सब सामग्री उपस्थित होनेपर भी मनके वशीभूत होकर स्वजन्य दोषोंसे ही[1] दुर्गतिका भाजन बनता है। इसका पांचवे श्लोकमें विस्तारपूर्वक विवेचन होचुका है। इसलिये इसका यहाँ पुनरावर्तन करना व्यर्थ है।

मनका पुण्य तथा पापके साथ सम्बन्ध.

अकृच्छ्रसाध्यं मनसो वशीकृतात्,
परं च पुण्यं, न तु यस्य तद्वशम्।

---

[1] अपने अनेक प्रकारके दोषोंके कारण यह जीव दुर्गतिभाजन होता है। दृष्टान्तस्वरूप क्लेश, मन्दता, प्रमाद आदि स्वदोष इसप्रकारके हैं। (मनविजय,)

स वञ्चितः पुण्यचयैस्तदुत्थैः,

फलैश्च हा ! हा ! हतकः करोतु किम् ? ॥१२॥

" वशीभूत मनसे महाउत्तम प्रकारका पुण्य भी बिना बिलकुल कष्ट उठाये ही सिद्ध किया जासकता है । जिसका मन वशमें नहीं होता है उसकी पुण्यकी राशी भी ठग ली जाती है और उससे होनेवाले फलोंमें भी ठगा जाता है । (अर्थात् पुण्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती है और उससे होनेवाले फलोंकी प्राप्तिमें भी वंचित होजाता है ।) अहो ! अहो ! ऐसा हतभागी जीव बेचारा क्या करे ? (क्या कर सकता है)? "

वंशस्थवित्त

विवेचन—यदि मन वशमें होवो यहाँ ही इन्द्रासनकी स्थापना कर सकता है, मोक्ष प्राप्त कर सकता है अर्थात् मनको वशमें करनेवालेके लिये कोई भी कार्य्य अशक्य नहीं है । अन्य शब्दोंमें जिसके मनपर अंकुश नहीं है, जिसका मन अस्थिर है और जिसके मनमें संकल्पविकल्प उठते रहते हैं वह एक भी कार्य्यको सिद्ध नहीं कर सकता है । चिदानन्दजी महाराज ने कहा है कि—

पवन काय गोपे दृढ न घरे, चित्त तुरंग लगाम ।
तामें तुं न लहे शिवसाधन, ज्युं कणसुने ग्राम ॥
जब लग आवे नहीं ठाम ।

इसलिये जबतक चित्त-घोड़ेकी लगाम तेरे हाथमें नहीं है तबतक तुझे मोक्षकी प्राप्ति होना कठिन है । ज्ञानसागरमें कहा गया है कि —

अन्तर्गतं महाशल्यमस्थैर्यं यदि नोद्धृतम् ।
क्रियौषधस्य को दोषस्तदा गुणमयच्छतः ॥

अस्थिरतारूपी हृदयगत महाशल्यको यदि हृदयसे न

निकाल डाला हो तो फिर यदि क्रियारूप औषधि गुण न करे तो इसमें उसका क्या दोष है ? इसप्रकार मनमेंसे अस्थिरता निकालकर उसको तद्दन दृढ़ बना देना चाहिये। मनकी वक्रता, जड़ता, शून्यता और अस्थिरता जीवको बहुत फँसानेवाली है; अर्थात् बात यह है कि जैसा तैसा विचार करनेवाला भी यह जीव है—और विचारपर अंकुश रखनेवाला भी यही जीव है; इसलिये जबतक अंकुश रखनेकी आवश्यकता और मनको वशमें करना ठीक ठीक न समझा हो तबतक बहुतसे जीवोंका तो इस विषयकी ओर ध्यान भी नहीं जा सकता है। इससे प्रगट होता है कि मनको शुभ योगोंमें प्रवृत्त करनेसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और मनको निरंकुश छोड़ देनेसे अधःपतन होता है। ये तीनों नियम बराबर ध्यानमें रखने चाहिये। मनका तद्दन निरोध बहुत उत्कृष्ट स्थितिवालेको होता है इसलिये यह ऊँची श्रेणिके अधिकारियों निमित्त है। इस सम्पूर्ण प्रस्तावमें मनमेंसे संकल्पविकल्प कम करने, अस्थिरता दूर करने तथा ऐसा करनेपर मनको शुभ कार्योंमें प्रवृत करनेका उपदेश किया गया है। अधिक अधिकारी निमित्तशास्त्रके अनेकों ग्रन्थ हैं।

उक्त न्यायसे परवश मनवाले जीव पुण्य उपार्जन नहीं कर सकते हैं, पाप उपार्जन करते हैं और उनके फलरूप दुःखोंका उपभोग करते हैं। एकबार गिरने पर ठहरना तथा फिरसे चढ़ना बहुत कठिन हो जाता है। इस सम्बन्धमें पर्वतसे गिरते हुए पत्थरका दृष्टान्त काफ़ी है। ऐसी स्थितिको प्राप्त हुए जीवकी बहुत बुरी दशा होती है और वह नीचेसे नीचे उतरता जाता है।

विद्वान् भी मनोनिग्रह विना नरकगामी होते हैं.

अकारणं यस्य च[1] दुर्विकल्पै-

---

१ तु इति वा पाठः।

हंत मनः, शास्त्रविदोऽपि नित्यम् ।
घोरैरघैर्निध्विसनारकायु-
र्मृत्यौ प्रयाता नरके स नूनम् ॥ १४ ॥

"जिस प्राणीका मन निरर्थक खराब संकल्पोंसे निरन्तर पराभवको प्राप्त होता है वह प्राणी चाहे जितना भी विद्वान् क्यों न हो फिर भी भयकर पापोंके कारण नारकीका निकाचित आयुष्य बांधता है और मृत्युके मुंहमें जानेपर अवश्य नरकगामी होता है।" उपजाति

विवेचन—शास्त्रका योग्य ज्ञान रखनेवाला प्राणी जब अल्पहसे भी न किये जानेवाले कार्य्य करता है तब व्यवहारमें शास्त्ररहस्यको न जाननेवाले पुरुष—अज्ञान बालजीव कई बार कहते हैं कि भाई यह तो "जानकार" है इसको 'शुद्धि करते' आती है आदि शास्त्रका जाननेवाला ही जब ऐसे पापात्मक कार्य्य करता है तब ही तो दूसरोंको ऐसी टीका करते सुना गया है। यह भाषा असत्य है, अज्ञानसे उत्पन्न हुई हुई है। जो शास्त्रको जानते हैं, पापको पापरूप समझते हैं और एक नियमरूप निःशुकपनसे एकमात्र मुँहसे क्षमा याचना करलें परन्तु यदि दूसरे दिन फिर उसी ढंगसे वह ही पापात्मक कार्य्य करे तो उसको अविद्वान्‌से भी अधिक पाप लगता है; कारण कि स्वयं अच्छी स्थितिको प्राप्त हुआ है और दूसरोंका आलम्बनभूत हुआ है। इस हकीकतको और अधिक समझनेकी आवश्यकता है।

पापबंध तथा पुण्यबंध होते हैं उस समय प्रदेशबंधके साथ साथ रसबंध होता है, अर्थात् जो कर्म बन्धते हैं उनकी शुभाशुभता उसीप्रकार तीव्रता मंदता (intensity) कैसी है इसका निर्णय होता है। दृष्टान्तस्वरूप लड्डु बने हों परन्तु

१ अशुभ प्रकृतिका बन्ध। २ शुभ प्रकृतिका बन्ध।

कितने ही में मनमें दस सेर शक्कर होती है और कितने ही में मनमें डेढ़ मन शक्कर होती है; इसीप्रकार औषधमें कड़वेपनकी तरतमता होती है-इसप्रकार रसमें भिन्नता होती है। अब जो रसबन्ध होता है वह अध्यवसायकी चीकाशपर होता है और अनुभवसे ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञानवाला निरपेक्षपनसे यदि पापकार्य्यमें प्रवृत्त हो तो वह जितनी चिकाशसे पापकार्य्य करता है उतनी चीकाश सापेक्षवृत्तिवाले अल्पज्ञ अथवा अज्ञको नहीं रहती है अथवा नहीं होती है। कई वार तो कहलानेवाले विद्वान्के परिणाम तद्दन निर्द्धंस वन जाते हैं। उत्तरदायित्व सदैव ज्ञानानुसार होता है। ज्यों ज्यों ज्ञानकी अधिकता होती है त्यों त्यों उत्तरदायित्वपनकी वृद्धि होती है। विद्वान् पुरुषकी यदि भूल हो जाती है तो ठपका अधिक लगता है और कसूर करता है तो दण्ड भी अधिक मिलता है; उसीप्रकार हम देखते हैं कि अज्ञानी पुरुष तो कई वार अज्ञानपनसे भी पापात्मक कार्य्य कर बैठता है। उसको पापवन्ध नही होता है ऐसा नहीं, परन्तु उसकी चीकाश ऊपर वतायेअनुसार बहुत कम होती है; इसलिये विद्वान् हैं वे तो अपने पापोंका क्षय कर डालेंगे इसप्रकार कहनेवाले और समझनेवाले शास्त्रके रहस्यको नहीं समझते हैं। ऐसा कहनेवाला ज्ञानी भी वैसा पापाचरण करता रहता है इससे उसके रहस्यको नहीं समझा है।

ज्ञानका दुरुपयोग किया जाता है तो वह नाश कर देता है और उसी ज्ञानका सदुपयोग किया जाता है तो वह कार्य्यको सिद्ध कर देता है। राज्यद्वारी जीवनके रोनेधोनेको देखो तो अकारण ही अनेकों बुरे संकल्पविकल्प करने पड़ते हैं और उथलपुथल करनी पड़ती है; इसीप्रकार बड़े व्यौपारमें और इसी प्रकार महान कार्य्योंमें करना पड़ता है। ऐसी स्थितिवाला

पुरुष विद्वान् होता है इसमें तो सन्देह नहीं है, किन्तु उसके ज्ञानका सदुपयोग नहीं होता है और मनके राज्यमें पागल होकर अपने हाथोंसे ही गलेमें फाँसी डाल कर रावण, दुर्योधन, जरासंध, सुभूम आदिकी गतिको प्राप्त करना पड़ता है। विद्वानोंको यह कभी भी न समझना चाहिये कि ज्ञान है इसलिये वर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है। ज्ञान ऐसी वस्तु है कि जो यदि उसका सदुपयोग न किया जावे तो वह विपरीत फल भी दे देता है। जो ज्ञानी ज्ञानबलसे अकार्य्यको अकार्य्य समझ कर मद्यास्यपन आदि कार्योंमें उससे आमित होकर चित्तको प्रवृत्त करते हैं और सदैव उसमें प्रवृत्ति न करनेकी अभिलाषा रखते हैं उनके उद्देशसे यह लेख नहीं लिखा गया है, परन्तु जो विद्वान् कहलाते हुए भी लहीन होकर अत्यन्त कपटरूपी पापकार्योंमें प्रवृत्त होते हैं और अपना खोटा पक्षाव करनेको तत्पर होते हैं उनके लिये ही यह लेख लिखा गया है ऐसा समझना चाहिये।

मनोनिग्रहसे मोक्ष

योगस्य हेतुर्मनसः समाधिः,
परं निदानं तपसश्च योगः।
तपश्च मूलं शिवशर्मवल्ल्या,
मनः समाधिं भजे तत्कथञ्चित् ॥ १५॥

" मनकी समाधि (एकाग्रता–रागद्वेषरहितपन) योगका कारण है। योग तपका उत्कृष्ट साधन है और तप शिवसुख-लताका मूल है; इसलिये किसी प्रकारसे मनकी समाधि रख। " उपजाति

१ भर इति-पाठान्तरं । भर=भर.

विवेचन—शास्त्रके किसी भी ग्रन्थको पढ़नेसे जान-पड़ेगा कि तेरहवें श्लोकमें बतायेनुसार मनोनिग्रहसे अशुभ कर्म-बन्धन रुकजाता है, पुण्यबन्धन होता है, इतना ही नहीं परन्तु उससे अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति होती है। शास्त्रकार बतलाते हैं कि आत्माको ऊँची सीढ़ी पर चढ़ानेसे पूर्व भूमिकाको शुद्ध बनाना चाहिये। एक दिवार पर चित्र बनाना हो तो प्रथम उसे साफ करना पड़ता है। मनमें द्वेष, खेद, विकल्प, अस्थिरतारूप (झांखरा) कुड़ा करकट तथा कचरा पड़ा हुआ हो तबतक भूमिका अशुद्ध कहलाती है और उस भूमिपर चाहे जितने चित्र खिंचो, अर्थात् वांचन पढ़ो, विचार सुनो, किन्तु इन सबका उस-पर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा; ऐसा करने निमित्त मनको स्थिर, एकाग्रह, रागद्वेषसंकल्परहित बनानेकी प्रथम आवश्यकता है। एक समय समता प्राप्त होनेपर, स्थिरतास्थापक होनेपर मन वशीभूत हो जायगा। इसप्रकार योगपर विजय प्राप्त होनेसे इन्द्रियोंपर अंकुश लगजाता है और तब छ बाह्य और छ अभ्यन्तर तप करनेकी अभिलाषा होती है और किये हुए तप कर्मोंको तपानेका—निर्जरा करनेका अपना कार्य्य भी तब ही करते हैं। तबतक बहुत समयतक तो तप करनेकी इच्छा भी नहीं होती है, अथवा अज्ञान कष्टरूप तप फलकी इच्छाके साथ होती है, जो शास्त्रकारकी दृष्टिमें लगभग नकामा ही है। इसलिये मनः-संयमपूर्वक यदि तप किया जाता है तो उससे कर्मनिर्जराद्वारा शीघ्र ही मोक्षपदकी प्राप्ति होती है। मोक्षप्राप्ति करके इस संसारके सदैवके कचकचाटका रगड़पट्टीका अन्त करना सब प्राणि-योंका अंतरंग हेतु है और इसका मूल साधन मनःसमाधि है। मन की समाधि रखनेका प्रयत्न करना मुमुक्षु पुरुषोंका मुख्य कर्त्तव्य है।

मनोनिग्रहके कुछ उपाय

स्वाध्याययोगैश्चरणक्रियासु,
व्यापारणैर्द्वादशभावनाभिः ।
सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्ति-
फलोपयोगैश्च मनो निरुन्ध्यात् ॥ १६ ॥

" स्वाध्याय (शास्त्रका अभ्यास), योगवहन, चारित्रक्रियामें व्यापार, बारह भावनायें और मन-वचन-कायाके शुभ अशुभ प्रवृत्तिके फलके चिंतवनसे बुद्ध प्राणी मनका निरोध करें । " उपजाति

विवेचन—शास्त्राभ्यास-स्वाध्याय के पांच भेद हैं—वाचना (पढ़ना), पृच्छना (प्रश्न करना), परावर्तना (पुनरावर्तन-दोरान (Revision), अनुप्रेक्षा (मनमें चिंतवन) और धर्मकथा (धर्मउपदेश) । योग अर्थात् गुरुसूत्रोंके अभ्यासकी योग्यता निमित्त क्रिया तथा तपश्चरण । यह योगवहन मनोनिग्रहका प्रबल साधन है और उत्तम बीज बोने निमित्त यह भूमिकाको शुद्ध करनेका मजबूत उपाय है । इन दोनोंका अर्थ " स्वाध्यायमें व्यापारसे मनको एकाग्र करना " भी होता है । यह भी एक उत्तम अर्थ है । इसप्रकार वचनयोगपर विजय प्राप्त करनेकी सूचना दी, और यह भी बतलाया कि ज्ञान ही मोक्षप्राप्तिका मुख्य साधन है ।

मोक्षप्राप्तिका दूसरा साधन क्रियामार्ग है । श्रावक योग्य देवपूजा, आवश्यक सामायिक, पौषध आदि तथा साधुको अहार, विहार, प्रतिलेखन, प्रमार्जन, कायोत्सर्ग आदिमें कायाकी शुभ प्रवृत्ति । जो क्रियामार्गकी ओर कटाक्षकी दृष्टिसे देखते हैं उनको विशेषतया ध्यानमें रखना चाहिये कि क्रियामार्ग भी मनो-

निग्रहका परम साधन है। प्रवृत्तिवाले पुरुषको तो यदि निरान्त मिले तो कुछ झगड़ा कर बैठे; इसलिये क्रिया बहुत उपयोगी है इतना ही नहीं परन्तु अत्यन्त आवश्यक है। इसप्रकार काय-योगपर विजय प्राप्त करनेका उपदेश किया गया है।

इस संसारमें कोई भी वस्तु सदैव रहनेवाली नहीं है—सर्व नाशवंत है (अनित्य), इस जीवको मरते समय कोई बचानेवाला नहीं (अशरण), संसारकी रचना विचित्र है (भव), यह जीव अकेला आया है और अकेला ही जायगा (एकत्व), अन्य सर्वोसे भिन्न है (अन्यत्व), शरीर मल, मूत्र, विष्टा आदिसे भरा हुवा है (अशुचि), मिथ्यात्व, अविरती, कषाय और योगसे कर्म बांधकर जीव संसारमें भटकता है (आश्रव), परन्तु वह ही जीव यदि समता रक्खे—मन आदिका निग्रह करे तो कर्मबन्धनको रोकता है (संवर), और तपस्या करे तो निकाचित कर्मोंसे भी मुक्त हो जाता है (निर्जरा), चौदह राजलोकोंका स्वरूप विचारे योग्य है (लोकस्वभाव), सम्यक्त्व पाना सचमुच दुर्लभ है (बोधी), धर्मको बतलानेवाले अनेकों हो गये हैं किन्तु अरिहंत महाराज समान निरागी धर्म बतानेवाले बहुत कम हैं (धर्म)। इसप्रकार बारह भावनाओंको वारम्वार भाना और उनपर विचार करना मनोनिग्रहका तीसरा साधन है। इस उपायसे मनपर अंकुश लग सकता है।

शुभ प्रवृत्तिका शुभ और अशुभ प्रवृत्तिका अशुभ फल होता है इस सम्बन्धका विचार करना, आत्मनिरीक्षण करना, आत्मावलोकन करना मनोनिग्रहका चौथा उपाय है। जो प्राणी अपनी प्रवृत्ति पर विचार करता है उसका शीघ्र ही मनोनिग्रह होजाता है। यहाँ मनोनिग्रहके चार उपाय बतलाये गये हैं। शास्त्राभ्यास, चारित्र और क्रियामें शुभ वर्त्तन, भावनाका भाना

और आत्मनिरीक्षण। शास्त्रकारका कहना है कि आत्माको निरन्तर संयमयोगोंमें प्रवृत्त रखना चाहिये, इससे अनेकों लाभ हैं। यदि इसको स्वतन्त्र कर दिया जावे तो यह ऊपर बतायेनुसार अनेकों झगड़े उपस्थित कर देता है। इसपर उमास्वातिवाचक कहते हैं कि–

पैशाचिकमाख्यानं, श्रुत्वा गोपायनं च कुलवध्वाः।
संयमयोगैरात्मा, निरन्तरं व्यापृतः कार्यः॥

" पिशाचकी बात और कुलवधुका वृत्तान्त सुनकर आत्माको निरन्तर संयमयोगोंमें पकड़ा हुआ रखना चाहिये।"

एक वणिक ने अपना कार्य्य सिद्ध करने निमित्त एक पिशाचकी साधना की। मन्त्रबलसे वह पिशाच सिद्ध हुआ। उसने पिशाचको अपना कार्य्य बतलाया। मनसाध्य काम करनेवाले पिशाच ने अल्पकालमें ही उस कार्य्यको सिद्ध कर दिया। तत्पश्चात् उसने वणिकसे कहा कि अब मुझे काम बतला वरना मैं तुझे मार डालूँगा। असएव उद्यमवत व्यर्थ नहीं बैठे रहते हैं। वणिक बुद्धिमान था। उसने कहा कि यहाँ खड्डा खोद, खड्डा खोदने पर जब उसमें पानी आया तो बोला कि इसमें एक बांस डाल। फिर एक छिद्रवाला कटोरा उसे देकर उसे बांस पर बंधवाया और कहा कि इस कुएमेंसे पानी निकाल कर कटोरा भरदे, और यह ध्यानमें रखना कि इसका छिद्र बन्द न होने पावे। जबतक मैं तुझे दूसरा काम न बताऊं तबतक तू यह काम करता रहना।

कुलवधुका दृष्टान्त भी इसीप्रकारका है। जब ससुरने एक दासीद्वारा सुना कि उसकी पुत्रवधुकी उसके पतिके परदेश चले जानेसे खराब होजानेकी अभिलाषा हुई है तो उसने अपनी पुत्रवधुके सिरपर अपने घरके कामका सब भार डाल दिया और उसको इतने काम में डालदी कि उसको विषय सम्बन्धी

1 प्रशमरति प्रकरण-१२० वा श्लोक

विचार करनेका भी अवकाश न रहा। इसप्रकार वह सुधर गई। इस नियमको ध्यानमें रखकर आत्माको निरन्तर संयम-योगोंमें प्रवृत्त रखना चाहिये कि जिससे इसकी अस्तव्यस्तरूपसे जहाँ जहाँ भटकनेकी टेव न पड़े और यदि पड़ी हो तो भी दूर हो जावे।

मनोनिग्रहमें भावनाओंका माहात्म्य.

भावनापरिणामेषु, सिंहेष्विव मनोवने[1]।
सदा जाग्रत्सु दुर्ध्यान–सूकरा न विशन्त्यपि ॥१७॥

" मनरूप वनमें भावना अध्यवसायरूप सिंह जब तक सदा जाग्रत होता है तबतक दुर्ध्यानरूप सुअर उस वनमें प्रवेश भी नहीं कर सकते हैं। " अनुष्टुप्.

विवेचन—ऊपर मनोनिग्रहके चार कषाय बतलाये गये हैं, उनमें भी भावनाका उपाय बहुत असरकारक है, तात्कालिक तथा इच्छित प्रभाव उत्पन्न करनेवाला है; जबतक मनमें शुद्ध भावना जागृत हो तब तक एक भी बुरा विचार मनमें प्रवेश नहीं करने पाता है। एक जंगलका राजा सिंह जबतक जंगलमें फिरता रहता है तबतक सुअर या ऐसा कोई दूसरा प्राणी उस जंगलमें रहतो क्या सके परन्तु उसमें प्रवेश भी नहीं कर सकता है—उसको प्रवेश करनेका साहस तक नहीं हो सकता है; इसीप्रकार जबतक मनमें शुभ भावना जागृत होती है तबतक दुर्ध्यान–बुरे संकल्प नहीं हो सकते हैं।

यह हकीकत अनुभवसिद्ध है, प्रत्येक पाठकको इसका अनुभव हुआ ही होगा। प्रत्येक पुरुष ने जीवनके किसी समयमें-जीवनके एक आनन्दित क्षणमें ऐसी स्थितिका अवश्य अनुभव किया होगा। किसी समय मन्दिरमें प्रभुके दर्शनसे, किसी समय पौषधमें स्तवनगानकी लयमें, किसी समय पूजा बनानेकी एका-

---

१ महावने इति वा पाठ.

महात्में, किसी समय अध्यात्म ग्रन्थोंके पढ़नेमें अथवा मनन करनेमें मन इतना अधिक एकाग्र होजाता है कि बाहरके विचार भी नहीं आने पाते हैं, विकल्प नष्ट होजाते हैं और स्थिरता प्राप्त होजाती है। यहाँ वर्णन की हुई स्थिति तो एक मात्र वानगी है, वरना जब इस जीवको भावना भानेकी टेव पड़जाती है तब तो मनको अलौकिक आनन्दकी प्राप्ति होती है। संसारके किसी भी सुखके साथ उस आनन्दकी समानता नहीं की जासकती है, कारण कि उसके सदृश संसारमें कोई भी सुख नजर नहीं आता है।

इसप्रकार मनोनिग्रहद्वार पूर्ण हुआ। मनोनिग्रह अथवा चित्तदमन इन दो शब्दोंका इस अधिकारमें बारम्बार प्रयोग किया गया है, जिसका भावार्थ यह है कि मनमें जो बारम्बार बुरे संकल्प होते रहते हैं उनपर अंकुश लगाना, अस्थिरता दूर करना और मनकी स्थितिस्थापकता (equilibrium) बनाई रखनेकी व्यवस्था करनी चाहिये। गृहमें कोई असाध्य पीड़ित हो उस समय अथवा किसीकी मृत्यु हुई हो उस समय इस जीवकी कैसी दुःखित दशा होजाती है। यह जानता है कि यहाँ पर स्वयं भी सदैवके लिये नहीं रहनेवाला है, फिर भी मनमें अनेकों विचार करके अत्यन्त दुःखी होता है। पड़ोसी के गृहमें आग लगी हो उस समय सामान हटानेकी दौड़धूप और अपने गृहमें आग लगनेपर जीवकी स्थिति मनपरके अधिकारको प्रगट करती है। यह तो मानो खड़ा खड़ा जलभून कर खाक होजाता है। ऐसे समयमें स्थिर प्रकृतिके पुरुष भवितव्यतापर विचार करके देखते रहते हैं। आवश्यक प्रसंग प्राप्त होनेपर भी यदि पेटका पानी न हिले तो समझना चाहिये कि अब यह जीव ऊपर स्थिति प्राप्त करने योग्य होगया है। व्यवहारकुशल पुरुष ऐसा दृढ़ मन रख सकते हैं किन्तु इससे इस विषयकी कितनी

कम नहीं होती है; कारण कि जब व्यवहारकुशल पुरुष धार्मिक सद्गुणों की ओर ध्यान देते हैं तब वहां भी बहुत सुन्दर काम कर सकते हैं। मनके संकल्पोंका नष्ट होना बहुत कठिन है इसलिये ध्यानकी प्रथम स्थितिमें मनको स्वच्छ, स्थिर, रागद्वेषरहित करना कहा गया है। इसप्रकार भूमिकाके शुद्ध होजाने पश्चात् योगक्रिया हो सकती है, और इसलिये यमनियम बताये गये हैं। मनको स्थिर करना यह किसी भी गुणके प्राप्त करनेकी प्रथम सिढ़ी है। इसको सदैवके लिये अपने आधीन करना और प्रभुभक्तिके ध्यानमें लगाना अत्यन्त कठिन जरूर है परन्तु अशक्य कदापि नहीं है।

प्रारंभमें मनमेंसे सदैवके लिये संकल्पोंको दूरकर देना कठिन है, इसलिये अभ्यास रखनेके अभिलाषियोंको मनमें कुत्सित संकल्पोंके आने पर उनको दबा देना चाहिये; जिसप्रकार बालकको लात लगाते हैं उसप्रकार उसके भी चाबूक लगाना चाहिये; फिर भी मनके बंधारणानुसार वे संकल्प फिरसे दुगनी शक्तिसे हल्ला करेंगे। जो यदि उस समय अधिक दृढ़ता रक्खी जावे तो धीरे धीरे टेव पड़नेसे मनपर अंकुश लगता जाता है। दूसरा मनके विचार संयोगानुसार होते हैं अतः संयोगोंको उत्तम बना देना चाहिये, गहरा विचार करके निर्णय करना चाहिये और प्रबल कारणों बिना उन निर्णयोंको न बदलना चाहिये। कुछ कष्ट भी जान पड़े तो भी विचारोंको बारंबार नहीं बदलना चाहिये।

इस अधिकारमें नीचेकी हकीकत पर विशेषतया ध्यान आकर्षित किया गया है।

१ मनको वशमें करनेकी आवश्यकता।

इसके कारणोंमें मनका चंचलपन और इसको वशमें करने पश्चात् उसकी शक्तिकी ओर विशेषतया ध्यान आकर्षित किया गया है। (१–२–४)

२ मनवश करनेका उपदेश ।

यह हकीकत अधिकतया स्पष्ट कीगई है और साथमें भय भी बतलाया गया है कि मनको वशमें न करोगे तो संसारमें भटकते फिरोगे। (१)

३ मनोनिग्रह बिना बाह्यक्रियाका निस्फलपन ।

यम, नियम, तप, ध्यान आदि सर्व क्रिया, ज्ञान और वर्तन मनोनिग्रह विना व्यर्थ हैं यह चार श्लोकोंमें बताया गया है । (५-६-७-१२)

४ मनके वशीभूत होनेसे संसारभ्रमण ।

तीन दृष्टान्तोंसे जो स्पष्ट किया गया है वह ध्यानमें रखने योग्य है । (११)

५ मनोनिग्रहसे परमपुण्य, (१३) मोक्ष (१५) और उस बिना विद्वत्ताकी निरर्थकता (१४)

चौथे विषयका दूसरा भाग यहाँ निर्दिष्ट हुआ है ।

६–मनोनिग्रहके उपाय ।

ज्ञान, चारित्र, भावना और आत्मविचारणा (१६)

ये छ विषय भिन्न भिन्न रूपसे नोटमें भलिभाँति वर्णन किये गये हैं । सब बातका सार यह है कि मनको स्वतन्त्र न छोड़-देना चाहिये ।

मनमेंसे मकस्न दूर करने अथवा उत्तम विचारोंको एकत्र करनेके साथ ही साथ मनको शान्त रखना चाहिये । समुद्रमें जिसप्रकार बारम्बार लहरें आती रहती हैं इसीप्रकार मनमें भी तरंगें उठा करती है । इस समय मनको स्थिर रखना ही बड़ा राजयोग है । इस सम्बन्धमें नीचेकी हकीकत अपने हृदयमें सुवर्णाक्षरोंमें लिखरेने योग्य है ।

Under all circumstances
Keep an even mind.
Take it,
Try it,
Walk with it.
Talk with it,
Lean on it,
Believe in it,
For ever.

सब संयोगोमें एकसा मन रखना ।
यह शिक्षा ग्रहण करो,
इसको कार्यरूपमें प्रणीत करो.
इसकी संगतीमें रहो ।
इससे संभाषण करो ।
इसपर आधार रक्खो ।
इसमें मान्यता रक्खो ।
सदैवके लिये

यह ही राजयोग, यह ही संसारका पार, यह ही मोक्ष-प्राप्तिका उत्कृष्ट उपाय है । जीरणशेठ इसीसे मोक्षको प्राप्त करेगा और तन्दुल मत्स्य इस नियमको भूलने से ही संसारमें भटकता है । 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' यह नियम (१) और (९) विषयमें बहुत स्पष्टतया वर्णन किया गया, है इसलिये उसका यहां पुनरावर्तन नहीं किया जाता है ।

चित्तदमन यह बहुत अगत्य विषय है । इससे कितना लाभ है यह पाठकोंने देखा ही होगा । मन सीधा हो तो करोड़ो वर्षोंमें जो काम नहीं हो सकता है वह एक घडीभरमें हो जाता है । ऐसे लाभालाभका विचार पढ़ कर विचार कर मनोनिग्रह

करनेका जो उपाय बताया गया है उसको कार्य्यरूपमें प्रणीत कर समझाना चाहिये। शुद्ध वर्णन और भावनाकी ओर मनको प्रेरीत करना चाहिये। एक समय सायन (line) में पहुंचानेके पश्चात् आगे किस प्रकार पढ़ना यह अपने आप मालूम हो जायगा। अन्तमें "मन सिद्ध किया उसने सब कुछ सिद्ध किया।"

इति सविस्तरचित्तदमननामा नवमोऽधिकारः ॥



अथ दशवाँ वैराग्योपदेशाधिकारः



नोनिग्रह करनेके चार साधनोंका वर्णन करने पश्चात् भावनाका तारतम्य गत अधिकारके सोलहवे श्लोकमें कहा गया है। अब मनको भावनावासित करनेके लिये संसार कैसा है? उसकी स्थिति कैसी है? इसपर विचार करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। तत्त्व-चिंतकों ने विचार करके कहा है कि विचार करनेसे वैराग्य उत्पन्न होगा, जिससे संसारपरसे मन हट जायगा। संसारबन्धको तोड़नेवाले इस अधिकारका विषय भी, बहुत उपयोगी है और इसके श्लोकोंका यथोचित विवेचन किया गया है। खास वैराग्यका विषय इस युगमें कितना उपयोगी है इस सम्बन्धमें इस ग्रन्थके उपोद्घातमें पुष्कल विवेचन किया गया है।

मृत्युका दौर, उसपर जय और उसपर विचार.

किं जीव! माद्यसि हसस्ययमीहसेऽर्थान्,
कामांश्च खेलसि तथा कुतुकैरशङ्कः।
चिक्षिप्सु घोरनरकावटकोटरे त्वा-
मभ्यापतल्लघु विभावय मृत्युरक्षः ॥ १ ॥
आलम्बनं तव लवादिकुठारघाता-
श्छिन्दन्ति जीविततरुं न हि यावदात्मन्।

तावद्यतस्व परिणामहिताय तस्मि-
　　श्छिन्ने हि कः क्व च कथं भवतास्यतन्त्रैः ॥२॥

" अरे ! जीव तू क्या देखकर अहंकार करता है ? क्यों हँसता है ? पैसों तथा कामभोगोंकी क्यों अभिलाषा करता है ? और किसपर निःशंक होकर कुतूहलसे खेल करता है ? क्यों कि नरकके गहरे गड्ढेमें धकेल देनेकी अभिलाषासे मृत्यु-राक्षस तेरे समीप दौड़ता हुआ आ रहा है; किन्तु उसका तो तू ध्यान भी नहीं रखता है । "

" जबतक लव आदि कुल्हाड़ोंके प्रहार तेरे आधाररूप जीवनवृक्षको न छेदे तबतक हे आत्मन् ! परिणाममें हित होने निमित्त प्रयास कर, उसको छेद देने पश्चात् तू परतन्त्र हो जायगा उसके पश्चात् न जाने कौन (क्या) होगा ? कहां होगा और कैसे होगा ? । 　　　　वसन्ततिलका

विवेचन—अब वैराग्य अधिकार प्रारम्भ होता है । इसके सर्व श्लोक हृदयपर प्रभाव डालनेवाले तथा हृदयके उद्देशसे लिखे गये हैं वे बराबर पढ़ने तथा विचारने योग्य है । अरे चेतन ! तू ने बहुत बड़ी भूल की, किञ्चिन्मात्र विचार कर, यह जो तू अहंकार करता है, थोड़ी थोड़ी बातमें हँस पड़ता है, चाहे जैसे कार्यमें बिनाविचारे आनन्दका उपभोग करता है, टेढ़ामेढ़ा चलता है और समझता है कि तेरे जैसा इस पृथ्वीपर दूसरा कोई बुद्धिमान् नहीं है, ऐसी धारणासे अभिमानी होता जाता है, परन्तु यह अत्यन्त खेद की बात है कि तू यह नहीं

---

१ स्वतन्त्र इत्यस्य स्थाने स्ववश इति वा पाठः तत्र एव स्वायत्तः भविष्यतीत्यर्थः । २ कालविशेष । दो घड़ीका ३०वां भाग । एक आंखके पलक मारने का निमेष कहते हैं । अठारह निमेषका एक काष्ठ होता है और दो काष्ठका एक लव होता है ।

देखता है कि तेरी स्थिति कितनी है ? तेरे सिरपर मृत्यु नाच रहा है, वह तेरे पर विजय प्राप्त कर तुझे नरकमें ढकेलनेका उपाय सोचा करता है। उस शैतानसे तू सचेत होजा और उससे बचनेका प्रयास कर। तू जो बिलकुल निःशंक हो कर घूमता है यह तुझे योग्य नहीं है। तू बराबर विचार कर और तेरे शत्रुको पहचान ले कि जिससे वह तुझे विशेष हानि न पहुंचा सके।

ऐसा कहनेका दूसरा कारण यह है कि यह शरीर धर्म-करणीमें साधनभूत है, किन्तु यह प्रत्येक समय, प्रत्येक घण्टे, प्रत्येक दिवस क्षीण होता जाता है, इसके कालके सपाटे लगते रहते हैं और मृत्यु समीप आती जाती है। इसलिये इस शरीरके साधनसे कोई ऐसा कार्य्य सिद्ध कर लेना चाहिये कि जिससे परिणाममें आत्महित हो सके। पुरुष बहुधा तात्कालिक लाभकी ओर ही देखता है, परन्तु वास्तवमें परिणाममें होनेवाले लाभकी ओर देखना चाहिये। एक स्त्रीपर बलात्कार करनेवालेको कदाच पांच मिनिट तक आनन्द मिले, परन्तु फिर दस वर्ष पर्य्यन्त जेलयात्रा करनी पड़ती है अथवा जीवन पर्य्यन्त देशपार होना पड़ता है तो उसका नाम सुख नहीं कहा जा सकता है। हमारा कल्पित सुख उक्त प्रकारका है। इसलिये इस हकीकतका स्वरूप वारम्बार समझ कर परिणामकी ओर दीर्घदृष्टिसे देखनेकी टेव डालना चाहिये। विशेष विचार करनेसे जान पड़ेगा कि दान, शील, तप, भाव, संयम, धृति, कषायत्याग आदि इस कोटिमें आते हैं। इसलिये सुज्ञ पुरुषोंको उसकी ओर लक्ष्य रखना चाहिये।

इसप्रकार तू न करेगा तो भी आयुःस्थितिके सम्पूर्ण होने पर मृत्यु तो उसका दोर तेरेपर अवश्य चला-वेगा। और फिर तू कौन-सी गतिमें जायगा ? कौन-से स्थानमें

जायगा ? वहाँ क्या करने को शक्तिमान् होगा ? यह कोई नहीं बतला सकता है, कारण कि यह बात तेरे आधीन न होगी, तू परतन्त्र हो जायगा। इसलिये यदि स्वतन्त्र होनेकी अभिलाषा हो तो पुरुषार्थद्वारा सब सामग्री मृत्यु के आने से पहले तैयार कर लेनी चाहिये। मृत्यु यह विभावदशा है, परन्तु विभावदशा भी स्वभावदशा हो जाती है। मुमुक्षु का यह कर्तव्य है कि वह मृत्युसे कभी भी न डरे, कारण कि अभी या बादमें मरना तो अवश्य है, इसीप्रकार उसको मृत्युकी इच्छा भी न रखना चाहिये। संसारसे घबराये हुए अज्ञप्राणी मनमें सोचते हैं कि इस जीवनसे तो यदि मृत्यु ही हो जाय तो संसारसे तो छुटकारा मिले, परन्तु वे बेचारे यह विचार नहीं करते कि मृत्युके बाद क्या पलंग बिछे हुए मिलेंगे? (और यदि बिछे हुए पड़े है तो भी वे किसके लिये हैं?) इसप्रकार मृत्युसे न डरना चाहिये, न इच्छा रखनी चाहिये, परन्तु उसका स्वागत करनेको हर समय तैयार रहना चाहिये। जिसप्रकार धार्मिक कार्य करके अन्य गामको जाने निमित्त तैयार रहते हैं वैसे तैयार रहना चाहिये। ऐसा करनेवालेको मरते समय किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता है, पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता है और समाधीमें मृत्यु प्राप्तकर वे उच्च गतिको प्राप्त करते हैं।

आत्माकी पुरुषार्थसे सिद्धि

स्वमेव मोग्धा मतिर्मास्त्वमात्मन्,
नेष्टाप्यनेष्टा सुखदुःखयोस्त्वम्।
दाता च भोक्ता च तयोस्त्वमेव,
तच्चेष्टसे किं न यथा हितासिः ॥३॥

---

१ मनिता इति वा पाठः भ्राता इत्यर्थः।

"हे आत्मन् ! तू ही मुग्ध (अज्ञानी) है और तू ही ज्ञानी है, सुखकी अभिलाषा करनेवाला और दुःखका द्वेष करनेवाला भी तू ही है और सुख-दुःखको देनेवाला तथा भोगनेवाला भी तू ही है, तो फिर तेरे स्वहितकी प्राप्ति निमित्त प्रयास क्यों नहीं करता है ?" उपजाति.

विवेचन-ऊपरके श्लोकमे परिणामहित निमित्त प्रयास करने का उपदेश किया गया है परन्तु शिष्य शंका करता है कि यत्न तो दैवाधीन है इसलिये हम किसप्रकार परिणामहित निमित्त प्रयास करे ? तब गुरु उत्तर देते हैं कि हे शिष्य ! यह आत्मा ही ज्ञानी है और यह आत्मही अज्ञानी है अर्थात् जब तक इसको ज्ञानावरणीय कर्म लगे हुए है तब तक यह अज्ञानी है और उनको हटा देनेसे यह ज्ञानी होजाता है। सुखको यह चाहता है और दु.खको सर्व संयोगोमें यह धिक्कारता है। उन सुखदुःखको उत्पन्न करनेवाला भी यह स्वयं ही है, कारण कि सुखदुःखकी प्राप्तिका कर्मबन्धपर आधार है। इस बातसे स्पष्ट है कि किये हुए कर्मको भोगे विना मुक्ति नहीं हो सकती है। इस विचारसे यह न समझे कि निरान्त कर्मपर दृष्टि रखकर बैठे रहे, अपितु इससे यह समझे कि नये कर्म न बांधे और पूर्व किये हुए कर्मोंको आत्मासे अलग करनेका (निर्जरा करनेका) प्रयास करे।

कितने ही पुरुषोंकी धारना है कि जैनी कर्मवादी है परंतु यह कहना उचित नहीं है। प्राणियोंको पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये और फिर भी यदि सफलता न मिल सके तो समझना चाहिये कि 'कर्म' अनुकूल नहीं है। यह जैनशास्त्रका मुख्य सिद्धान्त है, किन्तु मनुष्यों ने इसे भूलादिया है और उस भूल ही के कारण जैन को कर्मवादी मानने लग गये है। यदि वे केवल कर्मवादी हों तो कभी भी मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकते

हैं। व्रतादिक अनुष्ठानोंकी व्याख्या भी पुरुषार्थके लिये ही है। कर्मके वशीभूत हुआ जीव केवल कर्मवादके हठसे मुक्त नहीं हो सकता है, कारण कि कर्मकी प्रचुरता हो तो उसका नाश नहीं हो सकता है, पुरुषार्थ विना कर्मोंका क्षय होना सर्वथा असंभव है और मोक्ष माननेवाले जैनी पुरुषार्थद्वारा कर्मोंका सर्वथा क्षय होना मानते हैं। इसलिये वे एकान्त कर्मवादी कदापि नहीं कहे जा सकते हैं। टीकाकार उत्तराध्ययन सूत्रका पाठ लिखकर बताते हैं कि:-

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदण वण॥

"मेरी आत्मा वैतरणी नदी है, और वह ही शाल्मली वृक्ष है, और वह ही कामधेनू है और वह ही नन्दन वन है।" उत्तम संयोग निष्पन्न करनेकी शक्ति रखनेवाले महान् आत्माओंके चरित्र जगद्विख्यात हैं।

लोकरंजन और आत्मरंजन.

कस्ते निरञ्जन ! चिरं जनरञ्जनेन,
धीमन् ! गुणोऽस्ति परमार्थदृशेति पश्य।
त रञ्जयाशु विशदैश्चरितैर्भवाब्धौ,
यस्त्वा पतन्तमबलं परिपातुमीष्टे ॥४॥

"हे निर्लेप ! हे बुद्धिमान् ! लाखों समय जनरञ्जन करने से तुझे कौन-सा गुण प्राप्त होगा उसको परमार्थदृष्टिसे तू देख, और विशुद्ध आचरणद्वारा तू तो उसको (धर्मको) रंजन कर कि जो निर्बल और संसारसमुद्र में पड़ता हुआ तेरा आत्माका रक्षण करनेको शक्तिमान हो सके।" वसन्ततिलका.

विवेचन—तुझे सुन्दर सुन्दर वस्त्र धारण कर, मधुर मधुर भाषण कर मनुष्योंको खुश करनेका व्यर्थ आडम्बर क्यों करना पड़ता है ? संसारमें मस्त होते हुए वैरागी होनेका दंभ क्यों करना पड़ता है ? तू थोड़ा-सा विचार कर कि क्या तुझे उससे कुछ लाभ होनेवाला है? जो थोड़ासा भी विचार करते हैं वे शिघ्रतया समझ सकते हैं कि जनरंजन करना व्यर्थ है, तो फिर क्या करना चाहिये ? तुझे ऐसा रंजन करना चाहिये कि जिससे आनेवाले भवका सुधार हो और यहाँ भी आत्मा प्रसन्न हो। इस उपाय का समावेश आडंबररहित धर्ममें होता है, अर्थात् शुद्ध व्यवहार कर्त्तव्यका यथास्थित भान तथा उच्च दशा प्राप्त करनेके साधनरूप दान, शील, तप, भाव, ध्यान, धृति, दया, सत्य आदिका आचरण करनेमें समावेश होता है। इसप्रकारके रंजनसे ही सर्व प्रकारका लाभ होता है ऐसा अपना मन भी साक्षी देगा।

श्रीमल्लिनाथजीके स्तवन में कहा गया है कि रंजन दो प्रकारके होते हैं। एक लोकरंजन और दूसरा लोकोत्तररंजन। इन दोनोंमें कौन ग्राह्य है ? भरत चक्रवर्तीके मनमें भी यही प्रश्न उठा था। चक्ररत्न की पूजा पहले करना या पिताश्रीका केवल-ज्ञानमहोत्सव पहले करना ? ऐसे पारस्परिक सम्बन्धवाले प्रश्न (Questions of relative duties) संसारमें कितनी ही वार हमारे सामने उपस्थित होते हैं। उपाध्यायजी ने कहा है कि "रीजवु एक सांई, लोक ते वात करेरी" मनुष्य चाहे जो कुछ कहे लेकिन हम को तो सांईको—प्रभूको प्रसन्न करना है—अर्थात् लोकोत्तर-रंजन करना है। इसप्रकार जब मन शक्तिशाली होता है तब आत्मा सिद्धि सन्मुख हो जाता है।

इस युगमें दिखाव करनेका कार्य्य बढ़ता जाता है। जो श्रावक श्रावक धर्मके आचारोंका देखावमात्र करता है उसको यहां उपदेश

किया गया है, इसीप्रकार यति, गोरखी और साधुको भी उपदेश किया गया है । लोगोंको दिखाने निमित्त ओघा, मुहपत्ति रखना और बड़े बड़े व्याख्यान देना और प्रच्छन्नपनसे चाहे जैसे आचरण करना पेटभरापन अथवा नरकगामीपन बतलाता है । इस सब बातका यह तात्पर्य है कि हाथी के समान दो प्रकारके दाँत न रखने चाहिये । लोगोंको दिखानेका आचरण दूसरा और वास्तविक आचरण दूसरा ऐसा कदापि न करना चाहिये । तथा दम्भ को हटा देना चाहिये । साधु श्रावक समान ज्ञान पढ़नेवाले प्रत्येक प्राणीको इस श्लोकका विचार करना चाहिये ।

" सम्यक्त्ववाले अथवा विरतिवाले प्राणीको भावी निर्लेपतासे निर्लेप इसप्रकार संबोधन कर सकते हैं, इसलिये श्लोकमें निरंजन शब्दसे सम्बोधन किया गया है और कोमलतासे आमंत्रित करने पर जीवका चित्त प्रसन्न होता है जिससे वह सुननेको तत्पर होता है । अतएव बुद्धिमान शब्दसे सम्बोधित किया गया है । " (टीकाकार) जैन शास्त्रकार वस्तुकी प्ररूपणा करते समय दो नयोंमेंसे किसी एक नयकी मुख्यता रखकर प्ररूपणा करते हैं । किसी स्थानपर व्यवहारकी मुख्यता होती है और किसी स्थानपर निश्चयकी मुख्यता होती है । उसमेंसे व्यवहारकी अपेक्षासे यह जीव निरंजन नहीं है परन्तु निश्चयकी अपेक्षासे यह जीव निरंजन है, कारण कि कोई भी असत् वस्तुकी उत्पत्ति निश्चयनय नहीं मानता है इसलिये ही निश्चयके मतानुसार कोई अज्ञानी अथवा मिथ्यात्वी जीव ज्ञान व सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं कर सकता है परन्तु ज्ञानी तथा सम्यक्त्वी ही उसकी प्राप्ति कर सकता है, अर्थात् जिसका सत्तारूपसे अस्तित्व होता है वह आविर्भावरूपसे होता है ऐसी उसकी मान्यता है । इस मान्यताके आधारपर ही यहाँ उद्देश्य जीवको निरंजन शब्दसे सम्बोधित

किया गया है । व्यवहारनयकी अपेक्षासे तो यह जीव मलिन है इसलिये हे निरंजन ! शब्दसे उसे सम्बोधित नहीं किया जा सकता है ।

मदत्याग और शुद्ध वासना.

विद्वानहं सकललब्धिरहं नृपोऽहं,
दाताहमद्भुतगुणोऽहमहं गरीयान् ।
इत्याद्यहङ्कृतिवशात्परितोषमेषि,
नो वेत्सि किं परभवे लघुतां भवित्रीम् ॥५॥

" मैं विद्वान् हूं, मैं सर्व लब्धिवाला हूँ, मैं राजा हूँ, मैं दानेश्वरी हूँ, मैं अद्भुत गुणवाला हूँ, मैं बड़ा हूँ-ऐसे ऐसे अहंकारोंके वशीभूत हो कर तू संतोष धारण करता है; परन्तु परभवमें होनेवाली लघुताका तू क्यों विचार नहीं करता है ? " वसंततिलका.

विवेचन—" सर्व लब्धि अर्थात् पण्डितपदप्राप्ति अथवा धन, धान्य, वस्त्र, पात्र, व्रतप्राप्ति अथवा आमर्श औषधि आदि लब्धिकी प्राप्ति । " (टीकाकार)

इस जीवको प्रत्येक बाबतमें अहमपनकी ही बात रहती है, इसको न तो संसारके नियमका भान है न कर्मसिद्धान्तका ज्ञान है । यह तो थोड़ा-सा अच्छा कार्य्य हुआ कि मैंने किया है ऐसा कह कर बड़प्पन बताने लगता है, और यदि ठीक न हुआ तो कर्म आदिको दोषी ठहरायगा । यह अहंभाव ही संसार है और इसीलिये कहाँ गया है कि ' अहं और मम ये शब्द संसारको अन्धा बनानेवाले हैं ' इस अहम्भावको हटाना अत्यन्त कठिन है । जो वर्तमान युगके मोहनीय प्रवाहमें फँस कर इस बड़े दुर्गुण (परन्तु इस युगके माने हुए सद्गुण) में

फँस जाते हैं वे दोनों भव बिगाड़ देते हैं। इस भवमें सदैव असंतोषी रहते हैं, कारण कि प्रत्येक बात अपनी विचारी हुई नहीं होती है और शास्त्रकारका कहना है कि भविष्य भवमें अहंकारद्वारा हीनता प्राप्त होती है। योगशास्त्रमें कहा गया है कि—

जातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतपः श्रुतैः ।
कुर्वन् मदं पुनस्तानि हीनानि लभते जनः ॥

'जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और ज्ञानका मद करनेसे प्राणी हीनताको प्राप्त होता है'।

तुझको प्राप्त हुआ संयोग.

वेत्सि स्वरूपफलसाधनबाधनानि,
धर्मस्य, तं प्रभवसि स्ववशश्च कर्तुम् ।
तस्मिन् यतस्व मतिमन्नधुनेत्यमुत्र,
किंचित्त्वया हि नहि सेत्स्यति भोत्स्यते वा ॥६॥

"तू धर्मका स्वरूप, फल, साधन और बाधकको जानता है और तू स्वतन्त्रतापूर्वक धर्म करनेको समर्थ है। इसलिये तू अभीसे (इस भवमें ही) उसको करनेका प्रयास कर; क्योंकि भविष्य भवमें तू किसी भी प्रकारकी सिद्धिको प्राप्त न कर सकेगा अथवा न जान सकेगा।" वसंततिलका

विवेचन—धर्मका स्वरूप–श्रावकधर्म अथवा साधुधर्मका स्वरूप।

धर्मका फल—परंपरासे मोक्ष और तात्कालिक निर्जरा अथवा पुण्यकी प्राप्ति।

---

१ इस सम्बन्धकी विशेष हकीकत सातवें कषाय अधिकारमें मिलेगी और यहाँ रावण, वसुदत्त, स्थूलिभद्र, सनत्कुमार आदिके दृष्टांत तो प्रसिद्ध ही हैं।

साधन—चार अनुयोग, अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि अथवा चार वस्तुयें मिलना बहुत दुर्लभ है: मनुष्यपन, धर्मश्रुति, श्रद्धा और संयममें वीर्य।

बाधक—कुजन्म, कुक्षेत्र, प्रतिकूल द्रव्य, प्रमाद आदि।

इन सबको तू जानता है, अर्थात् जिस प्रकार तुझे धर्मके साधन और अंतरायका भान है, उसी प्रकार इनके स्वरूप और ऐसा करनेवालेको क्या फल मिलता है यह भी तू जानता है। अतएव तू स्वतंत्र बन। जब परमाधामीके वश हो जायगा तब तो तुझसे कुछ भी न हो सकेगा, परन्तु इस समय तो तुझे अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है कि जिसका फिरसे प्राप्त होना असम्भव है। ऐसा आर्य्य देश, गुरुका सतत संयोग, सिद्धक्षेत्र (शत्रुंजय) का सांनिध्य, राजकर्त्ताका धर्म सम्बन्धमें सब प्रकारकी छूट और लोकोंमें धर्मके पुनरुद्धार करनेकी अभिलाषा—ये सब सामान्य संयोग और तदुपरान्त शरीरसंपत्ति, विद्याभ्यास, धर्मरुचि आदि तुझे जो विशेष लाभ मिले हों उनको समझ कर इसी भवमें कुछ काम कर। जिस प्रकार व्यवहारमें नाम पैदा करनेकी इच्छा होती है उसी प्रकार धर्मके नामपर ख्याती उत्पन्न करनेका प्रयास कर। तेरे स्व आत्महित निमित्त, तेरी जाति निमित्त, तेरे देश निमित्त, मनुष्य समुदाय निमित्त, सम्पूर्ण सृष्टि निमित्त तेरेसे जो कुछ हो सके कर। कुछ न हो सके तो तू जिन संयोगोंमें पड़ा हुआ हो उनमें उत्तम रीति अनुसार तेरा पाठ भजव। यदि तू भविष्य भवपर आधार रखता हो तो यह तेरी भूल है, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ तुझे ऐसे संयोग प्राप्त हो सकेंगे या नहीं और तेरा उत्तरदायित्व या कर्त्तव्य क्या है इसका ज्ञान या विवेक तुझे वहाँ रह सकेगा या नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता है। इसलिये इन सब

सयोगोंका उचित लाभ लेनेका प्रयास कर। कहते हैं कि:—

चेतन चार गतिमें निश्चे, मोक्षद्वार यह कायारे,
करत कामना सुरपन याकी, जिनको अनर्गल मायारे,
पूरव पुण्य उदय करी चेतन, नीका नरभव पायारे ॥
रोहणगिरी जिम रतन खान तिम, गुण सहु यामें समायारे,
महिमा मुखसे वरणत जाकी, सुरपति मन शकायारे ॥पूरव०॥
या तन विन तिहु काल कहो किम, साचा सुख निपजायारे,
अवसर पाय न चूके चिदानंद, सद्गुरु यु दरसायारे ॥पूरव०॥

धर्म करनेकी आवश्यकता, उससे होनेवाला दुःखक्षय

धर्मस्यावसरोऽस्ति पुद्गलपरावर्तैरनन्तैस्तवा-
यात.सप्रति जीव हे प्रसहतो दु.खान्यनन्तान्ययम्।
स्वल्पाह. पुनरेष दुर्लभतमश्चास्मिन् यतस्वार्हतो,
धर्मं कर्तुमिमं विना हि नहि ते दुःखक्षयःकर्हिचित्॥७

"हे चेतन! अनेक प्रकारसे अनेक दुःख सहन करते करते अनन्ता पुद्गलपरावर्तन करनेके पश्चात् अब तुझे यह धर्म करनेका अवसर प्राप्त हुआ है, यह भी अल्पकालके लिये है, और बार बार ऐसा अवसर प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, अत धर्म करनेका प्रयास कर। इसके बिना तेरे दुःखोंका कभी भी अन्त नहीं हो सकेगा।" शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—अनन्त दुःख भोगने पर अनन्त काल पश्चात् प्राकृत नियमानुसार नदीके प्रवाहमें लुढ़क लुढ़क कर गोल होने वाले पाषाणके न्यायसे यह जीव मनुष्यभवको प्राप्त होता है। इसका प्राप्त होना कितना दुर्लभ है यह ऊपर बता दिया गया

---

१ अभिलाषा. २ मनुष्यभवकी. ३ समान ४ रत्नगिरि. ५ इन्द्र. ६ मूल. ७ जतलाया.

है। यह मनुष्यभव भी अल्पकाल तक रहनेवाला है। इस युगमें मनुष्यका उत्कृष्ट १०० वर्षका आयु गिनिये तो उसमेंसे पहिले २० और अन्तके ३० वर्ष तो लगभग व्यर्थ ही हैं। बालपनमें अज्ञता और वृद्धावस्थामें अशक्ति इन वर्षोंको व्यर्थ बनाती है। शेप मध्यके वर्षोंमें जो कुछ तुझसे हो सके वह कर। बार बार ऐसा संयोग प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि इस समय भूल की तो फिर शिघ्रतया फिरसे निश्चित स्थान पर नहीं पहुंच सकेगा। धर्मरहित जीवन व्यर्थ ही है। धर्म विना दुःखका नाश नहीं हो सकता है और धर्मप्राप्ति बहुधा मनुष्यभवमें ही होसकती है, अतएव इस अवसरसे लाभ उठानेका कहा गया है।

अनन्तकालका स्वरूप चोथे कर्मग्रन्थसे पढ़ लेवें।

पुद्गलपरावर्तनका[१] स्वरूप जानने योग्य है। उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे प्रत्येकके बादर और सूक्ष्म से आठ भेद होते हैं।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस, भापा, श्वासोश्वास, मन और कार्मणपनसे चोदह राजलोकके सब पुद्गल ग्रहण करे अर्थात् प्रत्येक वर्गणारूपसे प्रत्येक पुद्गल परमाणु ग्रहण करे तब द्रव्यसे एक बादर पुद्गलपरावर्तन होता है। (कोई आचार्य्य प्रथमकी चार वर्गणा रूपसे सब पुद्गलोंको परिणमन करनेका कहते हैं) इन्हीं पौद्गलिक परमाणुको प्रथम औदारिक वर्गणारूपसे भोगे, उसके पश्चात् अनुक्रमसे वैक्रिय वर्गणारूपसे भोगे, यावत् मनोवर्गणारूपसे भोगे; इनमें एक परमाणुको औदारिकरूपसे भोगनेके पश्चात्, बिचमें वैक्रियादिरूपसे चाहे जितने क्यों न भोगे किन्तु उनकी गिनती न करें। इसप्रकार

---

१ यह विपय अधिक पारिभाषिक (Technical) है, इसको ठीक ठीक समझनेके लिये गुरुगमकी आवश्यकता होगी।

अनुक्रमसे सातों वर्गणारूपसे सर्व पुद्गल भोग लिये जावे तब द्रव्यसे एक सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन होता है ।

लोकाकाशके असंख्य प्रदेश हैं, उन प्रत्येक प्रदेशको मरणसे स्पर्श करे तब एक बादर पुद्गलपरावर्तन होता है और लोकाकाशके सर्व प्रदेशोंको क्रमश एकके पश्चात् एक प्रदेशका स्पर्शकर मृत्युको प्राप्त हो, इसप्रकार सर्व प्रदेशोंका अनुक्रमसे स्पर्श हो तब क्षेत्रसे एक सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन होता है । इसमें इतना ध्यानमें अवश्य रखना चाहिये कि किसीएक प्रदेशमें मरण होने पश्चात् उसके अनन्तर प्रदेशमें मृत्यु हो उसी प्रदेशको गिनें, शेष अन्य प्रदेशोंमें बिचके समयमें चाहे जितने मरण क्यों न हों परन्तु उन प्रदेशको नहीं गिनने चाहिये ।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयको उलटे सुलटे (चाहे जैसे) मरणसे स्पर्श करे तब कालसे एक बादर पुद्गलपरावर्तन होता है और ऊपर लिखी रीति अनुसार एक कालचक्रके प्रत्येक समयको अनुक्रमसे मरण कर स्पर्श करें तब कालसे एक सूक्ष्म पुद्गल परावर्तन होता है । इसमें उत्सर्पिणीके प्रथम समयकाल करने पश्चात् उसके बाद ही दूसरे समयमें दूसरी और किसी भी उत्सर्पिणीमें काल करें वह ही गिना जाता है, बिचके मरण समयको नहीं गिना जाता है ।

कषायके कारणसे जो अध्यवसाय होते हैं उनसे कर्मबन्ध होते हैं । इस कर्मबन्धनमें बहुत तरतमता होती है । कषाय मन्द या तीव्र हो उसी प्रकार कर्मके अनुबन्धनमें भेद होता है । इसके असंख्य स्थान है इसलिये अनुबन्धस्थान भी असंख्य हैं । प्राणीको जैसी जैसी भिन्न भिन्न वासना होती है वैसे वैसे भिन्न भिन्न अध्यवसाय होते हैं और उन प्रत्येकमें तरतमता होती है ।

जिससे प्रत्येकका स्थान भिन्न होता है । ऐसे अनुबन्धस्थान असंख्य हैं । ये सर्व अध्यवसायस्थानको आगेपीछे मरणसे स्पर्श करके पूरे करते हैं तब भावसे एक बादर पुद्गलपरावर्तन होता है और अल्प कषायोंदयरूप अध्यवसाय होनेपर मृत्युको प्राप्त हो, उसके पश्चात् फिर चाहे जितने स्थानोंमें मृत्युको प्राप्त क्यों न हो परन्तु वे नहीं गिने जासकते हैं; परन्तु उसके पश्चात् अनन्तर अध्यवसाय स्थानमें मृत्युको प्राप्त हो वह ही गिना जा सकता है । इसप्रकार सब अध्यवसायस्थानोंमें अनुक्रमसे चलता हुआ काल करें तव भावसे सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन होता है ।

इस स्वरूपमें बादर पुद्गलपरावर्तनके चार भेद कहे गये हैं ये कुछ उचित जान पड़ेगें, क्योंकि इनमें बहुत कम भव करने पड़ते हैं, (प्रमाणमें), परन्तु शास्त्रकारका कहना है कि इस बादरके चार भेद तो समझने निमित्त ही बताये गये हैं, उनके कहनेका दूसरा प्रयोजन नहीं है । इनके समझने पर सूक्ष्म भेद ग्रहण किये जा सकते हैं, इसलिये इनको बताया गया है, अन्यथा इस जीव ने अनन्त पुद्गलपरावर्त्तन किये और फिर भी जो करेगा उनको सूक्ष्म समझना चाहिये ।

हे जीव ! इन स्वरूपोंको पढ़ कर विचार करने पर आँखे भर आयगी और यह सब दृश्य दृष्टिके सामने नाचने लगेगा । ऐसे ऐसे अनन्ते पुद्गलपरावर्तन तूने किये हैं और यदि धर्म न करेगा तो ऐसे अनन्ते पुद्गलपरावर्तन फिर भी करने पड़ेंगे; परन्तु इनमें फिरसे न भटकना भी तेरे हाथकी बाजीका खेल है । अतएव उठ, प्रमाद त्याग कर, धर्म कर और उच्च स्थिति प्राप्त कर ।

अधिकारी होनेका यत्न कर.

गुणस्तुतीर्वाञ्छसि निर्गुणोऽपि,
सुखप्रतिष्ठादि विनापि पुण्यम् ।

अष्टाङ्गयोगं च विनापि सिद्धी-
　　र्वातूलता कापि नवा तवात्मन् ॥ ८ ॥

"तेरेमें गुण नहीं है फिर भी तू गुणकी प्रशंसा होना सुनना चाहता है, बिना पुण्यके सुख तथा रुपादिकी अभिलाषा रखता है, इसीप्रकार अष्टांगयोग बिना सिद्धियों-की वाञ्छा करता है। तेरा बकवादपन तो कुछ विचित्र ही जान पड़ता है।"　　　　उपजाति

विवेचन—इस जीवको एक ऐसी टेव पड़ गई है कि अपनेमें न हो उन गुणोंका भी दावा रखता है। गुण नहीं होने पर भी उनके होनेका दावा रखना अथवा उन गुणोंके होनेकी स्तुति होनेकी इच्छा रखना यह मूर्खता है। इसीप्रकार पुण्य बिना सेठ बन कर गाड़ीमें फिरनेकी या मानप्रतिष्ठा रखनेकी इच्छा रखना व्यर्थ है। संसारके भाग्यशाली प्राणियोंको क्या तू ने नहीं देखा कि जो उत्पन्न होनेके समयसे मृत्यु समय तक दुःखका विचार भी न कर सके।

श्रेणिक नामके राजाको करियाणा (करियाणु,) समझकर *"श्रेणिकको बजारमें डालदो" ऐसा कहनेवाले शालिभद्र कितने सुखी* होंगे ? परन्तु पुण्य किये बिना ऐसे सुखकी आशा रखना मूर्खता है। वृक्ष लगाये बिना फलकी आशा रखना व्यर्थ है। यह जीव ऐसी वांछा निरन्तर किया करता है यह अनुभवसिद्ध हकीकत है परन्तु कारण जाने बिना कार्य्यकी अभिलाषा रखना बहुत *मूर्खता लक्ष है। सुखकी निरन्तर अभिलाषा रखना* और उसके कारणभूत धर्मको न करना इसको मूर्खता न कहा जावे तो क्या कहा जावे ? उसको सुख किस प्रकार मिल सकता है ? इसी-

१ अणिमा आदि आठ सिद्धियें हैं। धर्मरत्नप्रकरण प्रथम भाग तथा आदीश्वर चरित्र देखिये।

प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ये अष्टांगयोग (जिसके स्वरूप निमित्त योगशास्त्रको देखें) आदि सिद्धियोंके प्राप्त होनेकी आशा रखना मूर्खता है ।

सबका सार यह है कि प्रत्येक बाबतमें हौंस रखनेके बदले उसके अधिकारी बनना चाहिये । लक्ष्मी यह दासी है और उसके अधिकारी के समीप वह तद्दन सुगमतासे चली जाती है । जिस प्रकार उपरोक्त तीनों बातोंकी प्रयास बिना व्यर्थ वांछा रखना मूर्खता है उसीप्रकार धर्म किये बिना दुःख क्षयकी आशा रखना यह भी व्यर्थ है; ऐसा कभी भी नहीं हो सकता है । अधिकारी हुए बिना वांछा न करना यह सामान्य नियम है और यह छोटी तथा मोटी प्रत्येक बाबतमें लागु पड़ता है ।

पुण्याभावे पराभव और पुण्यसाधनका करणीयपन.

पदे पदे जीव ! पराभिभूतीः,
पश्यन् किमीर्ष्यस्यधमः परेभ्यः ।
अपुण्यमात्मानमवैषि किं न ?
तनोषि किं वा न हि पुण्यमेव ? ॥ १ ॥

" हे जीव ! दूसरों द्वारा किये हुए अपने पराभवको देख कर तू अधमपनसे दूसरोंसे ईर्षा क्यों करता है ? तेरे खुदके आत्माको निष्पुण्यक क्यों नहीं समझता है ? अथवा पुण्य क्यों नहीं करता है ? "　　उपजाति.

विवेचन—अपना मान (Self-Respect) नामका कहलानेवाला सद्गुण भी अहंकारकी कोटिमें ही आता है । जब जीवका किसी स्थानपर पराभव होता है तब वह पराभव करनेवालेसे ईर्षा करने लगता है अथवा उस पर क्रोधित होता है; किन्तु खुदका आत्मा पराभव पानेका अधिकारी क्यों कर हुआ

है इसका विचार कदापि नहीं करता है। अल्पमात्र विचार करेगा तो जान पड़ेगा कि पराभव पापसे होता है और तेरा निजका आत्मा पुण्यहीन है जिससे तुझे पराभव हुआ है। अतएव तेरी दूसरोंसे ईर्षा करना अयोग्य है। यहाँ यह उपदेश कदापि नहीं है कि एक मात्र सन्मान मिलने निमित्त ही पुण्य करना चाहिये, परन्तु किसीसे पराभव हो उस प्रसंगपर आर्त्तरौद्रध्यान न करनेका और अचूकपनसे पुण्यानुबन्धी पुण्यके हेतुभूत विशेष धर्म करनेका उपदेश है।

पापसे दुःख और उसका त्यागपन.

किमर्दयन्निर्दयमङ्गिनो लघून्,
विचेष्टसे कर्मसु ही प्रमादत.।
यदेकशोऽप्यन्यकृतार्दन., सह
त्यनन्तशोऽप्यङ्गधयमर्दनं भवे ॥१०॥

"तू प्रमादसे छोटे छोटे जीवोंको दुःख देनेवाले (कार्यों) कर्मोंमें निर्दयतापूर्वक क्यों प्रवृत्ति करता है? प्राणी दूसरोंको जो कष्ट एक बार पहुंचाता है वह ही कष्ट भवान्तरमें वह अनन्त बार भोगता है।" वंशस्थविल.

विवेचन—ऊपरके दो श्लोकोंमें पुण्य करनेका उपदेश किया गया है और यह बतलाया है कि उसके करनेसे अनन्त लाभ है। अब पापका त्याग करना बतलाया जाता है। पाप करते समय मानो मन प्रथम तो दूर भागता है, परन्तु बहुत समयके पड़े हुए स्वभाववश वह फिरसे दुष्ट विकारोंके वशीभूत हो जाता है। खून करनेवालेका हृदय एक समय उसे वैसा न करनेकी

१ 'प्रमादतः' के स्थानमें क्वचित् 'प्रमोदत' पाठ है वह उत्तम अर्थ प्रगट करता है।

प्रेरणा करता है उसीप्रकार परस्त्री-सेवन करनेवालेको भी। इससे आत्माकी शुद्ध स्थितिका भाव प्रगट होता है; परन्तु उस पर इसके पश्चात् मनोविकारकी तरंगे उठती है जिससे शुद्ध विचारों (Conscience) का दिवाला निकल जाता है और पाप अपना आधिपत्य जमा लेता है। इसप्रकार पापात्मक कार्य्य करनेवालेको परभवमें अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं। शास्त्रकारका कहना है कि वह दूसरोंको जितना कष्ट पहुंचाता है उससे अनेकोंगुने कठिन कष्ट अनेकों वार उसे स्वयं सहन करने पड़ते हैं। वीर परमात्माके हस्तदीक्षित शिष्य धर्मदासगणिका कहना है कि:-

वहमारणअब्भक्खाणदाणपरधणविलोवणाईणं।
सव्वजहण्णो उदओ, दसगुणिओ इक्कसि कयाणं॥
तीव्वयरे उ पओसे, सयगुणिओ सयसहस्सकोडिगुणो।
कोडाकोडिगुणो वा, हुज्ज विवागो वहुतरो वा॥

अर्थ—'लकड़ी आदिका प्रहार करना, प्राण व्यपरोपण करना, झूठा कलंक लगाना और परधनका हरण करना आदि एक वार किये हुएका जघन्य उदय भी दस वक्त होता है और तीव्र प्रद्वेषसे किया होतो सौ, हजार, लाख, क्रोड़ और क्रोड़ाक्रोड़ वार भी उदय होता है।'

ऐसा किस प्रकार हो सकता है? इसमें न्याय कहाँ रहा? इसप्रकार सामान्य पुरुषके मनमें प्रश्न उठते हैं। इनका भी समाधान कर दिया गया है। पांच रुपयोंकी चोरी करनेवालेको कितना दण्ड मिलता है? पांच मिनिट पर्य्यंत बलात्कार करके विषयसुख भोगनेवालेको न्यायालय (Court) कितने वर्षोंकी सजा देता है? अमुक पाप समय तथा द्रव्य पर नहीं बंधता है, परन्तु उस समय उस पापकर्मके करनेमें रागद्वेषकी कितनी तीव्रता है उस पर उसका रसबंध निर्भर है। यह

छोटी सी बात अत्यन्त रहस्यमय है। पापकर्मसे निरन्तर डरते रहना चाहिये और क्षणिक सुखके लिये पापकर्म न करना चाहिये। सदैव पापकर्म करते समय विचार करना चाहिये कि यदि सामनेवाले पुरुषके स्थान पर हम स्वयं हों और हमें इस बातका भान हो तो हमारे चित्तकी क्या दशा होगी? पाप न करना ही इस जीवनकी सार्थकता है। अनन्त कालसे संसारमें नये नये जन्म धारण कर भटकता रहा हूँ उसीप्रकार यह मनुष्य जन्म भी एक भ्रमणमात्र हो जायगा ऐसा जिसको भय प्रतीत होता हो वह पापाचरण कदापि न करेगा।

पाप किसको कहना चाहिये यह जानना कठिन नहीं है। यदि कभी सूक्ष्म बाबतमें शंका उपस्थित हो तो विद्वानोंसे परामर्श कर समाधान कर लेना चाहिये और सामान्य व्यवहार निमित्त तो अठारह पापस्थानोंका स्वरूप यथास्थित समझ लेना चाहिये। जैनशास्त्रका आधार जीवदया पर है अतएव इन दो श्लोकोंमें दया करनेका मुख्यतया उपदेश किया गया है। इसी अनुसार अन्य सर्व पापों निमित्त समझलें।

प्राणीपीड़ा—इनके निवारण करनेकी आवश्यकता.

यथा सर्पमुखस्थोऽपि, भेको जन्तूनि भक्षयेत्।
तथा मृत्युमुखस्थोऽपि, किमात्मन्नर्दसेऽङ्गिनः ॥११॥

"जिस प्रकार सर्पके मुहमें होते हुए भी मेंढ़क (देड़को) अन्य जन्तुओंका भक्षण करता है इसीप्रकार हे आत्मन्! तू मृत्युके मुँहमें होने पर भी प्राणियोंको क्यों कष्ट पहुचाता है?" अनुष्टुप्

विवेचन—यदि यहाँपर ही बैठ रहना हो तो ठीक भी है, परन्तु हमकी आशायें तो विशाल पर्वतके समान है और

मृत्यु पैरके नीचे मौका देख रही है। तिसपर भी काल कब होगा यह नहीं जानता है, फिर भी एक घड़ीभर भी शान्तिसे नहीं बैठ सकता है। चारों और हल्लागुल्ला मचाता रहता है। एक ओर गाड़ियें दौड़ाता है तो दूसरी ओर नाँच नचाता है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति तथा मोजशोकमें, विषय तथा कषायमें, अप्रमाणिकपन तथा अभिमानमें आया है उसीप्रकार खाली हाथ चला जाता है। अरे! कालके एक सपाटेमें उंघा पड़नेवाला मोक्षाभिलाषी प्राणी! जरा चेत, पापाचरण करनेसे डर और यह विचार कर कि संसारकी वास्तविक स्थिति क्या है? सर्पके मुंहमें पड़ा हुआ है, चबा जानेमें एक घड़ीभरकी भी देरी नहीं है, फिर भी मेंढ़क अन्य जीवोंका भक्षण करता है। ऐसा अज्ञानी कौन हो सकता है? परन्तु विचार कर देख तो जान पड़ेगा कि तू ही ऐसा अज्ञानी है।

माना हुआ सुख-उसका परिणाम.

आत्मानमल्पैरिह वञ्चयित्वा,
प्रकल्पितैर्वा तनुचित्तसौख्यैः ॥
भवाधमे किं जन! सागराणि,
सोढासि ही नारकदुःखराशीन् ॥१२॥

"हे मनुष्य! थोड़े और वह भी माने हुए शरीर तथा मनके सुख निमित्त इस भवमें तेरी आत्माको वञ्चित रख कर अधम भवोंमें सागरोपम तक नारकीके दुःख सहन करेगा।"

उपजाति.

विवेचन—सुख क्या? उसका ख्याल है? सामान्य पुरुषकी दृष्टिमें कई वार जो पापाचरण करनेवाले पुरुष सुखी प्रतीत होते हैं उसका यहाँ स्पष्ट खुलासा किया जाता है। पांच

पचास हजार या लाख रुपये मिले उनको यदि सुख कहते हो तो वह भी अल्पस्थायी है और जिसको तुम सुख कहते हो वह सुख नहीं है परन्तु वह केवल मात्र माना हुआ सुख है। बराबर विचार करके देखना कि इसमें क्या सुख है? देखो संसारका सब अनुभव प्राप्तकर राजर्षि भर्तृहरि भी लिखते हैं कि—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि,
क्षुधार्त्तः सञ्शालीन्कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते रागाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूं,
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

जब तृषासे कंठ शुष्क जान पड़ता हो तब ठंडे पानी पीनेकी अभिलाषा करता है किन्तु इसमें सुख क्या है? क्षुधा से पीड़ित होने पर चावल शाक आदि खाता है, परन्तु इसमें सुख क्या है? रागाग्निके प्रदीप्त होनेपर स्त्रीका संयोग करता है इन सबमें क्या सुख है? व्याधिकी औषधिको यह जीव भूलसे सुख मानता है। थोड़ा सा विचार करेगा तो मालूम होगा कि इसमें सुख जैसा कुछ नहीं है। इस माने हुए सुख के झूठे ख्यालके वशीभूत होकर यह प्राणी नीचसे नीच दुष्ट कर्मोंको करके अधोगतिको प्राप्त होता है। इन सबका कारण एक ही है कि वास्तविक सुख क्या है? पौद्‌गलिक सुख कैसा है? किसको है? कितना है? कब है? क्यों है? किस परिणाम वाला है? इसका उचित विचार नहीं करता है, विचार करने-वाले जो निःस्वार्थ बुद्धिसे कहनेको आते हैं उसको तू सुनता भी नहीं है और संसारजमाल में फँसा करता है। परिणामस्वरूप असंख्य वर्षोंसे होनेवाले एक पल्योपम जैसे दश कोड़ाकोड़ि पल्योपमसे होनेवाले एक सागरोपम जैसे अनन्ता सागरोपम तकके

कालको नरक निगोदमें निकालता है। मनुष्यभव अनन्तकाल परिभ्रमण करने पर कभी कभी ही प्राप्त होता है उसको भी तूं इसप्रकार निरर्थक बना देता है और फिर शेषकाल संसारमें भटक भटक कर पूरा करता है।

सागरोपमका बराबर प्रमाण प्रवचनसारोद्धार ग्रंथसे जान लें। यहाँ पर इसके लिखनेका यह तात्पर्य है कि एक ओर इस भवका थोड़ासा सुख देखे और दूसरी और उसके परिणाम स्वरूप नारकी तथा निगोदके अनन्त दुःख कितने वर्षों तक सहन करना होगा उसका विचार करें। बुद्धिमान्को तो यह उपदेश बराबर विचारने योग्य है।

प्रमादसे दुःख शास्त्रगत दृष्टान्त.

उरभ्रकाकिण्युदबिन्द्वाम्र
वणिक्-त्रयीशाकटभिक्षुकाद्यैः।
निदर्शनैर्हारितमर्त्यजन्मा,
दुःखी प्रमादैर्बहु शोचितासि ॥ १३ ॥

"प्रमाद करके हे जीव! तूं मनुष्य भवको निरर्थक बना देता है और इसलिये दुःखी होकर बकरा, काकिणी, जलबिन्दु, केरी, तीनबनिये, गाड़ीवान्, भीखारी, आदिके दृष्टान्तोंके समान तूं बहुत दुःख पायगा।" उपजाती.

विवेचन—प्रमादसे यह जीव मनुष्यभव हार जाता है और अत्यन्त दुःखी होता है यह हम देख चुके हैं। निम्नस्थ दृष्टान्त श्री उत्तराध्ययन आदि मूलसूत्रोंमें आये हुए हैं, उनमें मनुष्यभव हार जाने पश्चात् कितना पश्चात्ताप होता है और वह भव फिर मिलना कितना कठिन है यह बतलाया गया है। यह दृष्टान्त विशेषतया मनन करने योग्य है। टीकाकार कहते हैं कि

"प्रमादके परवशपनसे यह जीव सुकृत नहीं करता है जिससे मनुष्य-भवसे भ्रष्ट होजाता है और दुर्गति को प्राप्त होता है और दुर्गतिमें गये पश्चात् यहां निर्दिष्ट स्वरूपानुसार वहां पश्चात्ताप करता है। हे जीव ! तू तो यहां सुकृत कर कि जिससे तुझे परभवमें आनंदकी प्राप्ति हो।" टीका तथा सम्पूर्ण विवेचन सहित अब सब दृष्टान्त यहां दिये जाते हैं उनको ध्यान लगाकर पढ़ें। नीचे लिखे हुए उदाहरण मनुष्यजन्मकी सार्थकता और उसका लाभ न उठानेसे होनेवाली निरर्थकताकी ओर उपनय बतानेवाले हैं, यह विशेष ध्यानमें रखना चाहिये। इसका पुनरावर्तन बारबार उपनयमें नहीं किया गया है।

१ अज दृष्टान्त

एक विशाल नगर था। उस नगरमें एक पुरवासीके यहाँ एक बकरा था। जब कोई अच्छा बड़ा पाहुँना हमारे घरपर आवेगा तब इसका मांस काम आयगा ऐसे विचारसे उस बकरेंका बहुत उत्तम प्रकारसे पालन-पोषण करने लगा, उसको प्रत्येक दिन खूब स्नान कराया जाता था, उसके शरीरपर पीला तिलक किया जाता था, उसका खूब अच्छी तरह लालन पालना होता था और इसलिये वह हरप्रकारसे सुखी प्रतीत होता था, और अत्यन्त पुष्ट शरीरवाला बन गया था। अब उसी पुरवासीके घरमें एक दूसरा बछड़ा था। उस बेचारेको उसकी मां गायको दूहे जाने पश्चात् बाकीका जो अवशेष दूध रहता था उसे पीना पड़ता था और उसकी कोई सारसंभाल करनेवाला न था। बछड़े ने बकरेकी उत्तम दशा देखकर एक दिन क्रोध और ईर्षासे दूध पीनेसे इन्कार किया। उसकी माता गाय ने स्नेहसे उसको दूध न पीनेका कारण पूछा तो बछड़े ने उत्तर दिया कि 'हे माता ! इस बकरेंको तो पुत्रके सदृश मिष्टान्न मात्र

होता है और मुझ मन्दभाग्यको तो पूरा घास भी नहीं मीलता है, और उचित समय पर पानीके लिये भी मुंह ताकना पड़ता है। अरेरे! मैं अत्यन्त भाग्यहीन हूं ' गाय ने कहा ' हे वत्स! जिस प्रकार किसीकी मौत समीप आ रही हो और वैद्य ने उसके जीवनकी आशा छोड़दी हो तब उसे पथ्य अपथ्यका बिचार किये बिना ही जो वह खाना चाहता है उसे खानेको दिया जाता है। इसीप्रकार यह बकरा भी वध्य है और इस समय तो इसकी बहुत सारसंभाल होती दिखलाई देती है परन्तु भविष्यमें जो इसकी दशा होगी उसको देखना।' अपनी माताका यह कथन श्रवण कर कुछ सन्तोष रख कर बछड़ा जो कुछ होता है वह देखता रहता है। पांच दस दिन इसप्रकार व्यतीत हो गये। एक दिन बड़े घरके पैसादार सगे पाहुंने बन कर आये, अतएव प्रातःकालमें में में करते हुए बकरेको पकड़ कर मार डाला और उसके माँसके टुकड़े टुकड़े कर भुंज कर सम्पूर्ण घर-वाले तथा पाहुंनों ने भोजन किया। बछड़ा यह सब घटना देख कर उस दिन भी अपनी माता गायका दूध नहीं पीया और माताके पूछने पर कहने लगा कि ' मुझे तो अत्यन्त भय मालूम होता है। बकरेकी यह स्थिति देख कर मुझे तो दूध पीनेकी अभिलाषा भी नहीं होती है।' गायमाता ने कहा ' वत्स! मै ने तो तुझे उसी समय कहा था कि यह सब मरने निमित्त ही है।"

उपनयः—जिस प्रकार बकरा आनन्दमें निमग्न होकर यथेष्ठ खाता था और पुष्ट भी हो गया था, परन्तु जब पाहुँने आये तब उसका शिरच्छेद हुआ और उस समय में में कर रोने-चिल्लाने लगा; उसीप्रकार तू प्रमादसे विषयकषायमें आसक्त होकर स्वेच्छापूर्वक विचरता है और पापसे पुष्ट होता है, परन्तु जब आयुष्य पूर्ण होगा तब मनुष्य जन्म हारकर नरकादि

दुर्गतिमें जाते हुए मनमें अत्यन्त दुःखी होगा, परन्तु फिर वह खेद किसी काम नहीं आयगा, इस लिये विचार करके तुझे तेरा चेष्टित ऐसा उत्तम रखना चाहिये कि जिससे भविष्यमें खेद करनेकी संभावना ही न रहे। सुख क्या है? कहां मिलता है? कब मिलता है? किसको मिल सकता है? क्यों मिलता है? उसका क्या परिणाम होता है? इसका विचार कर। कितने ही जीव बछड़ेके समान दूसरोंके सांसारिक सुखोंका अवलोकन कर अपनी मन्द स्थिति पर पश्चाताप करते हैं परन्तु वे उसका वास्तविक विचार नहीं करते हैं। उनको यदि कोई गायमाता समान सत्यस्वरूप समझानेवाला मिल जावे तो अच्छा है, वरना उनको निरन्तर परिताप रहता है। यह उदाहरण अत्यन्त प्रभाव डालनेवाला है और इस पर विचार कर अपने पर लागु करनेसे उपयोगी बोध मिल सकता है।

२ काकिणीका दृष्टान्त

एक गरीब पुरुष था। वह आजीविका उपार्जन निमित्त परदेश गया। परदेशमें अत्यन्त परिश्रमद्वारा सहस्र सुवर्णमुद्रा उपार्जित की। तत्पश्चात् किसीके संग अपने देशको प्रस्थान किया। उसने अपनी समस्त सुवर्णमुद्राओंको एक बांस की नलीमें भर कर उस नलीको अपनी कमरके साथ बांध दिया और अपने राह खर्चके लिये एक मोहर की काकिणी ले ली। (एक रुपयेकी अस्सी काकिणियें होती है, और एक काकिणी सवा दोकडाकी होती है) अब वह वणिकके संग चलने लगा। उप मार्गमें एक वृक्ष तले वह भोजन करने बैठा तो वहां एक काकिणी भूल गया। दोपहर पश्चात् वहांसे प्रस्थान किया। सायकाल होने पर काकिणीको ढूंढा। जब काकिणी न मिली तो विचार किया कि प्रातःकाल ही काकिणी निमित्त एक सोनेकी मुद्रा घटानी पड़ेगी

परन्तु ऐसा करना तो ठीक नहीं है। इस लिये बांसकी नलीको उसी वृक्षके नीचे गाड़ कर वह स्वयं काकिणी लेनेके लिये चल दिया। जिस वृक्षके नीचे भोजन किया था वहां जाकर देखा तो वहां काकिणी नहीं मिली। पीछा लौट कर देखा तो जान पड़ा कि चोर ने गड्ढा खोद कर बांसकी नलीको भी निकाल कर ले गये हैं। इस प्रकार दोनोंको खोकर अत्यन्त दुःखी हुआ। घर गया तो वहां खानेको भी मुंह ताकना पड़ा और सगे सम्बन्धियों ने भी उसकी हँसी उड़ाई।

उपनयः–जिसप्रकार उस गरीब पुरुषके पास आरम्भमें एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी, और जब अत्यन्त प्रयास करने पर द्रव्य प्राप्त हुआ तब सवा दोकड़ेकी एक काकिणीके लोभसे सर्व खो दिया और दोनोंसे भ्रष्ट होकर गरीबका गरीब ही रहा। इसीप्रकार तू भी स्मरण रखना कि अन्तराय कर्मके उदयसे संसारीपनमें कामभोगकी प्राप्ति न होती हो इसलिये तू देशसे सर्वसे चारित्र ले और इसके पश्चात् कामभोगकी अभिलाषा करे तो तुझे परिणाममें कामभोग भी नहीं मिल सकता है और चारित्रमें भी भ्रष्ट हो जाता है; अतएव ऐसा नहीं करना चाहिये। उभयभ्रष्ट होनेवाले अनेकों पुरुष होते हैं। इसीप्रकार थोड़ेसे लोभ निमित्त सम्पूर्ण भवको विष समान बनानेवाले भी अनेकों पुरुष होते हैं। इसीप्रकार अमुक व्रत नियम लेकर छोड़े हुए पदार्थों का फिरसे सेवन करनेकी अभिलाषा रखते हैं, परन्तु संसारका क्रम ऐसा है कि छोड़ी हुई वस्तु फिरसे नहीं मिल सकती है और उसकी इच्छा करनेवालेका त्याग करनेका पुण्य नष्ट हो जाता है। इस प्रकार दोनोंसे भ्रष्ट होता है। त्यागसे होने वाला मानसिक सन्तोष तथा नहीं छोड़नेवालेको होनेवाला स्थूल कल्पित सन्तोष ये दोनों उसको नहीं मिल सकते हैं। दूसरी

प्रकारसे यह दृष्टान्त मनुष्यजन्म पर ठीक प्रकार घटीत हो सकता है। विषय काकिणी समान समझना और सहस्र मुद्रा मनुष्यभव समान समझना चाहिये। किञ्चित्मात्र विचार करनेसे काकिणी निमित्त सम्पूर्ण मनुष्यजन्म हारनेवालेकी मूर्खता समझमें आ सकती है।

३ जलबिन्दुका दृष्टान्त.

एक समय एक पुरुष तृषासे अत्यन्त दुःखी होकर अपने इष्टदेवकी स्तुति करने लगा, इससे वह देवता प्रसन्न होकर उससे संतुष्ट हुआ और उसको उठाकर क्षीरसमुद्रके समीप जा खड़ा किया। वह पुरुष मूर्ख था, उसने तो वहां भी पानी नहीं पिया और अपनेको उठाकर लानेवाले देवको कहा कि "हे देव! मेरे ग्रामकी सीममें एक कुआ है उसके सिरेपर दर्भ उगा है और उस दर्भके सिरेपर पानीका बिन्दु पड़ा है, मेरी अभिलाषा उस बिन्दुको पीनेकी है, इसलिए यदि तू मुझसे संतुष्ट हुआ है तो मुझे वहाँ ले चल।" देवता ने जाना कि यह एक भाग्यहीन मूर्ख प्राणी है इसलिये उसको उठाकर उस स्थानपर ले गया। कुए पर जाकर देखता है तो मालूम होता है कि पानीका बिन्दु तो हवासे पड़ गया है। उस समय उसको अत्यन्त दुःख हुआ कि मैं तो दोनोंसे भ्रष्ट हो गया। मैंने जलबिन्दु भी खोया और क्षीरसमुद्र भी खोया, व्यर्थ ही प्यासा रहा।

उपनयः—किसी देवकी सहायतासे जिसप्रकार वह प्राणी क्षीरसमुद्र पहुचा था और अपनी लालसाके वशीभूत होनेसे प्यासा ही वापीस लौटा और दोनोंसे भ्रष्ट हुआ, इसीप्रकार तुझे भी दैवयोगसे चपसयमरूप क्षीरसमुद्र प्राप्त होनेपर यदि तू उसका आराधन किये बिना ही ओसबिन्दु तुल्य सासारिक सुखकी लालसासे पीछा ससारी होनेकी अभिलाषा करेगा तो परिणामस्वरूप तुझे इस भवमें

सुख नहीं मिलेगा और परभवका सुख तो तूं चारित्रके परिणामसे भ्रष्ट हुआ तबसे ही हार गया है; कारण कि उसके उपायरूप तपसंयमको तू ने परित्याग करदिये हैं। शुद्ध चारित्र—व्यवहार न रखनेवाला दोनों प्रकारसे भ्रष्ट होजाता है। संतोष रखनेवालेको—शुद्ध व्यवहार करनेवालेको प्रवृत्तिकी मारामारीसे होनेवाली मनकी व्याकुलताके अभाव उपरान्त कर्तव्यपालन करनेकी शांति और आनंद होता है वह भी उसके लिये दुर्लभ होजाता है और वर्तन का फल भी नहीं मिल सकता है। इस उभयभ्रष्ट स्थितिपर बहुत कुछ विचार करना योग्य है। काकिणीके दूसरे दृष्टान्तानुसार यह दृष्टान्त भी मनुष्यभवसे घटाया जा सकता है। यहाँ उदकबिन्दुतुल्य विषय, देवतुल्य गुरुमहाराज और क्षीरसागरतुल्य सम्यक्त्व या चारित्र समझे।

४ आम्र दृष्टान्त.

एक राजा आम खानेका अत्यन्त शौखिन्द था अतएव वह सदैव एक आम खाया करता था। एक दिन शरीर में वायुका प्रकोप हुआ जिसके जोरसे विशुचिका (पेटमें दर्द, शर्दी और गुल्म) हो गई, उससे उसे इतना कष्ट हुआ कि किसी स्थान पर ठहरना अच्छा न लगा, बड़े बड़े वैद्योंको बुलाया गया, अनेक उपाय किये गये, तब अन्तमें महान् प्रयास करनेपर विशुचिकाका अन्त हुआ; परन्तु वैद्यों ने इसके पश्चात् सदैवके लिये उसे आम खानेसे मना किया, कहा कि यदि आम खाया जायगा तो वह मृत्युका शिकार हो जायगा, अतएव उसके स्वादका भी विचार न करना चाहिये और उसकी ओर देखना भी नही चाहिये। यद्यपि राजाको यह बात पसन्द नहीं थी फिर भी अपने शरीर निमित्त राजाने अपने राज्यमेंसे सर्व आम्रवृक्षोंको उखड़वा दिये। फिर ऐसा हुआ कि एक समय राजा आखेट करनेको राजमहलसे

बाहर निकला। एक शिकारका पीछा करते करते अपनी सेनासे दूर निकल गया और केवल अपने एक प्रधान सहित वह एक अगम्य अटवीमें जा पहुंचा। अटवीमें भटकते २ वे दोनों एक बड़े आम्रवृक्षके नीचे आ पहुँचे। आमको देखकर राजाको अपूर्व प्रेम उत्पन्न हुआ, और उसको खानेकी इच्छा जागृत हुई। 'विनाशकाले विपरितबुद्धिः' वाली कहावत चरितार्थ हुई क्योंकि ऐसे समयमें बुद्धिमान पुरुष भी भान भूल जाता है। प्रधान ने बहुत समझाया किन्तु राजा ने उसकी प्रार्थना न स्वीकार की और कुछ भी ध्यान नहीं दिया। राजाने आम हाथमें लिया पनपक आम देखकर हर्षित हुआ, उसको तोड़ा, चूसा और तत्काल ही विशूचिका होनेसे राजा उसी स्थानपर मृत्युका शिकार हुआ।

उपनयः—राजा जिह्वाइन्द्रियपरवश होकर आमके स्वादसे आकर्षित हुआ और जीवितव्यसे भ्रष्ट हुआ, इसीप्रकार यह जीव इन्द्रियोंके वशीभूत होकर प्रमादसे कामभोगके सुखोंमें प्रवृत होता है। इन्द्रियोंके वशीभूत जीवको कार्याकार्यका भान नहीं होता है। लोकोक्ति भी है कि " जिसकी हाड़ ललची उसका प्रभू रूठा " अर्थात् जो रसनाके वशीभूत हुआ उसका दुनियादारीमें उंचे बढ़नेका अधिकार नष्ट हुआ। राजाको तो थोड़े समय तक जीभपर अधिकार रहा इतना भी अनेकों बख्त तो इस जीवको नहीं रहता है और खानेकी बाबतमें तो यह इतना ढँचा-नीचा हुआ करता है कि जब डाक्टर लघन करनेको सलाह देते हैं तब भान पड़ता है। खानेके लोभसे अपने शरीरके सामोंको भी खतरेमें डालनेसे यह जीव आनाकानी नहीं करता है। इस दृष्टान्त से दूसरा सार यह ग्रहण करनेका है कि इस जीवको संसारसुखके उपभोगसे असाध्य व्याधिसे पीड़ित होनेपर गुरु-

महाराज उसका निवारण करके देशविरति तथा सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्र देकर फिरसे संसारिक सुखोंकी ओर दृष्टि डालने-का भी प्रतिबंध करते हैं, फिर भी पूर्वोक्त राजाके समान यह प्राणी फिरसे संसारिक सुखोंका उपभोग करनेकी अभिलाषा करता है—भोगता है; वह कर्मकी असाध्य व्याधिके वशीभूत होकर दुर्गतिमें चला जाता है कि जहाँसे फिर उसके लिए ऊँचा आना असम्भव है।

५ तीन वणिकोंका दृष्टान्त.

एक ग्राममें एक वणिक रहता था। वृद्धवयका होनेसे उसने संसारका लड़का-छाया देखा था। उसके तीन पुत्र थे। वे कैसे चतुर है इनकी परीक्षानिमित्त प्रत्येक पुत्रको एक एक हजार सोनेकी मोहरें देकर कहा कि इस द्रव्यसे व्यवहार चलाकर अमुक समय पर वापीस मेरे पास आना। व्यवहार चलाकर वापीस आना ऐसा कहा किन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं किया। तीनों पुत्रों ने सोनेकी मोहरोंको लेकर भिन्न भिन्न नगरोंको प्रस्थान किया। एक लड़का तो बिलकुल मौजशौक नहीं करता है, खानेका, सोनेका तथा फिरनेका उसको किसी प्रकारका शौक नहीं है इसीप्रकार परस्त्री, सट्टा या ऐसा कोई अन्य दुर्व्यसन भी उसमें न था। उसने तो व्यौपार करके एक बड़ी रकम एकत्र की और व्यय आवश्यकतानुसार सुचारु रूपसे करनेसे बहुत धनवान हो गया। दूसरा भाई इस विचारका था कि मूल रकमको तो जैसेकी तैसे बनाई रखना, और बाकी जो व्याज या हांसील मिले उसे व्यय कर देना चाहिये। अतएव उसने मूल पूंजीमें न तो एक पाई भी बढ़ाई न कम ही की। तीसरा भाई लहरी था। इसने तो खानेपीने तथा मौजशोकमें सब रुपयोंको उड़ा दिया, व्यौपार किया ही नहीं। मुद्दत पूरी होनेपर सब भाई वापिस

अपने देशको लौटे। तीसरे भाईका हाल सुनकर सबों ने हँसी उड़ाई और उसके बाप ने उसे घरसे बाहर निकाल दिया। सब आदमियों ने उसकी निन्दा की। प्रथम तथा दूसरे भाई निमित्त अनुक्रमसे विरोष तथा अल्प सतोष प्रगट किया।

उपनयः—मनुष्यभव प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। इसकी प्राप्तिमें अनेको विघ्न आ पड़ते हैं। ऐसे अनेकों कष्टोंसे प्राप्त हुआ मनुष्यभव और उसमें भी जैन धर्म, निरोग शरीर, गुरुका योग आदि संयोग-सामग्री प्राप्त होना भी उतना ही कठिन है। महापुण्योंके योगसे यह सब प्राप्त होता है। इस मनुष्यभवको प्राप्त कर कितने ही दु साध्य प्राणी तो बेचारे लाड़ी, वाड़ी और गाड़ीकी लहरमें लहका कर धर्म क्या है यह भी नहीं जानते है। ऐसे प्राणी पूण्यधन खो बैठते हैं, प्राप्त हुए पैतृकधनको खो देते हैं और कुपुत्रके समान अत्यन्त पैतृकसम्पति प्राप्त होने पर भी गरीब होजाते हैं। कितनेही पुरुष तो प्रतिकूल सयोगों के लिये पापा त्मक कार्य्य करते हैं परन्तु उक्त कनिष्ठ प्रकारके पुरुष तो उत्तम सयोगोंको ही दुष्ट बना देते हैं। मध्यम श्रेणी के पुरुष साधारण जीवन व्यतीत करते हैं। वे किसी को कुछ हानि नहीं पहूँचाते है। उसीप्रकार कोई महान् स्थूल या मानसिक परोपकार भी नहीं करते हैं। जो उत्तम प्रकारके जीव हैं वे तो यहाँ महाउत्तम वर्त्तन रखकर परोपकारमें विभूति-आत्मिक और पौद्गलिक-व्यवहारमें लाकर इस भवमें लहेर करते हैं और परभवमें भी आनन्द प्राप्त करते हैं। जो तीसरे भाईके समान धन खो देते हैं उसको तो अनन्तकालपर्य्यंत चोराशी लाख योनियोंमें भटकना पड़ता है, वह मर्य्यादा रहित है, और पराक्रमशाली जीवोंको मध्यम भाईके समान बैठा रहना अभेष्ट है। तेज घोड़ोंको तो अपना कार्य्य पूरा करना ही उचित है।

यह मनुष्यभव बारबार नहीं मिल सकता है । अतएव यह विशेष ध्यानमें रखे कि तीसरे भाईके जैसी हमारी स्थिति न होने पावे और प्रथम भाईके समान व्यवहार रक्खें । इस मनुष्यभव में भी यदि कर्ज बढ़ता ही रहे तो निकृष्ट है ।

६—गाड़ीवान् का दृष्टान्त

एक गाड़ीवान्को एक ग्रामसे दूसरे ग्रामको जाना था । वह उस ग्रामके अच्छे तथा बुरे दोनो प्रकारके मार्गोंको स्वयं जानता था, फिर भी उसने ग्राम जाते हुए खड्डो तथा पहाड़ियों और टेकरियोंसे आच्छादित मार्गका अवलम्बन किया । जिसका परिणाम यह हुआ कि मार्गमें जब उसकी गाड़ीके पहिये ने जवाब दे दिया तो वह अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करने लगा ।

उपनयः—यह लघु दृष्टान्त अत्यन्त उपयोगी है । यह उपदेश विद्वान् श्रोताओं तथा पढ़े लिखे पाठकों प्रति किया गया है । हे विद्वानों ! तुम जानते हो कि मोहसे तथा प्रमादसे संसारकी वृद्धि होती है, तुमने संसारकी अस्थिरताके विषयमें पढ़ा है, जाना है, माना है और शम, दम, दया, दान, धृति आदिसे पुण्यबंध तथा कर्मनिर्जरा होती है यह भी तुमसे छिपा हुआ नहीं है; फिर भी जो तुम्हारा व्यवहार पापमार्गकी ओर होता है यह बहुत बुरा है । अजानते भूल कर देना तो कुछ अंशोंमें सम्भव भी है परन्तु जानने पर भी अपनी गाड़ी खराब मार्गमें दौड़ाना और फिर टूट जाने पर उसके लिये पश्चात्ताप करना तद्दन निकम्मा है । तुम स्वयं समझदार हो इससे और अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु यह अवश्य ध्यानमें रक्खें कि कितने ही पुरुष तुम्हारे व्यवहारका अनुकरण करते हैं ।

७—भिक्षुकका दृष्टान्त

एक दरिद्र ग्रामीण अपने ग्राममें कुछ उपार्जन न कर

सका अतएव भिक्षा मागनेके लिये परदेश गया। वह बेचारा अनेकों ग्रामोंमें भटकता रहा परन्तु उसको पेटभर भिक्षा नहीं मिली, तब अन्तमें घबरा कर उसने फिरसे अपने ग्रामका रास्ता पकड़ा। मार्गमें एक ग्राममें यक्षका मन्दिर आया, वहाँ उसने रात काटी। अपनी दरिद्रता पर विचार करता हुआ वह अर्ध-जागृत स्थितिमें सोता हुआ था कि मध्य रात्रिको एक सिद्ध अपने हाथमें चित्रित घड़ा लिये हुए वहाँ आया। जमीन पर एक स्वच्छ स्थान पर उसने उस घड़ेको रक्खा तो शीघ्र ही वह घड़ेके प्रभावसे एक रम्य भवन बन गया। फिर वह बोला कि " स्त्री हो जा " तो वहाँ एक नवयौवना सुन्दर वेशवाली रतिके अवतार जैसी स्त्री उत्पन्न हो गई। इसके पश्चात् जो जो वह सिद्ध कहने लगा वह वह ही होने लगा। सम्पूर्ण रात्रि वह उस स्त्रीके साथ विविध प्रकारके कामभोग भोग कर सर्व रसवतीका आहार करके प्रभात होने पर उसने सर्व हटा लिया। पहेला भिक्षुक यह सब देखा करता था और विचार करता था कि " अरेरे! मैं तो पृथ्वी पर नितान्त दुर्भागी हूँ। मुझे तो न तो माया ही मिली न प्रभू ही मिले; इस लिये अब मुझे तो इस सिद्धकी सेवा करना उचित है। " ऐसा सोच कर उस भिखारी ने सिद्धका आश्रय लिया और उसकी सेवा करने लगा। बहुत समय तक एकचित्त होकर उस सिद्धकी सेवा करनेसे अन्तमें वह उस पर प्रसन्न हुआ और कहा कि " बोल, तेरी क्या अभिलाषा है ? " तो भिक्षुक ने प्रार्थना की कि " मुझे ऐसा बनाओ कि मैं भी तुम्हारे जैसे सुन्दर भोगोंको भोग सकूँ। " इस पर सिद्धने उससे पूछा कि तुझे घड़ा चाहिये या विद्या ? दोनोंमेंसे क्या चाहिये ? यह भिक्षुक जो अत्यन्त दुर्भागी था उसने यह सोच कर कि भविष्यमें विद्या साधनेका कष्ट न उठाना पड़े इस

लिये कहा कि "यदि आप मेरे पर प्रसन्न हो तो कृपा करके आपका घड़ा मुझे दे दीजिये।" महानुभाव सिद्धपुरुषने शिघ्र ही अपना घड़ा उसे दे दिया। भिक्षुक अपने ग्रामको गया और घटके प्रभावसे उत्तम हवेली, शय्या, नवयौवना स्त्री, फरनीचर आदि अनेक सुखकी सामग्री उत्पन्न कर स्वयं आनन्दमें रहने लगा, अपने कुटुम्बको भी सुखी बनाया। एक दिन मद्यपान कर मस्त हो गया और लहरमें आ कर घड़ा ले कर नृत्य करने लगा। दुर्भागीके नसीब महान नहीं होते हैं। समय समाप्त हुआ, पापोंका उदय हुआ, घड़ा सिरसे गिरा और फूट गया। उस समय वह क्या देखता है कि स्वयं गन्दे स्थानमें खड़ा है। घर, स्त्री, भोग, सबका नाश हो गया। यदि उसने विद्या सिखी होती तो सबको फिरसे उत्पन्न कर सकता था, परन्तु अब तो कुछ भी नहीं हो सकता था।

उपनयः—एक मात्र प्रमादसे भिक्षुक ने अपनी सर्व प्राप्त सामग्रीको खो दिया था, इसी प्रकार मनुष्यभवमें धर्माराधन योग्य सर्व सामग्री प्राप्त होने पर भी यदि प्रमादसे तूं उस सबको खो देगा तो उसके परिणामस्वरूप भविष्यमें तुझे पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस हकीकतको अगले दृष्टान्तमें बहुत स्पष्ट कर दिया है। दूसरा सार यह ग्रहण करनेका है कि मनुष्य बहुधा तात्कालिक लाभकी ओर दृष्टि दौड़ाता है। यदि भिखारी ने प्रारंभमें कष्टसाध्य विद्या सिखी होती तो प्रारम्भमें तो उसे कुछ प्रयास करना पड़ता; किन्तु फिर सदैवका कष्ट दूर हो जाता। परन्तु पुरुषको तो यदि बैठे २ कुछ वस्तु मिलती हो तो वह उठनेका प्रयत्न भी नहीं करता है। यह बहुत ही बुरी टेव है और अनेकों पुरुष तात्कालिक लाभकी लालसासे ही अन्यायी कार्योंमें प्रवृत होते हैं। दूसरा यह समझनेका है कि

अपनी स्थितिसे बाहर एकदम बड़े हो जानेकी अभिलाषा न रखनी चाहिये। छोटे बच्चेको तो जो पचने काबिल होता है वह ही पचता है, अधिक भारी खुराक खिलादी जावे तो उसकी ज्वरादिसे मृत्यु हो जाती है।

८—दरिद्र कुटुम्बका दृष्टान्त

किसी ग्राममें एक दरिद्र कुटुम्ब रहता था। एक त्यौहारके दिन वे किसी गृहस्थके गृह पर गये। वहाँ उन्हों ने जब दूधपाक बनते तथा खाते हुए देखा तो उनको भी उसे खानेकी अभिलाषा हुई। सब ने एक साथ निर्णय किया कि आज भीख मांग कर भी दूधपाक खाना चाहिये। एक आदमी किसी स्थानसे जैसे तैसे दूध ले आया। दूसरा फिर किसी स्थानसे चांवल ले आया। पूरी बनानेके लिये एक आदमी घृत ले आयाँ। एक आटा ले आया। इसप्रकार अलग अलग वस्तुओंको लाकर उन्होंने दूधपाक-पूरी बनाई। जिस जिस ने जो जो वस्तु लाई थी उसी प्रमाणसे प्रत्येक ने अपना अपना हिस्सा करना आरम्भ किया, परन्तु वे सब मूर्ख थे इस लिये आपसमें झगड़ा हुआ और जब किसी प्रकार वे अपने आप न समझ सके तो वे दरबारमें फरियाद करने गये। कितने ही समय पश्चात् वापिस लौटे और आकर देखा तो देखते हैं कि कुत्तोंने दूधपाक और पूरी सबको खालिया है। अनेकों दिनों पश्चात् प्राप्त हुई हुई वस्तुका इस प्रकार एकदम चला जाना देख कर उन सबको अत्यन्त दुःख हुआ और उनका हार्टफेल हो जानेसे वे सब मृत्युको प्राप्त हुए।

उपनय।—महाप्रयाससे प्राप्त किये हुए दूधपाक पूरीका फल जिसप्रकार सर्व कुटुम्बी न पासके और इसके अतिरिक्त उसीके कारण मृत्युको प्राप्त हुए, इसी प्रकार

महाप्रयाससे प्राप्त हुए मनुष्यभव आदि सामग्री राग-द्वेषादि कारणोंसे निष्फल होजाती हैं, इतना ही नहीं अपितु अनन्त जन्ममरण भी पाते हैं और पुण्यवान् गृहस्थोंका ऐश्वर्य्य देखकर शक्तिहीन रंक यदि उसकी समानता करने लगे तो स्वयं ही नाशको प्राप्त होता हैं। यहां मुख्य उपदेश यह है कि अपनी जो स्थिति हो उसमें संतोप रखना चाहिये। संसारमें अनेकों स्थानों-पर सुख दृष्टिगोचर होता है इससे स्वयं उससे न ललचा जाना चाहिये और धर्मसामग्री प्राप्त होनेपर रागद्वेप करके उसको निष्फल न वना देना चाहिवे।

६ दो वनियोंका दृष्टान्त

किसी ग्राममें दो वनिये रहते थे। वे अनेक कार्य्य किया करते थे किन्तु भाग्यहीन होनेसे पासमें पैसा एकत्र नहीं होसकता था। उन्हो ने पैसे एकत्र करने निमित्त अनेकों उपाय किये, परन्तु जव किसी भी उपायसे पैसे प्राप्त न होसके तो नगरके वाहर एक यक्षके मन्दिरमें जाकर उसकी सेवा करने लगे। एक दिन यक्ष अत्यन्त प्रसन्न हुआ तव उन्हों ने उससे द्रव्य मांगा। यक्ष ने कहा "हे. वत्सो! यदि तुमको पैसोंकी वहुत इच्छा हो तो जाओ, मैं तुम्हारे पर प्रसन्न हुआ हुँ। अँधेरी चौदशकी रात्रिको तुम दोनों एक एक गाड़ी तैयार कर रखना। मैं तुम दोनोंको गाड़ी सहित उस रात्रिको रत्नद्वीपमें लेजाउंगा। वहाॅ अनेकों रत्न मार्गमें विखरे हुए पडे हैं। तुमको वहाॅ दोपहर तक रखुंगा। इसलिये वहाँ तुमसे जितने रत्न लिये जावे लेलेना। दोपहर पश्चात् तुमको गाड़ी सहित उठाकर फिरसे इस स्थानपर ले आउंगा।" वणिक इस वातको सुनकर प्रसन्नताके मारे गद्गद् होगये और उक्त रात्रिको वहुत वड़े मजवूत और सुन्दर दो गाड़ियें तैयार कर ले आये। उनमें वहुतसे रत्न एकत्र कर

रखनके ऐसी युक्ति (सपआदिसे) करदी। निर्मित समयपर यक्षने दोनों गाडियों सहित उन वणियोंको रत्नद्वीपमें आ रखा। जिस स्थानपर उनको रखा वहाँ बहुत सुन्दर प्रकार फैलाई हुए सुगन्धीसे सुगन्धित दो सुन्दर शय्या थी। एक वणिकने विचार किया कि एक घटा इसपर सोकर विश्राम करलूँ। ऐसा विचारकर उसपर सो गया और उसे निद्रा आगई। निद्रा ही निद्रामें दो पहर निकल गये। दूसरे वणिकने तो दूसरे सब काम छोड़कर रत्नोंको बटोरने लगा। उसने दो पहर तक दूसरा कोई कार्य्य नहीं किया। दो पहरके समाप्त होने पर देवने गाड़ियोंको उठाया और दोनोंको उनके नगरके समीप रख दिये। विचक्षण वणिकने तो एकत्रित रत्नोंसे रम्य महल बनवाये और सुखी हुआ किन्तु पहला प्रमादी तो दुःखी ही रहा और विचक्षणकी सम्पत्ति देखकर पश्चात्ताप करने लगा। और उसका द्वेष करने लगा।

उपनय — शुद्ध देव-गुरु-धर्मकी जोगवाई यह रत्नद्वीप है, इसको महापुण्योंसे प्राप्त करनेके पश्चात् कितने ही मूर्ख तो प्रमादी वणिकके समान पराआराम तथा प्रवृत्तिमें समय बिताकर निष्फल होजाते हैं, वे उसके लिये पश्चात्ताप करते हैं। जो प्रथमसे ही सचेत होजाते हैं, वे विचक्षण वणिकके समान अप्रमत्तरूपसे धर्मक्रिया करके केवलमात्र रत्नोंका ही संग्रह करते हैं। उनका मन न तो विषयों-की ओर दौड़ता है न कषाय की ओर दौड़ता है। वे तो साहस-पूर्वक उत्तम व्यवहार, उत्तम वर्तन और दान, शील आदि धर्म-अनुष्ठान करके सम्पूर्ण रात्रिदिन जगते रहते हैं और दूसरी किसी भी वस्तुको अपनी गाड़ी में नहीं रखते हैं, वे तो रत्नों

ही से बात करते हैं, दूसरोंको छूते भी नहीं हैं। मनुष्यभवका आयुष्य केवल दो पहर जितना है[1] उतने समय तक धर्म करनेसे जो फल मिलता है वह बहुत समयतक सुख पहुँचाता है, अतएव यहां इन्द्रियो और मनको वशमें रखकर धर्मधन एकत्र कर लेनेको तैयार रहना चाहिये।

१० दो विद्याधरोंका दृष्टान्त.

वैताढ्य पर्वतपर दो विद्याधर रहते थे। उन्होंने अपने पूज्य पुरुषोंकी बहुत सेवा करके उनके पाससे संसारको वशीभूत करनेकी विद्या सिखली। फिर वे विद्याकी साधना करनेके लिये पृथ्वीपरके किसी ग्राममें आये और उस विद्याकी आराधनाके कल्पानुसार चंडालकी लड़कीके वेविशालकी प्रार्थना की और दोनों घरदामादके रूपमें उसके यहाँ रहने लगे। इन दोनोंने चान्डाल पुत्रीके साथ विवाह किया और साथ ही रहने लगें; किन्तु भिन्न-भिन्न भागमें रहकर वे विद्या साधने लगे। चाण्डाल कन्या नीच होनेसे हावभाव दिखला कर उनको क्षोभ उत्पन्न करती थी; परन्तु दोनोंमेंसें एक विद्याधर तो दृढ़ निश्चयवाला होनेसे किञ्चिन्मात्र भी न डिगा और छ मासतक निरतिचार ब्रह्मचर्य्यका पालनकर विद्या सिद्ध करके वैताढ्य पर्वतपर गया और सर्व लक्ष्मी तथा राज्यसुखका अनुभव करने लगा। दूसरा विद्याधर चाण्डाल कन्यासे क्षोभित हो गया और उससे लिपट पड़ा-ब्रह्मचर्य्यसे भ्रष्ट हुआ। नीचका स्पर्श करनेसे उसके पास जो विद्या थी उसको भी खो दिया और चाण्डाल बनकर दुःखी हुआ।

उपनयः—इस विद्याधरको सब सामग्री मिली थी फिर भी इन्द्रियोंके वशीभूत होकर सब खो बैठा, इसी-

---

१ देवताओंके बड़े आयुष्यके प्रमाणमें मनुष्य आयुष्य बहुत अल्प है।

प्रकार इस संसारमें आसक्तके प्रसंगोंसे अत्यन्त सचेत रहना उचित है। आसक्तको लात लगाना सिखनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसे प्रसंगोंमें मनोविकारके वशीभूत होकर धर्मधन खोदिया जायगा तो दूसरे विद्याधरके समान दुःखी होना पड़ेगा। सत्त्ववत प्राणी प्रथम विद्याधरके समान अपना दृष्टिबिन्दु हजारों जालोंके बीचमें होनेपर भी नहीं चूकते हैं, और जो प्राणी इसप्रकार व्यवहार करते हैं वे अल्पकालमें ही उसके उत्तम फलको प्राप्त करते हैं।

११ निर्भागीका दृष्टान्त.

अनेक देवताओंकी सेवा करनेपर एक जीवको चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ। चिंतामणिरत्नका ऐसा प्रभाव है कि वह जिसके पास हो यदि वह उसकी आराधना करे तो उसको इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है। एक बार वह पुरुष समुद्रमार्गसे अपने देशको आता था। एक रात्रिको चन्द्रकी काँतिके साथ चिन्तामणिरत्नकी काँतिकी समानता की उसको उछालने लगा इतनेमें हाथ हीला, रत्न गिरा, समुद्रमें डूब गया और वह जैसा पहले था वैसा ही फिर से दरिद्री हो गया।

उपनय —मनुष्यभव चिन्तामणिरत्नके सदृश है। अत्यन्त प्रयाससे मिलने योग्य जैनधर्मरूप चिन्तामणिरत्नको प्राप्तकर प्रमादके वशीभूत हो उसको खो दिया जावे तो भविष्यमें अत्यन्त पश्चाताप करना पड़ता है, अतएव रत्नके प्राप्त होनेपर उसके सच्चे मूल्यको जानकर उसको सुरक्षित रखना चाहिये।

शास्त्रकार स्वपर उपकारकी बुद्धिसे ऐसे अनेकों दृष्टान्त बता गये हैं। इन सबका यह सार है कि विषयके वशीभूत न होना, मनपर अंकुश रखना, अपना उत्तरदायित्व समझना, मनुष्यभव और देव–गुरु–धर्मकी प्राप्तिकी दुर्लभता, समझना

और लालचके वशीभूत न हो जाना उचित है। साक्षर तथा निरक्षर सर्वोको शिक्षा देनेवाले होनेसे इन दृष्टान्तोंपर उचित विवेचन किया गया है।

प्रत्येक इन्द्रियसे दुःखपर दृष्टान्त.

पतङ्गभृङ्गैणखगाहिमीन-
द्विपद्विपारिप्रमुखाः प्रमादैः।
शोच्या यथा स्युर्मृतिबन्ध-दुःखै
श्चिरायभावी त्वमपीति जन्तो! ॥१४॥

"पतंग, भ्रमर, हिरण, पक्षी, सर्प, मच्छी हाथी, सिंह आदि प्रमादसे एक एक इन्द्रियके विषयरूप प्रमादके वश हो जानेसे जिसप्रकार मरण, बंधन आदि दुखोंका कष्ट भोगते है, इसीप्रकार हे जीव! तू भी इन्द्रियोंके वशीभूत होकर अनन्त काल तक दुख भोगेगा।" उपजाति.

विवेचनः—उपर सामान्यरूपसे प्रमाद त्याग करनेका उपदेश किया गया है, उसमें अनेको दृष्टान्त बताकर कहा गया है कि यदि प्रमाद किया जायगा तो अत्यन्त दुख उठाने पड़ेगे। यहाँ बताया गया है कि एक एक इन्द्रियके वशीभूत होने से भी अत्यन्त कष्ट उठाने पड़ते हैं। बेचारे तिर्यंचोंको भी एक एक इन्द्रियके वशीभूत होनेसे वध, बंधनादि सहन करने पड़ते हैं और अन्तमें मृत्यु भी प्राप्त होती हैं, तो फिर तू तो जो पांचों इन्द्रियोंको निरंकुशरूपसे व्यवहारमें लाता है विचार कर कि तेरी क्या दशा होगी?

१ पतंग—रात्रिमें सुवर्ण जैसे रंगवाले दीपकको देख-कर पतंग उसके मोहसे आकर्षितहोकर उसपर जाकर अपने जीवनको होम देता है, जिससे वह शिघ्र ही जलजाता है या

उसमें डूब कर मरजाता है। चक्षुरिन्द्रिय के वशीभूत होनेसे यह मरणदुःख हुआ।

२ भ्रमर—सुगंधीके मोहसे सन्ध्याकालतक भ्रमर कमलमें बैठा रहता है और उसमें मस्त होजाता है, सायंकालको जब कमल बन्द होने लगता है तब भी विचार करता है कि—"उड़ता हूँ" "उड़ता हूँ" इतनेमें कमल बन्द होजाता है,फिर वह नहीं निकल सकता है और सम्पूर्ण रात्रिभर बन्दि बना रहता है। इसपर भी प्रातःकाल होने पर जो हाथी आता है वह कमल को उखाड़ कर भक्षण कर जाता है इससे भ्रमरकी उसीके अन्दर मृत्यु होजाती है।

हाथीके गण्डस्थलोंमेंसे मद टपकता रहता है उसकी सुगन्धीसे आकर्षित होकर हाथीके मस्तकके आसपास भ्रमर गुंजार करते हैं। हाथी कान फड़फड़ाता रहता है जिसके सपाटेमें आनेसे कितने ही भ्रमर मृत्युके शिकार होते हैं। यह नासिकाइन्द्रियके वशीभूत होनेका दुःख है।

३ हिरन:—जब हिरनको जालमें फसाना होता है तब पारधी सुन्दर सीमासे मधुर गायन करता है, जिसको सुनकर अटवीके हिरण अपने आप खिंचे चले आते हैं। उन बेचारोंको यह भान नहीं रहता कि सुनने आनेसे अपने प्राणोंकी आहुति देनी पड़ेगी। उस समय पारधी अपनी फैलाई हुई जालको एकत्र कर लेता है, और भोला मृग उसका शिकार होजाता है। यह श्रवणइन्द्रियके वशीभूत होनेका दुःख है।

४ पक्षी:—नीचे गेहूँ, ज्वार, बाजरी आदि अनाज बिखार कर उसपर जाल फैलाकर पारधी दूर छिप कर बैठ जाते हैं। अनाजके लोभसे भोले कबूतर और अन्य दूसरे पक्षी ललचाते हैं और अन्न खानेको आनेपर जालमें फँस जाते हैं। फसनेवाले

पक्षी अन्नके दानोंको देखते हैं। लोभीका एक नेत्र ही खुला हुआ होता हैं, अतएव वह फैलाइ हुई झालको नहीं देख पाता है। वेचारे अनेकों पक्षी इसप्रकार झालमें फँस जाते हैं। यह दुःख जिह्वाके वशीभूत होनेके कारण होता हैं।

५ सर्पः—कर्णके वशीभूत होकर सर्प वांसरीका शब्द सुनने को अपने विलमेसें वाहर आता है और फिर सपेरा उसे पकड़ लेता है और उसे जन्मपर्य्यन्त उसका बन्दी वनना पड़ता है। यह कर्णके वशीभूत होनेसे वन्दी होनेका दूसरा दृष्टान्त हुआ।

६ मच्छी—मच्छीमार लोहेके आँकडेमें खानेका पदार्थ लगाकर उसको जलाशयमें डाल देता है। मच्छी उस पदार्थके रससे आकर्षित होकर उसको खानेके लिये आती है। वह पदार्थ खाना तो दूर रहा किन्तु वह आंकड़ा तालूमें घुस जाता है और मच्छी मृत्युको प्राप्त होती है। जीभके वशीभूत होकर मरनेका यह दूसरा दृष्टान्त हैं।

७ हाथी—हाथीको निम्न लिखित प्रकारसे पकड़ते हैं। जव उसको पकड़ना होता है तव अत्यन्त दूर स्थानपर एक हाथिनीको खड़ी कर देते हैं, और उसके आगे एक बड़ा गड्ढा खोद देते हैं। कितनी ही वार एसे गड्ढेमें कागजकी हाथिनी वनाकर रख देते हैं और हाथिनीका मूत्र इधरउधर छिड़क देते हैं, जिसकी गन्धसे आकर्षित होकर हाथी वहाँ आता है। गड्ढेमें तृण आदि भर कर ऊपरसे उसे ढ़क देते है, इस लिये हाथी जैसा दूरसे आता है वसा ही हथिनीको देखकर कामाविकारके वशीभूत होजाता है। अतएव दौड़ता दौड़ता जब हाथिनीके समीप जाता है तो गड्ढेमें गिर जाता है; जिससे उसको वन्धन आदि महादुःख प्राप्त होते हैं। यह दुःख स्पर्शेन्द्रियके वशीभूत होनेसे प्राप्त हुआ है।

८ सिंह—सिंहको पकड़नेके लिये एक बड़े कटहरेके दो विभाग बनाये जाते हैं। एक भागमें एक बकरेको बन्द करके मजबूतीसे रख देते हैं। दूसरा भाग खुला रख कर उसके ऊपर पुरुष बैठता है। सिंह लोभसे आता है और बकरेके मांससे ललचा कर ज्योंहि कटहरेके अन्दर प्रवेश करता है त्योंही ऊपरका पुरुष दरवाजा बन्द कर देता है और सिंह कैद होजाता है, अथवा बकरा खुला रखते हैं तो उसको मारनेके लिये आता हुआ सिंहको मार दिया जाता है। यह जीभके वशीभूत होनेका दुःख है।

इसप्रकार एक एक इन्द्रियके वशीभूत होनेसे उक्त तिर्यंच मरणकष्ट जैसा अथवा मृत्युको ही प्राप्त होते हैं। उनमें समझने की शक्ति कम है। तू समझदार है, संसारके स्वरूपको जानता है फिर भी यदि मोहके वशीभूत होकर इन्द्रियोंपर अंकुश नहीं रखेगा तो मनपर भी अंकुश न रह सकेगा तो फिर सब परिश्रम लग भग व्यर्थ ही होगा। अतएव चेत, देख, जागृत हो और विचार कर।

प्रमादका त्याज्यपन

पुरापि पापैः पतितोऽसि दुःख–
राशौ पुनर्मूढ ! करोषि तानि ।
मज्जन्महापङ्किलवारिपूरे,
शिला निजे मूर्ध्नि गलेच धत्से ॥१५॥

"हे मूढ ! तू पहले भी पापोंके कारण दुःखोंकी राशीमें गिरा है और फिर भी उन्हीका आचरण करता है। अत्यन्त कीचड़वाले भरपूर पानीमें गिरते गिरते वास्तवमें तू तो तेरे गले और मस्तक पर बड़ा भारी पत्थर बांधता है ?"

उपजाति.

विवेचन—पापसे संसारमें डूबता है और फिर भी उन्हीं पापोंको करता है। डूबते हुए पुरुषके गर्दनमें यदि घट्टीका पाट या बड़ा पत्थर बांध दिया जावे तो वह विशेष डूबता जाता है और उसका मुर्दा भी हाथ नहीं आ सकता है, कारण कि उसका भार अधिक होनेसे वह ऊपर नहीं उठ सकता है। पापी डूबते डूबते भी ऐसे पाप करते हैं कि जिससे वह अधिकसे अधिक डूबता ही जाता है। इस सबका अर्थ स्पष्ट ही है।

सुखप्राप्ति और दुःख-नाशका उपाय.

पुनः पुनर्जीव तवोपदिश्यते,
　विभेषि दुःखात्सुखमीहसे चेत्।
कुरुष्व तत्किञ्चन येन वाञ्छितं,
　भवेत्तवास्तेऽवसरोऽयमेव यत् ॥१६॥

" हे भाई ! हम तो तुझे वारम्बार यही कहते हैं कि यदि तु दुखोंका भय तथा सुखोंकी अभिलाषा रखता हो तो ऐसा कार्य्य कर कि जिससे तुझे वाञ्छित वस्तुकी प्राप्ति हो सके, क्यों कि इस समय तुझे सुअवसर प्राप्त हो गया है (यह तेरा समय है)। "　　　वंशस्थ.

विवेचन—ज्ञानी गुरु दयाके भण्डार होते हैं। उनको इस जीवकी दुःखित दशा देखकर अत्यन्त दया उत्पन्न होजाती है, इस लिये तुझे सब उपदेशका सार बताते हैं कि हे भाई ! तूने इस समय पंचेन्द्रियपन, आर्यक्षेत्र, मनुष्यभव, धर्मसाधन निमित्त सर्व इन्द्रियोंकी अनुकूलता, जैनधर्म, सत्यतत्त्वोपदेशक गुरुमहाराजका योग और ऐसे ऐसे दूसरे अनेकों योगोंको प्राप्त किया है इस लिये अब तुझे सारांशमें कहते हैं जो सम्पूर्ण शास्त्रमें कहा गया है उसका सार तुझे आधे श्लोकमें ही कहते हैं कि-

तू ऐसा कार्य्य कर कि जिससे तुझे वाञ्छित वस्तुमें सफलता प्राप्त हो ' इस समय तो ऐसा अमितवतप, संयम, धृति, ब्रह्मचर्य्यादि, विरति आदि कर कि जिससे तेरे सब भवके दुःखोंका अन्त हो जाय। यह समय तेरे हाथमें स्वयं समय है। ऐसा अवसर बार बार हाथमें न आ सकेगा और फिर धन गये पश्चात् ज्ञान और आयुके व्यतीत हो जाने पर वैराग्य व्यर्थ है। संस्कृतमें एक कहावत है कि " अशक्तिमान भवेत्साधु, वृद्धा नारी पतिव्रता " अशक्तिमान् होनेपर पुरुष साधु बन कर बैठ जाता है और वृद्ध स्त्री पतिव्रता होनेका दावा करे तो इसमें कुछ विशेषता नहीं है। जिस समय शरीरकी सब इन्द्रियाँ मजबूत हों, काम करनेकी शक्ति हो उस समय इन्द्रियोंपर अङ्कुश रखना, सुकृत्यमें ही शक्तिका व्यय करना प्रशस्य है। सुखप्राप्तिकी अभिलाषा हो और दुःखके परित्याग करनेकी कामना हो तो इस सुअवसरसे लाभ उठाव। सद्गुण प्राप्त करनेकी प्रबल अभिलाषाके साथ साथ दुर्गुणों पर दृढ़ विराग हो जाने पर धीरे धीरे तेरा साध्यबिन्दु समीप आता जाता है जिसको तुझे बारम्बार समझानेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा करनेका इस भवमें तुझे स्वयं अवसर प्राप्त हो गया है, अतः उससे पूरा लाभ उठाले।

सुखप्राप्तिका उपाय-धर्मसर्वस्व.

धनाङ्गसौख्यस्वजनानसूनपि,
　त्यज त्यजेकं न च धर्ममार्हतम्।
भवन्ति धर्माद्धि भवे भवेऽर्थिता-
　न्यमून्यमीभि· पुनरेष दुर्लभ ॥ १७ ॥

" पैसा, शरीर, सुख, सगेसम्बन्धी और अन्तमें प्राण

भी छोड़ दे, परन्तु एक वीतराग अर्हंत परमात्माके बताये हुए धर्मको कदापि न छोड़; धर्मसे भवोभवमें ये पदार्थ, (पैसा, सुख आदि) प्राप्त होंगे, परन्तु इनसे (पैसों आदिसे) वह (धर्म) मिलना दुर्लभ है।" वंशस्थ.

विवेचन—गत श्लोकमें कहा गया था कि तुझे यहाँ धर्म करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ है, इसी बातको यहाँ विशेषतया स्पष्ट किया जाता है। धर्मके लिये सब कुछ छोड़ देना योग्य है, किन्तु किसी भी वस्तु निमित्त चाहे जितने लाभ निमित्त धर्मको छोड़ना योग्य नहीं है। पुरुष पांच दस रुपयेके लिये धर्मको छोड़ देता है, मिथ्या भाषण करता है और कितने ही पुरुष तो एक दमड़ीके लिये भी सैंकड़ो शपथ खाते हैं, इन्द्रियोंको तृप्त करने निमित्त अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन करते हैं, अकाले भोजन करते हैं, अपेयका पान करते हैं और जैसा मनमें आता है वैसा बोलते हैं। यह जो सब कुछ होता है इसका कारण विचारने योग्य है। इस जीवको यह भान नहीं है कि अपना क्या है और पराया क्या है, आत्मिक क्या है और पौद्‌गलिक क्या है? अर्थात् भेदज्ञान नहीं है। यह ज्ञान जब तक उचित रूपसे नहीं होता है तब तक सब व्यर्थ है। इस ज्ञानके बिना मनुष्य जितना कहें उतना दुष्ट आचरण करता है, किन्तु विचार नहीं करता कि—

धर्मादधिगतैश्वर्यो धर्ममेव निहन्ति यः।
कथं शुभायतिर्भावी स स्वामिद्रोहपातकी॥

"जिस धर्मके प्रभावसे ऐश्वर्य्य प्राप्त करता है उसी ऐश्वर्य्यसे उसके स्वामी धर्मका नाश करता है तो फिर उसका भला क्यों हो सकता है? वह स्वामीद्रोही है जिससे महापापी है।" इसप्रकार धर्मका नाश करनेवाला स्वामीद्रोह करता है और स्वामीद्रोही इस भव तथा परभवमें दुःखी होता है। शास्त्रकार

कहते हैं कि " धर्म अर्थ इहां प्राणने जो, छंडे पण नही धर्म " जो सत्त्ववंत प्राणी होते हैं वे धर्मके लिये जीवन दे देते हैं किन्तु जीवनके लिये धर्म कदापि नहीं छोड़ते हैं। कारण कि धर्म ही सर्वस्व है और इसीसे सब कुछ प्राप्त होता है, परन्तु जब धर्मको छोड़ दिया जाता है तो फिर ऐश्वर्य, यौवन, वैभव आदि कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता है और जो कुछ प्राप्त हो गया हो वह भी नष्ट हो जाता है। अतएव प्राणोंके जाने पर भी धर्मका त्याग न करना चाहिये। इस हेतुसे ही सूक्तमुक्तावलीके कर्त्ता ने धर्म, अर्थ और कामरूप तीन पुरुषार्थोंमेंसे केवल धर्मको ही प्रधान बताया है। 'तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति' उन तीनों प्रकारके पुरुषार्थोंमेंसे ज्ञानीपुरुष धर्मको ही सर्वश्रेष्ठ बतलाते हैं। जब ऐसा कहा जाता है कि हे सद्गृहस्थो[1] तीनों पुरुषार्थ सामान्यतया साधने योग्य हैं तब भी जब धर्मकी कोई कमी न होती हो तब समझना (इस विषयपर विशेष विवेचन बारहवें अधिकारमें किया जायगा)।

सकाम दुःखसहन-उससे लाभ

दुःखं यथा बहुविधं सहसेऽप्यकामः,
काम तथा सहसि चेत्करुणादिभावैः।
अल्पीयसापि तव तेन भवान्तरे स्या-
दात्यन्तिकी सकलदुःखनिवृत्तिरेव ॥ १८ ॥

" बिना इच्छा भी जिस प्रकार तू अनेक प्रकारके दुःख भोगता है उसीप्रकार यदि तू करुणादिक भावनासे इच्छापूर्वक थोड़ेसे भी दुःख सहन करले तो भवान्तरमें सदैवके लिये सर्व दुःखोंसे निवृत्ति हो जायगी।" वसंततिलका

१ एवौपाकर्यमवेनानिसमात्मनेपदमशुभ धानिर्दिष्टमिति परस्मैपदम्।

विवेचन—यह प्राणी पैसोंके लिये और कर्मके वशीभूत होनेसे शीत, धूप, भूख, प्यास आदि सब सहन करता है, दो बजे खाता है, सब दिन भूखा रहता है, उत्तेजित शेठोंके विचित्र आज्ञाओंका पालन करता है, मार खाता है और स्वाधीन तथा पराधीनरूपसे सर्व प्रकारके दुःख भोगता है। इसी प्रकारके कष्ट कर्मक्षयकी अभिलाषासे सहन करने पर यतिगण मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस जीवकी अभिलाषामें फेर होनेसे इसको लाभकी प्राप्ति नहीं होती है। जो यदि प्रथम अधिकारमें कहे अनुसार स्वरूपवाली मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ ये चार भावनाए रखकर उचित रीतिसे यदि दुःख सहन किये जायें तो कार्य्य सफल हो सकता है। मेघकुमार हाथीके भवमें करुणा लाकर जो तीन दिन तक पैर ऊंचा रक्खा उससे कितना लाभ प्राप्त किया ? हजारों वर्ष पर्य्यन्त घोर तपस्या करने पर भी यदि मनमें पौद्गलिक सुखकी अभिलाषा हो तो अज्ञानसे कष्टद्वारा उलटी संसारकी वृद्धि होती है। अपितु दूसरी प्रकारसे देखा जावे तो एकेन्द्रिय, बेइंद्रिय, तेइन्द्रिय और चौरिंद्रियपनमें उसी प्रकार पंचेन्द्रियतिर्यंच पनमें यह जीव कर्मक्षयकी इच्छा बिना अनेकों दुःख सहन करता है। जो दुःख इस जीवने सहन किये हैं उससे कम दुःख भी यदि यह पौद्गलिक सुखकी अभिलाषा बिना सहन करे तो इसके सदैवके लिये दुःखोंका अन्त हो जाय। ऐसे दुःख समकितदृष्टि जीव पुद्गलके सुखकी बुद्धि सिंवा सहन करते हैं इससे उनको सकामनिर्जरा हो जाती है। 'सकाम' शब्दका अर्थ यहाँ विचारने योग्य है। सकाम अर्थात् इच्छापूर्वक—देखभालकर—समझकर किया हुआ कार्य्य; परन्तु इसमें फलापेक्षा नहीं होती और यदि होती है तो एक मात्र कर्मक्षय करनेकी ही होती है, पौद्गलिक सुख मिलनेकी

नहीं होती है। अमुक गुणस्थान प्राप्त होनेके पश्चात् जब असग अनुष्ठान प्राप्त होता है अर्थात् जब आत्मपरिणति इतनी सीधी हो जाती है कि बिना धारणाके भी शुद्ध वर्तन ही हो तो फिर 'कर्मक्षय' की भी कामना नहीं रहती है। कीर्ति, लाभ या ऐसी इच्छा रखकर अनुष्ठान करनेकी आज्ञा नहीं है, परन्तु कर्मक्षयका निमित्त ध्यानमें रखकर उस कामनासे अनुष्ठान करनेकी आज्ञा है और जब असग अनुष्ठान प्राप्त होता है तब वह कामना भी अपने आप चली जाती है। भक्तिमार्गकी पुष्टिके लिये प्रभुके चरणोंमें सर्व अर्पण करनेका जो प्रवाद श्रीमद्-भगवद्गीतामें कहा गया है उसका इस विषयके साथ विशेष सम्बन्ध नहीं है, कारण कि उसमें अपनी स्वस्थिति—अधिकार अथवा योग्यता बिना किसी भी फलकी अपेक्षा रखे बिना कार्य्य-कर्म करनेकी आज्ञा है। इसप्रकार वर्तन यहां इष्ट नहीं है, कर्मक्षयका निमित्त रहने पर ही नये बंधनेवाले अशुभ कर्मोंका भय और मोक्ष प्राप्तिके अनुकूल शुभ कर्मों पर उचित लक्ष्य रह सकता है। इसप्रकारके अनुष्ठानोंको जैन परिभाषानुसार 'सकाम' अनुष्ठान कहे जाते हैं।

पापकर्मोंमें भलाई माननेवालेके प्रति.

प्रगल्भसे कर्मसु पापकेष्वरे,
यदाशया शर्म न तद्विनानितम्।
विभावयस्तच्च विनश्वर द्रुतं,
बिभेषि किं दुर्गतिदुःखतो न हि? ॥१९॥

" जिन सुखोंकी इच्छासे तू पापकर्मोंमें मूर्खतासे प्रवीण हो जाता है वे सुख तो जीवितव्य बिना किसी कामके नहीं हैं; और जिन्दगी तो शीघ्र ही नाश होनेवाली है ऐसे

जब तू स्वयं जानता है तो फिर हे भाई ! तू दुर्गतिके दुःखों-
से क्यों नहीं डरता है ?" वंशस्थ.

विवेचन—अनेकों जीव पापमें भी अभिमान करते है। स्वयं पापात्मक व्यापार करता हो तो दूसरोंको कहता है कि अरे भाई ! इस व्यापारसे ऐसा लाभ और अर्थशास्त्रोंका ऐसा विचार है और ऐसा है वैसा है आदि । व्यापारकी प्रवृत्तिमें जो असद्व्यापार करता है और उससे जो सुख मिलनेकी अभिलाषा रखता है उस सुखका आधार तो एक मात्र जिन्दगीपर ही है, इस लिये प्राप्त किया हुआ सुख बहुधा इस भवतक ही चलेगा, इससे और अधिक कुछ भी साथ नहीं आवेगा। उपार्जित की हुई लक्ष्मी, बनाई हुई हवेलियें, गाड़ियें, सुन्दर घोड़ोंकी जोड़ियें और पहनेके कपड़े तथा छिड़कनेके सेन्ट लवन्डर सर्व यहीं रहनेवाले हैं। जीवनका भरोसा नहीं है। सुस्वस्थ दिखाता पुरुष भी पल-भरमें उड़ जाता है। जीवन ऐसा अस्थिर है और पापकर्मोंसे आगामी भवमें दुःख तो बहुत होनेवाला है तो फिर तुझे वे दुःख अधिक कष्टदायक जान पड़ते हैं या यहाँके अल्पस्थायी सुख अधिक प्रिय जान पड़ते हैं ? हे भाई ! थोड़ा–सा विचार कर, पापकर्मोंको करके उनपर पंडिताईका तीव्र रस चढ़ाकर निका-चितबंध न कर । अमुक प्रवृत्ति किये बिना नहीं चल सकता हो उसको सामान्य रूपसे करे परन्तु उसपर और अभिमानद्वारा नया रस चढ़ाना यह विद्वत्ताका लक्षण नहीं है ।

शेठ और महन्त.

इस सम्बन्धमें एक दृष्टान्त बहुत मनन करने योग्य है । एक सेठने सुन्दर बंगला बनवाया । उसमें बहुत–सा फरनिचर एकत्र किया और रंगरोगान करके उसे भव्य मन्दिर बना दिया । उसके यहाँ जितने महमान आते उनको बंगलेका प्रत्येक

बिभाग दिखाता और उनके द्वारा की हुई प्रशंसा सुन कर मनमें बहुत प्रसन्न होता था। एक दिन उनके यहाँ एक महन्त आये। दूसरोंकी भाँति उनको भी सम्पूर्ण बंगला दिखलाया और बारबार उनसे अपनी प्रशंसा सुननेकी अभिलाषा करने लगा, किन्तु महन्त महाराज तो कुछ भी न बोले। यह देखकर सेठ बोला कि "साहब! प्रथम होलमें आपको जो फरनीचर दिखलाया गया था वह चीनसे आर्डरद्वारा मंगवाया गया है, दीवानखाने-का सब फरनीचर जापानी है, ड्राइंगरुमका सब फरनीचर इंग-लिश है, खासमारोंपर फ्रेन्चपोलिस मुख्य कारीगरोंद्वारा कराया गया है, चीनी काम सब जर्मन है, और रंग वार्नीश सब जयपुरके चितारोंको बुलाकर कराया गया है।" यह सब बातें सुनने पर भी महंत मौन ही रहा। कारण बिना प्रशंसा करनेसे आरम्भके भागी होते हैं यह नियम महन्तके मनमें सुविदित था। अन्तमें सेठने कहा 'साहब! आप क्यों मौन हैं? क्यों कुछ नहीं कहते हैं?" महंतजी प्रसंग उपस्थित होने पर बोले "सेठ! मैं तुम्हारे गृहके फरनीचर, बनावट आदिका ही विचार कर रहा हूँ, परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि घरकी बनावटमें तू ने एक बड़ी भारी भूल की है।" सेठको आश्चर्य हुआ कि ऐसे सुन्दर फरनीचरसे फरसीश किये हुए बंगलेमें कौन-सी बड़ी भूल रह गई होगी? स्वाभाविकतया 'भूल क्या है?' ऐसा प्रश्न उठाया। प्रत्युत्तरमें महंत बोला कि 'सेठ! तू ने जो ये द्वार रखे हैं ये न रखने चाहिये थे।' सेठने कहा 'महाराज! आप यह क्या फरमाते हैं? बिना द्वारके मकान कैसे हो सकता है?' महंत कहता है कि "मैं सकारण ही कहता हु। एक दिन ऐसा आयगा कि दूसरे पुरुष तुझे इन द्वारोंमेंसे बाहर निकाल देंगे, और फिर तु कभी भी

प्रवेश न कर सकेगा । यदि तु प्रवेश करनेकी अभिलाषा करेगा तो दूसरे तुझे आते देखना भी न चाहेंगे; अतएव यदि तूने द्वार न रखे होते तो तुझे बाहर ही न जाना पड़ता । ' सेठ इसका भावार्थ समझ गया और घरका ममत्व छोड़ दिया । महादानेश्वरी होकर सबका दान करनेके पश्चात् महन्तके पाससे ही व्रत लेकर आत्मकर्ममें उद्यत होगया । इस श्लोकका यह भाव विचारने योग्य है ।

तेरे कृत्य और भविष्यका विचार.

कर्माणि रे जीव ! करोषि तानि,
यैस्ते भविज्यो विपदो ह्यनन्ताः ।
ताभ्यो भियात्तद्दधसेऽधुना किं ?
संभाविताभ्योऽपि भृशाकुलत्वम् ॥ २० ॥

" हे जीव ! तू ऐसे कर्म करता है कि जिसके कारण तुझे भविष्यमें अनन्त आपत्तियें उठानी पड़ती हैं, तो फिर संभवित ऐसी विपत्तियों के भयसे इस समय अत्यन्त आकुल व्याकुल क्यों होता है ? "　　　　इन्द्रवज्र.

विवेचन—गुरु महाराज व्याख्यान देते हो उन शास्त्रोंको श्रवण करते समय जब नरकका अधिकार चलता हो तब नारकी

---

१ तीसरी पंक्तिमें ' चेत् ' (' तत्) के स्थानमें] पाठान्तर है । इन दो पंक्तियोंका अर्थ इसप्रकार करना चाहिये । यदि तू विपत्तियोंसे नहीं डरता हो तो इस भवमें कल्पित तथा आरोपण की हुई अथवा भविष्यमें होनेवाली ऐसी इन विपत्तियोंसे तू आकुलव्याकुल क्यों हो जाता है ? " इसका भाव यह है कि तुझे भविष्यमें अनेकों विपत्तिये हों ऐसे तू कार्य करता है, परन्तु उन्हें सहन करनेकी तुझमें शक्ति नहीं है, क्योंकि अभी इस भवमें साधारणरूपसे कदाच मात्र होनेवाली अथवा तद्दन काल्पनिक विपत्तियोंसे डरा करता है और भविष्यमें चाहे विपत्तियें क्यों न झेलनी पड़े ऐसा तू बोलता है वह नितान्त अनुचित है, परस्परविरोधी है और अविचारी है ।

के दुःख और वहाँ होनेवाली अन्यान्यकृत, क्षेत्रज और परमाधामीकृत वेदनाका स्वरूप सुनकर यह जीव कंपायमान हो जाता है, दुःखी होता है और घबराने लगता है। दूसरे तिर्यंच आदिके अबाध्य दुःखोंको सुनकर भी निःसासा डालता है। स्वयं जानता है कि पापकर्मोंके करनेसे नारकी तथा तिर्यंचके अनेकों दुःख होवे हैं, फिर भी स्वयं तो पाप ही किया करता है। शास्त्रश्रवणके समय कम्पायपन और कार्यरेखा इन दोनोंके बीचमें विलक्षण विरोध है। जिसप्रकार सुखकी अभिलाषावाले सुखके विचारसे ही दोड़ते हैं और फिर उस विचारके अनुसार कितना ही कष्ट सहन करके सुख प्राप्त करनेका प्रयास करते हैं इसीप्रकार दुःखके परित्यागकी अभिलाषा रखनेवाले उसी विचारसे उस विचारके अनुकूल मार्गमें दोड़ते होवे तो नारकीका भय कभीका कम हो गया होता, अर्थात् संसारी जीवके दुःख मिट गये होते। इससे यह तात्पर्य है कि जिन दुःखोंका वर्णन सुननेमात्रसे ही कम्पायपन–रोमांच उत्पन्न होता है वे दुःख जिन पापकर्मोंसे होवे हैं उन पापकर्मोंको करना छोड़ दो।

सहचारिकी मृत्युसे बोध

ये पालिता वृद्धिमिता: सहैव,
　स्निग्धा भृशं स्नेहपदं च ये ते ।
यमेन तानप्यदय गृहीतान्,
　ज्ञात्वापि किं न त्वरसे हिताय ॥ २१ ॥

"जिनका तेरे साथ पालन–पोषण हुआ और जो बड़े भी तेरे साथ ही साथ हुए, अपितु जो तेरे अत्यन्त स्नेही थे और जो तेरे प्रेमपात्र थे उनको भी यमराजने

निर्दयतापूर्वक उठा लिया है ऐसा समझकर भी तू स्वहित साधननिमित्त शिघ्रता क्यों नहीं करता है ?"   उपजाति.

विवेचन—जिन भाइयों तथा गलिके लड़कोंके साथ खेल-कूद किया, साथ पाले पोषे गये, साथ आनन्द किया, जिनपर अत्यन्त स्नेह था, जो प्राणसे भी अधिक प्रिय थे ऐसे भी अनेकों इस संसारसे कूच कर गये। प्रत्येक प्राणीको अनुभव होगा कि उसके निकटवृति मित्र, अत्यन्त स्नेहवान् स्त्री या भर्ता, पुत्रपर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले मातापिता, निकटवृति सहायक और भाई प्रेमी इस संसारको छोड़कर चल बसे हैं अथवा उनको यह संसार परित्याग करना पड़ा है। उनकी अकाल मृत्युको देख कर जो बोध होना चाहिये वह यह है कि अहो ! उनकी तरह हमारी भी एक न एक दिन अवश्य इस संसारसे कूच करनेकी वारी आयेगी, इसलिये हमको जो कुछ करना हो कर लेना चाहिये, आत्महित क्या है ? इसे विचारना और इसे करना योग्य है। मरनेसे अल्पमात्र भी न डरना चाहिये परन्तु प्रत्येक क्षण उसके लिये तैयार रहना चाहिये। भर्तृहरि भी वैराग्यशतकमें कहते हैं कि:—

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते,
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवससमासन्नपतना-
द्गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः॥

जिनसे हम उत्पन्न हुए उनको भी गये हुए कितने ही वर्ष हो गये हैं। जिनके साथ हम बड़े हुए उनका भी केवल स्मरणमात्र रह गया है, अब हम भी गिरनेवाले हैं और हमारी अवस्था भी नदी के समीप उगे हुए वृक्षके समान हो गई है। इसीप्रकार शांतसुधारसकर्ताने भी कहा है कि—

यैः सम क्रीडिता ये च भृशमीडिता,
यैः सहाकृष्महि प्रीतिवादम् ।
तान् जनान्वीक्ष्य बत भस्मभूय गतान्,
निर्विशङ्काः स्म इति धिक् प्रमादम् ! ॥

इस श्लोकका भाव ऊपर लिखेअनुसार ही है। ऐसे निकट-वृत्ति स्नेहीको भस्म होते देखते हैं फिर भी हम तो निःशङ्क होकर घूमते रहते हैं। आलस्यमें प्रमादको धिक्कार है ! । इस सबसे यह प्रयोजन है कि प्रत्येक प्राणीको संसारकी अस्थिरता समझकर, विचारकर स्वहित क्या है यह समझते सीखना चाहिये इतना ही नहीं अपितु आचरण भी ऐसा करना चाहिये कि जिससे स्वहित शुद्धि प्राप्त हो सके ।

पुत्र, स्त्री या सगेसम्बन्धियों निमित्त पाप करनेवालोंको उपदेश

यैः क्लिश्यसे त्वं धनबन्ध्वपत्य-
यशः प्रभुत्वादिभिराशयस्थैः[1] ।
कियानिह प्रेत्य च तैर्गुणस्ते,
साध्यः किमायुश्च विचारयैवम् ॥ २२ ॥

"कल्पित धन, सगे, पुत्र, यश, प्रभुत्व आदिसे (आदिके लिये) तू दुःख उठाता है; परन्तु तू विचार कर कि इस भवमें और परभवमें इनसे कितना लाभ उठा सकता है और तेरा आयुष्य कितना है ?"　　　　उपजाति

विवेचन—हे भाई ! लक्ष्मीके लिये जैसा ऊपर बताया गया

१ क्वचित् प्रथम पंक्तिमें "यै क्लिश्यसे धनबन्ध्वपत्य" ऐसा पाठान्तर है, परन्तु जिसका अर्थ धनबन्धुपुत्र व धु अपत्यसे तु कष्ट पाता है परन्तु वि०" इसप्रकार करना चाहिये ।

इसप्रकार तू अनेक कष्ट सहन करता है, इसीप्रकार लड़केके लिये बहुत-सा धन बटोरकर छोड़जाने निमित्त अत्यन्त प्रयास करता है, इसीप्रकार आदरके लिये भी परिश्रम करनेमें भी कुछ बाकी नहीं रखता है और शेठाई निमित्त तो मरा जाता है; परन्तु तू जरा विचार तो कर कि इसभवमें इन कारणोंसे क्या कुछ लाभ सिद्ध हो सकता है ? पैसोंके लिये पैसे एकत्र करना तो एक प्रकारका सन्निपात है और लड़के निमित्त एकत्र करना भी मूर्खता है। किन लड़कोंने बहुत-सी पैतृकसम्पति प्राप्तकर अपने पिताका आभार माना है ? यह शब्द कुछ कठोर मालूम होगा, परन्तु यह सत्य है। इससे यह मतलब नहीं है कि पिताका पुत्रकी ओर कुछ भी कर्तव्य नहीं है, परन्तु पापारंभ और कष्ट सहन कर सम्पत्ति छोड़जानेको कोई पिता बाध्य नही है। इसी-प्रकार प्रतिष्टा अनिश्चित है और शेठाईको जाते हुए देर नही लगती है। इसप्रकार इस भवमें तो व्यर्थ परिश्रम ही होता है और परभवमें पापके भारसे लदा हुआ जीव नारकी और निगोदमें अनन्तकाल पर्यंत भटकता रहता है। यदि कदाच तक-रारके लिये इसभवमें थोड़ा-सा सुख है ऐसा मानों तो भी वह कितने काल तक रहनेवाला है ? मनुष्य आयुष्य इस जमानेमें मध्यमरूपसे ७५ वर्षकी मानी जाती है और उसमें भी महामारी आदिके कोपसे अथवा अन्य किसि व्याधि तथा अकस्मातसे बीचमें ही मृत्युके मुखमें जानेमें देर नहीं लगती है। तब हे जीव! तू क्यों व्यर्थ आकर्षित होकर सबको बिगाडता है ? कितनी ही बार खोटी आशाओंसे आकर्षित होकर और कितनी ही बार कर्तव्यके झूठे विचारोंमे फँसकर यह जीव मुग्धपनके लिये उत्तम आशयसे भी अनेक बुरे कामोंकी श्रेणी बना डालता है; किन्तु वह योग्य विचार नहीं करता है इसलिये ऐसी दशाको प्राप्त होता

हैं। अपनी वास्तविक स्थिति और कर्तव्य क्या है ? इसके विचारनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। विचार भी योग्य अंकुश लिये और रीति अनुसार करना योग्य है। कितनी ही बार अपनेमें हो उससे भी विचार करनेकी अधिक योग्यता माननेमें आती है। दृष्टान्तरूप पितृधर्म, पतिधर्म और लोकधर्ममेंसे कौन-सा धर्म प्रथम कर्तव्यरूप है ऐसे अगत्यके प्रश्नोंमें एक पक्षके विचारोंसे कार्य्य न करना चाहिये, किन्तु अधिक माननीय विवेचक शक्तिवाले पुरुषोंके विचारोंको समझनेका प्रयास करना चाहिये। चाहे जैसे भी करके आत्महित करनेके दृष्टिबिन्दुको न चूकना चाहिये।

परदेशीपंथीका प्रेम-हितविचारणा.

किमु मुह्यसि गत्वरैः पृथक्,
　　कृपणैर्बन्धुवपुः परिग्रहैः।
विमृशस्व हितोपयोगिनोऽ-
　　वसरेऽस्मिन् परलोकपान्थरे ॥ २३ ॥

" हे परलोक जानेवाले पथी ! अलग अलग जानेवाले और तुच्छ ऐसे बन्धु, शरीर और पैसोंसे तू क्यों मोह करता है ? इस समय तेरे सुखमें वृद्धि करनेवाले वास्तविक उपाय क्या है उनका ही विचार कर। "　　गीति

विवेचन—स्त्री, पुत्र, धन, शरीर अलग अलग जानेवाले हैं। धन घरमें ही रह जायगा, स्त्री दरवाजे तक आयगी, पुत्र स्मशान तक आवेंगे और शरीर चिता तक आयगा, परन्तु अन्तमें तो तू अकेला ही रह जायगा। ये सब शरणभूत होनेमें असमर्थ हैं। यहाँ जो सबका समागम हुआ है यह एक मेलेके समान है। तीर्थस्थानपर जैसे अमुक दिन मेला भरता है और दूसरे दिन पीछा सब बिखर जाता है इसीप्रकार आँख बन्द

कर फिरसे देखे तब तक ये सब लोप हो जावेगें और फिर कहाँ जावेगें इसका पत्ता भी न लगेगा। वस्तुस्थिति ऐसी है इसको जान कर, यह विचार कर कि सच्चा हितकारक कौन है? इसको समझनेके पश्चात् जनसमूहके लाभके कार्य्यको कर। आत्महित साधकर इसभवप्रपंचकी पंचायतसे दूर रह। सर्व उपदेशका यह दृष्टिबिन्दु है कि आत्महित कर, संसारबंधको काट डाल और समतारसमें लीन हो जा।

इस श्लोकमें पौद्गलिक वस्तुओं और प्रेमीके प्रेमका वस्तुतः क्या स्वरूप है उसके जानने-विचारनेकी सूचना की गई है और वस्तुतः तेरा हित क्या है उसको विचारकर करनेकी आवश्यकता होना प्रगट किया है। जिन वस्तुओंके बन्धनमें फँसकर यह जीव तदन बाह्य व्यवहारमें फँसा हुआ रहता है, वे वस्तुए बंधनके अथवा प्रेमके योग्य नहीं हैं, और वैसी काल्पनिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये यह जीव इतना मस्त हो जाता है कि स्वयं कौन है? अपना कौन है? अपना हित क्या है? कहाँ है? किसप्रकार प्राप्त हो सकता है? प्राप्त करनेकी पूरी आवश्यकता है या नहीं? आदिके विषयमें विचार करनेका प्रसंग भी नहीं मिल सकता है। इस भूलको सुधारनेका सच्चा उपदेश यहाँ है। सगे स्नेही अर्थात स्त्री, पुत्र, मित्र, शरीर और पैसे आदि तेरेसे प्रेम किये जाने योग्य नहीं हैं, कारण कि ये तेरे नहीं है।

आत्मजाग्रति.

सुखमास्से सुखं शेषे, भुङ्क्षे पिबसि खेलसि।
न जाने त्वग्रतः पुण्यै-र्विना ते किं भविष्यति? ॥२४॥

"सुखसे बैठता है, सुखसे सोता है, सुखसे खाता है, सुखसे पीता है और सुखसे खेलता है, परन्तु तू यह क्यों

नहीं जानता कि पुण्य बिना भविष्यमें तेरी क्या दशा होगी ? ”　　अनुष्टुप्

विवेचन—हे भाई ! तू सुखासनके सिंहासनपर निर्भयता-पूर्वक बैठता है, बिलायती पलंगोंपर सुन्दर चादरें बिछाकर सोता है, जीभको अच्छे लगनेवाले भक्ष्याभक्ष्य पदार्थोंको खाता है, मदिरापान करता है और पेटेंटेड वाटरके अपेय पदार्थोंके गिलासके ग्लास गलेमें उंडेलता है, इसीप्रकार अनेकों क्रीडायें करता है, परन्तु तू विचार तो कर कि ये सब पुण्यके प्रतापसे हैं। तेरा मामलेसे कर्जा वसूल करना है और वह कर्जा वसूल होता जाता है किन्तु मिली हुई पैतृकसम्पत्ति कम होती जाती है, धन कम होता जाता है अर्थात् पुण्य-धन नष्ट होता जाता है। अब इस समय तो तू कुछ भी धन एकत्र करके नहीं रखता है, तो फिर भविष्यमें तेरी क्या दशा होगी ? मुझे तो तेरे लिये चिन्ता होती है किन्तु तू तो विचार भी नहीं करता है।

जिसको यहां सुख, भोग, वैभव, संपत्ति, आरोग्यता प्राप्त हुई हों उसका संसारमें लिपटना एकत्र की हुई सम्पत्तिको उड़ादेने जैसा है, और वैभव आरोग्यता बिना संसारमें लिपटना तो वहन मजूरी करनेके समान है, निष्फल है, और कोई समझदार पुरुष तो ऐसा करनेके लिये सम्मति भी नहीं दे सकता है। भर्तृहरिने एक स्थानपर कहा है कि " मुहके सामने गुणगान किया जाता हो, पासमें कविलोग बिरुदावली बोलते हों, आसपास चमर डुलते हो और सिरपर सेवक छत्र धर रहे हो—ऐसा यदि तेरे हो और फिर तू संसाररसका स्वाद चखनेकी अभिलाषा करे तो कुछ उचित भी जान पड़ती है। " ऐसा तो तेरे पास कुछ भी नहीं है, इसलिये तुझे संसारमें न लिपटना चाहिये। तेरी दशा तो व्यवहारमें जैसी कहावत है कि " न मिला राम न मिली

माया " वैसी ही है। जो कुछ थोड़ा-सा पुण्यधन है तू तो उसको भी खो देता है। तेरी स्थिति उच्च करनेके लिये असंगपन प्राप्त करनेके साधन एकत्र करनेके लिये और चालु निष्फल उपाधियोंसे दूर रहने निमित्त तुझे अभी पुण्यकी अत्यन्त आवश्यकता है; अतएव जो कार्य्य सुखसे-सरलतासे करने चाहिये उनको कर और खानेपीनेमें जो बहुत लक्ष्य है उसका परित्याग कर दे। तेरी अभीकी दशामें तो पुण्यधनके बड़े संचयकी आवश्यकता है। जब तेरी जीवनमुक्त स्थिति आयगी तब तुझे पुण्यकी जरूरत नहीं है। वह स्वरूप तुझे समय आनेपर बताया जायगा अथवा तू अपने आप ही उसको समझ सकेगा।

थोड़े कष्टसे डरता है और अत्यन्त कष्ट भोगनेके कार्य्य करता है.

शीतात्तापान्मक्षिकाकर्त्तृणादि-
स्पर्शाद्युत्थात्कष्टतोऽल्पाद्बिभेषि।
तास्ताश्चैभिः कर्मभिः स्वीकरोषि,
श्वभ्रादीनां वेदना धिग्धियं ते ॥ २५ ॥

" शीत, ताप, मक्खीके डंस और कर्कश तृणादिके स्पर्शसे होनेवाले बहुत थोडे और अल्पस्थायी कष्टोंसे तो तूं भय करता है किन्तु तेरे स्वकृत्योंसे प्राप्त होनेवाली नरकनिगोदकी महावेदनाओंको अंगीकार करता है। तेरी बुद्धिको धन्य है!! "

शालिनी.

विवेचन—ज्ञानी गुरुको एक बड़ाभारी आश्चर्य होता है कि यह जीव यहाँ तो ऐसा सुखशेली हो जाता है कि यदि कपड़ोंमें थोड़ा-सा भी तिनका लग जावे तो उसे भी सहन

नहीं कर सकता है, शीतके मारे चिल्लाता है और उपवनमें टट्टी, कोल्ड्रीम आदि अनेक चिजोंका उपयोग करता है। एक मक्खी या मच्छर भी बैठ जावे तो इसका दम घुटने लग जाता है और तपस्या भी नहीं करता है। एक उपवासके करनेपर भी मानों दूसरोंपर अहसान कर देता है और उसमें अगले दिनकी सायकालको तथा दुसरे दिन प्रात कालको तो इतनी धमाधम मचाता है कि ऐसा उपवास करनेसे भोग दुगना होता है। इसीप्रकार छोटी-बड़ी प्रत्येक बाबतमें यह जीव आग्रहपूर्वक कष्टसे दूर रहनेका प्रयास करता है, परन्तु अपना वर्तन, व्यवहार, आचरण ऐसा रखता है कि जिन दुःखोंसे यह यहाँ डरता है वैसे ही उनसे लाखोगुने अधिक कष्टदायक दुःख सहन करने पड़ते हैं। यहाँ पुण्यधन आ जाता है और फिर उसके दुःख ही दुःख भोगनेकी बारी आती है। गुरुमहाराज कहते हैं कि-' अरे मूर्ख ! तेरी बुद्धिके लिये मैं क्या कहूँ ? तू चाहे गृहस्थ हो, चाहे यति हो, परन्तु तुझे एक कार्य्य अवश्य करना चाहिये और वह यह है कि मनुष्यभवके परिणाममें सम्पत्तिमें टोटा न आने पावे। जितनी पूंजी तू लेकर आया है उसमें कुछ बढ़ोतरी होनी चाहिये। " जो गुरुमहाराजके इस उपदेशपर ध्यान देगा तो तुझे अमोघ लक्ष्मी प्राप्त होगी। अतएव विचारपूर्वक ऐसा प्रयास कर कि जिससे नरक-निगोदके कष्टोंसे बच सके, वरना फिर यदि उस समय तू रोयगा या चिल्लायगा तोभी कोई तेरी सुनाई न होगी।

इस श्लोकसे एक दूसरा भाव भी प्रगट होता है। साधुधर्म ग्रहण करनेमें परीषह सहन करने पड़ते हैं यह सत्य है और इसके भयसे ही अनेकों प्राकृत प्राणी उस धर्मको अंगीकार नहीं कर सकते हैं और उससे डरते रहते हैं, परन्तु उसके बदले यह होता

है कि जिन कष्टोंके भयसे डरते रहते हैं वे ही कष्ट व्यवहारमें सहन करते हैं। शीत, धूप आदि परीषहके रूपमें सहन नहीं करते हैं, परन्तु परतंत्रतासे सब सहन करते हैं। यह लगभग प्रत्येक दिनके अनुभवका विषय है। इसके परिणाममें दोनों भव बिगड़ते हैं। यहाँ कष्ट भोगते है और परभवमें भी पिछा दुर्गतिमें पड़ते हैं। इसप्रकारकी तेरी प्रथक्करण करनेकी बुद्धिको धन्य है !

उपसंहार—पापका डर.

क्वचित्कषायैः क्वचन प्रमादैः,
कदाग्रहैः क्वापि च[1] मत्सराद्यैः।
आत्मानमात्मन् ! कलुषि करोषि,
बिभेषि धिङ्नो नरकादधर्मा ॥ २६ ॥

"हे आत्मन् ! किसी समय कषायद्वारा और किसी समय प्रमादद्वारा, किसी समय कदाग्रहद्वारा और किसी समय मत्सर आदिद्वारा आत्माको मलीन बनाता है। अरे ! तुझे धिक्कार है ! कि तू अधर्मसे तथा नरकसे भी नहीं डरता है !"

विवेचन—यह जीव किसी समय क्रोध करता है, किसी समय अहंकार करता है, किसी समय कपट करता है, किसी समय पैसे-पैसेके लिये फिक फिक किया करता है, किसी समय झूठा अभिनिवेश करता है, किसी समय व्रत-नियमको न लेवे हुए अविरतिपनमें आनंद मानता है, किसी समय मनमें अशुद्ध विचारश्रेणीवृद्ध किया करता है, किसी समय अपने कुल, बल, विद्या, धन आदि पर मद करता है, किसी समय स्त्रीमें आसक्त होकर पड़ा रहता है, किसी समय उत्तम उत्तम पदार्थोंको खाने निमित्त अनेकानेक कार्य्य करता है, किसी समय परस्त्रियोंके

---

१ समत्सराद्यैः इति वा पाठ ।

रूपको देखकर आनंद मानता है, किसी समय राजकथा करता है, किसी समय विरोधी राज्योंकी लड़ाईकी बातें करता है, किसी समय स्त्रियोंकी कथा करता है, किसी समय चार पाईमें (खाटपर) पड़ा पड़ा कई घटों तक करवटे बदलता (निंद लेता) रहता है, किसी समय कदाग्रहमें पड़कर ममत्व करता है, किसी समय ममत्वके लिये संघका तथा जातिका चाहे जितना भी बिगाड़ क्यों न होता हो किन्तु उसका विचार किये बिना ही अपनी इच्छानुसार कार्य्य करता है, किसी समय मत्सर करता है, किसी समय कलह करता है, किसी समय असत्य बोलता है, किसी समय निंदा करता है किसी समय चोरी करता है और किसी समय जीवहिंसा करता है—ऐसे ऐसे अनेकों पापाचरण करके यह जीव मलीन होता है, आत्माको मलीन करता है और संसारमें भटकता है। ऐसे पापोंसे आत्माकी शुद्धतापर मैल चढ़ता जाता है और वह अनन्त संसारसमुद्रमें गोता खाता हुआ तथा डूबता हुआ बहाव हाथमें नहीं रहता है और पानीके भँवरमें चक्कर लगाता रहता है। हे आत्मन् हे चेतन्! यह बहुत ध्यान देने योग्य बात है।

× × × ×

वैराग्य उपदेशद्वार इसप्रकार समाप्त हुआ। इस द्वारकी अत्यन्त महत्ता है क्योंकि वैराग्यका विषय अत्यन्त महत्त्वका है। इस द्वारके प्रथकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक श्लोकके शिरपर जो नाम लिखा गया है वे नाम ही प्रथकरण रूप है। लगभग प्रत्येक श्लोकमें जुदे जुदे वैराग्यके विषयपर विचार प्रगट किये गये हैं। सबका सार यह है कि इस जीवको भेदज्ञान होना चाहिये। आत्मिक वस्तु क्या है और पौद्गलिक वस्तु क्या है? इसका बराबर उचित ज्ञान होना चाहीये। स्वपरकी पहचान

होनी चाहिये। चेतन शुद्ध है, ऐबरहित जवेरात है, कोहिनूर है; परन्तु अनादि अभ्याससे अपनी शुद्धतापर कर्मके पर्दे डाल रक्खे है जिससे उसकी शुद्धता दृष्टिगोचर नहीं होती है। उसकी शुद्ध स्थिति समझने निमित्त अभी की स्थिति अशुद्ध स्थिति है, यह समझना चाहीये और यह ही सम्पूर्ण अधिकारका विषय है। संसारसे वैराग्य प्राप्त करनेकी बहुत आवश्यकता है, कारण कि जो दुःख होते हैं वे सब संसारभ्रमणके कारण ही होवे हैं और यदि विषयकषायपर विजय प्राप्त की जाय तो संसार-भ्रमण मिट जाता है।

संसारपर निर्वेद (वैराग्य) प्राप्त करनेके तीन कारण हैं:—एक इच्छित वस्तु न मिलकर अनिच्छित वस्तु मिलना जिसको शास्त्रकार दुःखगर्भित वैराग्य कहते हैं, दूसरा आत्माका झूठा ज्ञान होनेसे वैराग्य होता है जिसको मोहगर्भित वैराग्य कहते हैं और तीसरा आत्माका शुद्धस्वरूप जानकर—समझकर विचारकर संसार-पर सचमुच उदासीनता लाना उसे (सद्ज्ञानसंगत) ज्ञान-गर्भित वैराग्य कहते हैं। वस्तुस्वरूपके वास्तविक ज्ञान होनेके पश्चात् होनेवाले तीसरी किस्मके वैराग्यसे भवभ्रमणका दुःख मिटता है और मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है।

वैराग्यद्वारके साथ साथ मनुष्यभवकी दुर्लभता समझना अत्यावश्यक है। इस भवमें जो योग मिला है वैसा बार बार शिघ्रतया मिलना कठिन है। शास्त्रांतरगत कई दृष्टान्त जो तेरवें श्लोकमें दिये गये हैं वे मनन करने योग्य है। वांचनकी कितनी ही हक़ीकत चखनेकी होती है कितनी ही गले उतारनेकी और कितनी ही पचानेकी होती हैं[1]। इसीप्रकार यह विषयभी पचानेका है। मुँहमें डालकर, चबाकर, गले उतारकर, पचाना

1 See Bacon's essay on Studies.

अर्थात् इसको पढ़कर, समझकर, मननकर बारम्बार इसका पुनरावर्तन करते रहना चाहिये। मनुष्य तात्कालिक सुखकी ओर विशेष ध्यान देते हैं किन्तु दीर्घदृष्टिसे नहीं देखते हैं, यह भी इतनी ही उपयोगी हकीकत है। इस विषयमें चरित्रबुद्धि रखनेकी आवश्यकता है।

प्रत्येक विषयके सम्बन्धमें योग्य स्थानपर उचित विवेचन किया गया है। संसारमें कोई किसीका नहीं है, स्वार्थका मेला एकत्र हुआ है, इसलिये गृहस्थावास तथा संसारके लिये अपना योग्य कर्तव्य हो उतने समय तक उसके लिये जो करना उचित प्रतीत होता हो वह करे, बाकी वास्तविक कार्य्य तो शांत स्थानमें बैठकर अपना वास्तविक स्वरूप क्या है ? इसका विचार करना यह है। प्रवृत्तिमें पड़े रहनेवालेको सच्चे सुखकी बानगी भी नहीं मिल सकती है, उसके लिये मनुष्यभव एक चक्करके समान होता है, व्यर्थ होता है और अन्तमें पश्चात्ताप कराता है। ऐसी अनेकों उपयोगी हकीकत शास्त्रोंमें भरी पड़ी है, विचारके लिये इतनी ही काफी है, बाकी संसारयात्रा सफल करनेका प्रबल साधन अपने क्षयोपशम अनुसार और गुरुमहाराजके उपदेशानुसार ढूंढ लेनेको प्रत्येकको प्रयत्न करना चाहिये। यह मनुष्यभव किस प्रकार सफल हो सकता है यह विचारना एक टेढ़ा प्रश्न है।

शुद्ध दशा प्राप्त करनेके लिये यह अच्छा अवसर है। पाश्चात्य संस्कारोंके कारण विद्याप्राप्तिके साधन, राज्यकी ओरसे धर्मस्वतंत्रता, पुस्तकोंकी प्राप्तिके लिये मुद्रणयन्त्रका सुभीता, सम्पूर्ण भारतवर्षमें हुई जागृतिके कारण स्वधर्ममर्यादा पुनः स्थापन करने निमित्त संस्कारवालोंकी अभिरुचि और दूसरे अनेकों साधनोंके कारण पहलेकी कितनी ही सदियोंसे वर्तमान समय बहुत अनुकूल समय है। इसके साथ ही साथ पाश्चात्य दृढ संस्कारोंके

कारण धर्मक्रियाओं की ओर पराङ्मुखपन और योग्य संस्कारोंके अभावसे धर्मकी ओर भी उपेक्षावृत्ति प्राबल्य है यह ध्यानमें रखने योग्य है. फिर भी समयकी प्रतिकूलताके सम्बन्धमें विशेष कहनेका कोई कारण नहीं रहता है। इस अनुकूलताको देखकर तथा इस जीवकी उन्नति ध्यानमें रखते हुए इस अवसरसे लाभ उठाना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

यह सम्पूर्ण अधिकार वैराग्यनिमित्त है। उपोद्घातमें इस विषयकी आवश्यकता के विषयमें स्पष्टतया उल्लेख किया गया है। यहाँ केवल वैराग्यके कारण ढूंढना होतो वे आसानीसे मिल सकते हैं। यदि हम संसारका कोई भी प्रसंग लें तो उसमें उक्त कारण सहजहीमें प्राप्त हो सकते हैं। प्रेमकी अस्थिरता, प्रेमीकी मृत्युकी सम्भावना, वस्तुका नाश, यौवनका प्रागल्भ्य, वृद्धावस्थाकी मन्दता, पौद्गलिक पदार्थोंका परिवर्तनशील स्वभाव ये सब वैराग्यको खिचकर ले आते हैं, आकर्षितकर लाते हैं, और मन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। यह तो सामान्य बातहुई परन्तु व्यवहारका कोई भी प्रसंग—सामान्य अथवा असाधारण लेनेपर उसमें वैराग्यके कारण मिलजाते हैं। एक मात्र कठिनता प्रसंगके अनुकूल विचार करनेकी है। एक न एक पुत्रके मरण प्रसंगपर शोक किया जाय तो वह विचार कर्तव्य नहीं है, शास्त्रोक्त नहीं हैं, प्रसंगके अनुकूल नहीं हैं। शुभ तथा अशुभ व्यवहारके कार्योंके लिये कितने ही विचार आते हैं, परन्तु साध्य अनुचित होनेसे वस्तुतः कर्त्तव्यभान करानेवाले विचार नहीं आते हैं। इस अधिकारके प्रत्येक श्लोकपर विचारकर उसका अपने व्यवहारमें भी उपयोग किया जावे तो यहां वर्णन की हुई स्थितिके बदलेमें कुछ नवीन प्रकाश, नूतन स्फूरणा, अभिनव अनुभव होगा। परन्तु केवल अवकाशके समयमें ही वाचनेके

लिये अधिकारान्त श्लोक पढ़े जावें तो उससे स्वात्मानुभव या आत्मदर्शन होनेका बहुत कुछ समय शिघ्रतया तो नहीं होता है।

आत्माकी अनन्त शक्ति है यह अब कोई नई मानने की बात नहीं है। यह स्थिति प्रगट करने निमित्त आत्मद्रव्यपर लगे हुए कर्मोंके समूहोंको दूर करनेकी आवश्यकता है। यह भाव प्राप्त करनेके लिये, शुद्ध आत्मदर्शन करनेकी रुची होने के लिये वैराग्यकी आवश्यकता है। कारण कि संसार और वैराग्य इन दोनोंमें परस्पर विरोध है और जहाँ संसार है वहां कर्म हैं और जहाँ कर्म हैं वहां अधिक या कम आत्मदर्शनविमुखता है। संसारसे वैराग्य प्राप्त करनेके लिये शुद्ध विचारणा करनेकी तथा अपने प्रत्येक कार्य्यपर निरीक्षण करनेकी आवश्यकता इससे स्पष्ट सिद्ध होती है। इस अधिकारका प्रत्येक श्लोक उसी ओर प्रयाण करनेकी सूचना देता हैं।

इति सविवरणो वैराग्योपदेशनामोऽधिकारः ॥



अथैकादशो धर्मशुद्ध्युपदेशाधिकारः



जब तक इस जीवकी धर्मशुद्धि नहीं होती तब तक वैराग्यभाव अथवा मनोनिग्रह सब निष्फल है अथवा अन्य शब्दोंमें कहा जाय तो धर्मशुद्धि बिना ये दोनों भाव प्राप्त नहिं हो सकते हैं। शुद्ध देव, गुरु और धर्मको पहचानकर आदर करना यह आगे बढ़नेकी प्रथम सिढ़ी है और उसकी प्राप्ति निमित्ते यहाँ धर्मशुद्धि कैसे और किसप्रकार करनी चाहिये इसपर उपदेश किया जाता है।

धर्मशुद्धिका उपदेश.

भवेद्भवापायविनाशनाय यः[1],
तमज्ञधर्मं कलुषीकरोषि किम् ?
प्रमादमानोपाधिमत्सरादिभि,
र्नमिश्रितं ह्यौषधमामयापहम् ॥ १ ॥

"हे मूर्ख ! जो धर्म तेरे संसार सम्बन्धी विडंबनाका नाश करनेवाला है उस धर्मको प्रमाद, मान, माया, मत्सर आदिसे क्यों मलिन करता है ? तेरे मनमें अच्छी तरह से समझ लेना

---

१ यह 'य.' शब्द एक ही 'प्रतेमें है, इसकी खास जरूरत है, अन्यथा प्रथम चरणमें ग्यारह अक्षर होते हैं और दूसरा कारण यह है कि 'यद्' शब्दसे उद्देश करके 'तद्' शब्दसे निर्देश किया गया है, ईसीप्रकार प्रथममें धर्मका स्वरूप और फिर उसका कलुषीकरण वतलाया गया है अतः यहां 'यः' शब्द उचित है।

कि) भिभिन्न औषधि व्याधियोंका नाश नहीं कर सकती है।"

वैराग्यशिद्ध

विवेचन—"धर्म" शब्दका अनेकों अर्थोंमें प्रयोग किया जाता है। धर्म अर्थात् अपना कर्तव्य, जैसे मातृधर्म, पितृधर्म आदि, "धर्म" अर्थात् वस्तुस्वभाव। "वत्थुसहावो धम्मो" ओक्सिजनका धर्म यह है कि हाईड्रोजनके साथ मिलकर पानी उत्पन्न करे, धर्म अर्थात् पुण्य, इस अर्थमें प्राकृत भाषामें यह शब्दप्रयोग किया जाता है। शास्त्रकार इस शब्दको अनेकोंबार नीचेके अर्थमें प्रयोग करते हैं। वीतरागप्रणीत वचनानुसार मन-वचन-कायाका शुद्ध व्यापार। इस शब्दके अर्थके स्थानमें इसके भावपर ध्यान देनेकी अधिक आवश्यकता है। शब्दार्थसे तो "धारयतीति धर्मः" (नरकादि अधोगतिमें)—पड़नेवाले जीवको उच्च स्थानमें धारण करे वह धर्म कहलाता है।

दुर्गतिप्रपतज्जन्तुधारणाद्धर्म उच्यते।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः।

भारी वस्तु पानीमें नीचे बैठ जाती है। शुद्ध वर्तन रखनेवाला कर्मसे भारी नहीं होता, इससे कर्म-बन्धन कम होनेसे वह ऊपर उठ जाता है अर्थात् शिवपुरमें चला जाता है। शुद्ध आत्म-धर्मप्रगट करना ही साध्य धर्म है। प्रत्येक प्रयास, प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक वर्तनका साध्य अनन्तगुण प्रगटकर अक्षयसुख प्राप्त करना यह ही है। इसके साधन सामायिक, पूजा, प्रतिष्ठा, देशसेवा, जनसमूह-सेवा, प्राणीसेवा आदि अनेक हैं। कौन-सा साधनधर्म किस जीवको उपयोगी होगा यह अपने आप निश्चय कर लें। कितनी ही बार साधनधर्म और साध्यधर्म समझनेमें अत्यन्त भूल करदी जाती है। सामान्य दृष्टिमें कोई साधन चाहे

कितना ही उपयोगी हो तो भी यदि वह अपनेको प्रतिकूल हो तो उसे छोड देनेमें कोई बाधा नहीं है; परन्तु साध्यधर्मको किसीभी प्रकारसे हानि न होने पावे यह विचार कर क्रिया तथा वर्तन करना चाहिये।

धर्मप्राप्तिकी कितनी आवश्यकता है इसका पूरा पूरा वर्णन करना अति कठिन है। जो जो प्राणी तथा प्रजा अपने धर्मका त्याग कर देते हैं वे इतिहासके पन्नेपरसे विलीन हो जाते हैं। रोमन प्रजाने जब धर्मका त्याग किया तो उन्होंने अपना राज्य खोया और धीरे २ सबकुछ खो दिया। वर्तमान समयमें पाश्चात्य-प्रजामें धार्मिक संस्कार कम होते जाते हैं जिसके लिये तत्त्वचिन्तक अति चिन्तातुर रहते हैं। इसीके कारण आत्महत्या असंतोष महा-प्रवृत्ति होती रहती है और कर्मभाग्यसे हिन्दुस्तानकी प्रजा भी यदि इसका अनुकरण करेगी तो यह अपना सर्वस्व खो देगी और धीरे धीरे इतिहासके पन्नोपरसे भी इसकी श्रेष्ठताका अन्त हो जायगा; परन्तु इसके सुपुत्र अब इस भूलको महसूस करने लगे हैं जिससे सम्भव है कि हम इस भूलसे छुटकारा पा सकेंगे।

आधुनिक सभ्यता Civilisation में अतिव्यवसाय, अति-खर्च, नवीन पदार्थोंका संग्रह, नूतन वस्तुओंके प्राप्त करनेकी कामना और धनकी गुलामगीरी प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इसमें स्वार्थत्याग, परोपकारपरायणवृत्ति और अशक्तका पालन नहीं होता है, भागदौड़में जो आगे निकल जाता है बस उसीका जय है। इसमें धर्म शब्दका लोप होता है, अर्थात् बादमें प्रेम, संतोष, स्थिरता ये तो आही नहीं सकते हैं। इससे प्रजासत्ताक राज्य होने तथा समष्टि बढ़नेकी सम्भावना है किन्तु इससे आत्मिक शांति मिलना कठिन है, वास्तविक आनंद मिलना कठिन है, तथा निरान्त बैठकर स्वस्वरूप जानना कठिन है। आर्य्य प्रजाके

लिये धर्म ही सबकुछ है, अत नवीनयुगकी प्रवृत्तिमें पड़नेके साथ ही साथ यदि धर्मतत्त्व क्या है? इसके विचारनेका अवकाश रहे तो कुछ अशमें मृदुता होगी। वरना धनके विचारमें राज्यद्वारी खटपटमें और निर्णयरहित वादविवादमें वृथा जीवन पूर्ण हो जायगा। इस युगमें धर्मशुद्धिकी अत्यन्त आवश्यकता है।

प्रारम्भमें ही कवीश्वर कहते हैं कि शुद्ध धर्मसे जन्म, बुढापा, मृत्यु आदिका बड़ा भय नष्ट हो जाता है। यह जीव प्रमाद, मान, माया, कपट आदिसे अपने आपको तथा अपने धर्मको मलिन कर देता है। धर्मसे जन्म, बुढापा और मृत्युका भय कम हो जाता है, नष्ट हो जाता है, परन्तु वह धर्म शुद्ध होना चाहिये। यह जीव विषयकषाय आदि पौद्गलिक भावोंमें फँस कर धर्मको मलिन कर देता है, अर्थात् धर्मरूप साधेमें दु ख टालनेकी जो शक्ति है वह इसी प्राणीके ससर्गसे कम हो जाती है—नष्ट होजाती है। औषधिमें रोगोंको हरनेकी शक्ति है, परन्तु जब उसी औषधिमें विरुद्ध द्रव्य मिला हुआ हो तो वह अपना गुण छोड़ देती है, इसीप्रकार धर्म, भवके दु ख टाल सकता है, परन्तु प्रमाद आदि उसकी शक्तिको कम कर देते हैं, धर्म शुद्ध स्वर्ण हैं, परन्तु इसमें अनेक प्रकारका मिश्रण हो जाता है, धर्म शुद्ध जल है, परन्तु इसमें कूड़ा करकट मिला दिया जाता है, धर्म चन्द्रवत् है परन्तु इसमें लांछन लगादिया जाता है। वे लांछन कौन कौन–से हैं, उनमेंसे कुछके नाम यहाँ दिये जाते हैं।

शुद्ध पुण्यजलमें मेल–उसके नाम.

शैथिल्यमात्सर्यकदाग्रहक्रुधो–
ऽनुतापदम्भाविधिगौरवाणि च ।
प्रमादमानौ कुगुरु. कुसगति.,

श्लाघार्थिता वा सुकृते मला इमे ॥ २ ॥

" सुकृत्योंमें इतने पदार्थ मैलरूप हैं–शिथिलता, मत्सर, कदाग्रह, क्रोध, अनुताप, दंभ, अविधि, गौरव, प्रमाद, मान, कुगुरु, कुसंग, आत्मप्रशंसा श्रवणकी इच्छा; ये सब पुण्यराशिमें मैलरूप हैं । " उपजाति.

विवेचन—निम्नलिखित पदार्थ पुण्यरूपी कांचपर मैलके समान हैं, ये शुद्ध जलको अशुद्ध बनानेवाले, चन्द्रमामें कलंकरूप हैं इसलिये इनको अच्छी तरहसे पहचान लेना चाहिये । यह सम्पूर्ण लीस्ट नहीं है परन्तु मुख्य मुख्यका इसमें समावेश हो जाता है। धर्मकृत्य, आवश्यक क्रिया, चैत्यवंदनादिमें मन्दपना शैथिल्य कहलाता है । दूसरेके गुणोंको सहन न करना, उनकी ओर ईर्षा रखना मात्सर्य कहलाता है । अपनेद्वारा हुए अपकृत्यको भी उचित सबूत करने और ऐसे अभिप्राय तथा तकरारको जानबूझ कर भी मजबूतीसे पकड़ रहना कदाग्रह कहलाता है । गुस्से होना क्रोध कहलाता है । किसीको दान तथा मान देने पश्चात्, टीप लिखनेके पश्चात् अथवा कोई धर्मकार्य्य करनेके बाद उस कार्य्यको भूलरूप समझना अनुताप कहलाता है । मायाकपट अर्थात् वचन और वर्त्तनमें भिन्नभावका होना । शास्त्रोक्त मर्यादानुसार कार्य्य करनेके स्थानमें उससे उल्टा करना अविधि कहलता है । मैंने यह बड़ा कार्य्य किया है इस लिये मैं बड़ा हूं ऐसा विचार करना गौरव, मान, प्रमाद कहलाते हैं । समकित और व्रतादि रहित धर्माचार्य्य नामके धारक कुगुरु कहलाते हैं । नीच पुरुषकी संगति करना कुसंगति कहलाती है और दूसरे पुरुषोंसे अपनी प्रशंसा सुननेकी इच्छा रखना श्लाघा कहलाती है ।

ये सब वस्तुयें मुख्यमें मैलरूप हैं, संसारमें भ्रमण करानेवाली हैं। यद्यपि यह पूरा लिस्ट नहीं है, फिर भी सब मुख्य मुख्य दोषोंकी संख्या इसमें आ जाती है। अब इनमेंसे कितने ही मुख्योंमें मैलरूप मनोविकारके विषयमें यहाँ वर्णन किया जाता है।

परगुणप्रशंसा

यथा तवेष्टा स्वगुणप्रशंसा,
　तथापरेषामिति मत्सरोज्झी।
तेषामिमां संतनु यल्लभेथा
　स्तांनिष्टदानाद्धि विनेष्टलाभः ॥ ३ ॥

"जिस प्रकार तुझे अपने गुणोंकी प्रशंसा होना अच्छा जानपड़ता है इसीप्रकार दूसरोंको भी उनके गुणोंकी प्रशंसा होना अच्छा लगता है; इसलिये मत्सर छोड़कर उनके गुणोंकी प्रशंसा भलिभाँति करना सीख जिससे तुझे भी यह प्राप्त हो सके (अर्थात् तेरे गुणोंकी भी प्रशंसा हो सके) कारण कि प्रिय वस्तु दिये बिना प्रिय वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती है।" 　　　　उपजाति

विवेचन—ऊपर यहां बताया गया था कि स्वगुणप्रशंसा मैलरूप है, अब यहाँ यह बताया जाता है कि जिससे वह मैलरूप न हो और मिल भी सके। हे भाई! यदि तुझे अपने गुणोंकी प्रशंसा कराना हो तो तू स्वयं दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करना सीख, क्योंकि मनुष्यस्वभाव सबका एकसा है। दुनियाके नियमानुसार 'रागपत और रगापत' परस्परम होनेसे यदि तू अपनी प्रिय वस्तु दूसरोंको देगा तो वे भी अपनी प्रिय वस्तु तुझे देंगे। सबको अपने गुणोंकी प्रशंसा प्रिय होती है यह तू

स्वयं अपने दृष्टान्तसे जान सकता है, इसलिये तुझे अपने निजकी इष्ट प्राप्ति निमित्त परगुणस्तवन करना अत्यावश्यक है।

यह तो व्यवहारकी बात हुई, परन्तु जब निष्कामवृत्तिसे दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा की जाती है तब तो प्रशंसा करनेवालेको अत्यन्त आनन्दकी प्राप्ति होती है। सद्गुण यह ऐसा शुद्ध कांचन है कि चाहे इसकी प्रशंसा की जाय या न की जाय परन्तु यह तो तीनों कालोंमें सोना ही रहता है। इस पर ओप चढ़ने पर यह उत्तम दिखाई पड़ता है परन्तु इसकी असली किमत तो तीनों कालोंमें एक-सी ही रहती है। इसप्रकार दूसरोंके छोटेसे सद्गुणको भी बड़ा समझकर उसकी स्तुति-स्तवन-प्रशंसा की जाय तो उसमें प्रशंसा करनेवालेका गुप्तरूपसे गुणोंके लिये मान, गुणवान होनेकी अभिलाषा और अपना गुणी होना प्रकट होता है। इसप्रकार दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करना, दूसरे रूपसे अपनी ही प्रशंसा करनेके समान है। मुनिसुन्दरसूरि महाराजने वणिकका हिसाव वताया है कि यदि तुम कुछ किसीको दोगे तो तुमको भी मिलेगा, परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप तो यहां वताया गया है। भर्तृहरि कहते हैं कि संतपुरुष परगुण स्तवन करके अपने गुण प्रकट करते हैं यह उनके चरित्रकी आश्चर्यता है। कहनेका प्रयोजन यह है कि दूसरोंके गुणोंको सुनकर ईर्षा तो स्वप्नमें भी न करना चाहिये। उसकी ओर स्वाभाविक प्रेमसे देखना चाहिये। गुणप्राप्ति तथा स्वात्मशुद्ध दशापर आरोहित होनेका यह मुख्य उपाय है।

निज गुणस्तुति तथा दोषनिन्दापर ध्यान न देना.

जनेषु गृह्णत्सु गुणान् प्रमोदसे,
ततो भवित्री गुणरिक्तता तव।

श्रुणोतु दोषान् परितप्यसे च चेद्रे,
भवन्तु दोपास्त्वयि सुस्थिरास्ततः ॥ ४ ॥

" दूसरे पुरुषोंसे तेरे गुणोंकी स्तुति किये जाने पर यदि तू प्रसन्न होगा तो तेरे गुणोंकी कमी हो जायगी, और यदि पुरुष तेरे दोषोंका वर्णन करे उस समय खेद करेगा तो वे दोप अवश्य तेरेमें निश्चल-दृढ़ हो जावेंगे।" वंशस्थ

विवेचन—अपनेमें काव्यचातुर्य्य, प्रमाणिक व्यवहार, तप, दान, उपदेश देने की अद्भुत शक्ति या ऐसा अन्य कोई सद्गुण या सद्वर्तन हो और उसकी अपने स्नेही, सगे या रागी प्रशंसा करे तो उसको सुननेसे हमको आनन्द मिलता है तथा शिघ्र ही मद भी हो जाता है। कितनी बार ऐसा परोक्ष रूपसे भी होता है। मायासे या दिखौवके रूपसे यह जीव उस समय कहता है कि ' इसमें कुछ नहीं है, यह तो मेरा कर्तव्य था आदि, ' परन्तु ऐसा करनेमें कई समय माया होती है। दूसरे पुरुषोंसे अपनी गुणोंकी प्रशंसा सुननेकी इच्छा हो, अपना वर्णन दूसरोंको बतानेकी इच्छा हो, और दूसरे उसकी प्रशंसा करे उसको सुननेकी अभिलाषा हो तो वहाँ गुणप्राप्तिका अन्त हो जाता है। जिनको अपने गुणोंपर गुणोंके लिये ही प्रेम होवे, मनुष्य क्या कहते हैं? क्या विचार करते हैं? इसकी परवाह नहीं करते हैं—और न इसका विचार ही करते हैं।

इसी नियमके अनुसार जब अपने दोषोंको सुनकर खेद होता है तब दोष दूर करनेकी धारणा तथा कर्त्तव्यका भान नहीं रहता है। इसको दूसरे पुरुष क्या कहते है? इसीकी ओर ध्यान रहता है, जिससे सब बना-बनाया खेल बिगड़ जाता है, और

१ भेद् स्थाने रे इति पाठः। २ स्तव इति वा पाठः।

ऐसा होने पर वे दोष दृढ़ हो जाते हैं—दोषों पर सील लग जाता है और उसके लिये दोष छोड़ना अपनी प्रिय वस्तु छोड़नेके समान हो जाता है, अथवा कईबार दोषको दोष ही नहीं समझता है और दोष छिपानेका प्रयत्न करता है; कारण कि अमुक विचार, उच्चार या आचारकी ओर उसका ध्यान नहीं रहता है, परन्तु मनुष्योंके हृदयमें उसके लिये क्या धारणा है और वे क्या कहते हैं? इसीकी ओर उसका ध्यान रहता है। यदि मनुष्यकी धारणा उत्तम नहीं होती है तो वह दुःखी होता है। मनुष्योमें आन्तरहेतुका विचार कर अपनी सम्मति प्रगट करनेवाले कम होनेसे धारणामें भूल करनेवाले अधिक होते हैं, इसलिये लोकप्रशंसा या जनरुचि पर आधार रखनेवाले बहुत पश्चात्ताप करते हैं तथा दुःखी होते हैं। अवगुण और दोषोंकी ओर हमारा क्या कर्तव्य है उसको विशेषतया स्पष्ट किया जाता है।

शत्रुगुणप्रशंसा.

प्रमोदसे स्वस्य यथान्यनिर्मितैः,
स्तवैस्तथा चेत्प्रतिपन्थिनामपि ।
विगर्हणैः स्वस्य यथोपतप्यसे,
तथा रिपूणामपि चेत्ततोऽसि वित् ॥ ५ ॥

" दूसरे पुरुषोंसे अपनी प्रशंसा सुनकर तू जिस प्रकार प्रसन्न होता है, उसी प्रकार शत्रुकी प्रशंसा सुनकर भी तुझे प्रमोद हो, और जिस प्रकार अपनी निन्दा सुनकर दुःखी होता है उसी प्रकार शत्रुकी निन्दा सुनकर भी दुःखी हो; तब समझना तू सचमुच बुद्धिमान है। "   वंशस्थ.

विवेचन—अपने तथा दूसरोंके गुणोंकी स्तुति सुनकर गुणोंपर प्रमोद हो और अपने तथा दूसरोंके दोषोंकी निंदा सुनकर

दोषोंपर तिरस्कार हो ऐसी मनोवृत्ति रखनी चाहिये । इसमें अपनी तथा दूसरोंकी स्तुतिपर ध्यान न दें । प्रमोद होता है वह गुणोंका होता है, गुणपर होता है, और गुणोंके लिये होता है इसमें यह देखना है कि गुणवान कौन है ? गुणवान पुरुष चाहे वह शत्रु हो, निर्दय वैरी हो, परन्तु उसके सद्गुणोंके लिये उसकी ओर आकर्षण होता है । सारांशमें गुणपर गुणोंके लिये ही प्रेम होता है । ऐसी स्थिति कुछ विचारपूर्वक टेव डालनेसे प्राप्य है । इसीप्रकार जैसे अपनी निन्दा सुनकर खेद होता है उसी प्रकार शत्रुकी निन्दा सुनकर भी खेद हो तब समझना कि हम जो कार्य्य करना चाहते हैं वह सिद्ध होनेवाला है । बुद्धिमानी, ज्ञान, विद्वत्ता इन सबका समावेश इस छोटी-सी बातमें हो जाता है । गुणोंपर गुणोंके लिये ही प्रेम रखना चाहिये । भर्तृहरि कहते हैं कि दूसरों के अल्पमात्र सद्गुणको भी जो बड़े पर्वतके समान समझकर उनका आदर करता है उसको सत समझें परन्तु मुनि सुन्दरसूरि महाराज तो इससे भी विशेष बतलाते हैं कि जो प्राणी गुणको गुणके लिये आदर करे वह ही बुद्धिमान है, शास्त्रोंके पढ़नेका यही फल है और इसीप्रकार दोषपर दोषके लिये ही जो अप्रीति रखता है वह ही सच्चा ज्ञानी है । इसप्रकारके वर्तनका फल शत्रु तथा मित्रपर एकसा होता है । इसप्रकारके वर्तनसे मनको जो शान्ति और आनन्द मिलता है वह अनिर्वचनीय है और वास्तवमें अनुभवगम्य है । जिस स्थानपर गुण हो वहां राग रखना चाहिये इसमें यह न देखना चाहिये कि गुणवान कौन है ?

परगुणप्रशंसा.

स्तवैर्यथा स्वस्य विगर्हणैश्च,
प्रमोदतापौ भजसे तथा चेत् ।

इमौ परेषामपि तैश्चतुर्भि-
र्युदासतां वासि ततोऽर्थवेदी ॥ ६ ॥

" जीस प्रकार अपनी प्रशंसा तथा निन्दासे अनुक्रमसे आनंद तथा खेद होता है उसीप्रकार दूसरोंकी प्रशंसा तथा निन्दासे आनंद तथा खेद होता हो अथवा इन चारोंपर यदि तू उदासीनवृत्ति रखता हो तो तू सच्चा जानकार है।" उपेन्द्रवज्र.

विवेचन—जो ऊपर कहा गया है वह ही यहां भी कहा गया है। दूसरा पुरुष चाहे जो हो, चाहे वह मित्र हो या शत्रु हो, परन्तु जब उस पर गुणवान होनेसे प्रमोद हो तब शास्त्रके रहस्यकी जान करी हुई ऐसा समझना चाहिये अथवा वे चारों वस्तुएँ स्वगुणप्रशंसा, स्वदोषनिन्दा, परगुणप्रशंसा, परदोषनिन्दा- इन पर उदासीन वृत्ति आजाय तो यह अधिक उत्तम है, अर्थात् इन ओर ध्यान देनेका अवसर ही प्राप्त न हो, केवल आप अपने योग्य रस्ते काम चलाया करे ऐसी उदासीनवृत्ति प्राप्त हो सके तो अधिक उत्तम है, परन्तु कितनी ही वार उदासीनवृत्तिके स्थानमें बेपरवाही प्रवेश कर जाती है जिससे सचेत रहनेकी आवश्यकता है। यहाँ जो उदासीनवृति बतलाई गई है उसको जान बुझकर अज्ञ बनना उचित नहीं है, परन्तु उसके जाननेकी ओर स्वाभाविक लक्ष्य ही न रखना चाहिये। श्री शांतिनाथजीके स्तवनमें कहा गया है कि—

मान अपमान चित्त सम गिने, सम गिने कनक पाषाणरे
वंदक निंदक सम गिने, ऐसा होय तू जानरे ॥

ऐसी स्थिति प्राप्त करनेका यहाँ उपदेश है।

गुणस्तुतिकी अपेक्षा हानिकारक है.

भवेन्न कोऽपि स्तुतिमात्रतो गुणी,

ख्यात्या न बहुव्ययापि हितं परत्र च ।
तदिच्छुरीर्ष्यादिभिरायतिं ततो,
मुधाभिमानग्रहिलो निहंसि किम् ?॥ ७॥

" मनुष्योंके स्तुति करने मात्रसे कोई गुण नहीं हो सकता है, अपितु बहुत ख्यातिसे आनेवाले भवमें भी (परलोकमें भी) हित नहीं हो सकता है। इसलिये यदि आगामी भवको तुझे सुधारना है तो व्यर्थ अभिमानके वश होकर ईर्ष्या आदि करके आगामी भवको भी क्यों बिगाड़ता है ?"

उपजाति

विवेचन—रेवचंद नामक पुरुष या अन्य सैकड़ों पुरुष यदि हिराचन्दकी स्तुति करें, तो इससे हिराचन्दमें कोई गुण नहीं आ सकता। उसमें यदि सात्विकपना होगा तो रहेंगें, वरना स्तुतिसे तो कराब उलटी हानि होगी। यहाँ चाहे जितनी स्तुति हो, भाट-चारण आकाशमें चढ़ा दे तो भी परलोकमें इसकी असर नहीं होती है। वहाँ किसी स्तुति पानेवालेके लिये पक्षपात नहीं होता है इसीप्रकार उनके लिये कोई अलग स्थान भी नहीं होता है। स्तुतिके पात्र बननेकी अधिक आवश्यकता है।

यहाँ एक बात और बता देनेकी आवश्यकता है कि अपना वर्तन अपने गुणोंके अनुसार रखना चाहिये, इच्छानुसार अपनी स्तुति हो इसप्रकार संसारको बताने निमित्त वर्तन न रखना चाहिये, फिर भी स्तुतिके पात्र आत्माको बनानेमें कोई बाधा नहीं है, अपितु वैसा होनेकी ही आवश्यकता है। अन्य पुरुष स्तुति करे उसमें गुण-हानि नहीं होती है, परन्तु जिसकी स्तुति होती है उसको उसे करानेके लिये किसी भी प्रकारका प्रयत्न न करना चाहिये, और विद्यमान गुणोंकी भी स्तुति सुनकर उस-पर ध्यान न देना चाहिये।

अब इस जीवमें जो प्रगट विरोध है उसको बतलाते हैं। एक तो प्रत्येकको आगामी आनेवाले भवमें अच्छा होवे वैसा करनेकी इच्छा और दूसरा उससे सदैव विरुद्ध आचरण। हे भाई! यदि तू आनेवाले भवमें मानसिक अथवा शारीरिक सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता हो तो फिर इस भवमें ईर्षा और अभिमान करके दूसरोंमें गुणके स्थानमें निन्दा तथा अपनेमें दोषके स्थानमें प्रशंसा या ईर्षासे दूसरोंके गुणोंको प्रकाश ही न होने देना आदि आदि निषिद्ध कार्य्य करके क्यों सुख प्राप्तिके उपायोंका नाश करदेता है? तुझे तेरे गुण प्रकट करनेकी अभिलाषा न रखनी चाहिये। याद रखना की गुण है वह डब्बेमें रक्खी हुई कस्तुरी है। कस्तूरी यद्यपि यह इच्छा नहीं रखती है कि मेरी सुगन्धी सर्वत्र फैले, परन्तु गुणका और कस्तूरीका स्वभाव है कि वह अपने मूल धर्मसे ही अपने आप सर्वत्र फैल जाती है। वस्तु अवलोकन करनेवाले तत्त्वज्ञ भलिभाँति जानते हैं कि प्रशंसा–आदरके लिये भागदौड़ करनेवालेको अप्राप्य है, परन्तु जिसको वह योग्य समझती है उसे वरनेके लिये वह अपने हाथमें माला लेकर स्वयं आतुर हो रही है और इच्छा तथा अनिच्छांमे वह वरती है–ऐसा इस संसारका क्रम है।

"शुद्ध" धर्म करनेकी आवश्यकता. करनेवालोंकी स्वल्पता.

सृजन्ति के के न वहिर्मुखा जनाः,
प्रमादमात्सर्यकुबोधविप्लुताः।
दानादिधर्माणि मलीमसान्यमू–
न्युपेक्ष्य शुद्धं सुकृतं चराण्वपि ॥ ८ ॥

"प्रमाद, मत्सर और मिथ्यात्वसे घेरे हुए कितने

ही सामान्य पुरुष दान आदि धर्म करते हैं, परन्तु ये धर्म मलीन हैं; इसलिये इनकी उपेक्षा कर शुद्ध सुकृत्य थोड़ा-सा एक एक अणुमात्र ही कर।"　　　　वंशस्थविल

विवेचन—मद, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा ये पांच प्रमाद हैं। परऋद्धि अथवा गौरव तरफ ईर्षा, मत्सर और दृष्टिराग आदि मिथ्यात्व कहलाते हैं। इनके लिये जीव दान, शील, तप आदि करता है। मिथ्यात्वसे मानता करता है, दृष्टिरागसे हजारों रुपया भोगी भ्रमरके आगे समर्पण करदेता है, अज्ञानसे लंघन कर कायक्लेश करता है, अहंकारसे नामके लिये लाखों रुपये चढ़ा देता है और वर्तमानपत्रमें नाम आनेके लिये बहुत बड़ी २ रकम फंडमें दान करता है, परन्तु इस प्रकारसे किया हुआ धर्मकार्य्य कलंकित होता है, चन्द्रमें कलंकके समान है, सोनेकी थालीमें लोहेकी मेख है, अनादरणीय है, इष्टफलको रोकनेवाला है और संसारजालमें फंसानेवाला है।

यदि तुझे सचमुच अपना काम सिद्ध करना है तो अल्प समयमी शुद्ध धर्म कर। ऊपर कहे हुए किसी भी पौद्गलिक भावको परित्याग करके, संसारबन्धनको काट डाल। फिर तू सुखी देखना। तुझे उस समय तेरे मनमें ऐसा अपूर्व आनन्द होगा कि तूने अपने सम्पूर्ण जीवनमें वैसे आनन्दका कभी भी अनुभव नहीं किया होगा। शुद्ध चैतन्यशक्तिमें रमण करना आत्मिकदशा है और ऐसी दशा एक बार अवश्य प्राप्त कर। फिर क्या करना चाहिये यह तुझे अपने आप मालूम हो जायगा।

इस श्लोकका गहरा रहस्य विचारने योग्य है। बड़ी बड़ी पुस्तके पढ़ने योग्य ज्ञानोपार्जन निमित्त उनके नियमोंको सिखनेकी आवश्यकता है, और सुन्दर मन्दिर बनाने निमित्ते पाये खोदने जैसा काम करनेकी आवश्यकता है। नियम जाने बिना और

पाये खोदे बिना सुन्दर परिणामवाले कार्य नहीं हो सकते हैं यह स्पष्ट ही है, परन्तु साथ ही साथ यह भी याद रखना चाहिये कि सदैव नियम ही नहीं याद करने होते हैं, निरन्तर पाये ही नहीं खोदने होते हैं। साध्यको दृष्टिमें रखकर ही ये दोनो कार्य आदरणीय हैं। मलिन धर्माचरण भी अभ्यास डालनेके लिये उपयोगी है, कारण कि यह नियमको रटने जैसा कार्य है। अनादि अभ्याससे प्रमाद, मात्सर्य, कषाय आदिका त्याग मनमे होना अनेकों पुरुषोंको अशक्य प्रतीत होता है, परन्तु पुरुषार्थ करनेसे इनका त्याग हो सकता है। त्याग करना है यदि ऐसी धारणा भी मन में रहें तो भी बहुत फेर होजाता है। यह बात बहुत झूठी है। अभ्यास डालने निमित्त नियम रटनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, परन्तु नियम ही नियम है; सुन्दर संयोगवाला जीवन पूर्ण हो सकें यह सत्य नहीं हैं। अध्यात्मसारके दूसरे अधिकारके बीस श्लोकमें कहा गया है कि मलिन धर्मकार्योंसे लाभ न होता हो ऐसा नहीं, परन्तु वह बहुत अल्प है, मुमुक्षु जीवके साध्य मिलनेकी अपेक्षासे बहुत लाभ नहीं है ऐसा भी कहे तो अनुचित न होगा। इस सब हकिकतका तात्पर्य यह ही होता है कि प्रशस्त धर्माचरण करना चाहिये। यदि हम एक सामान्य दृष्टान्त लेवें तो यह बात विशेष स्पष्ट हो जायगी। एक प्राणीको दसहजार रुपये खर्च करनेको हम प्रेरणा करें। वह जीव व्यवहारु है, कर्मके अगम सिद्धान्तको नहीं जानता है, दुनियांका कीड़ा है, इसलिये वह मानका भूखा है। ऐसी स्थितिमें उसे मानके लिये भी दान करनेमें कोई अनुचित बात नहीं है। उसके द्रव्यको इस मार्गमें व्यय होते होते वह दान धर्मकी उत्कृष्टताको समझ सकेगा, और फिर गुप्त धर्मादिसे अन्तरंग शान्ति और संतोष कैसा है यह भी धीरे

धीरे समझ सकेगा । अभ्यास डालनेके लिये प्रथम उसे मानकी इच्छा की भी तृप्ति करना उचित है । विशेष समझदार प्राणी प्रथमसे ही यह बात समझ सकता है, और उसके कार्य्य किसी भी पौद्गलिक मनोविकारको तृप्त करनेके लिये नहीं होते हैं, परन्तु परम साम्य प्राप्त करनेके शुद्ध अध्यवसायसे उत्पन्न होते हैं। यह अन्तिम मार्ग परम इष्ट है, महाकल्याणप्रद है, इसके ग्रहण करने तथा ग्रहण करनेकी अभिलाषा तथा भावना रखनेका यहां उपदेश किया गया है।

प्रशंसारहित सुकृत्यका विशिष्टपन

आच्छादितानि सुकृतानि यथा दधन्ते,
सौभाग्यमत्र न तथा प्रकटीकृतानि ।
व्रीडानताननसरोजसरोजनेत्रा–
वक्षःस्थलानि कलितानि यथा दुकूलैः ॥९॥

"इस संसारमें गूढ पुण्यकर्म-सुकृत्य जिस प्रकार सौभाग्य प्राप्त कराते हैं उस प्रकार प्रगट किये सुकृत्य नहीं प्राप्त करा सकते हैं। जिसप्रकार कि लज्जासे झुकाया है मुखकमल जिसने ऐसी कमलनयना स्त्रीके स्तन-मण्डल वस्त्रसे आच्छादित होने पर जितनी शोभा देते हैं उतनी शोभा खुले हुए होने पर नहीं दे सकते हैं।" वसंततिलका

विवेचन—संसारमें खानगी (शुभ) धर्म करनेवाले सचमुच लाभ उठाते हैं। दुनिया चाहे उनके गुणकी स्तुति करे या न करे वे इसकी परवाह नहीं रखते हैं। कंचुकी पहिनकर ऊपरसे साड़ी ओढ़ने पर स्त्रीके हृदय भागकी जो शोभा उसे देखनेवाले पुरुषको मालूम होती है उतनी शोभा स्तनोंके खुले हुए होनेपर नहीं होती है। अपना खुदका शरीर भी जबतक

वस्त्रोंसे आच्छादित होता है तभीतक सुन्दर प्रतीत होता है। उसीप्रकार सुकृत्य ढके हुए होते हैं तभीतक अधिक सौभाग्य प्राप्त कराते हैं। गुप्त सुकृत्य करते समय करनेवालोंको अत्यन्त शांति देते हैं और उनका स्मरण करनेसे आत्मिक सन्तोष होता है। इससे प्रगट होता है कि प्रत्येक कार्य्यका आत्मिक सृष्टिपर कैसा प्रभाव होगा वह विचार करनेकी आवश्यकता इससे मालूम हो जाती है। मानकीर्तिसे कदाच थोड़े समयतक स्थूल आनंद प्राप्त हों, परन्तु अपूर्व आत्मिक शांति–जिसको प्राप्त करनेके लिये सर्व मुमुक्षु प्रयास करते हैं–वह तो शान्त स्थितिमें शान्त रहकर किये हुए शान्त कार्योंसे ही प्राप्त हो सकती है।

किसी भी कारणसे क्यों न हो परन्तु प्रचलित व्यवहार इससे बिलकुल ऊलटा हो गया है ऐसा सर्वथा नहीं तो भी नन्यानवें प्रति सैकड़ा तो देखा ही जाता है। एक पुरुषको एक लाख रुपये खर्चनेकी अभिलाषा हुई कि वह खर्च करनेसे पहले ही उसके लिये ढोल–नगारे बजानेका प्रयास करता हुआ नजर आता है। खर्च करनेका समय आता है तब उसे छोड़नेका मन नहीं करता है, परंतु व्याज खर्चनेकी अभिलाषा प्रगट करता है, समाचारपत्रों में बड़ी बड़ी रिपोर्ट भेजता अथवा भिजवाता है और एक वार खर्च किये हुए पैसोंका चार–पांच वार भिन्न भिन्न रूपसे लाभ उठाता है। इसप्रकार बहुत–सा अप्रमाणिकपन पैदा करता है और अभिमानसे खर्च करता है। यह धन खर्च करनेकी एक हकिकत है, इसीप्रकार दूसरे अनुष्ठानोंके लिये भी समझ लेवें। जीवका अनादि स्वभाव अभिमान करनेका है वह येन केन प्रकारेण शुभ कृत्योंमें भी हो जाता है और उसका कारण वास्तविक तत्त्वगवेषणाका न होना ही है। विचार करनेसे मालूम होता है कि वस्तुस्वरूप इससे बिलकुल विपरित ही है।

एक सुकृत्य करनेसे पहिले अथवा करते समय उसे गुप्त रखनेसे अनेक प्रकारके लाभ होते हैं। अभिमान न होना बहुत बड़ा लाभ है, कारण कि अभिमानसे सुकृत्योंका फल यहां ही रहजाता है। संसारमें कीर्ति हो या अधिक हुआ तो देवगति प्राप्त हो, परन्तु निर्जरा होना कठिन है। इसके उपरान्त गुप्त सुकृत्य करते समय अपूर्व मानसिक आनन्द होता है, आत्मस्वरूपमें रमणता होती है और कर्तव्यपालनका शुद्ध भान होता है–ये सब लाभ भिन्न ही हैं।

स्वगुणप्रशंसासे लाभ कुछ भी नहीं है

स्तुतैः श्रुतैर्वाप्यपरैर्निरीक्षितै-
गुणस्तवात्मन्‌ ! सुकृतैर्न कश्चन ।
फलन्ति नैव प्रकटीकृतैर्भुवो,
द्रुमा हि मूलैर्निपतन्त्यपि स्वधः ॥ १० ॥

" तेरे गुणों तथा सुकृत्योंकी दूसरे स्तुति करें अथवा सुने अथवा तेरे उत्तम कार्य्योंको दूसरे देखें, इससे हे चेतन! तुझे कुछ भी लाभ नहीं होता है। जैसे कि–वृक्षके मूलको उघाड़ा कर देनेसे वह नहीं फलता है, परन्तु उलटा उखड़ कर पृथ्वीपर गिरजाता है। (इसीप्रकार उत्तम कार्य्य भी प्रगट कर देनेसे पृथ्वीपर गिरते हैं अर्थात् शक्तिहीन होते हैं) "

वशस्थविल

विवेचन—एक पुरुष ने एक सुन्दर वृक्ष बोया और विचारा कि इसके स्वादिष्ट फल होंगे, परन्तु इसका मूल कैसा है यह देखनेकी इच्छा हुई। यह सोचकर दूसरोंको बताने निमित्त तथा खुदके देखनेके लिये मूलपर जो मिट्टी–कचरा आदि था

उसे दूर किया और मूलको सबोंने देखा; परन्तु इसका परिणाम क्या हुआ? फल तो न मिला, परन्तु वृक्ष ही नष्ट हो गया। इसीप्रकार अच्छे कामोंका यश अच्छा होगा ऐसा विचारकर यह जीव सुकृत्यरूप मूल दूसरोंको दिखानेके लिये उखाड़कर उसकी फिरती अप्रसिद्धतारूप जो मिट्टी आदि होती है उसे दूर करता है, ऐसा करनेसे उसका यश तो होता है परन्तु उसके फलका नाश हो जाता है, और सुकृत्यके नाशसे वह स्वयं भी नाशको प्राप्त होता है। यहाँ योजना इस प्रकारकी है—(१) सुकृत्योंकी मूलके साथ योजना, (२) आत्माकी वृक्षके साथ (३) (सुकृत्योंके) स्तवन, श्रवण, निरीक्षणकी (वृक्षके) प्रगटपनके साथ, (४) (सुकृत्यके) गुणोंका अभाव उस वृक्षके फलनेके अभावके साथ और (५) धर्मनाशसे वृक्षके अधःपातके साथ योजना करें।

इसीप्रकार दूसरे पुरुष अपने गुण अथवा भले कार्योंकी स्तुति करें तो इसमें क्या लाभ है? तात्त्विक विचार करनेसे जान पड़ता है कि कीर्त्ति तथा मानकी इच्छा भी अज्ञानजन्य है, इसमें कोइ दंभ जैसा नहीं है, और विचक्षण पुरुष कभी उसकी अभिलाषा नहीं रखते हैं। आगन्तुक रीतिसे मिल जाय तो चाहे मिल जाय परन्तु उसके लिये चारित्रवान् अपना वर्तन करे यह चारित्रको शोभा नहीं देता है, और बहुधा संसारमें ऐसा होता है तो भी जो इसके पिछे २ भगता है उसको यह नहीं वरती और व्यर्थ पिछे दौड़नेका कष्ट उठाता है। कीर्तिके लोभीके सुकृत्यका नाश हो जाता है और कईवार ऊलटा अपमान होता है। यह सब हकिकत अनुभवगम्य है और अवलोकन करनेवालेको शीघ्र ही मालूम हो सकती है।

गुणपर मत्सर करनेवाला–उसकी गति

तप क्रियावश्यकदानपूजनैः,
शिवं न गन्ता गुणमत्सरी जनः ।
अपथ्यभोजी न निरामयो भवे,
द्रसायनैरप्यतुलैर्यदातुरः ॥ ११ ॥

" गुणपर मत्सर करनेवाला प्राणी तपश्चर्या, आवश्यक क्रिया, दान और पूजासे मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है; जिसप्रकार व्याधिग्रस्त पुरुष यदि अपथ्य भोजन करता हो तो वह फिर चाहे जितनी भी रसायण क्यों न खावे परन्तु वह स्वस्थ नहीं हो सकता । " वंशस्थवृत्त

विवेचन—जिसप्रकार अपने सुकृत्योंकी स्तुति सुननेकी इच्छा रखना धर्मशुद्धिमें मत्सररूप है, उसीप्रकार दूसरोंके उत्तम गुणोंकी ओर ईर्षा–द्वेष करना भी मत्सररूप है । दूसरोंपे मत्सर करनेवाले पुरुष चाहे जितने धर्मकार्य्य करे, छट्ठ, अट्ठम करे, योग उपधान करे, प्रतिक्रमण पच्चक्खाण आदि आवश्यक क्रियायें करे अथवा पांच प्रकारके दान दे, या महाआडम्बरसे अष्ट, सत्तर, इक्कीस या एकसौ आठ प्रकारकी पूजा रचावे; परन्तु वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते । जिसप्रकार व्याधिग्रस्त प्राणी पथ्य न रक्खे और खांड खटाश, वगैरे होनेपर भी शुभरूपसे खाता रहे, तो फिर उसे तुम चाहे चन्द्रामृत, पर्पटी, वसन्तकुसुमाकर या गजवेल खिलाओ तो भी उसको लाभ न होगा, इसीप्रकार तप, क्रिया, दान आदि रसायण है, उनके साथ भी यदि गुणके मत्सररूप अपथ्य भोजन किया जावे तो फिर शिवगमनरूप निरोगीपन इस व्याधिरूप व्याधिग्रस्त प्राणीको प्राप्त नहीं हो सकता है । इसप्रकार दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक योजना समझे ।

घोर तपस्याके परिणाममें यदि देवलोकका सुख भी मिले तो वह किस कामका है ? आवश्यक क्रिया करनेके पश्चात् यदि वह ही कृत्य उसी अनुसार फिरसे वारम्बार करना पडे तो वह किस कामका है ? दान देनेके पश्चात् यदि फिर दान लेनेका अवसर आवे तो वह किस कामका है ? अलबत "या या क्रिया सा सा फलवती" ये सूत्र सच्चा है, परन्तु ऊपर बताये अनुसार मोक्ष जानेवाले मोक्ष जानेकी अभिलाषा रखनेवालेकी दृष्टिसे यह लाभ वहुत अल्प है, इससे निष्फल है एसा कह दिया जाय तो भी अनुचित न होगा। हे चेतन ! तू परगुण असहिष्णुताको छोड दे और ऐसा करके तेरे कर्मरूप रोगोंको दूर कर।

शुद्ध पुण्य अल्प होनेपर भी उत्तम है.

मन्त्रप्रभारत्नरसायनादि-
निदर्शनादल्पमपीह शुद्धम् ।
दानार्चनावश्यकपौषधादि,
महाफलं पुण्यमितोऽन्यथान्यत् ॥ १२ ॥

" मंत्र, प्रभा, रत्न, रसायण आदिके दृष्टान्तसे (जान पड़ता है कि) दान, पूजा, आवश्यक, पौषध आदि (धर्म-क्रिया) बहुत थोड़े होनेपर भी यदि शुद्ध हो तो अत्यन्त फल देती है और बहुत होनेपर भी यदि अशुद्ध हो तो मोक्षरूप फल नहीं दे सकती है।" उपजाति.

विवेचन—शुद्ध मंत्रोच्चारसे उचित समयमें पुण्यके प्रबल-पनसे देवताओंके प्रसन्न होने पर, वे थोड़े-से प्रसन्न हों तो भी बहुत कार्य्य सिद्ध हो सकता है। इसीप्रकार सूर्य्य-चन्द्रकी प्रभा थोड़ी-सी पड़े तो भी सम्पूर्ण संसारको प्रकाशमय बना देती है। पांच रुपये भर लोहा और उतने ही वजनके रत्न (मणि, मोती,

माणिक और हीरा) हो तो किमतमें लाखोगुना अन्तर हो जाता है। रसायन—भस्म किया हुआ पारा आदि एक तिल मात्रसे भी कम खिलाया जावे तो भी यदि वह शुद्ध होता है तो शरीर को बहुत लाभ पहुंचाता है इसीप्रकार दान, पूजा, पौषध आदि अनुष्ठानोंके लिये समझे। पुरुष बहुधा सदैव संख्याकी ओर देखते हैं, और इसीलिये कष्ट भोगते हैं, परन्तु समझदारको उसकी शुद्धता-सुन्दरता-सात्विकताकी ओर देखना चाहिये।

Never look to the quantity of your actions but pay particular attention to the quality thereof.

यह वाक्य अत्यन्त रहस्यमय है। हमने कितना किया यह देखना चाहिये, परन्तु कैसा किया यह देखनेकी विशेष आवश्यकता है। सम्पूर्ण जीवनमें प्रभुभक्तिमें एक बार भी यदि वीर्योल्लास हो जाय तो भी सब भवके दुःख दूर हो सकते हैं। इसीप्रकार आवश्यक क्रियामें विचारणाके परिणाममें बराबर पश्चात्ताप होनेपर पौषधमें अपूर्व भावशुद्धि होकर समता प्राप्त हो तो अपना काम बन जावे और वैसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये ही सर्व शास्त्रकार प्रयास करते हैं।

इसके विपरीत यदि शुद्धिकी अपेक्षा बिना अनेक क्रियायें की जावे परन्तु शुद्धता कुछ भी न हो और उलटी अशुद्धता प्रवेश करती हो तो फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। जिस हेतुसे क्रिया की जाती है वह हेतु पुरा नहीं होता है और कदाच अल्प लाभ होता है तो वह रुपयेमें एक दमड़ीके बराबर है। इस सब अधिकारका यह ही उद्देश है कि थोड़ा कर लेकिन बराबर कर, बाहरकी किमत तथा देखावसे न लुभाना।

उक्त अर्थ दृष्टान्तसे बताते हैं.

दीपो यथाल्पोऽपि तमांसि हन्ति,

लवोऽपि रोगान् हरते सुधायाः ।
तृण्यां दहत्याशु कणोऽपि चाग्ने-
धर्मस्य लेशोऽप्यमलस्तथांहः ॥ १३ ॥

" एक छोटा-सा दीपक भी अंधकारका नाश कर देता है, अमृतकी एक बून्द भी अनेको रोगोंको नष्ट कर देती है, और अग्निकी एक चिनगारी भी तीनकोंके बड़े भारी मोटे ढेरको जला देती है, इसी प्रकार यदि धर्मका थोड़ा अंश भी निर्मल हो तो पापको नष्ट कर देता है।" उपजाति.

विवेचन—एक दीपक भी सर्व विस्तृत स्थानपरसे अंधकारको दूर कर देता है। ऐसा ही सबके लिये समझे। इस सबसे यह प्रगट होता है कि शुद्धिकी ओर विशेषतया ध्यान देना चाहिये। अब शुद्धिके साथ भावनाका कितना गहरा सम्बन्ध है यह बताकर अधिकारकी समाप्ति की जाती है।

भाव तथा उपयोगरहित क्रियासे कायक्लेश
उपसंहार.

भावोपयोगशून्याः
कुर्वन्नावश्यकीः क्रियाः सर्वाः ।
देहक्लेशं लभसे
फलमाप्स्यसि नैव पुनरासाम् ॥ १४ ॥

" भाव और उपयोग विना सर्व आवश्यक क्रिया करनेसे तुझे एकमात्र कायक्लेश (शरीरकी मज़दूरी) होगा, परन्तु तुझे उसका फल कदापि प्राप्त नहीं हो सकेगा।" आर्या.

विवेचन—"भाव" अर्थात् चित्तका उत्साह (वीर्योल्लास)

---

१ तृणं इत्यपि पाठोऽन्यत्र दृश्यते ।

और 'उपयोग' अर्थात् सावधानता (तन्मयपन)—जैसे कि आवश्यक क्रियामें सूत्रार्थ, सूत्र, अर्थ, व्यञ्जन, दीर्घ, ह्रस्वोच्चारण आदिकी बाबतमें सावधान रहना। भाव और उपयोगरहित क्रिया करना एक मात्र कायक्लेश है और इसमें बहुत अल्प फल है, कुछ नहीं है। शास्त्रकार कहते हैं कि—

भाव विना दानादिका, जानो अलुणों धान।
भाव रसांग मिले थके, त्रुटे कर्म निधान ॥

भाव बिना दान आदि क्रिया करना नमकरहित भोजनके सदृश है। इसीप्रकार मुक्तमुक्तावलीकार भी कहते हैं कि—

मन विण मिलवो ज्युं, चाववो दंतछिणे,
गुरु विण भणवो ज्यु, जिमवो ज्यु अलुणे।
जस विण बहु जीवी, जीवते ज्यु न सोहे,
तिमि धरम न सोहे, भावना जो न होवे ॥

इससे प्रगट होता है कि भावरहित धर्मक्रिया बहुत शुष्क है, नकामी है, जीर्ण है, अननुकरणीय है, अनिष्ट है, यह मन-रहित मिलना और दांत बिना चावना है।

इसलिये कल्याणमन्दिर स्तोत्रमें कहा गया है कि "हे प्रभु! अनन्त संसारमें भवभ्रमण करते हुए मुझे तेरे दर्शन एक बार भी हुए हो ऐसा प्रतीत नहीं होता है, कारण यदि हुए होते तो फिर यह स्थिति रहती ही नहीं।" तात्पर्य्य यह है कि वास्तविक दर्शन नहीं हुआ, कारण कि कदाच प्रभुके दर्शन हुए हों, प्रभुकी पूजा की हो या आज्ञा सुनी हो, परन्तु चित्त बिना किया होगा। "यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या" जिस कारणके लिये भावरहित क्रिया फल नहीं देती है इससे प्रभुका वास्तविक दर्शन हुआ ही नही ऐसा कहें तो भी अनुचित न होगा।

भावके साथ सावधानपन—विवेककी भी उतनी ही

आवश्यकता है। केवल भक्ति ही फलदायक होती हो तो रात्रिमें उठकर नेमनाथजीको वन्दना करने जानेवाले पालककी शुष्क भक्तिमें कमी न रहती, परन्तु वहाँ भाव तथा उपयोग न था। वीराशालवीने भी अठारह हजार साधुओंको वंदन किया और श्री कृष्ण ने भी वंदन कीया। जिसमें श्री कृष्णको बहुत लाभ हुआ, सातवी नारकीके योग्य आयुष्यकर्मके दलियेकों एकत्र कीया था वे शुद्ध होकर तीसरी नारकीके योग्य हो गये। ये और अन्य दूसरे लाभ भी हुए, तब वीराशालवी बेचारा एक-मात्र कायक्लेश पाया। एक साथ एक सदृश क्रिया करनेवालोंमें इतना अंतर हो जाता है इसका कारण भाव और उपयोगकी तीव्रता और मन्दता ही है।

व्यवहारमें भी यह यावत अनुभवसिद्ध है। एक मित्र मिले और सामान्यरूपसे मुस्कराये बिना ही "आप कैसे हैं?" यह पूछे इसके सिवाय चित्तके प्रेमसे पूछे तब उसके मुँहकी आकृति भी मुस्करा देती है। चित्तसे प्रेम प्रगट करनेवालेकी ओर छोटा-सा बालक भी आकर्षित हो जाता है और सेठके प्रेम बिना गरीब नोकर भी बराबर सेवा नहीं करता है। श्रावकके लड़के हैं इसलिये लज्जाके मारे मन्दिर जाना चाहिये ऐसा विचार-कर मन्दिर जानेमें तथा पूजा करनेमें और प्रभूके गुणोंको देख-कर प्रभूको शुद्ध रागसे पूजनेमें अत्यन्त अन्तर है। भावशुद्धि और उसकी वृद्धिकर समझपूर्वक अपने अधिकारानुसार क्रिया करना और दूसरे सर्व व्यवहारिक और धार्मिक कार्य्य भी इसी-प्रकार करना यह जैन शास्त्रका मुख्य उपदेश है।

× × × ×

इसप्रकार ग्यारवें धर्मशुद्धि अधिकारकी समाप्ति हुई। इस सम्पूर्ण अधिकारमें मुख्यतया तीन बातें कहीं गई है। इस

विषयपर कुछ कहनेसे प्रथम एक बातपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है। उपदेशतरंगिणीमें कहते हैं कि " नागिलको छोड़नेवाले भवदेवके भाई भवदत्तके समान लज्जासे धर्म होता है, मेतार्य मुनिको दुःख देनेवाले सोनीके समान भयसे धर्म होता है, चण्डरुद्राचार्यके शिष्यके समान हास्यसे धर्म होता है, स्थूलभद्रपर मात्सर्य करनेवाले सिंहगुफानिवासी साधुके समान मात्सर्यसे धर्म होता है, आर्य सुहस्तिसूरि महाराजसे प्रतिबोध किये हुए द्रमकके समान लोभसे धर्म होता है, बाहुबलिके समान हठसे धर्म होता है, दशार्णभद्र, गौतमस्वामी, सिद्धसेनदिवाकरके समान अहंकारसे धर्म होता है, नमि-विनमिके समान विनयसे धर्म होता है, कार्तिक सेठके समान दुःखसे धर्म होता है, ब्रह्मदत्तचक्रीके समान शृंगारसे धर्म होता है, आभीर तथा आर्य्यरक्षित आचार्य्यके समान कीर्तिसे धर्म होता है, गौतम स्वामीसे प्रतिबोध किये हुए १५०३ तापसोंके समान कौतुकसे धर्म होता है, इलापुत्रके समान विस्मयसे धर्म होता है, अभयकुमार तथा आर्द्रकुमारके समान व्यवहारसे धर्म होता है, भरतचक्री तथा चन्द्रावतंसके समान भावसे धर्म होता है, कीर्तिधर, सुकोशल आदिके समान कुलाचारसे धर्म होता है, और जम्बूस्वामी, धनगिरि, वज्रस्वामी, प्रसन्नचन्द्र तथा चिलातीपुत्रके समान वैराग्यसे धर्म होता है।

" क्षमाके लिये गजसुकुमाल, कूरगडुमुनि, वीरप्रभु, पार्श्वप्रभु, स्कन्दमुनि आदिके दृष्टान्तोंको जाने। शीलके लिये सुदर्शन सेठ, मल्लीप्रभु, नेमनाथजी, स्थूलभद्र, सीता, द्रौपदी, राजमतीके दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। प्रभाविकपनके लिये श्री हेमचन्द्राचार्य, जीवदेवसूरि, कालिकाचार्य, जिनप्रभसूरि, विष्णुकुमार,

यशोदेवसूरि आर्य्यखपुटाचार्य्य, बप्पभट्टिसूरि, पादलिप्तसूरि, धर्मघोपसूरि, मानदेवसूरि, मानतुंगसूरि, हरिभद्रसूरि आदिके दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। अधिक क्या कहें ? सर्व प्रकारसे किये हुए धर्म महा लाभकारी है।"

इस बड़े वाक्यके लिखनेका यह कारण है कि धर्म किसी विशेष अमुक कारणसे ही प्राप्त नहीं हो सकता है, वह किसी भी हेतुके आश्रयसे हो सकता है, और उन उन प्रसंगोंके अनुसार वह फल देता है। सम्पूर्ण अधिकारमें यह ही बात येन केन प्रकारेण बताई गई है। धर्मसे जैसे कीर्ति, विद्या और लक्ष्मी मिलती है उसीप्रकार धर्मसे एकान्त शांति प्राप्त हो सकती है। ऐसे धर्मको किसी कारणसे न करने तथा धर्मकी किसी भी बाह्य क्रियाका निषेध करनेका उद्देश ग्रन्थकर्त्ता तथा विवेचनकर्त्ता-का नहीं है। मुख्य उद्देश यह है कि तुम जो कुछ भी करो उसे सोच-समझकर करो, अल्पमें या अशुद्धमें संतोप न करो। इस जमानेकी खूबी अथवा खोड़-यह है कि असंतोप रखना और किसी कार्यको पूरा न करना। व्यवहारमें भी अपने कार्य्यको पूरे करनेवाले बहुत कम हैं। यद्यपि धर्म करनेकी आवश्यकताको सब कोई स्वीकार करते हैं, वे सब समझते हैं कि राज्य के वैभव या संततिसुख, शरीरसंपत्ति या सुलक्षणी भार्य्या, शांतस्थान या फलद्रुम बागबगीचा, मानसिक या शारीरिक उपाधिरहितपन जो जीवको प्राप्त होते हैं वे धर्मके कारण ही होते हैं तो फिर उसको शुद्धरूपसे करना चाहिये। यहां जो उद्देश है वह किसी भी प्रकारकी क्रियाका निपेध करनेका नहीं है परन्तु शुद्ध रीति अनुसार करनेका है।

इस अधिकारमें मुख्यतया तीन बातोंपर ध्यान आकर्षित किया गया है।

१ धर्मशुद्धिकी आवश्यकता ।

शुद्धि शब्दसे ही प्रकट है कि धर्मशुद्धि इस प्रकारकी होनी चाहिये कि उसमें किसी भी प्रकारकी मलीनता न आने पावे। शुद्ध धर्मरूप जलको अशुद्ध बनानेवाले प्रमाद, मत्सर आदि (दूसरा श्लोक) पदार्थोंसे सचेत रहना चाहिये। जब जब ये मलिन पदार्थ धर्मरूप जलमें दिखाई दें तब पानीको साफ करना या किसी भी प्रकारसे कचरा हटा देना चाहिये। यदि धर्मरूप जल शुद्ध होगा तो उसके पानसे राग आदि व्याधियोंका नाश हो जायगा और चिरशांति प्राप्त होगी ।

२ स्वगुणप्रशंसा और मत्सर ।

धर्मशुद्धिको खराब करनेवाले कितने ही पदार्थ हैं उनमें से दो दोष बहुत खराब हैं। इनके लिये जीव अपनी शुद्धि नहीं रख सकता है। अपनी प्रशंसा करानेके आकर्षणमें परवश हो जाता है। सबको अपनी स्तुति प्रिय मालूम होती है (तीसरा श्लोक), परन्तु उनमें स्तुति कराने जैसा कौन–सा गुण है ? स्वच्छ कपड़े पहना या शुद्ध व्यवहार रखना यह तो हमारा कर्तव्य ही है, जिसकी प्रशंसा करानेकी आवश्यकता नहीं है, और यदि व्यवहार शुद्ध न हो और फिर भी शुद्ध है ऐसी प्रशंसा कराई जाय तो वह दंभ है, जो वर्ज्य है, अतः किसी भी प्रकारसे अपनी प्रशंसा करानेकी अभिलाषा रखना अनुचित है। इसीप्रकार दूसरों के धन, सुख तथा कीर्तिकी ईर्षा करना भी वर्ज्य है। कोई भी कार्य्य प्रशंसा करानेकी अभिलाषासे न करना चाहिये। यदि इस जीवको वस्तुस्वभावका भरोसा हो तो समझना चाहिये कि शुभ कार्य्य की अनुमोदना इसके पास है, दुनियामें उसके ढोल पिटवानेकी आवश्यकता नहीं है। जवाहिरातमें आवाज नहीं परन्तु तेज है, कस्तूरी यह

नहीं कहती कि मुझे सुंघिये, चन्दन नहीं कहता कि मुझे लीजिये; परन्तु थोड़ा-सा विचार करें तो यह सब स्पष्ट हो जाता है।

३ भावशुद्धि और उपयोग।

प्रत्येक धर्मकार्य्यमें भाव और सावधानताकी आवश्यकता होती है। जो क्रिया, जप, तप और ध्यान करे उन्हें शुद्ध ध्यान और उपयोगसे करे। भाव होनेसे अल्पक्रिया भी बहुत फल देती है। निरादरपन, अविवेक, अनुत्साहीपन आदिका त्याग करना। धर्मरूप राजाके दान आदि अंग है और उनमें भावनारूपी जीव है। शास्त्रकार कईबार स्पष्टतया कहते हैं कि भावरहित क्रियामें बहुधा कायक्लेश होता है। उपदेशतरंगिनीमें कहा है कि "भाव धर्मका सच्चा मित्र है, कर्मरूप कष्टोंको जलानेमें अग्निके समान है, पुण्य अन्नमें घीके समान है और मोक्षलक्ष्मीकी कटिमेखला है।"

इन तीन बातोंपर विशेषतया ध्यान देकर धर्मशुद्धि जिसप्रकार हो सके उसप्रकार रखनेका इस अधिकारमें उपदेश किया गया है। इसमें स्वगुणप्रशंसारूप झूठे दुर्गुणोंसे बचनेके लिये असाधारण प्रयास करनेकी सूचना प्रत्येक मुमुक्षुको की गई है। लोकरंजननिमित्त धर्म न करना चाहिये, परन्तु अपने भावसे आत्मनिर्मलताके लिये सोच-विचारकर सब धर्मकार्य्य करने चाहिये। और उनमें जो जो दोष प्राप्त होते जावें उनका सोच विचारकर त्याग करना चाहिये। अगले अधिकारमें इस धर्मको बतलानेवाले गुरु सम्बन्धी विवेचन किया जायगा।

इति सविवरणो धर्मशुद्ध्युपदेशनामैकादशोऽधिकारः।



अथ द्वादशः देवगुरुधर्मशुद्ध्याधिकारः



रवें अधिकारमें यह बताया गया था कि धर्मशुद्धि कैसी रखनी चाहिये ? इस धर्मको बतानेवाले, पहचान करानेवाले भी गुरुमहाराज हैं और उस धर्मको कहनेवाले तीर्थंकरदेव हैं। उनकी आज्ञा और पुष्टालम्बनरूप भावना (Ideal) मिलनेसे जीव उनके समान होनेका यत्न करता है और हो भी सकता है। यहां तीर्थंकरदेवसे कहे हुए धर्मको बतलानेवाले गुरु हैं। वे गुरु-देवा कैसे होने चाहिये इसके विचारनेकी अत्यन्त आवश्यकता है और इसी विषयको लेकर यह अधिकार लिखा गया है।

धर्मशुद्धिपर ग्यारवाँ अधिकार लिखा गया है, परन्तु वहाँ जो शुद्धि बताई गई है वह शुद्ध धर्मको मलिनता न लगने देनेकी है और उसमें यह बतलाया गया है कि शुद्ध धर्ममें कौन कौन-सी मलिनताके आजानेसे वह खराब हो जाता है। यहाँ पर यह बताया गया है कि षड्दर्शनमेंसे कौन-सा दर्शन स्वीकार करने योग्य है इसमें पुनरुक्ति दोषकी सम्भावना नहीं है। सब बातका आधार इसपर होते हुए प्रकाशपर पड़ता है इसलिये प्रकाश करनेवाला कौन है इसपर भी बड़ा आधार है। परमत, व्यवहार, निश्चय, शुद्धि आदिपर प्रकाश डालनेवाला कैसा होना चाहिये इसका हम अब विचार करेंगे। इस बाबतमें दृष्टिरागका बहुत जोर रहता है इसलिये उस कमजोरीको हटाकर निम्नलिखित बातोंपर ध्यान खिंचा जाता है।

गुरुतत्त्वकी मुख्यता.

तत्त्वेषु सर्वेषु गुरुः प्रधानं,
हितार्थधर्मा[1] हि तदुक्तिसाध्याः ।
श्रयंस्तमेवेत्यपरीक्ष्य मूढ !,
धर्मप्रयासान् कुरुषे वृथैव ॥ १ ॥

" सर्व तत्त्वोंमें गुरु मुख्य है, आत्महित निमित्त जो जो धर्म करनेके हैं वे वे उनके कहनेसे साध्य है। हे मूर्ख ! यदि उनकी परीक्षा किये विना तूं उनका आश्रय लेगा तो तेरे धर्म सम्बन्धी किये हुए सब प्रयास (धर्मके कार्योंमें कीजानेवाली महेनत) व्यर्थ होंगे।"　　　उपजाति.

विवेचन—देव और गुरुकी पहचान करानेवाले गुरुमहाराज हैं अतएव उनकी सब तत्त्वोंमें मुख्यता है। सिद्धमहाराज विशेष गुणी हैं फिर भी उनसे पहिले अरिहंत महाराजको नवकारमें प्रथम नमस्कार किया जाता है। अमुक कार्य्य करने योग्य है या नहीं ? अमुक मार्ग जाने योग्य है या नहीं ? आदि आदि कार्याकार्य, पेयापेय, भक्ष्याभक्ष्यका विवेक गुरुमहाराजद्वारा होता है। अतएव सब तत्त्वोंमें गुरुतत्त्वकी मुख्यता है।

अब सबसे टेढा प्रश्न यह है कि उनको किस प्रकारसे ढूंढ निकालना चाहिये। यदि अयोग्य पुरुषको गुरुका स्थान प्रदान किया जाय तो वह अपने आपको तथा आश्रयमें आनेवालेको संसारसमुद्रमें डुबा देता है। इसलिये व्यवहारमें इसीप्रकार धर्ममें भी एक बहुत आवश्यक प्रश्नपर हमको विचार करना चाहिये। गुरुस्थान ग्रहण करनेकी अधिक योग्यता साधुमें

---

१ हितार्थिधर्मा इति वा पाठः।

होती है। साधुकी विशेष परीक्षा कदाच न हो सके फिर भी गुरुके समान मान्य करनेसे पहले इतना तो व्यवहारसे अवश्य देखलेना चाहिये कि वे कंचन तथा कामिनीके त्यागी हैं या नहीं, क्योंकि कंचन कामिनीके सद्भावमें साधुपनका नाश हो जाता है और उसका जहाँ त्याग न हो वहां गुरुपन घटता नहीं है[१]। इसके पश्चात् यदि होसके तो तपस्या, ज्ञान, ध्यान, वर्तन, गुप्ति, कषायदमन, सात्त्विक प्रकृति आदि देखना चाहिये। विशेषतया मुख्य बातोंमें किसी प्रकारकी कमी न हो यह विशेष बारीकीसे देखना चाहिये। गुरुमहाराजकी पसन्दगीपर सम्पूर्ण संसार-यात्राकी फतहका आधार है, अतएव उनकी परीक्षा कभी न करना चाहिये और यह भी न समझे कि ऐसा करनेसे व्यवहार की तथा विवेककी सीमाका उल्लंघन करना होगा। इस बातका निर्णय करना प्रत्येक मुमुक्षुका कर्त्तव्य है।

सदोष गुरुके बताये हुए धर्म भी सदोष होते हैं

भवी न धर्मैरविधिप्रयुक्तै-
र्गमी शिवं येषु गुरुर्न शुद्धः।
रोगी हि कल्यो न रसायनैस्तै-

---

१ कंचन और कामिनी इन दोनोंको यहां लिखनेका यह उद्देश है कि ये दोनों सर्व मूल गुणोंका नाश करनेवाले हैं। महाव्रत पांच हैं, परन्तु उनमेंसे दूसरोंका भंग होता है तो पूरता नाश होता है, लेकिन कंचन और कामिनी गुणोंका सर्वथा घात करते हैं। कंचन और कामिनी सर्व संसारके मूलभूत हैं और जहांपर ये होते हैं वहांपर संसारके कारण सर्व दुर्गुण एकके पश्चात् एक चले आते हैं। बारीकीसे अवलोकन करनेके पश्चात् ही शास्त्रकारोंने फरमाया है कि चतुर्थव्रतका उल्लंघन हो जानेपर फिरसे दूसरी बार दीक्षा लेनी चाहिये। इसप्रकार प्रायश्चित्तके अनुशासनमें जो महत्व और तीव्रता रही है वह बहुत मनन करनेके लायक है।

येषां प्रयोक्ता भिषगेव मूढः ॥ २ ॥

" जहाँ धर्मके बतानेवाले गुरु शुद्ध नहीं होते हैं वहां विधिरहित धर्म करनेसे प्राणी मोक्षकी प्राप्ति नहीं कर सकता है; जिस रसायणको खिलानेवाला वैद्य मूर्ख हो उसे खानेसे व्याधिग्रस्त प्राणी निरोगी नहीं हो सकता है।" उपजाति,

विवेचन—जहाजका कप्तान यदि मूर्ख हो तो वह जहाज निश्चित बन्दरपर नहीं पहुँच सकता है, गाड़ी चलानेवाला मार्गको न जानता हो तो इधर उधर गाड़ी चलाकर चक्कर लगाता रहता है परन्तु इच्छित स्थानपर नहीं पहुँच सकता है, घड़ीकी रचना न जाननेवाला पुरुष उसको सुधारनेकी कोशिश करनेसे ऊलटी हानि करता है, इसीप्रकार शुद्ध धर्मको न जाननेवाला या न करनेवाला अपने साथ आनेवालेको भी संसारचक्रमें डालता है। अनुभवसे जान पड़ता है कि जिस विषयका खुदको ज्ञान न हो उस विषयमें भी सिर पटकनेवाले दुनियांमें अनेकों प्राणी होते हैं। रोगीके पास जानेपर प्रत्येक पुरुष औषध बताने लग जाता है, मानो स्वयं बड़े भारी वैद्य हो ऐसी सत्तासे बोलते हैं। इसप्रकारकी औषधिसे संसारको बहुत हानि पहुंची है; परन्तु स्वार्थान्ध संसार लोभसे या रागसे ऐसे ऊँट वैद्योंको ही मान करते हैं।

रसायण यदि योग्य रीतिके अनुपानसे खानेमें आवे तो शरीरको बहुत दृढ बनाती है, किन्तु यदि उसकी क्रियामें कुछ अन्तर हो जावे तो सम्पूर्ण जीवनपर्यंत दुःख भोगना पड़ता है, कारण कि बहुधा वह शरीरमेंसे फूट फूट कर निकलने लगती है। मूर्ख वैद्य जो रसायन खिलावे तो अवश्य उसमें भूल हुए बिना नहीं रह सकती है। इससे इच्छित लाभकी प्राप्ति नहीं हो सकती है, परन्तु बहुधा कितनीही बार उलटा अपना होता है वह भी नष्ट हो जाता है। इसीप्रकार अज्ञानी अथवा विकारी गुरुके बताये

हुए धर्मसे भी मोक्षके बदले संसारवृद्धि होती है। इस श्लोकमें संसारी जीवका रोगीके साथ, धर्मका रसायणके साथ और गुरुका वैद्यके साथ दृष्टांतदार्ष्टांतिक सम्बन्ध है।

स्वयं डूबे और दूसरोंको डूबानेवाला कुगुरु

समाश्रितस्तारकबुद्धितो यो,
यस्यास्त्यहो मज्जयिता स एव।
ओघं तरीता विषमं कथं स ?,
तथैव जन्तुः कुगुरोर्भवाब्धिम् ॥ ३ ॥

"यह पुरुष तारनेमें समर्थ है ऐसे विचारसे जिसका आश्रय लिया जावे उस आश्रय लेनेवालेको जब आश्रय देनेवाला ही डूबानेवाला बन जाय तो फिर यह विषम (अथवा चपल) प्रवाहको वह प्राणी किसप्रकार तैर सकता है? इसीप्रकार कुगुरु इस प्राणीको संसारसमुद्रसे किसप्रकार तार सकता है?" उपजाति

विवेचन—जिस जहाजमें कप्तानके भरोसेपर बैठे हैं वह कप्तान ही जब जहाजको डूबाने लगे तब उसका खुदका भी विनाश होता है और जहाजमें बैठनेवालोंका भी विनाश हो जाता है। संसारसमुद्रकी यात्रा करनेके लिये गुरुरूप कप्तान (टंडेल) के आश्रयसे चलनेवाले धर्मरूप जहाजमें बैठनेके पश्चात् अयोग्य आचरण या मदिरापान करनेवाला कप्तान जब जहाजको डूबाता है तब खुदका और अन्य सबोंका विनाश हो जाता है। इसलिये गुरुकी बराबर परीक्षा करनी चाहिये और इसके पश्चात् उसे अपना आधुनिक तथा भावी जीवन सौंप देना चाहिये।

जो गुरुका नाम धारणकर बैठे, छत्रकी शोभा उपरान्त

सिरपर पट्टिये पाड़कर स्थूल विषयोंमें आसक्त रहते हैं और सामान्य पुरुषको भी शोभा न देनेवाले दुश्चारित्रोंका आचरण करते हैं उनको इस श्लोकसे बहुत कुछ सिखना चाहिये। यहां जो शुद्ध मार्ग नहीं बताते हैं, जो शुद्ध मार्गका अवलम्बन नहीं करते हैं वैसे चोथी श्रेणीके गुरुका वर्णन किया गया है। स्वयं डूबे और दूसरोंको भी डूबावें ऐसे पत्थर सदृश गुरुसे किसी भी प्रकारके लाभ होनेकी सम्भावना नहीं है। ऐसा जानकर प्रत्येक जीवको योग्य गुरुका आश्रय लेना उचित है।

इस श्लोकमें कुत्सित कप्तानकी कुगुरुके साथ और प्रवाहकी संसारके साथ दृष्टान्त–दार्ष्टांतिकता समझना चाहिये।

शुद्ध देव, और धर्म की उपासना करनेका उपदेश.

गजाश्वपोतोक्षरथान् यथेष्ट,
पदाप्तये भद्र निजान् परान् वा।
भजन्ति विज्ञाः सुगुणान् भजैवं,
शिवाय शुद्धान् गुरुदेवधर्मान् ॥ ४ ॥

"हे भद्र! जिस प्रकार बुद्धिमान् प्राणी इच्छित स्थानपर पहुँचनेके लिये अपने तथा दूसरोंके हाथी, घोड़े, स्वारियें, बैल और रथ अच्छे देखकर रखलेते हैं इसीप्रकार मोक्षप्राप्ति निमित्त तूं भी शुद्ध देव–गुरु–धर्मकी उपासना कर।"

उपेन्द्रवज्र.

विवेचन—मोक्षनगर पहुँचनेके लिये देवगुरु और धर्म ये स्वारियें हैं। जिसप्रकार दूसरे नगरको जानेके लिये अच्छीसे अच्छी स्वारीके लिये पुरुष प्रयत्न करते हैं, घरके तैयार करते हैं या मांगकर लाते हैं, इसीप्रकार मोक्षनगर पहुंचने निमित्त तुझे अठारह दूषणरहित देव, पंचमहाव्रतको धारण करनेवाले गुरु

और आत्मप्रणीत धर्मका आश्रय लेना चाहिये। जिस रथके हाँकनेका स्थान गुरुमहाराजको प्राप्त हो और जिसके ऊपर धर्मकी ध्वजा फहराती हो और जिसका मार्ग अस्खलित वहन करता हो वह धर्मरथ मोक्षनगरको शिघ्र पहुंचे यह स्वाभाविक ही है। तेरे निजके कुलदेव, कुलगुरु, या कुलधर्म जो ऊपर कहे अनुसार उत्तम हो तो उनका आदर करना, उनकी सेवा करना, परन्तु ठीक २ परीक्षा करके फिर ऐसा करना। उसमें अपने या पराये हैं इसके देखनेकी जरूरत नहीं है, परन्तु शुद्ध हो उसके आदर करनेकी आवश्यकता है। घरका घोड़ा खराब हो, सवारी अच्छी न हो और दूसरों का अच्छा हो तो उसमें बैठ जाना चाहिये, कारण कि सबका उद्देश इच्छित स्थानपर पहुँचनेका होता है। अपने तथा परायेमें कुछ विशेष विशेषता नहीं होती है। "प्रस्तुत चालु विषय गुरुशुद्धिका है जिसपर भी विषयके अनुकूल धर्म तथा देवके याद आनेसे इन दोनोंका प्रतिपादन करना व्यर्थ नहीं है।"

कुगुरुके उपदेशसे किया हुआ धर्म भी निष्फल है

> फलाद्‌ वृथाः स्युः कुगुरूपदेशतः,
> कृता हि धर्मार्थमपीह सूद्यमाः ।
> तद्‌दृष्टिरागं परिमुच्य भद्र ! हे,
> गुरुं विशुद्धं भज चेद्धितार्थ्यसि ॥ ५ ॥

"संसारयात्रामें कुगुरुके उपदेशसे धर्मके लिए किये हुए बड़े बड़े प्रयास भी फलके रूपमें देखे जावे तो व्यर्थ जान पड़ते हैं, इसलिये हे भाई ! यदि तू हितकी अभिलाषा रखता हो तो दृष्टिरागको छोड़कर अत्यन्त शुद्धगुरुकी उपासना कर।"

वंशस्थवृत्त

विवेचन—दृष्टिरागद्वारा दो प्रकारसे बात बिगड़ती है। प्रथम अमुक धर्म-दर्शन निमित्त दृष्टिराग होता है। फिर उनके बड़ेमे बड़े धर्माध्यक्ष चाहे जितने दुराचारी क्यों न हों, "महाराजा लाईबल केस" जैसी फजिती कोर्टों पर चढ़कर जगतकी चबूतरीपर चढ़ने हों, फिर भी भोले प्रेमी उसी भावसे 'जय जय' करते रहते हैं। दूसरा दृष्टिराग अमुक व्यक्ति निमित्त होता है। अपने गुरु चाहे जितने विषयी, सांसारिक तथा आत्मदशामें निद्र लेते हों, फिर भी चौथे श्लोकमें कहे अनुसार उन्हींके जहाजमें बैठनवाले जीव संसारयात्रामें निष्फल होते हैं। इसीप्रकार दृष्टिरागसे ग्रहण किये हुए गुरुकी आज्ञासे धर्मनिमित्त चाहे जितने सदाचरण क्यों न किये हों, परन्तु दृष्टिरागरूप मिथ्यात्वशल्य नष्ट न होनेसे उसको कुछ भी फल नहीं हो सकता है। मिथ्यात्वरूप अज्ञानसे भरे हुए अगीतार्थ गुरु देशकालादि ज्ञानसे रहित होते हैं, और एक बार उनके ऊपर ऊपरसे उत्तम दिखाई देनेवाले उपदेशसे दान, तपस्या, उजमणा या वरघोड़े चढ़ाये जावे तो भी उससे नैश्चयिक ज्ञानके अभाव होनेके कारण स्वपर विवेचनरहित केवल शुभ व्यवहारके कारण लाभ नहीं उठा सकते हैं। जमानेकी आवश्यकताको न समझनेवाले, विषयमें आसक्त और बाह्य आडम्बरवाले गुरुके वचनोंको पालन करनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा शास्त्रमें भी कहा गया है। टीकाकार "गच्छाचारपयन्ना" में से निम्नस्थ गाथा उद्धृत करते हैं।

अगीयत्थस्स वयणेणं, अमियंपि न घुंटए।
गीयत्थस्स वयणेणं, विसं हलाहलं पिवे ॥

अर्थात् 'अगीतार्थ' के वचनसे अमृत भी न पीना चाहिये, जब कि गीतार्थके वचनसे हलाहल विष हो तो उसे भी पीजाना चाहिये। इसका कारण स्पष्ट ही है। दिखनेमें विरुद्ध ज्ञान पड़ने-

वाली आज्ञा भी गीतार्थ बहुत विचारकर करते हैं, जब कि अधुरी तपास और अवलोकनके आधारपर स्वपूर्ती समझके अनुसार हुआ अगीतार्थका हुकम दिखनेमें उत्तम और मनको अच्छा लगनेवाला हो फिर भी लाभदायक नहीं होता है, परन्तु हानिकारक होता है।

कई बार यहां संसारवासमें सुख माननेवाले विषयानन्दी गोरजी और श्रीपूज्यों तरफ दृष्टिरागी श्रावक बहुत भाव प्रगट करते हैं, परन्तु शास्त्रकार यहां स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि उनके आश्रित रहकर किया हुआ धर्म भी निष्फल है। इसके उपरान्त साधु कहलानेवालोंमें भी दृष्टिराग नहीं रखना चाहिये। ये मेरे गुरु हैं और ये मेरे गच्छके हैं ऐसा विचार गुणानुरागीके हृदयमें न आना चाहिये। वेष मान्य है, जबतक गुण न जान पड़े तब तक दूरसे ही सामान्य रीति द्वारा नमन करना योग्य है, परन्तु पूजा गुणकी ही होती है और अन्तर राग भी उसीपर होना चाहिये। इसीप्रकार गुरु होने योग्य साधुको तो यह मेरे श्रावक हैं ऐसी वृत्ति स्वार्थ साधनेकी बुद्धिसे होना ही न चाहिये।

इतनी बात स्पष्ट हो जानेपर उपाध्यायजीका कहा हुआ वचन समझमें आजायगा। उपाध्यायजीका कहना है कि—

राग न करसो कोई नर कोईसु रे,
नवी रहेवाय तो करजो मुनिसुरे,
मणी जिम फणी विषनो तिमि तेहोरे,
रागनो भेषज सुयश स्नेहोरे ॥

दृष्टिराग मिथ्यात्वजन्य है। राग तो किसीके साथ न करना चाहिये, परन्तु मोहनीयकर्मोंके उदयसे राग किये बिना न रहा जाय तो गीतार्थ गुरुपर राग करना चाहिये, क्यों कि यह जीव संसारदशामें है इससे यह एकदम रागसे मुक्त नहीं हो

सकता है, रागदशाको नहीं छोड़ सकता है; इसलिये यदि गीतार्थ गुरुपर राग किया जाय तो वह गुरु धीरे धीरे उसे रास्तेपर लाकर व्यक्तिपर राग नहि किन्तु गुणोंपर राग करना सिखावे, और गुणोंपर राग होते ही उन गुणोंको प्राप्त करनेका प्रयत्न करेगा और अन्तमें उन्हे प्राप्त भी करेगा। जिसप्रकार मलिन तथा तेलसे सने हुए वस्त्रको साबुनसे धोनेपर उसके मैल तथा चिकनासका नाश हो जाता है, उसीप्रकार गीतार्थ गुरुके रागसे अप्रशस्त रागका नाश हो जाता है।

ऐसी स्थिति है इसलिये अमुक दर्शन या व्यक्ति पर दृष्टि-राग न रखकर गुणवान् ज्ञानी गुरुकी परीक्षाकर इस संसार-यात्राको सफल बनानेका प्रयत्न करें। कुगुरुका उपदेश उचित नहीं होता है, यदि हो तो प्रभाव डालनेवाला नहीं होता है, प्रभाव डाले तो भी उसके अनुसार वर्त्तन नहीं हो सकता और वर्त्तन हो तो भी ऐसा विचित्र हो कि उसका फल नही मिल सकता।

पहलेके श्लोकमें दृष्टिराग दूर करनेका कहा गया था फिर उसका यहाँ पुनरावर्तन करनेका यह कारण है कि कामराग और स्नेहराग ये दोनों सामान्य कारणसे नष्ट हो जाते हैं। कामीको व्यवहारके कार्य्योंमें लगानेमे कामराग कम हो जाता है, इसी-प्रकार दूर देश जानेपर बहुत समयका विरह होनेसे स्नेहराग कम हो जाता है, परन्तु दृष्टिराग ऐसा है कि अत्यन्त कठिनाईसे भी नष्ट नहीं हो सकता है; इतना ही नही अपितु बुद्धिमान पुरुष भी इस सम्बन्धमें भूल करते हैं। वीतरागस्तोत्रमें स्तुति करते समय कहा गया है कि—

कामरागस्नेहरागावीषत्करनिवारणौ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेदः सतामपि॥

कामराग और स्नेहराग अल्प प्रयाससे दूर हो सकते हैं,

परन्तु पापी दृष्टिराग तो सज्जन पुरुषोंको भी दुरुच्छेद है (अत्यन्त कठिनतासे काटे जानेवाला है) इस प्रयोजनसे यह बात बारम्बार कही गई है। दृष्टिरागका यह मतलब कदापि नहीं है कि किसी व्यक्तिको देखकर उसपर राग हो जाय, परन्तु मिथ्यात्व जन्य मोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाला अस्वाभाविक प्रेम समझना चाहिये।

इस विषयमें एक आवश्यक बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये। जैनशास्त्रकार बिना विचार अन्धश्रद्धासे धर्म कबूल करनेका आग्रह किसी स्थानपर नहीं करते हैं। बारम्बार स्पष्ट कहते हैं कि तुम विचार करो, उपास करो, मनन करो, तत्त्वविद करो, निश्चान करो, यदि तुमको न्यायशास्त्रके सामान्य ज्ञानसे तुलनाशक्ति और उसके परिणाममें होनेवाली निश्चयपद्धति (Power of independent judgement) प्राप्त हुई हो तो इसको उचित अवकाश दो, अन्य धर्मोंकी बराबरीमें जो तुमको जैनतत्त्वज्ञानमें कुछ अपूर्व वस्तुस्वरूप और परस्पर विरोधका अभाव जान पड़े तो यहां जो कहा जाता है उसका आदर करो। जैनशास्त्रकार कभी भी नहीं कहते हैं कि " अतीन्द्रियास्तु ये भावा, न तांस्तर्केण योजयेत्। " अतीन्द्रिय विषयोंमें तर्क न करना। ये वचन किसके हो सकते हैं यह विचारने योग्य है। जो शास्त्र न्यायकी उच्च कोटीयों पर रचा हुआ हो उसमें ऐसा मनुष्य बुद्धिके विपरीत, उसकी अवगणना करनेवाला, उनको लिखते ही अफसोस देनेवाला विचार बतानेकी आवश्यकता नहीं होती है। इसके साथ ही साथ यह भी ध्यानमें रखें कि प्रत्येक फिलासफीका तर्क (reason) पर ही आधार होता है और इसप्रकार आधारित हो उसे ही फिलासफी कह सकते हैं। धर्म (religion) में श्रद्धा (faith) का अंश विशेषतया होता है वैसे फिलासफीमें

नहीं होता है, परन्तु जैन दर्शन तत्त्वज्ञानसे भरपूर है। तर्क पर आधारित है। जैन धर्म एक भिन्न ही विषय है और प्राकृत व्यक्तिके शुद्धाचरण निमित्त विकस्वर किया हुआ उसका स्वरूप है। तत्त्वज्ञानके भण्डारके रूपमें उसके सम्बन्धमें अथवा दूसरे किसी दर्शनके सम्बन्धमें तर्कविचार—न्यायको उचित अवकाश दे।

यह परीक्षा बताने निमित्त स्वरूपज्ञान बतानेकी आवश्यकता होती है जिसके लिए गुरुकी आवश्यकता होती है। वह गुरु यदि शुद्ध होता है तो वह शुद्ध तत्त्वज्ञान बतलाता है और उसे प्राप्त करनेके लिये कितने ही वर्त्तनधर्म भी बतलाते हैं। ये वर्त्तन धर्मसाध्य नहीं, किन्तु साधन हैं। साधन चाहे जितने प्रबल हों परन्तु यदि साध्यका लक्ष्य न हो, उसे देखा न हो, जाना न हो तो वे व्यर्थ ही हैं। इससे प्रगट हो जाता है कि गुरुकी कितनी आवश्यकता है। इस हेतुसे अमुक दर्शनकी परीक्षा करनेसे पहिले उसके बतानेवाले गुरुकी परीक्षा प्रथम करनेकी आवश्यकता सिद्ध होती है।

वीरको विनति. शासनमें लुटेरोंका बल.

न्यस्ता मुक्तिपथस्य वाहकतया श्रीवीर ! ये प्राक्त्वया,
लुंटाकास्त्वदृतेऽभवन् बहुतरास्त्वच्छासने ते कलौ।
बिभ्राणा यतिनाम तत्तनुधियां मुष्णन्ति पुण्यश्रियः
पुत्कुर्मः[1] किमराजके ह्यपि तलारक्षा न किं दस्यवः ॥६॥

"हे वीर परमात्मा ! मोक्षमार्गको बतलानेवालेके रूपमें (सार्थवाहके रूपमें) जिनको तूने पहिले नियुक्त किये थे (स्थापित किये थे), वे कलिकालमें तेरी अनुपस्थिति में

---

१ फुत्कुर्म इति वा पाठः।

तेरे शासनमें बड़े लुटेरे बन बैठे हैं। वे यतिका नाम धारण करके अल्प बुद्धिवाले प्राणियोंकी पुण्यलक्ष्मीको चुरा लेते हैं। अब हम तुमसे क्या पुकार करें? स्वामीरहित राज्यमें क्या कोटवाल भी चोर नहीं हो सकते हैं?" शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—पांचसो वर्ष पहिलेके कहे हुए शब्दोंको उनके पिछे होनेवालोंने अधिक सत्य किये हैं। मुनिसुन्दरसूरिजीने स्पष्ट शब्दोंमें बहुत साहसपूर्वक सत्यको प्रगट किया है। ऊपर कहे अनुसार व्यक्ति परके दृष्टिरागसे बहुत-से जीवोंका बिगाड़ होता है, परन्तु बिगाड़ करनेवाला तो अत्यन्त कर्मबन्ध करता है। शिथिलाचार, प्रमाद, विनयका अभाव, मदभिन्नता आदि संवेगी साधुओंमें भी दृष्टिगोचर होते हैं। बेचारे यति, गोरजी और पाटधारी श्रीपूज्य तो थोथे वर्गके गुरु हैं, व तो शासनके सचे लुटेरे हैं, परन्तु जिन स्थानोंसे एकान्त शान्तिकी आशा रख सकते हैं वहां भी थोड़ी थोड़ी खराबी घुसती जाती है और बढ़ती जाती है। सुधर्मास्वामीको प्रभुने पाट सौंपकर उनकी परंपरासे आगे बढ़ते हुए कितने ही कालके पश्चात् जो हुए वे शासनको बराबर नहीं चला सके और स्वामीरहित राज्यमें कोटवाल भी जैसे लुटेरा हो जाता है वैसा ही यहां भी हुआ। लोगोंकी पुण्यलक्ष्मी बढ़ानेके स्थानमें संसारमें भटकाकर पाप-पंक बढ़ानेवाले हुए यह बड़ा भारी जुल्म हुआ है। हमारी पुकार कोई नहीं सुनता है, हम किससे जाकर अर्ज करें? अब बाड़ ही खेतको खाने लगे तो बचाव कैसे हो सकता है? हे कोटवालों! तुमे अपने कर्तव्यको विचारो–आँखें खोलो! तुम्हारा उपर दायित्वपन बहुत बड़ा है। यदि तुम लोगोंको भटकाओगे तो तुम्हारा भी छुटकारा न हो सकेगा।

धर्माध्यक्षोंका कर्त्तव्य इस जमानेमें अधिक है। पाश्चात्य विचारोंका गहरा प्रवाह, केन्ट केमप्ट, आदि नवीन तत्त्वज्ञोंका स्थूल तत्त्ववाद(Materialism)के उल्लेख, मील आदि अर्थ-शास्त्रियोंके स्वतंत्र लेख, पूर्वके दृढ़ संस्कारोंका दृढ़ संगम और आसपासके वायुमण्डलसे होनेवाला महान फेरफारको ध्यानमें रखकर अभी किसकी आवश्यकता है इसका अभ्यास करना चाहिये, इसका चिन्तन करना तथा स्वशक्ति अनुसार इसको पूरे करनेका प्रयास करना प्रत्येक धर्माध्यक्षका मुख्य कर्त्तव्य है। विशेषतया शक्तिका व्यर्थ व्यय, वितंडावाद और कलह-कुसंपको हटाकर सन्नद्धबद्ध होकर शासनको बनाये रखनेके प्रयास करनेकी अभी अत्यन्त आवश्यकता है। यह सब कार्य्य उनका है, उनके करनेका है, इसके स्थानमें विपरीत आचरणकर यदि यहां दिये हुए उपनामको सार्थक बनायेगें तो यह निश्चय समझे कि भविष्यमें बहुत चिन्ता करनी पड़ेगी। कोम्पट और हेगलका स्थूलवाद बहुत आकर्षक है और उसमें फिलोसोफर हर्बर्ट स्पेन्सरने बहुत बढ़ोतरी की है। यह पाश्चात्य फिलासफी कालिजमें सिखाई जाती है और नवीन प्रजा उसका मन लगाकर अभ्यास करती है। इस नवीन फिलासफीमें पुद्गल(Matter)को बहुत प्रधान्यता दी गई है। विशेष खूबीकी बात तो यह है कि जैन तत्त्वज्ञानको जो यदि इस नवीन फिलासफीके प्रकाशके साथ रखकर समझाया जाय तो सब हकीकत साफ हो जाती है। प्रो० हर्मन जेकोबि जिन्होंने जैन तत्त्वज्ञानका बहुत अभ्यास किया है वे कहते हैं कि कॅन्टकी फिलासफीके बहुत-से तत्त्व जैन तत्त्वज्ञानसे मिलते हैं। अलबत्त, आत्मवाद, आत्मकर्म सम्बन्ध, आत्माका विकासकर्म आदि भाव जैन तत्त्वज्ञानमें विशेषरूपसे हैं और पुद्गलका जो अद्भुत स्वरूप बांधा है वह नवीन फिला-

शकरोंको भी विचार करने योग्य होना कहा गया है। इन सबका संमेलन करके दोनोंकी भिन्नता और जैन तत्त्वज्ञानमें क्या विशेषता है और वह किस प्रकारसे सिद्ध हो सकती है उसे नवीन पद्धति अनुसार समझानेका भारी कर्तव्य गुरुके सिरपर है और वह हो सकने योग्य है। यह स्थिति समझी आ सके और इसका प्रतिकार हो सके तो मुनिसुन्दरसूरिजीके शब्दोंकी सार्थकता है।

अन्तःकरणकी गहरी लगनीसे (लागणीथी) नीकले हुए यह विचार सबको आदरणीय है। साधुओंका उद्देश जीवनकी उन्नति करनेका हो तो उनको मुनिसुन्दरसूरिजीपर मत्य कहनेके लिये क्रोध न करना चाहिये, किन्तु अपना मार्ग सरल तथा सीधा बनाना चाहिये। यति, गोरजी या श्रीपूज्योंको पदिये नहीं पावना, अयोग्य आचरण न करना, अपने लिये आरम्भ न करना और इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त न होना उचित है। ये कड़े शब्द है, परन्तु संसाररोग मिटानेके लिये रामबाण उपाय है, शुद्ध जीवके लिये उपयोगी है। यह श्लोक जिस आशयसे लिखा गया है वह ही आशय ध्यानमें रखना चाहिये। इसमें अन्तःकरणकी गहरी लगनीसे सबे उद्‌गारोंको प्रगट किये गये हैं जिनपर बहुत मनन करनेकी आवश्यकता है।

इस श्लोकमें "लुटेरे" शब्दसे वेषविडंबक अर्थात् साधुका नाम तथा वेश धारणकर दुश्चरित्रका सेवन करनेवाले और कुमार्गमें प्रवर्तन करनेवाले महाससाररसिक कुगुरु तथा धर्मके नामसे पापाचरणमें प्रवर्तन करनेवाले श्रीपूज्य, यति, गोरजी आदिको समझें।

अशुद्ध देव-गुरु-धर्म-भाविषयमें चिन्ता.

मात्सर्यस्य शुद्धैर्गुरुदेवधर्मै-

धिग् ! दृष्टिरागेण गुणानपेक्षः ।
अमुत्र शोचिष्यसि तत्फले तु,
कुपथ्यभोजीव महामयार्त्तः ॥ ७ ॥

"दृष्टिरागसे गुणकी अपेक्षा विना तू अशुद्ध देव, गुरु, धर्मके प्रति जो हर्ष प्रगट करता है उसके लिये तुझे धिक्कार है ! जिसप्रकार कुपथ्य भोजन करनेवाले अत्यन्त पीड़ासे पीड़ित होकर दुःखी होते हैं उसीप्रकार भविष्य भवमें तू उन कुदेव-धर्म-गुरु सेवनके फलको पाकर चिन्ता करेगा।"

उपजाति.

विवेचन—गुणवान गुरुका आश्रय लेनेकी कितनी आवश्यकता है ये सब हम ऊपर पढ़ चुके हैं और ऐसे गुरुको ही नमन करना हमारा कर्तव्य है । ऐसे गुरुसे बताये हुए एकान्त गुणवाले देवकी उनके समान होनेके लिये भावसे उपासना करनी चाहिये और ऐसे गुरु और देवके बताये धर्मका आदर करना गुणापेक्षीपन कहलाता है । इसप्रकार जो प्राणी गुणकी अपेक्षा नहीं रखता है और एक मात्र पौद्गलिक पदार्थोंके समान अथवा पुत्रप्राप्ति, धनप्राप्ति, अनेक रोगादि नाशकी आशंसा और मिथ्यात्वजन्य दृष्टिरागसे चाहे जैसे विषयी गुरुकी उपासना करके जो संसारको बढ़ानेवाले अधमाचरण करते हैं वे प्राणी भविष्यमें बहुत पश्चात्ताप करते हैं। इस प्राणीको संसाररोग तो लगा हुआ ही है तिस पर फिर कुगुरुके प्रसंगसे अयोग्य आचरणरूप कुपथ्य भोजन स्वयं करता है और गुरुके अयोग्य आचरणकी पुष्टि करता जाता है जिससे रोग बढ़ता जाता है और गुरुसेवाका हेतु जो संसारको कम करनेका है उसका नाश होता जाता है ।

मुख्य बात गुरुमहाराजका बराबर सयोग होना है, फिर देव और धर्म तो उनके उपदेशसे नियममर शुद्ध ही मिलते जाते हैं। जो इस बातमें भूल रखकर तलाश नहीं करते हैं वे इस भवमें भी कितनी ही बार पश्चात्ताप करते हैं। हिंदुस्तानमें धर्मके नामपर गुसांई, महन्त, कामी, आगाखान, श्रीपूज्य तथा गोरजी क्या क्या काम करते हैं यह अवलोकन करनेवालेके देखने तथा समझनेमें आसकता है। बड़े आश्चर्यकी बात है कि अविवेकी अविचारी प्रेमी अनुयायी तथा भक्तलोग इस विषयमें आंख उठा कर भी नहीं देखते हैं।

अशुद्ध गुरु मोक्षप्राप्ति नहीं करा सकता—दृष्टांत

नाम्र सुसिक्तोऽपि ददाति निम्बक,
पुष्टा रसैर्वन्ध्यगवी पयो न च।
दुःस्थो नृपो नैव सुसेवितः श्रियं,
धर्मं शिवं वा कुगुरुर्न संश्रितः ॥ ८ ॥

"अच्छी तरहसे सिंचा हुआ निंब कभी आम पैदा नहीं कर सकता है; (शेरडी, घी, तेल आदि) रसोंको खिलाकर पुष्ट की हुई वंध्या गाय दूध नहीं दे सकती है; (राज्यभ्रष्टता जैसे) खराब सयोगोंवाले राजाकी खूब सेवा की जावे तो भी वह धन देकर प्रसन्न नहीं कर सकता है, इसीप्रकार कुगुरुका आश्रय लेनेसे वह शुद्ध धर्म तथा मोक्ष दे दिला नहीं सकता है।" इन्द्रवज्रा

विवेचन—पांचवें श्लोकमें वर्णित बातका यह दृष्टान्त है। अर्थ स्पष्ट ही है।

तात्त्विक हित करनेवाली वस्तु.

कुलं न जातिः पितरो[1] गणो वा,
विद्या च बन्धुः स्वगुरुर्धनं[2] वा ।
हिताय जन्तोर्न परं च किंचित्,
किन्त्वादृताः सद्गुरुदेवधर्माः ॥ ६ ॥

" कुल, जाति, मा बाप, महाजन, विद्या, सगेसम्बन्धी, कुलगुरु अथवा धन के दूसरी कोई भी वस्तु इस प्राणीके हितके लिये नहीं होती है; परन्तु आदर किये (आराधन किये) शुद्ध देव, गुरु और धर्म ही (हित करनेवाले हैं)। "

उपजाति.

विवेचन—ऊँच कुलमें के उत्तम जातिमें जन्म हुआ हो अथवा बहुत-सी विद्या पढ़ा हो या बहुत-सा धन संचय किया हो या हुआ हो तो इनसे इस जीवका कुछ भी हित नहीं हो सकता है । पहिले ममत्वमोचनके चारों अधिकारमें हम पढ़ चुके है कि पुत्र, कलत्र, धनादि वस्तुएँ तो जिस जिसप्रकार अधिक प्रमाणमें मिलती हैं त्यों त्यों संसार-बन्धन बढ़ता जाता है; परन्तु वे भवचक्रके एक भी आरेको कम नहीं कर सकते हैं। अनादि कालसे रागमें रचा हुआ रंक जीव कुछ भी नवीन नहीं करता है और धन, स्त्री, वैभव या विद्याके मदमें या मोहमें मस्त होकर महादुःख परंपराको प्राप्त होता है ।

दुःखपरम्परासे छूटनेके लिये यचना हो तो शास्त्रकार इसका एक उपाय बतलाते हैं और वह यह है कि शुद्ध गुरुका आश्रय लेना और उनके बताये देवकी सेवा करना और उनके

---

१ पितरौ स्थाने पितरो इति पाठान्तरं पितृवर्ग इत्यर्थः । २ श्व इति
[illegible] ।

बताये धर्मोका पालन करना । इसप्रकार जो प्राणी आचरण करता है वह पूर्वके पापोंका नाशकर महासुख साधन प्राप्तकर अन्तमें सब दुःखोंका अत्यंताभाव करता है।

इस श्लोकमें और अन्यत्र भी देवशब्दसे पहिले जो गुरु शब्द रक्खा गया है वह सूचक है। पहले बताये अनुसार 'देव' को बतानेवालेभी गुरुमहाराज होनेसे शिष्यबुद्धिकी अपेक्षासे 'गुरु'को देवसे भी अधिक मुख्यता बतलाते हैं, यद्यपि 'देव' तो गुरु और शिष्य दोनोंको एक समान आराध्य है।

धर्ममें लगानेवाले ही सच्चे माता-पिता हैं.

माता पिता स्वः सुगुरुश्च तत्त्वा-
प्रबोध्य यो योजति शुद्धधर्मे।
न तत्समोऽरि: क्षिपते भवाब्धौ,
यो धर्मविघ्नादिकृतेश्च जीवम् ॥१०॥

"जो धर्मका बोध कराकर शुद्ध धर्ममें लगावे वेही वास्तवसे सच्चे माता-पिता हैं, वे ही सचमुच हमारे हितस्वी हैं और उन्हींको सुगुरु समझें। जो इस जीवको सुकृत्य अथवा धर्मके विषयमें अन्तराय करके संसारसमुद्रमें फेंक देते हैं उनके समान कोई वैरी नहीं है।" उपजाति

विवेचन—'पातीति पिता' जो पालन करे सो ही पिता है। इसलिये नरक निगोदसे जो बचा सके वे ही सच्चे पिता हैं। इसी प्रकार 'दुःखसे तारनेवाली माता' और स्वयमे भी वे ही कहलाते हैं कि जो अपना भला होना चाहें और उसके लिये भरसक प्रयत्न करे। गुरुमहाराज भी वे ही कहलाते हैं कि जो शुद्ध धर्ममें प्रवृत्त करें। धर्मके प्रतापसे दुःखोंका नाश होता है। इसके विपरीत जो धर्ममें अन्तराय देते हैं उनके बराबर कोई दुष्ट नहीं हैं।

उपदेशमालामें यह ही भाव दूसरे शब्दोंमें कहा है । वहां कहते हैं कि–" माता पिता बालकपर जो उपकार करते हैं वे अनहद हैं और वे इतना अधिक हैं कि करोड़ो वर्षों तक एकाग्र चित्तसे उनकी सेवा करनेसे भी उनका बदला नहीं चुकाया जा सकता है। उनका बदला चुकानेका एक ही साधन है कि माबा-पको यदि पुत्रसे धर्म का बोध हो तो उनका बदला मिल सकता है।"

संसारसे उद्विग्न चित्तवाले वैराग्यरसिक जीवको जब आत्मिक उन्नति करनेकी अभिलाषा होती है तब स्वाभाविकतया सब उन्नत करनेकी अभिलाषा भी प्रबल हो जाती है और उस प्रसंगपर संसारकी असारता देखकर उससे थोड़े–से दूर रहनेका प्रयत्न होता है उस समय जो मातापिता या सगे–स्नेही बाधा डालते हैं उनको सूरिमहाराज वैरियोंकी श्रेणिमें गिनते हैं और उनकी अवज्ञा करके सरस्वतीचन्द्रके समान लोकयज्ञ निमित्त पितृयज्ञका भोग देनेमें कुछ बाधा नहीं है, परन्तु अत्यन्त लाभ है, इस विचारकी वे पुष्टि करते हैं। एक छोटे–से वाक्यमें ऐसे गंभीर प्रश्नको हल किया गया है वह जितना चाहिये उतना स्पष्ट और विचारने योग्य है।

संपत्तिके कारण.

दाक्षिण्यलज्जे गुरुदेवपूजा,
पित्रादिभक्तिः सुकृताभिलाषः ।
परोपकारव्यवहारशुद्धी,
नृणामिहामुत्र च संपदे स्युः ॥ ११ ॥

" दाक्षिण्य, लज्जापन, गुरु और देवपूजा, मातापिता आदि बड़ोंकी भक्ति, उत्तम कार्य करनेकी अभिलाषा, परोपकार और व्यवहारशुद्धि मनुष्यको इस भव तथा परभवमें

सम्पत्ति प्रदान करते हैं। "　　　　　उपजाति

विवेचन—१ दाक्षिण्य—अर्थात् मनकी उदारतासे अमक्राम पुरुषके भी अनुकूल हो जानेकी मनकी सरलता दाक्षिण्यमें स्वतन्त्रताका नाश नहीं होता है, परन्तु उसके स्थानमें सरलताका महान सद्गुण प्राप्त होता है। श्रावकके गुणोंमें 'दाक्षिण्य' को एक गुण कहा गया है और उसकी व्याख्या करते हुए उसका शुभ मार्गका व्यवस्थापन यहाँ बताया गया है।

२ लज्जापन—इस गुणसे व्यर्थ स्वतंत्रताका नाश होता है और विनयका सभव होता है। विशेषतया स्त्रियोंमें यह गुण भूषणरूप है और पापकार्योंमें प्रतिबन्धरूप होकर स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये अतिशय लाभदायक है।

३ गुरुदेवपूजा—द्रव्य और भावसे अवलम्बनकी आवश्यकता सर्व जीवोंको बहुत रहती है। गुरुके वचनानुसार वर्तन करना यह भी पूजा है और भावनाके लिये हृदय समक्ष और चक्षु समक्ष भावमय और स्थूल साकार वृत्तिसे निराकार पद प्राप्त करनेके लिये उन गुणोंको प्राप्त करनेवाले भगवानका ध्यान करना, अर्चन करना बहुत उपयोगी है, अत्यन्त आवश्यक है, और अत्यन्त लाभदायक है।

४ पित्रादिभक्ति—धर्मकार्योंमें बाधा न पड़े इसे ध्यानमें रखकर मातापिता आदिकी अनन्य चित्तसे भक्ति करना चाहिये। उनको सन्तोष पहुँचाना प्रत्येक सुपुत्रका कर्तव्य है। आदि शब्दमें प्रत्येक बड़े पुरुषोंका समावेश हो जाता है।

५ सुकृताभिलाषा—अच्छे कार्य्य करना, बारम्बार करना और उनका चिन्तन करते रहना। कार्यक्रम यह है कि प्रथम

१ धर्मरत्न-प्रथम भाग-सातवाँ गुण देखिये।

विचार करे और फिर आचार करे। शुभ संस्कार जागृत करनेके लिये अच्छे विचारोंकी आवश्यकता है। उत्तम कृत्योंके विचारके पश्चात् उत्तम कृत्योंका होना संदेहरहित है। संयोग प्रतिकूल हो तो कदाच अमलमें शिघ्र ही न लाये जा सकते हैं, फिर भी यदि विचार किया हो तो अनुकूलतासे शुभ कार्य्य हो सकते हैं। विचारसे संस्कार बनते हैं और अधिक कुछ नहीं तो फिर भी भविष्य भवमें तो वे संस्कार जागृत होते ही हैं। इसलिये खराब विचार कदापि न करे निरन्तर शुभ कार्योंकी भावना रक्खें। इससे अनेक प्रकारके लाभ होते हैं, व्यर्थ भावनायें नष्ट हो जाती है और मन शुभ मार्गकी ओर अग्रसर होना सिखता है।

६ परोपकारः—आत्मभोगरहित जीवन नहि है, अर्थात् स्वमें सन्तोष मानकर, शरीरका लालन-पालनकर, पुत्रको खिलाकर, स्त्रीको शृंगारकर, तीजोरियें भरनेमें कुछ सार नहीं हैं। अपनी लक्ष्मी, ज्ञान तथा शक्तिका लाभ कौम, देश या जनसमूहके हितके लिये करना ही कर्तव्य है।

७ व्यवहारशुद्धिः—श्राद्धरत्नके गुण प्राप्त किये पहिले ही मार्गानुसारीके गुणोंमें ही यह गुण प्रथम पंक्तिका है। श्रावकरत्न तो शुद्ध व्यवहारवाला ही होना चाहिये, यह विवादरहित बात है।

ऊपरोक्त सात बातोंपर विशेष ध्यान लगाना चाहिये। इनमेंसे प्रत्येक बातपर एक एक बड़ा लेख लिखा जा सकता है, परन्तु ग्रन्थ-गौरवके भयसे यहां सामान्य स्वरूपका निर्देश किया गया है। यह सब शुभ विचार और शुभ वर्त्तन है और इनके निमित्तभूत भी हैं। शुभ विचार और वर्तनसे शुभ कर्मबन्ध होते हैं और जैसा बंध होता है वैसा ही उदय भी होता है, जिसके कारण इस भव और परभवमें मानसिक तथा शारीरिक

आनंद प्राप्त होता है । ऊपर लिखे सात सद्गुणोंमेंसे कोई भी सद्गुण महालाभका कारण है, परन्तु साध्य दृष्टिवान् पुरुष जब इच्छापूर्वक उनमेंसे दो-चार अथवा सातोंका आदर करे तथा अनुसरण करे तब तो उसके फलमें उसके मनमें महाआनन्दका होना शंकारहित है । उस समय मनमें ऐसी इच्छा होती है कि मैं एक महान् कार्य कर रहा हूं एक, महान् कर्तव्य पुरा कर रहा हूं।

यहां प्रस्तुत विषय गुरुदेवपूजाका है । उनकी ओर भक्तिभाव रखनेसे संपत्ति प्राप्त होती है यह बतानेके लिये उनके सहचारी सद्गुणों तथा क्रियाओंको प्रसंगवश बताया गया है ।

विपत्तिके कारण.

जिनेष्वभक्तिर्यमिनामवज्ञा,
कर्मस्वनौचित्यमधर्मसङ्गः ।
पित्राद्युपेक्षा परवञ्चनं च,
सृजन्ति पुंसां विपदः समन्तात् ॥ १२ ॥

" जिनेश्वर भगवानकी ओर अभक्ति (आशातना), साधुओंकी अवगणना, व्यापारादिमें अनुचित प्रवृत्ति, अधर्मीका सग, मातापिता आदिकी सेवा करनेमें उपेक्षा (अवहेलना) और परवंचन-दूसरोंको ठगना ये सर्व इस प्राणीके लिये चारों ओरसे विपदायें उत्पन्न करते हैं । " उपजाति

विवेचन—१ जिनेष्वभक्ति-रागद्वेषरहित, कर्मोको नाश करनेवाले, अष्टगुणालंकृत श्रीजिनेश्वरमहाराजकी ओर अभक्ति, उनके वचनोंकी अवहेलना करना, उनकी अरुचि, उनके साकार स्वरूपका विगोपन, उनका अन्य किसी प्रकारसे अनादर, उनकी ओर अप्रीति और अविनय ।

२ गुरुकी अवज्ञा —गुरुमहाराज शुद्ध मार्ग बतलाने-

वाले हैं। वे कितना उपयोगी कार्य्य करते हैं वह इस अधिकारमें प्रारम्भसे ही देखते आ रहे हैं। उनका विनय करना, उनकी ओर अयोग्य व्यवहार न करना, उनसे कलह न करना और उनका किसी भी प्रकारसे तिरस्कार न करना इतना ही नहीं परन्तु उनके वचनोंको मान्य करना चाहिये। इसके विपरीत आचरण करनेवाला गुरु द्रोही है, आत्मअवनति करनेवाला है और पतित है।

३ कर्मके अनौचित्यः—अपने योग्य व्यापारमें अनुचित आचरण करना। इसमें दो भाव हैं—एक तो व्यापारमें अनीति, अशुद्ध व्यवहार, अप्रमाणिक आचरण और भाषण! दूसरा अपने कर्त्तव्यके विरुद्ध वर्तन, परदारागमन, सट्टा, द्यूत आदि दुर्गुणोंका इसमें समावेश होता है।

४ अधर्मसंग—धर्म नामसे योग्य धर्मकी परीक्षा करके उसका अनुसरण करना धर्मसंग कहलाता है। इसके विपरीत योग्य रीति अनुसार परीक्षा न करनेसे 'स्वधर्मेमें मरणनिमित्त' इस सूत्रका अनुसरण करना यह अधर्मसंग अथवा नियमरहित मूर्ख पुरुषोंकी संगति करना भी अधर्मसंग ही है। संगतिसे बहुत तात्कालिक प्रभाव होता है इसलिये सत्संगकी आवश्यकता बार-म्वार बताई गई है। दुर्जनोंकी संगतिसे अनेकों कष्ट भोगने पड़ते हैं।

५ पिता आदिकी अवहेलना—पुत्रधर्मका इससे नाश होता है, अनेक कष्टोंका सामना करना पड़ता है और बहुधा शिघ्र ही दुःखपरम्परा प्राप्त होती है।

६ परवंचनः—स्पष्ट ही है। कानूनमें भी यह फौजदारी अपराध है (Cheating).

ऊपर लिखी हुई छ बातें कई प्रकारकी आपत्तियें उत्पन्न करती हैं। कितनी ही बार अमुक पापका उदय अमुक कार्य्यके

साथ नहीं मीला सकते, कारण हमको उसका ज्ञान नहीं है, परन्तु कारण बिना कार्य्य नहीं हो सकता है और मनकी अनेक व्यथा तथा शरीरकी गंभीर व्याधियें होती है वे सब अमुक कारणसे ही होना चाहिये । जिनका मुख्य भाग यहां दिया गया है ।

इस श्लोकको ग्यारवें श्लोकके साथ मीलाकर इसका भाव समझना चाहिये । ग्यारवें श्लोकमें संपत्तिके कारण बताये हैं और इसमें विपत्तिके कारण बताये हैं । संपत्तिके कारणोंको ग्रहण करनेके बजाय विपत्तिके कारणोंको छोडनेकी अधिक आवश्यकता है इस लिये ग्यारवें श्लोकसे इस श्लोक में कहे भाव अधिक मनन करने योग्य है । जिनेश्वर तरफ अभक्ति और गुरुकी अवज्ञा ये दोनों धर्मकी अयोग्यता बतलाते हैं, व्यापारादिमें अनुचित आचरण और अधर्मीका सग—ये दो धर्मभ्रष्टपन प्रगट करते हैं और मातापिताकी उपेक्षा तथा दूसरोंको ठगनेकी बुद्धि यह व्यवहारकी विमुखता प्रगट करते हैं । इन छ दोषोवालोंको पद–पद–पर विपत्तिये होनी चाहिये । इसके विपरीत यदि कभी कोई समय अच्छा निकल जाय तो वह किसी पूर्वकृत पुण्योंका ही फल समझना चाहिये । ऐसे श्लोक खाली पढनेसे कुछ लाभ नहीं पहुचा सकते हैं । इसलिये इस ग्रन्थमें पहिले कहा गया है उसप्रकार इसका वारम्वार मनन करना चाहिये और अपने अनुभवके अनुसार वारम्वार पुनरावर्तन करते रहना चाहिये ।

परभवमें सुख मिलने निमित्त पुण्यधन.

भक्त्यैव नार्चसि जिन सुगुरोश्च धर्म,
नाकर्णयस्यविरत विरतीर्न धत्से ।

सार्थं निरर्थमपि च प्रचिनोष्यघानि,
मूल्येन केन तदमुत्र समीहसे शम् ? ॥ १३ ॥

" हे भाई ! तू भक्तिसे श्री जिनेश्वर भगवानकी पूजा नहीं करता है; वैसो हि उत्तम गुरुमहाराजकी भी सेवा नहीं करता है; सदैव धर्मका श्रवण नहीं करता है; विरति (पापसे पिछे हटना–व्रत पच्चक्खाण करना) को तो धारण भी नहीं करता है; अपितु प्रयोजन अथवा विना प्रयोजनसे ही पापकी पुष्टि करता है तो फिर तू किस किमतसे भविष्य भवमें सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है ? " वसंततिलका.

विवेचन—हे भाई ! तू प्रभुकी पूजा नहीं करता है, तथा सुगुरुकी सेवा तथा चनसे धर्मको श्रवण नहीं करता है; तदुपरान्त एक दिन भी त्यागवृत्ति नहीं करता है; इन्द्रियोंके विषयोंको भोगनेमें अहर्निश आसक्त रहता है; किसी भी प्रसंगके उपस्थित होनेपर पापकार्य्य करने लगता है; पुत्रके लग्न अथवा व्यवहारके किसी भी बहानेका अवसर मिलने पर हिंसा, क्रोध, अभिमान करने लग जाता है और वैसा आवश्यक प्रसंग आता है तब तुझे धर्मका लक्ष्य भी नहीं रहता है । अपितु प्रसंग विना ही अनर्थदंडसे दंडित होता है । नाटक देखने, सर्कस देखने, हवेलिये देखकर उनकी प्रशंसा करने, राजकथा तथा लडाईकी वातें किया करना आदिसे व्यर्थ पापराशिका संचय करता है ।

इसप्रकार शुद्ध देव–गुरु–धर्मका आराधन नही करता है, इन्द्रियदमन नहीं करता है और कारण अकारणसे महापापोंका संचय करता है । सर्व प्राणी सुखकी अभिलाषा रखते हैं और इसमें भी वर्तमानमें सुख हो या न हो परन्तु सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषा तो सबको रहती ही है; परन्तु हे भाई ! सुख तो विक्रीकी वस्तु है जिससे खरीदनेके लिये पुण्यधनकी आवश्यकता

होती है। उसको तो तू यहाँ भटकर देता है, उलटा उसके स्थानमें पापरूप कूड़ा करकट इकट्ठा करता है। फिर तू सुख किसप्रकार प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है? सुख धर्मक्रिया किये बिना पुण्यमें नहीं मिल सकता है। इसलिये किसी भी कार्य्यके करते समय इतना विचार अवश्य करे कि शुभ कार्य्य करनेसे भविष्य भवमें सुख मिलता है और अशुभ कार्य्य करनेसे दुःखकी प्राप्ति होती है। अपि तु व्यर्थ पापकर्म करनेसे तो इस जीवको कभी भी सुख नहीं मिल सकता है। इतनी समझ रखनेसे और इसे प्रवृत्तिमें लानेसे तेरे कितने ही दुर्गुण दूर हो जायेंगे।

धर्मश्रवणकी बहुत आवश्यकता है। पहले कहे अनुसार बिना विचारके आचरण नहीं हो सकता है, परन्तु विचारोंको शुभ बनानेके लिये शास्त्रश्रवणकी बहुत आवश्यकता है। श्रवण-परसे मनन करनेकी भी उतनी ही आवश्यकता है।

यह श्लोक बहुत उपयोगी है। मोक्षप्राप्तिके अभिलाषियोंको प्रारम्भमें ही निम्नलिखित नियमानुसार आचरण करना चाहिये।

१ भक्तिपूर्वक प्रभुका पूजन करना।
२ धर्मश्रवण सदैव सद्गुरुसे करना।
३ स्थूल विषयोंसे दूर रहकर जहाँतक हो सके उनके त्याग करनेका प्रयास करना।
४ प्रयोजन हो या न हो परन्तु पापकार्य्योंको न करना।

सुगुरु सिंह, कुगुरु सियार.

चतुष्पदे सिंह इव स्वजात्ये-
मिलन्निमास्तारयतीह कश्चित्।
सहैव तैर्मज्जति कोऽपि दुर्गे,
शृगालवच्चेत्यमिलन् वरं सः ॥१४॥

" जिसप्रकार सिंहने अपने जातिके प्राणियोंको साथमें लेकर तराया था उसीप्रकार कोई (सुगुरु) अपने जाति-भाई (भव्यपंचेन्द्रिय)को साथमें लेकर इस संसारसमुद्रसे तराते हैं; और जिसप्रकार शियाल अपने जाति भाइयोंके साथ डूब मरा उसीप्रकार कोई (कुगुरु) अपने साथ सबको नरकादि अनंत सागरमें डूबा देते हैं। अतएव ऐसे शियाल जैसे पुरुष तो न मिले तो भी अच्छा है।" उपेन्द्रवज्र.

विवेचन—यहाँ पहिले और चौथे प्रकारके गुरुका वर्णन किया गया है। पहले प्रकारके गुरु स्वयं तैरते हैं और अपने आश्रितको तैराते हैं। वे जहाजके समान हैं। चोथे प्रकारके गुरु स्वयं डूबते हैं और आश्रितको भी डूबोते हैं। वे कुगुरु पत्थरके समान हैं।

इस संसारमें भटकते हुए जब किसी समय सुगुरुका संयोग होता है तब वे इस जीवको उपदेश देकर, संसारसे उद्विग्न चित्तवाला बनाकर अन्तमें उसे वैराग्यवासितकर संसारसे सलाम कराते हैं; ऐसे गुरु सिंहके समान हैं। टीकाकार इस सम्बन्ध पंचोपाख्यानका प्रसिद्ध कथा कहकर बतलाते हैं कि—" घनी झाड़ियोंसे आच्छादित एक बड़ा जंगल था। वहाँ भयका कारण जानकर सर्व वनवासी प्राणियोंने मिलकर सिंहको राजाकी पदवी दी। अब किसी समय उसी जंगलमें महादावानलका कोप हुआ, चारों तरफ अग्नि फैलकर धांय धांय करने लगी और बचनेका कोई साधन न दिखाई दिया। उस समय इस महान वनराजाने सब प्राणियोंको अपने साथ लिये और नदीके समीप गया। वह नदी भरपूर तेजीसे बह रही थी फिर भी सर्व वनवासी प्राणियोंको अपनी पूंछ पकड़ा दी और एक छलंग मारकर सबको नदीके दूसरे किनारेपर सुरक्षित पहुंचा दिये और

जब वही जगत मवपल्लवित हुआ तब उनको वापीस वहां ले आया। इसप्रकार अत्यन्त कठिनताके समयमें भी उसने अपनी जीवनकी परवाह न की, परन्तु आश्रितोंके तारनेके महा प्रयासमें भरसक आत्मभोग करनेका साहस किया, यह सुगुरुके लक्षण है। इस एक सिंहके चरित्रको देखकर एक शियाल भी समीपवर्ती जंगलका स्वामी हुआ और वैसे ही प्रसंगके आने पर पशुओंसहित नदीको लांघनेका प्रयास करने लगा, परन्तु उसमें आत्मबल तथा अधिकार न होनेसे वह स्वयं भी डूब गया और आश्रितोंको भी डूबा दिया। इसप्रकार अगीतार्थ कुगुरु स्वयं संसार-समुद्रमें डूबता है और आश्रितोंको भी डूबाता है।"

इस सिंह और शियालके दृष्टान्तसे एक दूसरी बात यह भी प्रगट होती है कि जो आत्मभोग दे देनेका साहस बतलाये बिना और अधिकारकी प्राप्ति बिना अधिपतिका पद धारण करनेकी अभिलाषा करते हैं वे अपने आश्रितकी भी महान् हानि करते हैं।

सूरिमहाराजका कहना है कि दूसरे प्रकारके गुरु तो न मिले तो भी अधिक श्रेष्ठ है, उनके तो न मिलनेसे ही कल्याण है। चाहे जितने कुगुरु हों, संसार वासनायुक्त हों फिर भी वीरका वेश है ऐसा विचारकर गुण-अवगुणकी परीक्षा किये बिना ही चाहे जिसको नमस्कार कर गुरुरूपसे आदर करनेवालोंको इस छोटे-से श्लोकसे बहुत कुछ सीखनेको मिलता है। शास्त्रकार ऐसे दृष्टिरागको या अन्ध अनुकरणको उत्तेजना नहीं देते हैं।

गुरुके योग होनेपर भी प्रमादको करे वह निर्भागी है.

पूर्णे तटाके तृषितः सदैव,

भृतेऽपि गेहे क्षुधितः स मूढः ।
कल्पद्रुमे सत्यपि ही दरिद्रो,
गुर्वादियोगेऽपि हि यः प्रमादी ॥ १५ ॥

"गुरुमहाराज आदिका बराबर संयोग होनेपर भी जो प्राणी प्रमाद करता है वह पानीसे भरे हुए तालाबके होनेपर प्यासा है, (धन-धान्यसे) घर भरपूर है फिर भी वह मूर्ख तो भूखा है और अपने पास कल्पवृक्ष है फिर भी वह तो दरिद्री ही है।" उपजाति.

विवेचन—गुरुमहाराजका संयोग हो और उनसे देव तथा धर्मकी पहिचान हो सके तो फिर तिनों महान तत्त्वोंका लाभ उठानेसे न चूके। शुद्ध देव, सुगुरु और उनका बताया शुद्ध धर्म इनपर बिलकुल शंकारहित तरण-तारणरूप शुद्ध श्रद्धा होनेपर ही इस जीवका एका लिखा जाता है। श्रद्धा बिना जितनी क्रिया तथा तप-जप-ध्यानादि किये जावे उनका बिन्दु रखा जाता है। ये बिन्दु भी किमती हो सकते हैं किन्तु इनके आगे एका होवे तो। लाख पर लगाई एक बिन्दी नवलाख बढ़ाती है किन्तु सब बिन्दु एके के बिना व्यर्थ है। एका भी बिन्दु करनेके अभ्यासके बाद ही सिखा जाता है। यह बात अभ्यासीको न भूल जाना चाहिये।

यहाँ कहनेका यह तात्पर्य्य है कि गुरुमहाराज आदि योग्य सामग्री प्राप्त होनेपर भी यदि यह जीव शुद्ध वर्तन नहीं करता है और आलस्यमें पड़ा रहता है, तो फिर इसके समान निर्भागी कोई नहीं है। जो चाहा हुआ मिलने पर भी उससे लाभ न उठावे तो बहुत बुरा है। इस श्लोक तथा नीचेके दोनों श्लोकोंमें कर्तव्य सम्बन्धी बहुत उपयोगी उपदेश किया गया है।

विशेष विचारने योग्य बात यह है कि ऐसे सुन्दर मनुष्य भव, आर्यक्षेत्र, शरीरकी अनुकूलता, साधुओंका योग, मनकी स्थिरता और दूसरी अनेक प्रकारकी सामग्रियोंका सद्भाव इस जीवको प्राप्त हुआ है, फिर भी यह प्रमादमें समय नष्ट कर डालेगा तो फिर ऐसा अवसर मिलना कठिन है। अनन्त भवमें भटकनेके पश्चात् भी ऐसी अनुकूलता प्राप्त होना दुर्लभ है, कठिन है, अशक्य है। ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि यह सरोवर जाकर भी प्यासा आनेके समान है और इससे यथास्थित वस्तुस्वरूपका भान होता है। ऐसे प्रसंगोंका तो ऐसा उचित लाभ लेना चाहिये कि फिर इस भवके फेरे और दूसरोंकी नौकरी तथा आशीभाव सदैवके लिये मिट जावें।

देवगुरु-धर्मपर अन्तरंग प्रीति बिना जन्म असार है

न धर्मचिन्ता गुरुदेवभक्ति-
　　र्येषां न वैराग्यलवोऽपि चित्ते।
तेषां प्रसूक्लेशफलः पशूना-
　　मिवोद्भवः स्यादुदरम्भरीणाम्॥ १६॥

"जिस प्राणीको धर्म सम्बन्धी चिन्ता, गुरु और देवकी ओर भक्ति और वैराग्यका अंशमात्र भी चित्तमें न हो ऐसे पेटभराओंका जन्म पशुतुल्य है, उत्पन्न करनेवाली माताको क्लेश देनेवाला ही है।"　　　　उपजाति

विवेचन—मेरा जनसमूह प्रति क्या कर्त्तव्य है? मैं कौन हूँ? मेरा कर्त्तव्य पूरा करनेके लिये दिनभरमें मैंने कौन कौन-से प्रयत्न किये हैं? उनमें मैं कहाँतक सफल हुआ? आजके कार्योंमें कितनी निष्फलता रही? किस कारणसे रही? अब जोखा है वहाँसे आनेवाले समयमें किस प्रकार आरम्भ करना?

कर्त्तव्य पालन करने—उपकार करनेके लिये आनेवाले कल सवेरके जैसा मांगलिक दिन एक भी नहीं है। इसको शास्त्रकार धर्मचिन्ता—कर्त्तव्यपरायण वृत्ति कहते हैं।

इस अधिकारमें बताई रीतिके अनुसार पसंद किये गुरु-महाराज और उनसे बताये देव तथा धर्मपर एकान्त श्रद्धा और भक्ति। इस भक्तिमें देखाव या आडम्बर नहीं परन्तु अन्तःकरणकी उर्मियोंका उत्साह। " चित्त प्रसन्ने रे पूजनफल कह्युं, पूजा अखंडित एह " इस वाक्यमें बताये हुए भावका यथार्थ्य,—इसका नाम देवगुरुभक्ति है।

इस संसारके सब पदार्थ अस्थिर हैं, अल्प समय स्थायी है, पौद्गलिक हैं, यह जीव शुद्ध निरंजन निर्लेप है, अनन्त-ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप है, उपाधिसहित जो दिख पड़ता है वह इसकी विभावदशा है, कर्मजन्य है। शुद्ध दशामें इन इन सबोंसे रहित है। आत्मिक वस्तुका आदरकर पौद्गलिक वस्तुओंका त्याग करना, इन दोनोंका भेद कर देना, इसको खराब समझ कर पौद्गलिक भाव त्याग कर आत्मिकभाव आदरनेका नाम वैराग्य है।

प्रत्येक प्राणीको धर्मचिन्ता, गुरुभक्ति और वैराग्यवासित हृदयवाला होना चाहिये। जब ये तीनो भाव हृदयमें गहरा स्थान ले लेते हैं तब ही संसारका अन्त होसकता है। जो ये तीनों भाव हृदयमें धारण नहीं करते हैं वे चाहे बाहरसे उत्तम दिखनेवाले क्यों न हों, परन्तु वास्तवमें इस भवमें सुखमें मग्न और उसके प्राप्त करनेके साधनोंको एकत्र करनेवाले और पेटभरा ही हैं। वे जन्म लेकर अपनी माताको प्रसवकी महावेदना और यौवनके नाशका कष्ट मात्र देनेवाले हैं, परन्तु स्वयं तो ऐसे उत्तम मनुष्य भवके अन्तमें अनन्त संसार बढ़ाकर, कर्मकादवसे अशुद्ध हो भटकते रहते हैं।

इस श्लोकपर मनन करना । इसको 'लाइनकदीभर' न दे । थोड़ा-सा विचार करना कि तू कौन है ? कहां है ? किसके घरमें है ? तेरा क्या है ? तू किसका है ? यह सब झगड़ा-फिसाद किस लिये है ? ये प्रश्न रात्रिको सोते समय अथवा सवेरे उठते समय विचारना, इससे बहुत लाभ होगा ।

देव-गुरु कार्यमें द्रव्यव्यय.

न देवकार्ये न च सङ्घकार्ये,
　येषां धनं नश्वरमाशु तेषाम् ।
तदर्जनाद्यैर्वृजिनैर्भवाब्धौ,
　पतिष्यतां किं स्वत्रसम्नवं स्यात्? ॥ १७ ॥

"धन-पैसे एकदम नाशवंत है । जिनके पास पैसे हो वे यदि उनको देवकार्य्यमें अथवा संघकार्यमें खर्च न करे तो उनको सदैव द्रव्य प्राप्त करने निमित्त किये हुए पापोंसे संसारसमुद्रमें पड़नेपर किनका आधार होगा ?" उपजाति

विवेचन—पैसोंके उपार्जन निमित्त प्राणी कैसे कैसे कार्य्य करता है वे अपने अनुभवसे बाहर नहीं है । इनके लिये यह भी कहे तो उचित होगा कि पैसोंके लिये ऐसा कोई भी अयोग्य काम नहीं है कि जिसको प्राणी न करते हों । इसपर विस्तार पूर्वक विवेचन धनममत्वमोचन अधिकारमें कर दिया गया है । अपितु पैसे कितने अस्थिर है, नाशवन्त है, यह भी हम पढ़ चुके हैं, अनुभवगम्य है और महाविग्रहसे बताया गया है । इसप्रकार महान् पापसे एकत्र किये हुए पैसे नाशवंत हैं । पैसे बांधकर नहीं रखे जासकते हैं, पुण्यप्रकृतिके फिरनेपर हजारों, लाखों या करोडोंकी पूंजी एक क्षणमें-बहुत थोड़े-से समयमें

---

१ स्वत्राने स्म इति वा पाठः ।

हुई न हुई हो जाती है। अन्तमें भी इस सम्पत्तिको यहां ही छोड़कर खुले हाथों चला जाना पड़ेगा।

पैसे प्राप्त करते समय अनेक आश्रव सहन करने पड़ते हैं, हिंसा और असत्यका बड़ा भाग उस समय होता है, और उसके उपरान्त अनेक क्रियायें होती हैं। ये सब पापकर्म जीवको संसारसमुद्रमें फेंक देते हैं। उस समय यदि कोई अवलम्बन–सहारा हो तो जीव ठहर जाता है, नहीं तो पेंदेमें बैठ जाता है।

प्राप्त पैसोंको जो ज्ञानोद्धार, जीर्णोद्धार, शासनोद्धार, देवपूजा, प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, अष्टाह्निका महोत्सव आदिमें व्यय किये जाय तो संसारमें गिरनेपर ये एक प्रकारके अवलम्बन-रूप होते हैं। इसीप्रकार यदि धनको जो स्वामिवात्सल्यमें अर्थात् गुणी स्वामीबन्धुओंकी भक्तिमें या निराश्रित धर्मबन्धुओंको आश्रय देनेमें अथवा कान्फरेन्स आदि महान् योजना बनाकर उनकेद्वारा शासनके अभ्युदयकी वृद्धिमें अथवा निज धर्मानुयायीयोंको धार्मिक तथा व्यवहारिक शिक्षण देनेमें जो व्यय किये जावे तो संसारमें पड़ते इस जीवको अवलम्बन मिलता है।

द्रव्यके साथ अपनी शक्तिका उपयोग इसप्रकार हानि तथा लाभ पहुंचानेवाला हो जाता है। धन मिलना कोई नई बात नहीं है। इस जीवको कईबार धन मिला होगा, परन्तु अभिमान तथा दुर्व्यसनमें धनको व्ययकर यह नीचे गिर जाता है, फिर धन एकत्र करता है और फिर उसका पतन हो जाता है। इस चक्रभ्रमणसे बचनेका यदि कोई उपाय हो तो अपने धनको समुदायके काममें-लोगोंकी भलाईके लिये व्यय करना ही है। अपने आपकी कुछ परवाह नकर कष्ट सहते हुए भी दूसरोंको लाभ पहुंचाना चाहिये, इसको स्वार्पण[1] कहते

1 Self-sacrifice

हैं। स्वार्पण बिना कोई कार्य्य नहीं हो सकता है, और विशेष तथा धर्मकार्योंमें तो स्वार्पणकी प्रथम आवश्यकता है।

जमानेकी आवश्यकता देखकर सम्पूर्ण कौमका हित करनेवाली, सम्पूर्ण देशका उदय करनेवाली, सम्पूर्ण मनुष्यजाति को लाभ पहुंचानेवाली शुभ संस्थाओंको स्थापित करो। शास्त्रकार उन क्षेत्रोंके पोषण करनेको कहते हैं, जिससे भविष्यमें कुछ उन्नतिकी आशा हो। साधन धर्मको बहुत पुष्ट किया है। अभी साधकोंको उत्पन्न करनेका समय है, जरुरत है, आवश्यकता है। इसप्रकार मननपूर्वक व्यय किये पैसे भवतरण प्रसंग प्राप्त होनेपर इस जीवको अवश्य बचाते हैं यह निर्विवाद है। यह बात वस्तुस्वरूपको प्रत्यक्ष देखनेवाले कह गये है, और विचार करनेसे समझमें आसकती है।

× × × ×

इसप्रकार बारहवां देवगुरुधर्मशुद्धि अधिकार समाप्त हुआ। इसमें ऊपर लिखे अनुसार गुरुतत्त्वकी मुख्यता है। एक सद्गुरुके सत्संगसे इस मनुष्यभवमें कितना लाभ होता है यह यहां विस्तारपूर्वक बताया गया है। यह हम जानते ही हैं कि परदेशी राजाको गुरुसे कितना लाभ हुआ था। गुरु दो प्रकारके हैं। एक धर्महीन वृत्तिवाले जिसको हम लोग मिथ्यात्वी कहते हैं, और दूसरे धर्मपरायण वृत्तिवाले। प्रथम प्रकारके गुरुके लिये यह योग्य स्थान नहीं है। यहां जो हकिकत है यह उनपर घटित नहीं होती है। धर्मके गुरुओंको दूसरे प्रकारसे देखा जावे तो वे चार प्रकारके हैं; कितने ही स्वयं तैरते हैं और अपने आश्रितोंको भी सदुपदेश देकर शुद्ध मार्ग बताकर तैराते हैं। ऐसे गुरु सद्गुरु है और इनके आश्रित होनेका ही उपदेश है। दूसरे श्रेणीके स्वयं तैरते हैं

किन्तु दूसरोंको डूबा देते हैं ऐसा गुरु आश्री होता है किन्तु ऐसा होता ही नहीं है, इसलिये यह भाग शून्य है । जो स्वयं तरे वे दूसरोंको तारे या न तारे किन्तु डूबावे तो कभी नहीं । तीसरी श्रेणीके साधु स्वयं चाहे डूबते हैं परन्तु दूसरोंको तो तैराते हैं ऐसे होते हैं । इस वर्गमें अभव्यादिका समावेश होता है । उपदेश देनेमें कुछ कमी न रखे, परन्तु एकान्तमें स्वयं विषयकषायका सेवन करे, अथवा वैसे उपदेशका प्रभाव उनके खुदके हृदयपर लगे ही नहीं, उनको सच्ची श्रद्धा नहीं होती । परीक्षा कच्ची होनेपर ऐसे गुरुका योग होता है । ऐसोंका आश्रय लेनेमें बहुत लाभ नहीं इतना ही नहीं परन्तु अनेक प्रकारके शल्य हृदयमें घुस जाते हैं कि जिनका अनन्त भवोंमें भी नाश होना कठिन है । ऐसे गुरु कदाच शुद्ध उपदेशक हो फिर भी 'अप्पा जाणइ अप्पा' आत्मा आत्माको जानती है—मनोमन साक्षी है इस नियमानुसार ऐसे गुरुके उपदेशका कुछ प्रभाव नहीं होता है । दंभी, कपटी, मायावी गुरुका भी इस वर्गमें समावेश हो जाता है । अपवाद मार्गसे इस वर्गका आदर करनेपर कितने ही उत्तम जीव इनके उपदेशसे तर भी जाते हैं । चोथे वर्गमें स्वयं डूबे और आश्रितोंको भी डूबावे ऐसे पत्थर सदृश उत्सूत्रप्ररूपक शिथिलाचारी कुगुरु समझें । इस वर्गमें स्वयंभ्रष्ट और भ्रष्टाचारकी पुष्टि करनेवाले गोरजी, यति, श्रीपूज्य आदिका समावेश होता है । ये संसारके सर्व विषयोंमें आसक्त, धर्मके नामपर ढोंग करनेवाले, और धर्मपर आजीविका चलानेवाले हैं । इन चार प्रकारके गुरुओंमेंसे पहिले प्रकारके शुद्ध गुरुको खोजकर उनके उपदेशको ग्रहण करें । गुरुमहाराजका अनुसरण करना हमारा मुख्य कर्त्तव्य है । त्यागाष्टकमें कहा गया है कि—

गुरुत्वं स्वस्य नोदेति, शिक्षासात्म्येन यावता ।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन, तावत्सेव्यो गुरूत्तमः ॥

आत्मतत्त्व प्रकाश करके (परमार्थस्वरूपकी प्राप्ति करके) गुरुसे दी हुई शिक्षामें अचित तल्लीनतासे यह जीव जबतक गुरुत्वको न प्राप्त करले तबतक उत्तम गुरुकी सेवा करनी चाहिये ।

शास्त्रकार कुगुरुके पांच वर्ग करते हैं । पासत्थो, उसन्नो, कुसील, संसत्तो, यथाछन्दो—ये सर्व क्रियामार्गमें तथा ज्ञानमार्गमें भिन्न भिन्न रूपसे शिथिलता प्रगट करनेवाले हैं । इनपर आगले अधिकारमें विवेचन किया जायगा। इनके बारेमें विशेष जाननेको संबोधसित्तरीकी टीका, धर्मदासगणिकृत उपदेशमाला, और उपाध्यायजीकी कुगुरुकी सज्झाय पढ़े ।

इसप्रकार सद्गुरु और कुगुरुका स्वरूप है । इस मनुष्यभवकी सफलता गुरुके संयोग और पराङ्मुखीपर है । गुरुको शास्त्रकार इतना अधिक मान देते हैं कि एक तरफ गुरु हो और एक ओर देव हो तो अमुक अपेक्षाके कारण पहिले गुरुको नमस्कार करनेके पश्चात् देवको वन्दन कर सके । इसका कारण स्पष्ट ही है, क्यों कि देव तो गुरु और शिष्य दोनोंको एक समान आराध्य है, परन्तु शिष्यकी अपेक्षासे देखें तो गुरु देवको बतानेवाले हैं, बनानेवाले हैं । कितनी ही बार ऐसा दृष्टिराग हो जाता है कि जिससे कितने ही गुरुओंकी आश्रय लेनेकी वृत्ति हो जाती है जिसके विषयमें सातवें श्लोकमें यथार्थ विवेचन किया गया है ।

इस जीवके सच्चे उपकारी गुरुमहाराज हैं । वे संसारसे तारनेवाले हैं । उनके उपकारका बदला चुकाना कठिन है । श्री सिन्दूरप्रकरमें गुरुके अधिकारके विषयमें कहते हैं कि—

पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः,
सुहृत् स्वामी माद्यत्करिभटरथाश्वः परिकरः ।

निमज्जन्तं जन्तुं नरककुहरे रक्षितुमलं,
गुरोर्धर्माधर्मप्रकटनपरात्कोऽपि न परः ॥

" नरकरूप गड्ढेमें गिरते हुए जीवोंको पुण्य और पापका फल बतानेवाले गुरुके बिना दूसरे कोई पिता, माता, भाई, प्रिय स्त्री, पुत्रोंका समूह, मित्र, मदोन्मत्त हस्ती, अश्व, सुभट और रथ, स्वामी या सेवकवर्ग इस प्राणीकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है।"

इसलिये संसारसमुद्रमें गिरते हुएको बचानेवाले गुरुमहाराज सचमुच माता, पिता, बंधु, मित्र, अथवा जो कुछ कहें सब हैं। ऐसे सद्गुरुको ढूंढ़कर उनकी सेवा करना और उनकेद्वारा शुद्ध देव तथा धर्मको जानना चाहिये। गुरुकी सेवामें मुख्य स्थान विनयको है। इस गुणसे धर्मप्राप्ति, विद्याप्राप्ति आदि शीघ्र तैयार हो जाती है।

गुरुमहाराजकी सेवा कर शुद्ध धर्मको ग्रहण करना चाहिये जिसका स्वरूप साधारणतया ग्यारवें और बारहवें श्लोकमें बताया गया है। अधिक हाल गुरुमहाराजसे जानें।

इस युगमें गुरुके बिना ही सर्वज्ञान प्राप्त करनेकी अधिक आकांक्षा रहती है, पराधीन वृत्ति पसंद नहीं आती है; परन्तु जैनशास्त्रोंकी रचना और पद्धति अनुसार ऐसा होना कठिन है। ऐसे ज्ञानसे लाभके बदले हानि अधिक होती है; और वास्तवमें विचारकर देखे तो वर्तमान युगकी शिक्षा भी गुरुके बिना प्राप्त करना असम्भव है। अगले अधिकारमें यह स्पष्टतया बताया जायगा कि साधु कैसे होने चाहिये।

गुरुको शास्त्रकार जो ऐसा महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं उसके लिये उन स्वयंको भी अपना उत्तरदायित्वपन भलीभांति समझना चाहिये। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार फेरफार करते रहें, उपदेश और उद्देश लोकरुचि अनुसार नहीं, परन्तु आगे-पिछेका योग्य विचार कर शुद्ध वस्तुस्वरूप बतावें और

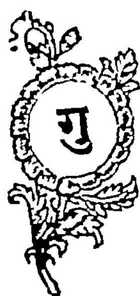
अपना तथा परायेकी मिमता न रक्खे–ऐसे पुरुष और महात्मा गुरुस्थानमें शोभा देते हैं।

धर्मशुद्धिके सम्बन्धमें इस अधिकारमें कोई उल्लेख नहीं किया गया है। ग्यारवें अधिकारमें इस सम्बन्धमें कुछ लेख लिखा गया था और गुरुतत्त्वकी मुख्यता समझनेसे और उनकी पसन्दगीमें भूल न करनेसे धर्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है इस नियमके अनुसरणसे ही धर्मसम्बन्धी यहां कोई उल्लेख नहीं किया जान पड़ता है। इस अधिकारके पांचवे श्लोकपर विवेचन करते हुए बताया गया है उसप्रकार धर्मको पसन्दगीमें अपने तर्कको–विचारशक्तिको पूरा अवकाश देना चाहिये। विशेषतया धर्ममें प्रतिपादन किये देवका स्वरूप देखना चाहिये। वे रागद्वेषरहित और दूसरे असाधारण गुणोंसे युक्त हो तो वे चाहे सो क्यों न हो परन्तु उनका आदर करना चाहिये।

आधुनिक स्थिति ऐसी है कि धर्मकी ओर अन्त करणका प्रेम कम होता जाता है। इसका कारण सम्पूर्ण अभ्यास करनेमें प्रमादके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। सामान्य स्वरूप जाननेसे उनमें अनेक तर्क होते हैं और उनके निवारण करनेका अवकाश न मिले अथवा सयोग न मिले अथवा लज्जासे न पूछें–इन सब बातोंमें नवीन पद्धती अनुसार अभ्यास करनेवाले धर्मगुरु और तदनुसार लेख लिखनेवाले और व्याख्यान देनेवाले विद्वान बहुत कुछ कर सकते हैं। तर्ककी प्राचीन कोटियोंके स्थानमें विज्ञानशास्त्रकी अर्वाचीन शोधे नवीन सस्कारवालों पर शिघ्र ही प्रभाव डालती है। इन सब बातोंपर गुरुमहाराज ही विचार कर सकते हैं। साधुवर्गके गुरुमहाराजोंमें मुनिसुन्दरसूरिके समयमें भी कितनी ही कमी जान पड़ती है। यह अधिकार भी उस समयकी व्यवहारदृष्टि (Practical points of view)से लिखा गया है।

इति सविवरणो देवगुरुधर्मशुद्धिनामा द्वादशोऽधिकारः

अथ त्रयोदशो यतिशिक्षोपदेशाधिकारः



रुमहाराजके आश्रित होनेसे जो जो लाभ होते हैं उनका विवरण गत अधिकारमें हो चुका है। अब आवश्यक प्रश्न यह उठता है कि स्वयं गुरुको अपना जीवन कैसा बनाना चाहिये, इसलिये इस अधिकारमें यति योग्य शिक्षा दी जाती है। यति शब्दमें संसारसे विरक्त रहनेकी प्रतिज्ञा करनेवाले साधु, यति, महात्मा, श्रीपूज्य द्रव्यलिंगी और भट्टारक आदि सबोंका समावेश हो जाता है। इसीप्रकार यदि और शुद्ध अपेक्षासे देखें तो संसारभावसे विरक्त होनेवाले सबका समावेश इस शब्दमें हो जाता है। इस अपेक्षामें केवल वेशमात्र नहीं देखा जाता है किन्तु उनका व्यवहार देखा जाता है। इस अधिकारमें प्रथम वर्गको लेकर शिक्षा दी गई है। यह वर्ग सुशिक्षित और विद्वान् होनेसे उनके लिये इस अधिकारमें विशेष विवेचन नहीं किया गया है। यह अधिकार यतिके अतिरिक्त अन्य सबोंको भी उपयोगी है, क्योंकि दंभी, दुराचारी, वेशधारी आदिको पहचाननेमें यह बहुत सहायता देता है। यह अधिकार सबसे अधिक विस्तृत है, क्यों कि उपदेशकको सुधारनेकी सबसे प्रथम आवश्यक्ता है। जिस शुभेच्छासे सूरिजीने यह अधिकार लिखा है उसी हेतुसे उसपर विशेष विवेचन किया गया है। इसके अधिकारी इसपर विशेषतया मनन और निदिध्यासन करेंगे इस अभिलाषासे इसका सामान्यतया ज्ञान कराकर अब आरम्भमें शुद्ध यति–मुनिकी

भावनामय मूर्तिका चित्र खिचकर हृदयदृष्टिके सामने रखते हैं।

मुनिराजका भावनामय स्वरूप (an ideal Munihood)

'ते तीर्णा भववारिधिं मुनिवरास्तेभ्यो नमस्कुर्महे,
येषां नो विषयेषु गृध्यति मनो नो वा कषायैः प्लुतम्।
रागद्वेषविमुक् प्रशान्तकलुष साम्यासशर्माद्वयं,
नित्यं खेलति चात्मसयमगुणाक्रीडे भजद्भावनाः॥१॥

" जिन महात्माओंका मन इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं होता, कषायोंसे व्याप्त नहीं होता, जो (मन) रागद्वेषसे मुक्त रहता है, जिन्होंने पापकार्योंको शान्त करदिया है, जिनको समतारूपी अद्वैत सुख प्राप्त हुआ है, और जो भावना करता करता संयमगुणरूपी उद्यानमें सदैव क्रिडा करते है-ऐसा जिनका मन हो गया है वे महामुनीश्वर संसारसे तैर गये हैं उनको हम नमस्कार करते हैं।" शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—अत्यन्त शुद्ध दशामें वर्तन करनेवाले महामुनिपुंगवोंकी स्थितिका वर्णन करते हुए निम्नस्थ गुणोंका आविर्भाव होता है।

१-शुद्ध मुनिराज पांच इन्द्रियोंके तेईस विषयोंमें आसक्त नहीं होते हैं। दृष्टान्तके रूपमें उनको विलेपनपर राग नहीं होता है और दूधपाक-पूरीको देखकर मुंहमें पानी नहीं आता है। गटरकी तथा इतरकी गन्ध उनके लिये एकसमान है और स्त्रीसौन्दर्य आदि वस्तुओंको देखकर उनको मोह नहीं होता तथा पीयालु आदिका मधुर आलाप सुनकर भी उनका मन एक-सा रहता है।

२-क्रोध, मान, माया, लोभ-जिनपर कि सातवें अधि-

१ मे इति पाठान्तरम्। २ आत्मसंयमगुणाक्रीडे इति वा पाठः।

कारमें विशेषतया विवेचन हो चुका है, और जो इस संसारमें भटकानेवाले हैं वे महारिपु मुनिपुंगवोंपर कषायके प्रबल साधनोंके अभावमें असर नहीं करपाते हैं।

३—सर्व कषायमय और संसारश्रेणी उत्पन्न करनेवाले राग और द्वेष हैं। इन दोनोंका स्वरूप वे भलीभांति जानते हैं और इनका उन्होंने त्याग भी करदिया है, इसलिये वे इन दोनों पर विजय प्राप्त करते रहते हैं।

४—अशुभ कर्मोंका बन्धन करानेवाला अशुभ अध्यवसाय-रूप कारण उनको नहीं होता है, वह दूसरे तथा तीसरे गुणसे स्वयंसिद्ध है।

५—वे समतारंगसे रंगे हुए होते हैं और सच्चे सुखके (अव्याबाध सुखके) जाननेवाले होनेसे अनन्य सुख—शुद्ध सुख—आध्यात्मिक सुखके साथ उनका गहरा सम्बन्ध होता है।

६—वे मुनिवर संयमगुणरूप विकसित उद्यानमें क्रीडा करते हैं अर्थात् गुणोंमें रमण करते हैं। उनका यह ही नैश्चयिक चारित्र है।

७—ऊपर प्रमाणे खेल करते करते भी निरन्तर अनित्यादि बारह भावना और मैत्री, प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्य यह चार भावना रखते हैं। तदुपरान्त प्रत्येक व्रतकी जो पांच पांच भावनायें हैं उनको भी निरंतर रखते हैं।

यह वास्तविक आदर्श है। इन गुणोंसे विशिष्ट जीवन-वाले प्राणी स्वयं संसार तैर गये हैं, तैर जाते हैं और अन्य संसारी जीवोंके लिये भी अनुकरणीय हो जाते हैं। ऐसे महात्माओंको हमें नमस्कार करना चाहिये और उनका अनुकरण करनेकी सच्ची भावना हमारेमें होनी चाहिये।

साधुके वेशमात्रसे मोक्ष नहीं मिल सकता है.

स्वाध्यायमाधित्ससि नो प्रमादैः,
शुद्धा न गुप्ती समितीश्च धत्से ।
तपो द्विधा नार्जसि देहमोहा,
दल्पेऽहि हेतो दधसे कपायान् ॥ २ ॥
परिषहान्नो सहसे न चोप
सर्गान्न शीलाङ्गधरोऽपि चासि ।
तन्मोक्षमाणोऽपि भवाब्धिपारं,
मुने ! कथं यास्यसि वेषमात्रात् ? युग्मम् ॥

"हे मुनि ! तू विकथादि प्रमाद करके स्वाध्याय (सज्झाय ध्यान) करनेकी इच्छा नहीं करता है, विषयादि प्रमादसे समिति तथा गुप्ति धारण नहीं करता है, शरीरपरके ममत्वके कारण दोनों प्रकारके तप नहीं करता है, नहिवत् (नजीवा) कारणसे कषाय करता है, परिसह तथा उपसर्गोको सहन नहीं करता है, (अठारह हजार) शीलांग धारण नहीं करता है फिर भी तू मोक्षप्राप्तिकी अभिलाषा रखता है, परन्तु हे मुनि ! केवल वेशमात्रसे संसारसमुद्रका पार कैसे पा सकेगा ?।" उपजाति

विवेचन—ऊपर भावनामय मुनिस्वरूपका वर्णन किया गया था। यहाँ व्यवहाररूपसे उन्हें क्या करना चाहिये इसका वर्णन किया जाता है।

१—मुनिको सदैव पांच प्रकारका स्वाध्याय करना चाहिये।
वांचना (पढ़ना), पृच्छना (शंका-निवारण करना), परावर्तन (दुहराना—रीवीजन), अनुप्रेक्षा (मनन करना) और धर्मकथा ए पांच प्रकारके स्वाध्याय हैं।

---

१ मन्येऽपीति पाठान्तरं ।

२–पांच समिति और तीन गुप्ति प्रवचनमाता कहलाती है। यह साधुपनका मुख्य लक्षण है। निर्जीव मार्गमें सूर्य निकलनेके पश्चात् साढ़ेतीन हाथ आगे दृष्टि रखकर, देखकर चलना इर्यासमिति कहलाती है।

निरवद्य, सच्ची, हितकारी और प्रिय वचन विचारकर बोलना भाषासमिति कहलाती है।

अन्न–पानी आदि ४२ दोषो रहित लेना एषणासमिति कहलाती है।

कोई भी पदार्थ जीवरहित भूमि देखकर तथा प्रमार्जना करके रखना या लेना आदानभंडमत्तनिक्षेपणा समिति कहलाती है।

मल, मूत्रादि जीवरहित भूमिपर डालना परिष्ठापनिकासमिति कहलाती है।

मनपर अशुभ चिन्तवनके लिये पूर्ण अंकुश रखना अथवा सर्वथा मनोव्यापार न करना मनोगुप्ति कहलाती है।

किसी भी प्रकारका भला या बुरा वचन न बोलना अथवा सावद्य वर्जी निरवद्य बोलना वचनगुप्ति कहलाती है।

कायाको अजयणापनसे न प्रवर्तावना कायगुप्ति कहलाती है।

३–साधुको दो प्रकारके तप करने चाहिये।

बाह्यतप—उपवासादि करके कुछ नहीं खाना, कम खाना, कम वस्तुयें खाना, रसवाली वस्तुऐं घी आदि न खाना, कर्मक्षय करनेके लिये शरीरको कष्ट देना और अंगोपांग, इन्द्रियों और मनको संकोच कर रखना। अभ्यंतरतप—किये हुए पापकृत्योंका प्रायश्चित करना, जिनादि दशका यथायोग्य विनय करना, जिनादि दशका यथायोग्य वैयावच्च करना, वांचना आदि पांच प्रकारका स्वाध्याय करना, ध्यान करना और बाह्य अभ्यंतर उपाधियोंका त्याग करना—अभ्यंतरतप कहलाता है।

४—चार प्रकारके क्रोध, मान, माया और लोभ तथा उनके जन्मदाता तथा उनके सगी हास्य, रति, अरति आदि नोकषाय जिनका स्वरूप सातवें अधिकारमें बताया गया था वे नहीं करने चाहिये अथवा जहाँतक हो सके उनके त्याग करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

५—भूख, तरस सहना आदि बाईस प्रकारके परिसह हैं जिनका स्वरूप शास्त्रमें दिया हुआ है और इस अधिकारके अट्ठाईसवें श्लोकके विवेचन करते समय उनका कुछ कुछ स्वरूप बताया जायगा उनको तथा मनुष्य और देवताओं आदिके किये हुए अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्गोंको समतापूर्वक सहन करने चाहिये। इस समय मनमें किञ्चितमात्र भी क्रोध, द्वेष या क्लेश न होना चाहिये। इसप्रकार अपना व्यवहार बनाकर समतामय जीवन बनाना चाहिये।

६—शास्त्रकार चार मुख्य तथा उनके अन्तर्गत सोलह प्रकारके उपसर्ग बतलाते हैं।

१ देवकृत—

१ हास्यसे, २ द्वेषसे, ३ विमर्शसे (विचारसहन कर सकता है या नहीं यह दृढता देखनेकी परीक्षा करना), ४ पृथकूविमात्रा (धर्मकी ईर्ष्या आदिके कारण जो वैक्रिय शरीर बनाकर उपसर्ग करते हैं)।

२ मनुष्यकृत—

१ हास्यसे, २ द्वेषसे, ३ विमर्शसे, ४ कुशीलसे (ब्रह्मचारीसे जो पुत्र होता है वह बलवान होता है ऐसा समझकर धर्मवासनारहित पुरुष ब्रह्मचर्यसे हटानेके लिये अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग करता है)।

३ तिर्यंचकृत—

१ भयसे (मनुष्यको देखकर यह मेरा अनर्थ करेगा ऐसा विचारकर जो सामने दौड़ता है), २ द्वेषसे, ३ आहार-निमित्त (भूख लगने पर उसका निवारण करनेके लिये शियाल गृध्रादि जो उपसर्ग करते हैं), ४ अपने बच्चोंके रक्षणनिमित्त।

४ आत्मकृत—

१ वात, २ पीत्त, ३ कफ, ४ सन्निपात।

७–अठारह हजार शीलांग धारण करने चाहिये। ये अठारह हजार शीलांग क्या है? इसके विषयमें थोड़ा किन्तु उपयोगी नोट उपमितिभवप्रपंचके पीठबन्धके भाषान्तरमेंसे यहां उद्धृत किया जाता है। तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पांच इंद्रियां, दश पृथ्वीकायारंभादिक और दश श्रमणधर्म इस प्रकार करके अठारह हजार शीलांग होवे हैं। शीलांग अर्थात् चारित्रके अवयव (विभाग) निम्नलिखित प्रकार है—योग तीन है—मनयोग, वचनयोग, काययोग। करण तीन है—करना, कराना और अनुमोदन करना। संज्ञा चार हैं—आहारसंज्ञा, भय-संज्ञा, परिग्रहसंज्ञा और मैथुनसंज्ञा। इन्द्रिया पांच है—स्पर्शे-न्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेंद्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, और श्रोत्रेन्द्रिय। पृथ्वीकायारंभादिक दश हैं—पृथ्वीकाय आरम्भ, अपकायआरम्भ तेउकायआरम्भ, वाउकाय आरम्भ, वनस्पतिकायआरंभ, बेइन्द्रिय आरंभ, तेइन्द्रिय आरंभ, चौरिन्द्रिय आरंभ, पंचेन्द्रिय आरम्भ, और अजीवआरम्भ[१]। यतिधर्म दश है।—क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभपन (मुक्ति), तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचनपन और ब्रह्मचर्य। इसमेंसे प्रत्येकका एक एक पद लेकर

१ जीवकी बुद्धिसे अजीवको मारनेसे इसीप्रकार उपकरणादिककी पडिलेहण न करनेसे जो आरम्भ होता है वह अजीवआरम्भ कहलाता है।

अलग अलग भेद करते हैं । प्रथम भेद दृष्टान्तरूपसे नीचे लिखे अनुसार होता है—"मनसे आहारसंज्ञा रहित हो कर श्रोत्रेन्द्रियका संवरकर क्षमायुक्त हो पृथ्वीकायका आरम्भ न करे।" इस वाक्यको कायम रख अब 'क्षमायुक्त' शब्दके स्थानमें 'मार्दवयुक्त' आदि दश धर्मोंको ले तब दश भेद होते हैं, परन्तु ये सब पृथ्वीकायके विषयके ही होते हैं । उनका अब अप्‌काय आदि ऊपर बतलाये दश भेदोंके साथ दस दस भेद किये जावे तो सौ भेद होते हैं । ये सब श्रोत्रेन्द्रियके भेद हुए, और इसीप्रकार शेष चार इन्द्रियोंके साथ मिलानेसे पांचसो भेद होते हैं । उनमेंसे प्रत्येकको आहार, भय, परिग्रह और मैथुन संज्ञाके साथ रखनेसे दो हजार भेद होते हैं। मन, वचन, कायाके योगके साथ रखनेसे छ हजार भेद होते हैं और उसको करने, कराने और अनुमोदन करना इन तीनों करणके साथ रखनेसे अठारह हजार भेद होते हैं ।

इन भेदोंके विषयमें श्री प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थके पृष्ठ ३१९ में (प्रकरणरत्नाकर तीसरे भागको देखें) एक कोष्टक दिया हुआ है जिसकी ऐसी खूबी है कि उसपर दृष्टिपात करनेसे १८००० गाथा बन सकती है । जिज्ञासुओंको उसे अवश्यमेव पढ़ना चाहिए क्योंकि, वह अत्यन्त उपयोगी है तथा ग्रन्थकर्त्ता की अपूर्व विद्वत्ता बताता है ।

मोक्षार्थी जीवको ऊपर लिखे अनुसार व्यवहार करना चाहिये। तू न स्वाध्याय ही करता है, न समिति–गुप्ति ही रखता है; अपितु नहिवत् (नहीं वत्) कारणसे कषाय किया करता है और तपस्या नहीं करता है, इसी प्रकार परिषह उपसर्ग आदि भी सहन नहीं करता है, और किसी भी शीलांगको धारण नहीं करता है । तूं मानता है कि मोक्ष जानेका उपाय तो ऊपर लिखे

अनुसार सज्झायध्यान आदि है, तो फिर तूं जब मोक्ष जानेकी तो वाञ्छा करता है तो इसके विरुद्ध कार्य्य क्यों करता है। मोक्षनगर बहुत दूर है, वहां जानेके लिये संसारसमुद्रको लांघना पड़ेगा, इसके लिये योग्य नैयाका तो तूं प्रबन्ध नहीं करता, तो फिर तुं वहाँ किस प्रकार पहुँच सकेगा? तुझे यह अच्छी तरहसे समझ लेना चाहिये कि केवल वेशमात्रसे मोक्ष नहीं मिल शकता है। वेशके अनुसार क्रिया-व्यवहार होना चाहिये। अन्यथा तो मेरुपर्वत जितने भी ओघे-मुहपत्तियें भी क्यों न करले? किन्तु इससे आत्माका कुछ कल्याण नहीं हो सकता है।

वेशमात्रसे कुछ नहीं मिल सकता है.

आजीविकार्थमिह यद्यतिवेषमेष[1],
धत्से चरित्रममलं न तु कष्टभीरुः।
तद्वेत्सि किं न न बिभेति जगज्जिघृक्षु[2]-
मृत्युः कुतोऽपि नरकश्च न वेषमात्रात् ॥४॥

'तू आजीविकाके लिये ही इस संसारमें यतिका वेश धारण करता है, परन्तु कष्टसे डरकर शुद्ध चारित्र नहीं रखता है, किन्तु तुझे इस बातका ध्यान नहीं है कि समस्त जगत्को ग्रहण करने की अभिलाष रखनेवाली मृत्यु और नरक कभी किसी प्राणीके वेशमात्रसे नहीं डरते हैं।" वसंततिलका.

विवेचन—कोई अज्ञानी जीव संसारके दुःखोंसे दुःखित होकर दुःखगर्भित वैराग्यका वेश धारणकर (यति होने पश्चात्) वहाँ भी श्रावकोंसे उत्तम उत्तम गोचरी पानेका ही लोभ रखता है, परन्तु चारित्रकी क्रिया नहीं करता है, प्रथम तीन श्लोकोंमें भावार्थ रूपसे बताया हुआ वर्त्तन किञ्चितमात्र भी नहीं रखता है परन्तु

---

१ मेव इत्यपि पाठान्तरं दृश्यते। २ जगज्जिघत्सुरिति पाठान्तरं।

एक नई प्रकारकी सृष्टिको ही निर्मित करता है। कितने ही नामधारी श्रीपूज्य और गोरजी तो चारित्रके प्राणभूत चतुर्थव्रत भंग करनेकी हद तक पहुंच जाते हैं, उनकों तो इस अधिकारमें खड़े रहने तक को स्थान नहीं है। शिथिलाचारी, एकलविहारी, आधाकर्मी आहार लेनेवालोंको कष्टभीरु कहा गया है। परीषह उपसर्गोंसे डरजानेवाले यतिको उद्देश कर कहते हैं कि मृत्यु सम्पूर्ण संसारको हड़पजानेकी अभिलाषा कर रही है, उसके दांतोंके बीचे आकर कोई नहीं बचा है और उसके दूसरी ओर भयंकर अन्धकारसे भरा हुआ दुःखका स्थान और कल्पनामात्रसे कंपानेवाला नरक दिख पड़ता है। ये दोनों (मृत्यु और नरक) वेशकी परवाह नहीं करते हैं, वे इतने निष्ठुर है कि वे किसीको नहीं छोड़ते हैं, फिर भी प्रथम तीन श्लोकोंमें भावार्थरूपसे कहे अनुसार आचरण करनेवाले महात्मा तो उनकों भी इसप्रकार जीत लेते हैं कि फिर उनके दर्शन भी नहीं करने पाते हैं। सारांशमें कहा जाय तो अजर-अमर होजाते हैं। अतएव शुद्ध चारित्र धारण करके मनमें प्रसन्न हों, एकमात्र वेशमें पागल न हो जाओं। एक ओर साधुपनका कर्तव्य और दूसरी ओर नारकी तथा मृत्युको ध्यानमें रखें। यह निश्चय मनमें समझना कि कर्तव्यच्युत हुआ कि दोनों राक्षस आ दबावेंगे।

केवल वेश धारण करनेवालेको तो उलटे दोष प्राप्त होते हैं.

वेषेण माद्यसि यतेश्चरणं विनात्मन् !
पूजां च वाञ्छसि जनाद्बहुधोपधिं च।
मुग्धप्रतारणभवे नरकेऽसि गन्ता,
न्यायं बिभर्षि तदजागलकर्तरीयम् ॥ ५ ॥

"हे आत्मन्! तूं व्यवहार (चारित्र) बिना ही एक मात्र यतिके वेशसे ही गर्वित (अभिमानी) रहता है और फिर लोगोंद्वारा पूजाना चाहता है इससे यह प्रतीत होता है कि तू भोले विश्वास रखनेवाले प्राणियोंको धोखा देनेके कारण अवश्य नरकमें जावेगा। सचमुच तूं 'अजागल-कर्तरीन्याय' धारण करता है।"　　　　वसंततिलका.

विवेचन—'उपधि' धर्मोपकरणरूप साधुके वस्त्र, पात्र आदिका समूहवाची शब्द है। मनुष्य वंदन–नमस्कार करे ऐसी इच्छा रखना और अनेक प्रकारकी उपधि मिलनेकी इच्छा रखना यह गुण विना अनुचित है। वंदन योग्य कौन है? उपधि किस लिये रखनी चाहिये? ये कुछ मौजशोकका साधन नहीं है, ये तो संयमगुणकी वृद्धिमें बाधा न हो इसके उत्तम साधन हैं। ऐसी बाह्याचारकी अभिलाषा रखना और अपना व्यवहार किञ्चितमात्र भी ऊंचा न बनाना यह अपने हाथोंसे अपना ही वध करनेके समान है। जिस प्रकार बकरीको मारनेके लिये एक कसाई छुरी ढुढ़ने लगा, किन्तु उसको छुरी नजर न आई; परन्तु जाति-स्वभावसे बकरीने भूमिको उखेड़ना प्रारम्भ किया, और छुरीको जो उसे नजर आती थी छुपाने लगी, ऊपर मिट्टी फैलाई; और उस भागपर अपनी गर्दन रखकर उसे छिपानेके विचारसे बैठ गई। परन्तु ऐसा करनेसे उस छुरीके लगनेसे वह मृत्युकी शिकार बन गई। यह 'अजागलकर्त्तरी' न्याय है। इस प्रकार अपने हाथोंसे ही अपने नाशको आमंत्रित करना नितान्त अनुचित है। एकमात्र यतिके वेश धारण करने और कुव्यवहार रखनेसे दुर्गतिरूप दुःखको स्वयं बुलाना है। शुद्ध चारित्रवान् भी कभी वन्दन, नमस्कारकी अभिलाषा नहीं रखते हैं, परन्तु यदि वे कभी ऐसी अभिलाषा रखले तो भी वह तो नीतिकी अपे-

रूपसे कुछ उचित प्रतीत होती है, क्योंकि ऐसा करनेका उनको अधिकार है, परन्तु मानधारी ! तेरे तो एक भी इससे बचनेका साधन नहीं है।

मात्र वेश धारण करनेका फल.

जानेऽस्ति संयमतपोभिरमीभिरात्म-
न्नस्य प्रतिग्रहभरस्य न निष्क्रयोऽपि ।
किं दुर्गतौ निपततः शरणं तवास्ते,
सौख्यञ्च दास्यति परत्र किमित्यवेहि ॥ ६ ॥

" मेरे विचारानुसार हे आत्मन् ! इस प्रकारके संयम तथा तपसे तो (गृहस्थके पाससे लिये हुए पात्र, भोजन आदि) वस्तुओंका पुरा किराया भी नहीं मिल सकता है, तो दुर्गतिमें गिरते समय तुझे किसका शरण होगा ?, और परलोकमें कौन सुख देगा ? इसका तूं विचार कर। " वसंततिलका

विवेचन—ऊपर लिखे अनुसार बाह्याचार मात्र वेश रखने और तप, संयम आदि कुछ न करने अथवा वहन आडम्बर निमित्त करनेका क्या फल होता है ? इसका यहां विचार किया जाता है। गृहस्थद्वारा भोजन, वस्त्र, पात्र आदि यतिको मुफ्त मिलते हैं जिसके लिये कहा गया है कि ऊपर लिखे अनुसार दिखाव मात्रके लिये किये हुए तप संयमसे तो उसका भाड़ा तक नहीं चुकाया जा सकता है। अतएव हे यति ? तेरा कर्जा चुकाने निमित्त तेरे व्यवहारको बहुत शुद्ध बनानेकी आवश्यकता है। जो संसारके उपदेशक होनेका दावा रखते हों उनका चारित्र तो इतना सरल और अनुकरणीय होना चाहिये कि उसमें दो भेद हो ही न सके। बाह्य देखाव दूसरा और आन्तरिक व्यवहार वहन दूसरा, यह बात शुद्ध दशामें चलनेवाले जीवोंकी अवस्थामें

भी न आनी चाहिये और साधारण जनताकी हमारे विषयमें क्या धारणा है ऐसा तो उनके हृदयमें विचार भी नहीं होता है। यदि उनको कुछ ख्याल होता है तो वह अपने उच्च प्रकारके कर्त्तव्यका ख्याल होता है। आत्माके इस भव और परभवके सुखके लिये वेश और विचारकी ऐकता करनेकी खास आवश्यकता है।

+ + + २—६ इन पांच श्लोकोंमें बाह्याडंबर—वेश धारण करनेके लिये बहुत कुछ कहा गया है। गोरजी, श्रीपूज्य, जति और संवेगी पक्षमें भी कितने एक मात्र वेशधारी होते हैं। उसको इस बातसे बहुत कुछ समझ लेना चाहिये। डोरेधागे कर गृहकार्यादि सावद्य कार्योंमें सलाहकार बन, दृष्टिरागवाले भगत बनाकर मुग्ध प्राणियोंको धर्मके नामसे धोखा देनेवाले, धर्मके नामपर आजीविका चलानेवाले, बालोंकी पट्टिये पाड़कर धर्मको संसारकी दृष्टिमें हलका ठहरानेवाले ऐसे मूर्खदत्त अपने आपको संसारसमुद्रमें डूबोते हैं और साथ ही साथ गर्दनमें आश्रितजनों को डूबोनेके लिये पापरूप पत्थरको बांधते हैं। इससे वे फिरसे ऊंचे नहीं उठ सकते हैं। कईवार संवेगीपक्ष जैसे शुद्ध प्रवाहमें भी कितने अनुचित दिखाव देखे जाते है, सुने जाते हैं। विशेषतया उनके शुद्ध गुरुणिजियोंके समुदायमें भी कितनी ही स्थितियोंपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है। वेशसे कुछ लाभ नहीं है, लेकिन यह स्पष्ट है कि उससे संसारको धोखा देनेरूप नुकशान है। इसमें सन्देह नहीं कि वेशसे किसी समय प्राणी शरमके मारे—दिखावके लिये अयोग्य रास्ते जाते हुए भी हीचक जाते हैं। साधु—महंत—त्यागी—वैरागी जैसे भावनामय जीवनका देखाव रखनेसे ही मनुष्य महान उत्तम व्यवहारकी आशा रखते हैं और उसी स्थानपर यदि कुछ चारित्र न हो तो कितने दुःखकी बात

है यह विचार करनेसे अपने आप मालूम हो जाता है। ये पांचों श्लोक अवश्य मनन करने योग्य हैं।

वर्तनरहित लोकरंजन, बोधिवृक्षकी कुल्हाडी, संसारसमुद्रमें पतन.

किं लोकसत्कृतिनमस्करणार्चनाद्यै,
रे मुग्ध ! तुष्यसि विनापी विशुद्धयोगान्।
कृन्तन् भवाम्बुपतने तव यत्प्रमादो,
बोधिद्रुमाश्रयमिमानि करोति पर्शुन्॥ ७॥

"तेरे त्रिकरण योग विशुद्ध नहीं है फिर भी मनुष्य तेरा आदरसत्कार करते हैं, तुझे नमस्कार करते हैं अथवा तेरी पूजासेवा करते हैं, तब हे मूढ ! तूं क्यों संतोष मानता है ? संसारसमुद्रमें गिरते हुए तुझे एकमात्र बोधिवृक्षका आधार है उस वृक्षको काटनेके लिये नमस्कारादिसे होनेवाला सन्तोषादि प्रमाद इसके (लोकसत्कार आदि) लिये कुल्हाडारूप होता है।"

वसंततिलका

विवेचन—मनकी स्थिरता कम न हुई, वचनपर अंकुश न लगा, कायाके योग काबुमें नहीं हैं फिर भी जब मनुष्य तेरी वन्दना, पूजने, भक्ति करते हैं तब तेरे मनमें आनंद प्राप्त होता है—यह कितना बुरा है ? हे साधु ! ऐसे वन्दन तथा पूजा-पर तेरा क्या अधिकार है ? तू थोडा-सा विचार कर कि यह संसार एक भीमकाय समुद्र है, इसमें जो डूबते हैं वे इसका अन्त अनन्तकाल तक भी नहीं पा सकते हैं, फिर भी यदि इससे बचनेके लिये बोधिवृक्ष—सम्यक्त्वरत्न प्राप्त हो जाय तो रक्षा हो सकती है, परन्तु तुझे प्रमाद हो जाता है। जिस शिथिलताके

१ मालवेर वगैरह आदि वसंत गंथोंसे।

कारण ये वन्दन, नमस्कार उपर कहे हुए वृक्षको काटनेके लिये कुल्हाड़ेका कार्य्य करते हैं । इस वृक्षका नाश हुआ और यदि ऐसा करनेसे तुझे उस वृक्षका सहारा न मिला तो तू फिर इस संसारसमुद्रमें व्यर्थ भटकता रहेगा । यहाँ तुझे किसी भी प्रकारका आश्रय न होगा ।

तेरे शुद्ध वेशसे तेरा उत्तरदायित्व कितना है इसका तू विचारकर । संसार तेरेसे तेरी प्रतिज्ञाके अनुसार कितने उच्च व्यवहारकी आशा रखता है इसको सोच । हे मुनि ! जरा अन्तरंग चक्षु खोलकर देख । ऐसा योग और ऐसी सामग्री तुझे फिरसे मिलना कठिन है । सोच विचारकर समयका सदुपयोग कर । उपलक्षणसे मुनिका अधिकार होते हुए भी श्रावकोंको विशेषतया इस श्लोकके भावार्थको विचारकर समझना चाहिये कि श्रावकपनका नाम धारणकर गुणोंके न होने पर भी मारामारी कर धमाधमसे नोकारशी आदिके जीमण जीमना, अनेक प्रकारके प्रभावनाएं बिना हकके ही, अनीतिसे, बिना किसी गुणके, एक समयसे भी अधिक समय लेनेकी तुच्छताकर, उनके हकदार अपनी आत्माको समझना, यह बहुत विचार करने योग्य है । ऐसा विचार श्रावक भी अपने आत्माके लिये इस अधिकारके हरेक स्थानमें करें ।

लोकसत्कारका हेतु, गुण विना गति.

गुणांस्तवाश्रित्य नमन्त्यमी जना,
ददत्युपध्यालयभैक्ष्यशिष्यकान् ।
विना गुणान् वेषमृषेर्बिभर्षि चेत् ,
ततष्ठकानां तव भाविनी गतिः ॥ ८ ॥

"ये पुरुष तेरे गुणोंको देखकर तेरे सामने झुकते हैं और

उपधि, उपाश्रय, आहार और शिष्य तुझे देते हैं। अतएव यदि तू बिना गुणके ही ऋषि (यति)का वेश धारण करता हो तो तेरी दशा ठगके सदृश होगी।" वंशस्थविल

विवेचन—इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है। तेरे सेवक अच्छे अच्छे कपड़े तेरेको भेट करना चाहते हैं, अपने घरमें यदि कोई अच्छी वस्तु बनाते हैं तो सबसे पहले तुझे आमंत्रण करते हैं, स्वयं टूटीफूटी जर्जरित झोंपडीमें रहते हैं फिर भी तुझको तो रम्य महलके सदृश उपाश्रय रहनेको देते हैं और अन्तमें अपने दुलारे नयनोंके तारे सुकुमार पुत्र-पुत्रियोंको भी तुझे शिष्यके रूपमें अर्पणकर देते हैं'-ये सब तेरेमें साधुपनके उत्तम गुण और दृढ यतिधर्मोंका होना समझकर देते हैं। इन गुणों रहित तेरे जीवनको तो दंभी-पापी-धूर्त आदिकी उपमा ही आ सकती है और जीवनका फल भी वैसा ही प्राप्त होगा।

+ + ७-८ इन दोनों श्लोकोंमें लोकरंजनसे बचकर मुनिपनके गुण ग्रहण करनेका उपदेश किया गया है। दंभ-कपट आदि करके बाहरसे देखाव करनेवालेको इससे बहुत कुछ मनन करनेका है। स्वमान (Self-respect) के रूपमें वर्तमानकालमें इसको भ्रष्ट रूप दिया जाता है। बुद्धिमान् यतिको इसमें क्या

१ इस श्लोकसे वैराग्यवान् पुत्र-पुत्रियोंको शिष्यके रूपमें अर्पण करनेका प्रचार प्राचीन समयमें था ऐसा प्रतीत होता है। इस कालमें गृहस्थ और मातापिता उदारचित्त होते थे, उसीप्रकार साधु भी शिष्यको ग्रहण कर लेते थे ऐसा ज्ञात पड़ता है। इस विषयमें हीरविजयसूरि आदिके दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। इस विषयमें श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य योगशास्त्रके तीसरे प्रकाशके अन्तमें सात क्षेत्रके निरूपणमें पुत्र-पुत्रियोंके ग्रहण करनेका क्रम स्पष्टतया प्रगट करते हैं; और उसी विषयमें श्रीमानविजयजी उपाध्याय धर्मसंग्रहमें स्पष्ट उल्लेख करते हैं।

दंभ है इसे समझ लेना चाहिये। यह मृदुल अवगुण बोधिवृक्षका घातक है और प्राणीको इसका भान नहीं होने देता है कि उसका वास्तविक क्या कर्त्तव्य है ?। प्रत्येक यति–साधुको स्मरण रहे कि उसका काम केवल मनुष्योंको प्रसन्न करनेका नहीं है, परन्तु बराबर शुद्ध मार्गमें जोड़नेका है। संसारके उपदेशक बननेका दावाकर गुप्तरूपसे कुकर्म करनेवाले शोकीनोंके लिये तो अधोलोक तैयार है, परन्तु यहां कल्पना किये मुनिवर्य तो मनमें भी कुविचार न आने दें, और कायाका व्यवहार तो बहुत शुद्ध रक्खें। ऐसे मुनि ही साधु कहला सकते हैं, अन्य तो यतिके जति और गुरुजीके गोरजी हो गये हैं इन शब्दोंके अनुसार वर्तनमें भी अपभ्रंश बताते हैं। वीरपरमात्मा शुद्ध पवनका संचार करें !

लोकरञ्जन वास्तवमें क्या है ? यदि मनुष्य अल्प समयके लिये कहदे कि अमुक यति भला है इससे क्या प्रयोजन ? जहाँ पर सब सुख–दुःखका आधार कर्मबंधपर है वहां बाह्यदृष्टिकी किंमत केवल बिन्दुमात्र है; अपितु ऐसा होता है कि शुद्धाचरणवाले पुरुषको कई कारणोंसे कई बार हानि होती है तब मनुष्य उसकी निन्दा करते हैं, किन्तु साधुका उससे कुछ बिगाड़ नहीं होता है। मल्लिनाथके स्तवनमें उपाध्यायजीने लोकरंजन और लोकोत्तररंजनका समतोलकर लोकोत्तररंजनकी प्रधानता बताई है। अनन्तकालचक्रके रेलेमें घिसड़ाता पामर प्राणी ! तू तेरे माने हुए थोड़ेसे घेरेकी (सर्कलके) ऊपर ऊपरकी प्रशंसामें पागल होकर सब कुछ खो देनेकी भूल न कर।

यतिपनका सुख और कर्त्तव्य

नाजीविकाप्रणयिनीतनयादिचिन्ता,

नो राजभीश्च भगवत्समयं च वेत्सि ।
शुद्धे तथापि चरणे यतसे न भिक्षो,
तत्ते परिग्रहभरो नरकार्थमेव ॥ ९ ॥

" तुझे आजीविका, स्त्री, पुत्र आदिकी चिन्ता नहीं है, राज्यका भय नहीं है और भगवानके सिद्धान्तोंको तू जानता है अथवा सिद्धान्तकी पुस्तकें तेरे पास हैं, तिसपर भी हे यति ! यदि तू शुद्ध चारित्रके लिये प्रयत्न न करेगा तो फिर तेरे पासकी सब वस्तुओंका भार (परिग्रह) नरकके लिये ही है । "

वसन्ततिलका

विवेचन—तेरेको दो-चारके पेट नहीं भरने हैं, स्त्रीके लिये गहना या वस्त्र नहीं खरीदना है, पुत्रकी सगाई या लग्न नहीं करना है, अथवा कुटुम्बकी अनेकों उपाधियें नहीं करनी है, तुझे कमानेकी मायाकूट नहीं करनी है और इस कठिन युगमें तुझे हाथ भी नहीं दिखाना पड़ता है, तेरे पास कोई बड़ी पूंजी भी नहीं है कि जिससे पूर्वके समयमें राज्यकी ओरसे भय या और वर्तमानकालमें निरर्थक कामोंमें लुटानेका भय है जैसा भय तुझे होवे । तदुपरान्त तू ज्ञानी है, बुद्धिशाली है, शास्त्रवेत्ता है, और वीर परमात्माद्वारा सर्व समयमें अनुकूल होनेवाले बताये सिद्धान्तोंके रहस्यको भी तू भलीभाँति जानता है । इतना सुभिता होते हुए भी यदि तू शुद्ध चारित्रवान् नहीं बनता है तो तेरा भविष्य इसमें तो अन्धकारमय प्रतीत होता है ? तू तेरे पास व्यर्थ संचय क्यों करता है ? तू परिग्रहके भारसे दबकर नरकमें जायगा ।

यहां जो कहे गये हैं वे सामान्य परिग्रह—वस्त्र, पात्र, उपधिरूप ही समझे । पंचमहाव्रतधारी होकर जो यदि पैसे तथा

१ नो राजभीर्नरपि चामपुस्तकानीति वा पाठ ।

स्त्रीका परिग्रह करे तो वे प्रत्यक्ष दुराचारी हैं। गाडीघोडे रखें, खेत–बगीचे रखें, छडी पुकारावे और पधरामणीये करावे उनकी तो सूरिमहाराज बात भी नहीं करते हैं। जैनधर्मका बंधारण अत्युत्तम है, साधु और श्रावकके व्यवहार बहुत विचारपूर्वक बांधे गये हैं, उन्में कितने ही पेटार्थी खरावीकर अपने आपको संसारके अनन्तप्रवाहमें डूवो देते हैं।

ज्ञानी भी प्रमादके वशीभूत होजाता है—इसके दो कारण.

शास्त्रज्ञोऽपि धृतव्रतोऽपि[1] गृहिणी–
पुत्रादिबन्धोज्झितो–
ऽप्यङ्गी यद्यतते प्रमादवशगो
न प्रेत्यसौख्यश्रिये ।
तन्मोहद्विषतस्त्रिलोकजयिनः
काचित्परा दुष्टता,
बद्धायुष्कतया स वा नरपशु–
र्नूनं गमी दुर्गतौ ॥ १० ॥

"शास्त्रको जाननेवाला हो, व्रतको ग्रहण किये हुए हो, तथा स्त्री, पुत्र आदिके बन्धनोंसे मुक्त हो, फिर भी यदि कोई प्राणी प्रमादके वशीभूत होकर पारलौकिक सुखरूप लक्ष्मीके लिये कुछ भी यत्न नहीं करता है तो जानना चाहिये कि या तो इसमें तीनों लोकोंको जीतनेवाले मोह-नामक शत्रुकी कोई अकथनीय दुष्टता कारणभूत होनी चाहिये अथवा वह नरपशु आगामी भवके आयुष्यका बन्ध

---

१ दृढव्रतोऽपीति पाठः ।

होजानेके कारण अवश्य दुर्गतिमें जानेवाला है।"

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—ऊपरके श्लोकमें कहेमुताबिक हे यति! तेरे लिये बहुत उचित परिस्थिति है, संसारके सामान्य पुरुषोंकी अपेक्षा तेरी स्थिति बहुत उत्तम है, अपितु तू ज्ञानी है, व्रतधारी है, गृह या स्त्रीके बन्धनसे रहित है, फिर भी तेरा कर्तव्य पूरा नहीं करता है और अस्तव्यस्तरूपसे इन्द्रियरूप अश्व जिस ओर खींचकर लेजाते हैं उसी ओर दौड़ा जाता है इसका क्या कारण है? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि जो मोहराजा अपना साम्राज्य स्थापितकर इस सम्पूर्ण जगतको प्रमादमदिराका पान कराके नचाता है उसने तुझे भी अपने पजेमें धर दबाया है, तेरे पर भी उसने हाथ साफ किया है, अथवा तू अवश्य नरकमें जानेवाला है।

इन दोनों कारणोंमें बात तो एककी एक ही है। मोहवश प्राणी इन्द्रियदमन, आत्मसंयम नहीं कर सकता है और इसी कारण प्रशस्त उद्यम नहीं होता है। आयुष्यबन्ध भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता है, फिर भी असाधारण वीर्योल्लास प्रगट करके संयोगोंको ऐसे अनुकूल बना सकता है कि उस अशुभ आयुष्यको भोगते समय फिरसे अशुभ कर्मोंकी संतति उत्पन्न न हो सके। हे मुनि! तेरे सदृश पवित्र ऋषि-सन्यासीको तो मोह-ममत्वकी बुद्धिका और भेरेपनका सर्वथा परित्याग करदेना चाहिये।

यतिके सावद्य आचरण करनेमें मृषोक्तिका दोष.

उच्चारयस्यनुदिनं न करोमि सर्वं,
सावद्यमित्यसकृदेतदथो करोषि।
नित्यं मृषोक्तिजिनवञ्चनभारितात्तत्,

सावद्यतो नरकमेव विभावये ते ॥११॥

"तू सदैव दिन और रात्रिमें नोवार 'करेमि भंते'का पाठ करते समय कहता है कि मैं सर्वथा सावद्य काम न करूं किन्तु फिर बारम्बार वह ही कार्य्य किया करता है। ये सावद्य कर्म करके तू असत्य भाषण करनेवाला होनेसे प्रभुको भी धोखा देता है और मेरी तो यह धारणा है कि उस पापके भारसे भारी होनेपर तेरा तो नरकगामी होना जरूरी है।" वसंततिलका.

विवेचन—' करेमि भंते सामाइअं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं ' इत्यादि अर्थात् इस सम्पूर्ण जीवनमें मन, वचन, कायासे सावद्य कार्य्य न तो स्वयं करुंगा, न दूसरोंसे करवाउंगा, न करनेवालेको मनमें अच्छा समझुंगा इस प्रकारके शब्द तू प्रत्येक दिन दोनों समय प्रतिक्रमणमें और पोरसि पढाते समय बारम्बार बोलता है; किन्तु फिर भी जो उनको कार्य्य-रूपमें परिणत नहीं करता है यह तो नितान्त अनुचित है। इससे तो तू दुगने पापका संग्रह करता है। सावद्य कर्मसे तुझे पाप लगता है और असत्य भाषणसे भी पाप लगता है। वचन और व्यवहार दोनों एक समान होने चाहिये। जहाँ मन, वचन और कायाकी त्रिपुटी अलग अलग तीन रास्तोंमें दौड़ने लगती है वहां दुःखका स्रोत वह निकलता है। वचन–दिखाव–उपदेश भिन्न प्रकारका करना और व्यवहार इसके विपरीत अन्य प्रकारका ही रखनेसे परभवमें अनेक प्रकारकी मानसिक उपाधियोंके उपरान्त नरकके सदृश महाभयंकर शारीरिक पीड़ाओंको भोगना पड़ता है और इस भवमें दिखाव बनाये रखनेके लिये कितनी व्यर्थ खटपट करनी पड़ती है। विद्वानोंका कहना है कि —

यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रियाः।
चित्ते वाचि क्रियायां च, साधूनामेकरूपता ॥१॥

अर्थात् जैसे विचार हो उसी अनुसार वचन और जैसे वचन उसी अनुसार व्यवहार होना चाहिये । साधुकी इसप्रकार मन, वचन, कायाकी प्रवृत्ति एकसी होती है । यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि अभ्यास दशामें जैसी वाणी होती है वैसा सर्वथा व्यवहार नहीं हो सकता है, परन्तु शुद्ध चित्तसे मनमें वैसा अपना व्यवहार होनेका दावा किये बिना ही और झूठा ढोंग किये बिना अभ्यास करनेमें कोई बाधा नहीं है ।

यतिके सावद्य आचरणमें परवचनका दोष

वेषोपदेशाद्युपधिप्रतारिता,
ददत्यभीष्टानृजवोऽधुना जनाः ।
भुङ्क्षे च शेषे च सुखं विचेष्टसे,
भवान्तरे ज्ञास्यसि तत्फलं पुनः ? ॥१२॥

" वेष, उपदेश और कपटसे भ्रमाये हुए भद्रक पुरुष अभीतक तुझे वाञ्छित वस्तुयें देते हैं, तू सुखसे खाता है, सोता है और भ्रमण किया करता है,, परन्तु भविष्य भवमें इनके द्वारा होनेवाले फलकी अच्छी तरहसे तुझे समझ मालूम पड़ेगी । "   उपजाति[1]

विवेचन—ऊपर चौथे तथा पांचवें श्लोकमें इस विषय-पर बहुत कुछ कहा गया है । हे यति ! भद्रक जीव तुझे गुण-वान समझकर स्वयं जिन वस्तुओंके खानेके लिये लालयीत होते हैं उनको स्वयं न खाकर तुझे खानेको देते हैं, इसीप्रकार तेरे लिये हरप्रकारकी सुविधा कर देते हैं, परन्तु उनसे तू अनुचित लाभ

---

१ इन्द्रवंशा और वंशस्थ छंद होनेसे एक उपजाति होता है। यह उपजाति उस भांतिका है । छन्दोनुशासनका अवलोकन करें ।

उठाता है। साधुपनके अनुसार यदि तेरा आचारविचार न हो तो तेरा उन वस्तुओं पर कुछ भी अधिकार नहीं है। यदि विना हक तू कोई वस्तु ग्रहण करेगा तो तू कर्जदार होगा और तदुपरान्त किये हुए दंभके लिये महादुर्गतिको प्राप्त होगा।

दंभीको भवान्तरमें तो महा दुःख होता ही है किन्तु यहां भी अनेकों उपाधियोंका सामना करना पड़ता है। झूठे ढोंग बनाये रखनेके लिये अनेक खटपट करनी पड़ती है, असत्य बोलना पड़ता है, चापलुसी करनी पड़ती है और फिर भी भेद खुल जानेका सदैव भय बना रहता है। अतएव उपदेश और व्यवहार भिन्न भिन्न रखना मायामृपावाद कहलाता है। इस विषयमें और अधिक विवेचन प्रसंग आनेपर किया जायगा।

संयमके लिये यत्न न करनेवालेको हितबोध.

आजीविकादिविविधार्त्तिभृशानिशार्त्ताः,
कृच्छ्रेण केऽपि महतैव सृजन्ति धर्मान्।
तेभ्योऽपि निर्दय ! जिघृक्षसि सर्वमिष्टं,
नो संयमे च यतसे भविता कथं ही ? ॥१३॥

" आजीविका चलाने आदि अनेक पीड़ाओंसे रातदिन बहुत परेशान होते हुए अनेकों गृहस्थी महामुश्किलसे धर्मकार्य्य कर सकते हैं उनके पाससे भी हे दयाहीन यति ! तू तेरी सर्व इष्ट वस्तु प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है और संयमके लिये प्रयत्न नहीं करता है; तो फिर तेरी क्या दशा होगी ?। " वसंततिलका.

विवेचन—इसमें दो प्रकारकी दया बतलाई गई है। बेचारे भद्रक श्रावक महान कठिनतासे अपनी आजीविका उपार्जन करते हैं, परन्तु वैसी सामान्य स्थितिके श्रद्धालु बन्धु भी

साधुको देखकर अपने मकानमे अच्छे वस्त्रपात्र आदि वस्तुकी भेट कर देनेमें नहीं हिचकचाते हैं, ऐसे अत्यन्त खरे पसीनेसे उपार्जित द्रव्यसे खरीदी हुई वस्तुओंको तू ग्रहण करता है और अपने निजके कर्तव्यके पालन करनेमें तू आलस्य करता है, न इन्द्रियसंयम करता है, न मनपर अकुश रखता है, न पांच महाव्रतोंका बराबर निरतिचारपनसे पालन ही करता है। इस लिये हे यति ! तू अपनेआप थोडासा विचार कर कि तेरे इन कार्योंका क्या परिणाम होगा ? संसारका यह स्वभाव ही है कि दूध पीनेकी इच्छा रखनेवाली बिल्ली दूधको ही देखती है परन्तु शिरपर गिरनेवाली लकडीको नहीं देखती है, परन्तु तेरा कर्तव्य तो यह है कि स्वामीका कार्य भलिभांति करे, अपने कर्तव्यका पालन करे, रुखीसूखी रोटीका टुकडा भी कितना स्वादिष्ट हो इसका अनुभव करे, अर्थात् अनुभवसे जानले, तेरा निजका क्या कर्तव्य है इसका विचार करे, और इसीके साथ ही साथ यह भी देखे कि सर्व जीवोंके प्रति तेरा क्या कर्तव्य है।

कई बार साधुको शोभा न देनेवाले आचरण किसी किसी व्यक्तिमें देखे जाते हैं, महाव्रतका भंग होता देखा जाता है, अथवा अकथनीय अभिमानसे अन्य गुणवानको नमस्कार न करने, स्वदोष छिपाने और उसका वर्णन सुननेमें आता है। ससारकी स्थूल मर्यादासे ऊंची श्रेणिको पहुचे हुए हे यतिवर्य ! यह सब ससारका हेतु है, ऐसे व्यवहारमें नितान्त हानि ही है, कुछ लाभ नहीं है। तेरे वस्त्रपात्रसे मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता है। मनपर जब सयम रग चढेगा तभी कुछ हो सकेगा। अन्यथा तो केवल दम्भबुद्धिसे जो वस्त्र धारण किये जाते हैं ये केवल–मात्र नाटकके भेखके सदृश है।

निर्गुण मुनिकी भक्तिसे उसे तथा भक्तोंको कुछ फल नहीं हो सकता है

आराधितो वा गुणवान् स्वयं तरन्,
भवाब्धिमस्मानपि तारयिष्यति ।
श्रयन्ति ये त्वामिति भूरिभक्तिभिः,
फलं तवैषां च किमस्ति निर्गुण ! ॥१४॥

" इस गुणवान पुरुषकी आराधना करनेसे जैसे यह स्वयं भवसमुद्रसे तैरता है वैसे ही अपनेको भी तेरा देगा ऐसा समझकर कितने ही प्राणी भक्तिभावसे तेरा आश्रय लेते हैं । इससे हे निर्गुण ! तुझे और उन्हें क्या लाभ है ? "

इन्द्रवंशा और वंशस्थ (उपजाति).

विवेचन—यह साधु गुणवान है ऐसा समझकर कितने ही श्रावक भक्तिभावसे तेरेको कई वस्तुएँ भेंट करते हैं, परन्तु इससे उनको पुण्य उपार्जन होगा ऐसा समझकर उनका कारण-भूत होनेसे तुझे भी पुण्य उपार्जन होगा, यदि ऐसा तू समझता हो तो यह तेरी बड़ी भारी भूल है, क्यों कि तेरेमें उनसे कल्पना किये हुए श्रेष्ठ गुणोंमेंसे एक भी गुण नहीं है । तेरेमें गुण हो और भवसमुद्र तैरनेकी शक्ति हो तो दूसरी बात है, अन्यथा व्यर्थ कल्पना करनेसे तुझे कुछ लाभ नहीं हो सकेगा, इतना ही नहि अपितु आगेके श्लोकोंमें बताया जायगा उसके अनुसार तेरे इस व्यवहारसे तो पापका ही उपार्जन होगा ।

बेचारे अल्पज्ञ जीव भद्रकभावसे तेरा धर्मबुद्धिसे जो आश्रय करते हैं वह संसारसमुद्र तैरनेके लिये तुझसे सहायता पानेकी इच्छासे करते हैं, परन्तु ऐसी सहायता जब तू नहीं देता है, न दे सकता है; तो फिर तुझे क्या लाभ होगा ?

निर्गुण मुनिको उलटा पापबंध होता है.

स्वयं प्रमादैर्निपतन् भवाम्बुधौ,

कथं स्वभक्तानपि तारयिष्यसि ।
प्रतारयन् स्वार्थमृजून् शिवार्थिनः,
स्वतोऽन्यतश्चैव विलुप्यसेंऽहसा ॥ १५ ॥

" जब तू स्वयं प्रमादके कारण संसारसमुद्रमें डूबता जाता है तो फिर तू अपने भक्तोंको किसप्रकार तैरा सकता है ? बेचारे मोक्षार्थी सरल जीवोंको तू अपने स्वार्थवश ठग कर अपने और दूसरोंके द्वारा पापोंसे तू स्वयं लेपाता है । "

वंशस्थविल

विवेचन—मोक्ष प्राप्तकर संसारजालसे छुटकारा पानेकी अभिलाषा रखनेवाले सरल जीव तेरा आश्रय लेकर तेरे उपदेशानुसार आचरण करते हैं, उनको ठगकर तू ' दूसरोंद्वारा ' पापबंध करता है और तूनेग्रहण किये हुए पंचव्रतमय(महाव्रत)का विषयकषायादि प्रमादके सेवनसे भंगकर तू ' स्वयंद्वारा ' पापबंध करता है । इसप्रकार हे मुनि ! यह तो सन्देहरहित है कि तू निर्गुणी है, इससे तुझे कुछ लाभ नहीं हो सकता है । तेरे जैसे दंभी और लोकसत्कारके अर्थीको वस्त्र या अन्न देनेसे देनेवालेको लाभ होगा और उसका निमित्त तू होनेसे तुझे भी लाभ होगा, यह दांभिक विचारका परित्याग करदे । और अच्छी तरहसे समझ लेना कि ऐसे व्यवहारसे तो तू दुगना भारी होता है, महापापपंकमें फँसता है और गर्दनमें पत्थर लटकाकर ऐसे संसारसमुद्रमें डूबता जाता है कि जहाँ तू अनेकों मनों तक ऊपर नहीं उठ सकता है अपितु नीचे ही नीचे बैठता जाता है ।

हे यति ! संसारसमुद्रको तैरनेका जहाज तेरे हाथ लग गया है उसको इसप्रकार अनुचित उपयोग करनेकी मूर्खताको छोड दे, उसका कप्तान बन, पवनकी रुखको देख और समुद्रके

दूसरे किनारेपर जो मोक्षनगर है उसके साध्यबिन्दुको दृष्टिमें रखकर वहाँ पहुंचनेका प्रयत्न कर। मध्यमें जो भँवर, चट्टाने, पर्वत आते है उनका ध्यान रख और मनमें उत्साह रख। इस जहाजका जो साधु उपयोग नहीं करते हैं और इसको स्वतः नष्टकर बचानेके साधनको ही डुबानेका साधन बनाते है वे किसी भी प्रकारसे अपना तथा अपने आश्रितोंके कल्याणके मार्गको ग्रहण नहीं करते हैं, वे तो संसारसमुद्रमें भटकते रहते हैं या उसके नीचे पैंदेमें बैठ जाते हैं।

निर्गुणको होनेवाला ऋण तथा उसका परिणाम.

गृह्णासि शय्याहृतिपुस्तकोपधीन्,
सदा परेभ्यस्तपसास्त्वियं स्थितिः।
तत्ते प्रमादाद्भरितात्प्रतिग्रहै-
र्ऋणार्णमग्नस्य परत्र का गतिः? ॥१६॥

" तू दूसरोंसे निवासस्थान (उपाश्रय), आहार, पुस्तक और उपधि ग्रहण करता है। इसके अधिकारी तो तपस्वी लोग (शुद्ध चारित्रवाले) हैं (अर्थात् इनके ग्रहण करनेके पात्र तो तपस्वी लोग हैं) तू उन वस्तुओंको ग्रहण-कर फिरसे प्रमादके वशीभूत हो जाता है, और बहुत कर्जदार हो जाता है तो फिर परभवमें तेरी क्या गति होगी? "उपजाति.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि हे मुनि! तू तो तेरे कार्योंसे दुगना कर्जदार हो जाता है, एक तो चारित्र ग्रहणकरके भी प्रमादी बनता है, और शुद्ध चारित्ररहित होनेपर भी आहार आदि ग्रहण करता है, इसलिये तेरे गति उस कर्जदारके समान होगी जो कर्जेके कारण अपमानसे अपना सिर ऊंचा नहीं उठा सकता है।

११–१६ तक इन छ श्लोकोंमें बतलाये उपदेशपर बहुत मनन करनेकी आवश्यकता है। आवश्यक योग, वस्त्र, पात्र, पुस्तकादि धर्मोपकरण सिवाय परिग्रह न रखनेका विशेषतया मुनिको उपदेश किया गया है। यह सन्देहरहित बात है कि मुनिमार्ग महाकष्टकारी है, परन्तु एक समय उस मार्गके कर्तव्योंका भार सिरपर उठा लेनेके पश्चात् उसके अनुसार व्यवहार रखनेके लिये जीव प्रतिज्ञासे बधा हुआ हो इतना ही नहीं अपितु यदि उसकी क्रियासे यदि किंचित्मात्र भी इधरउधर हट जाता है तो महान कर्मोंका बन्धन करता है। इनके कहनेमें जो कुछ कठोर शब्दोंका प्रयोग किया गया है वह सहेतुक है और जैसे पुत्रको कोई अपराध न करने पर भी भविष्यमें किसी प्रकारकी भूल न करनेके लिये सचेत रहनेको डाट उपर बतलाई जाती है ये शब्द भी उसीप्रकार है। भूल करने पर बुरा–भला कहनेसे बुद्धिमान् शिष्य भूल सुधारनेका प्रयास करते हैं परन्तु अपने शिष्यपनको ही तिलांजलि नहीं दे देते हैं। इसीप्रकार इस उपदेशसे भूल सुधारनेकी आवश्यकता है परन्तु इससे घबराकर सर्व संयम भारको तिलाञ्जली दे सिरपर पगड़ी पहन, गृहस्थी बन ऐशआराम करने–करानेके लिये इस उपदेशका उपयोग न करें। साध्यदशामें ही रहकर सिद्ध दशाको ध्यानमें रखते हुए इस उपदेशका भलिभांति पालन किया जाय तो ही लाभ होनेकी सम्भावना है, नहीं तो शास्त्रमेंसे एक काना निकाल देनेसे शस्त्र बन आनेके सदृश है। शास्त्रमें लिखे भाग्रह अभ्यासकालके वचनों और ऐसे उपदेशके कठोर वचनोंके आधारपर अविरोधीपनसे व्यवस्था बांधनेकी और विचार करनेकी इस युगमें बहुत आवश्यकता है। मूल और उत्तरगुण सम्बन्धी दूषणोंके सेवन करनेकी दिनप्रतिदिन वृद्धि होनेपर यदि किसी प्रकारकी साध्यदृष्टि न रक्खी जाय

और केवल 'यह भव मिट्ठा तो परभव किसने दीठा' वाली कहावतके समान बुद्धि रखी जाय तो सर्वथा मनुष्यभवको व्यर्थ खोदेनेके स्थानमें तो अध्यात्मसारके तीसरे अधिकारमें बताये अनुसार वेशका परित्याग कर, उत्तम श्रावकपन अंगीकार करके जन्मको साफल्य बनाना ही अत्युत्तम है।

यदि ऐसा जान पड़े कि वेश छोड़नेसे आत्मिक हानि होगी या वेशका आग्रह न छुटे तो उसी अधिकारमें बताये अनुसार मार्गका अनुसरण कर संवेग पक्षको धारण करके भी आत्महितकी दृष्टिको न भूलादे और निःशूक या अति प्रमादी हो कर साध्यदृष्टिसे रहित होकर. अनंत संसारका उपार्जन न करे। किसी कर्मके बलसे यदि कभी अमुक अनाचरणरूप दूषण लग जावे तो उससे वेशको छोड देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसा होता तो फिर दस प्रकारके प्रायश्चितोंका आगममें वर्णन न किया जाता। प्रायश्चितसे शुद्ध होनेपर भी यदि वारम्बार मोहके कारण वो ही वो अनाचरणको शासन उड्डाहनासे निरपेक्ष होकर सेवन करते रहकर अनन्तकालचक्रतक बोधिबीजका दुर्लभपना प्राप्त करना इससे तो श्रावकपन या संवेगपिक्षपन स्वीकार करना ही आत्माको नितान्त हितकारी है; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इस सम्बन्धमें विचारहीन न होकर, तथा इसी-प्रकार स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति न कर उस समय तो गीतार्थका ही शरण लेना चाहिये कि जिससे आत्महित हो सके। वरना उपदेश तो सूरिमहाराजने खास ऊंच मार्गकी ओर चढ़ानेके लिये ही किया है। यहां किसीपर खास आक्षेप करने, किसीको नीचे गिराने, या किसीकी निन्दा करनेके लिये नहीं किया गया है; परन्तु मार्गमें आगे बढ़ सके या ऊपरको न बढ़ा जावे तो उससे निचे वो न उतरे यह मध्यबिन्दु रखकर ही प्रयास किया गया

है। विषयकषायके त्यागकी प्रतिज्ञा करके भी कितने ही मोले मुनि थोड़ेसे ममत्वके लिये महान लाभसे हाथ धो बैठते हैं अथवा प्रमादी बनकर लोगोंको सन्मार्गके उपदेश करनेके अपने कर्त्तव्यको भूल जाते हैं, उनपर आक्षेपद्वारा प्राचीन पद्धतिके अनुसार उनको उपदेश किया गया है।

अलबत्त, जो संयमको अनुपयोगी बड़े परिग्रहको साथमें रखते हैं और जो संसारके विषयोंमें आसक्त रहते हैं उनके लिये तो यहां स्थान भी नहीं है। they have no 'locus standi' here यह समझमें भी नहीं आता कि वे यति, श्रीपूज्य या त्यागी क्योंकर पुकारे जाते हैं। धर्मके नामपर आजीविका चलानेवाले, भाविक भक्तोंको धोखा देनेवाले, शास्त्रका दुरुपयोग कर मंत्र, डोरा या ढोंग कर लोगोंमें अपनी झूठी महिमा फैलानेवाले, सुस्त, प्रमादी, भावक लोगोंपर भाररूप, अधोगतिगामी, नाममात्रके महात्मा जब इस विषयपर वास्तवमें हितबुद्धिसे विचार करेंगे तब उनकी तथा उनके आश्रितोंकी स्थिति सुधर सकेगी; अन्यथा कदापि नहीं।

लोकरंजन और स्तुति इच्छा निमित्त पहिले विवेचन हो चुका है फिर भी यह विषय बहुत आवश्यक होनेसे उसपर फिर अधिक विवेचन किया गया है।

तेरे किस गुणके लिये तू ख्यातिकी अभिलाषा करता है?

न कापि सिद्धिर्न च तेऽतिशायि,
मुने! क्रियायोगतपःश्रुतादि।
तथाप्यहङ्कारकदर्थितस्त्वं,
ख्यातीच्छया ताम्यसि धिङ्मुधा किम्॥१७॥

" हे मुनि ! तेरे पास न तो कोई सिद्धि है, न ऊंची प्रकारकी कोई क्रिया, योग, तपस्या या ज्ञान; फिर भी अहंकारसे कदर्थना प्राप्तकर प्रसिद्धि प्राप्त करनेकी अभिलाषासे हे अधम ! तू क्यों व्यर्थ परिताप करता है ? " उपजाति.

विवेचन—अणिमा सिद्धि आदि आठ सिद्धियें तेरेमें हों अथवा उग्र श्रेणिकी आतापना लेने योग्य या घोर परिषह उपसर्गादि सहने योग्य क्रिया तेरे पास हो अथवा योगवहनें तथा

---

१ आठ सिद्धियें निम्नस्थ हैं—

१ अणिमा सिद्धि—इससे शरीर इतना सूक्ष्म किया जा सकता है कि जिसप्रकार सुईके छिद्रमेंसे धोरा निकलता है उसीप्रकार उतनीसे स्थानमेंसे स्वयं निकल सकता है ।

२ महिमा सिद्धि—अणिमा सिद्धिके विपरीत । इतना विशाल रूप बना सके कि मेरुपर्वत भी उसके शरीरके सामने जानु परिमाण प्रतीत हो ।

३ लघिमा सिद्धि—पवनसे अधिक हल्का (वजनमें) हो जाना ।

४ गरिमा सिद्धि—वज्रसे भी अत्यन्त भारी हो जाना इतना अधिक भारी हो जाना कि इन्द्रादिक देवता भी सहन न कर सकें ।

५ प्राप्ति शक्ति—शरीरकी इतनी ऊंचाई कर सके कि पृथ्वीपर होनेपर भी अंगुलीके अग्रभागसे मेरुपर्वतकी चोटी (चूलिका और ग्रहादिक) का स्पर्श कर सके (वैक्रिय शरीरसे नहीं) ।

६ प्राकाम्यशक्ति—पानीमें प्रवेश कर जमीनमें डुबकी लगा सके और जमीनमें प्रवेश कर पानीमें चल सके ।

७ ईशित्व.—चक्रवर्ती और इन्द्रकी ऋद्धि प्रगट करनेमें शक्तिमान हो।

८ वशित्व.—सिंहादि क्रूर जन्तु भी वशीभूत हो जाय ।

१ योगवहन—सूत्र साधुसे पढ़े जा सकें, अमुक वरसकी दीक्षापर्याय के पश्चात् पढ़ सके और योगवहनकी क्रिया किये पश्चात् पढ़ सके । ये तीनों बातें अत्यन्त उपयोगी हैं परन्तु इसके हेतुके सम्बन्धमें विशेष विवेचन करनेका यहां स्थान नहीं है; परन्तु शास्त्रके उपयोगी रहस्यपर यह हकिकत अवलम्बित है । श्रावक आरम्भमें रक्त हो वहाँ रहस्यकी बात जाननेमें आनेसे अपवाद हो जाता है, साधु भी अमुक दीक्षापर्यायके पश्चात् ही अपवादमार्गको ग्रहण कर सकता है, कारण कि संयममें अमुक समय तक रमणतासे और

योगचूर्णादि¹ तुझे प्राप्त हो गये हों या घोर तपस्या—मासक्षमणादि तूने किये हों अथवा सूत्रसिद्धान्तके रहस्यको जानने योग्य या विपाकका गीतार्थ योग्य ज्ञान तूने प्राप्तकर लिया हो और फिर यदि प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता हो तो कुछ अंशमें उचित है, (यद्यपि ऐसे विद्वान या तपस्यावान कभी भी मान नहीं करते हैं), परन्तु तू उनमेंसे क्या देखकर अभिमान करता है ? तेरेमें ऐसा कौनसा असाधारण गुण है कि तू प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी अभिलाषासे कदर्थना प्राप्त कर उसके न मिलनेसे संतप्त रहा करता है। अरे साधु ! गुण तो कस्तूरीके समान है, कि वह जिसके पास होती है वहाँ अपने आप महक उठती है, अतएव स्वयं महकना छोड़ दे और अपने कर्तव्यको पूरा करनेका प्रयास कर। यदि तेरेमें योग्यता होगी तो तेरी ख्याति निःसन्देह अपने आप सर्वत्र फैल जायगी।

योगवहन करनेमें मन-वचन-कायपर योग्य अंकुश रखना योगवहनका सामान्य हेतु है।

योगवहनकी क्रियामें अमुक विधि और तपस्या करनेके पश्चात् पाठ पढ़नेका आदेश मिलता है, उसको उद्देश कहा जाता है। इससे अधिक योग्यता होनेपर गुरुमहाराज उस पाठका पुनरावर्तन करने और स्थिर करने तथा उस विषयमें शंका समाधान आदि बातचीत करनेकी आज्ञा देते हैं यह समुद्देश। इससे भी अधिक योग्यता होनेपर उन्हीं पाठोंको पढ़ानेकी, सुनानेकी और उसका चाहे जिस प्रकार उपयोग करनेकी आज्ञा देते हैं वह अनुज्ञा कहलाती है—ये तीनों बातें ध्यानमें रखने योग्य हैं।

१ योगचूर्ण—पुद्गलकी अनन्त शक्ति है। दो वस्तुओंके संयोगसे अथवा बहुतसी वस्तुओंके संयोगसे इसप्रकारके चूर्ण बना दे जा सकते हैं कि जिससे अनेकों चमत्कार बतलाये जा सकते हैं। दृष्टान्तके रूपमें इस चूर्णके पानीमें डालनेसे मछलियोंकी उत्पत्ति होती है, सिंहका रूप धारण करे, जल मार्ग दे दे आदि आदि अनेकों आश्चर्ययुक्त घटनायें हो सकती हैं। पुद्गलमें अनन्यशक्ति है यह बात विज्ञानशास्त्र (Chemistry)के अभ्यासीको समझमें शीघ्रतया आ सकती है।

निर्गुणी होनेपर भी स्तुतिकी अभिलाषा रक्खे उसका फल.

हीनोऽप्यरे भाग्यगुणैर्मुधात्मन्¹,
वाञ्छंस्तवार्चाद्यनवाप्नुवंश्च ।
ईर्ष्यन् परेभ्यो लभसेऽतिताप-
मिहापि याता कुगतिं परत्र ॥ १८ ॥

" हे आत्मा ! तू निष्पुण्यक है फिर भी पूजा-स्तुतिकी अभिलाषा रखता है और उसके प्राप्त न होनेपर दूसरोंसे द्वेष करता है (जिससे) यहां भी अत्यन्त दुखोंको सहन करता है और परभवमें कुगतिको प्राप्त करता है । " उपजाति.

विवेचन—तू भाग्यहीन है, परभवमें तू ने दान आदि नहीं दिये तिसपर भी इस भवमें ख्याति प्राप्त करनेका इच्छुक है और नहीं मिलने पर दुःखी होता है; परन्तु हे भाई ! यह तेरी बड़ी भारी भूल है । किसी भी वस्तुप्राप्तिकी इच्छा रखनेसे पहिले उसके योग्य बननेकी आवश्यकता है । (First deserve and then desire) यदि प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो तो गुणवान बन, अभ्यासकर और अपना कर्तव्य पूरा कर । स्तुति ऐसी वस्तु है कि जो इसके इच्छुक होते हैं उनसे यह दूर भागती है, परन्तु जो इसको लात मारते है तथा इसके मिलनेके कारणोंको प्राप्त करते हैं उनके पास यह स्वयं आ जाती है । तात्पर्य्य यह है

---

१ आत्माकी अचिन्त्य शक्ति और निर्लेपपनका स्मरण कराकर अपने स्वस्वभावमें रमणता करनेके लिये प्रतिनायकका उद्देशकर यह सम्बोधन किया गया है ।

अथवा प्रतिनायकको स्वयंको उद्देशाकर सम्पूर्ण ग्रन्थका अध्ययन या मनन करता हो तो उसके शुद्ध स्वरूपको उद्देशकर अपने आत्माको इस प्रकार समझा सके इसलिये यह सम्बोधन किया गया है ।

कि स्तुतिकी इच्छा करनेकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु गुण प्रगट करनेके लिये प्रयास करनेकी आवश्यकता है।

तू कौन है ? ध्यानपूर्वक विचारकर देखे तो तू एक व्यवहारिक जीव है, अनन्त जीवसमुदायोंमेंसे एक समुदायका एक जीव है, तो फिर स्तुति कैसी ? कितने समयके लिये ? कौन याद रक्खेगा ? अपितु दूसरी प्रकार देखा जावे तो तू साधु है, वीर परमात्माका श्रेष्ठ पुत्र है, उनका शासन तेरे पर है। क्या वीर परमात्मा कभी स्तुतिकी अभिलाषा करते थे ? क्या इन्द्रके महोत्सवसे या दशार्णभद्रके सामैयासे उनके मनपर कुछ असर हुआ था ? तेरे पूर्वज–तेरे उपकारीके बताये मार्गपर चल, योग्य बन और ऐसे उत्तम प्रसंगो जो तुझे प्राप्त हुए हैं उसका सदुपयोग कर।

तदुपरान्त भी यदि तू स्तुतिकी अभिलाषा करेगा तो उससे तुझे क्या लाभ होगा ? बिना गुण तेरी स्तुति कौन करेगा ? यदि नहीं करेगा तो तुझे दुःख होगा। स्तुति कराने निमित्त जो तुझे व्यर्थ प्रयास करना पड़ेगा वह भी लाभमें रहेगा।

शेष तो अत्र संताप और परत्र दुर्गतिका कारण होगा। अतएव First deserve and then desire पहले योग्य बन और फिर इच्छा कर।

गुण बिना स्तुतिकी इच्छा करनेवालेका ऋण.

गुणैर्विहीनोऽपि जनानतिस्तुति–
प्रतिग्रहान् यन्मुदितः प्रतीच्छसि ।
लुलायगोऽश्वोष्ट्रखरादिजन्मभि–
र्विना ततस्ते भविता न निष्क्रय. ॥१९॥

" तू गुणहीन है फिर भी लोगोंसे वन्दन, स्तुति, आहारपानीके ग्रहण आदिको खुशी होकर प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है, परन्तु याद रखना कि पाड़े, गाय, घोड़े, ऊंट या गधे आदिका जन्म लिये बिना तेरा उस कर्जसे छुटकारा पाना असम्भव है।" वंशस्थ.

विवेचन—कर्जको बराबर तौलकर चुकाना होगा, लेन-देन मिलाना पड़ेगा और बराबर पूरा २ हिसाब करना होगा। तू यह स्वप्नमें भी ख्याल न करना कि लोग तेरेको वन्दना करते हैं, पूजते हैं, भोजन प्रदान करनेको रास्ता रोककर अपने गृह ले जाते हैं वे सब तुझे मुफ्त पच जायगा। यदि तू यहाँ पर तेरे कर्त्तव्यको पूरा करेगा तब तो तू उन सबके ग्रहण करनेका अधिकारी है, नहीं तो आनेवाले भवमें बैल या पाड़ा बनकर भार ढोढो कर कर्जको अदा करना होगा, अथवा गधा या घोड़ा होकर भार खींचना पड़ेगा, भड़ुचके पाड़ा बनकर कर्ज चुकाना पड़ेगा या बग्गीका घोड़ा बनकर कष्ट सहकर सामान ढोना पड़ेगा। अतएव बिना गुणके स्तुतिकी अभिलाषा न रख-कर गुणके लिये प्रयास कर। पाड़ेके पिछे पूंछ स्वतः चली आती है इसीप्रकार गुणके पीछे स्तुति तो स्वतः चली आयगी।

गुण बिना वन्दन पूजनका फल.

गुणेषु नोद्यच्छसि चेन्मुने ! ततः,
प्रगीयसे यैरपि वन्द्यसेऽर्च्यसे।
जुगुप्सितां प्रेत्य गतिं गतोऽपि तै,
र्हसिष्यसे चाभिभविष्यसेऽपि वा ॥२०॥

" हे मुनि ! यदि तू गुण प्राप्त करनेका यत्न न करेगा तो वे ही पुरुष जो तेरे गुणोंकी स्तुति करते हैं, तुझे

वन्दना करते हैं और पूजा करते हैं जब तू कुगतिको प्राप्त होगा तो तेरी हँसी उड़ायेगें—तेरा पराभव करेंगें ।”

वशस्थविल

विवेचन—गुणगान, वंदन, पूजन आदि इन सब गुणोंके होनेपर ही शोभा देते हों इतना ही नहीं अपितु परभवमें भी महादुःख देते हैं । कृतकर्म तो भोगने ही पड़ते हैं । यहाँ तो बाह्य दम कर सकते हैं परन्तु परभवमें जब इनका फल भोगना पड़ेगा तब बड़ी मुश्किल मिलेगी क्योंकि वहांपर किसी भी प्रकारका दंभ काम न देगा ।

गुण बिना वदन पूजन-हितनाशक.

दानमाननुतिवन्दनापरै-
मोदसे निकृतिरञ्जितैर्जनैः ।
न त्ववैषि सुकृतस्य चेल्लव.,
कोऽपि सोऽपि तव लुंट्यते हि तैः ॥२१॥

" तेरी कपटमालसे प्रसन्न होकर मनुष्य तुझे दान देते हैं, नमस्कार करते हैं या वन्दना करते हैं उस समय तू प्रसन्न होता है; परन्तु तू यह नहीं जानता है कि तेरे पास जो एक लेशमात्र सुकृत्य है उसे भी वे लूटकर ले जाते हैं ।”

रथोद्धता

विवेचन—वाग्जाल, झूठे उपदेश और आडम्बरद्वारा तू कपटजाल फैलाता है, इस जालमें अज्ञान पक्षियोंके समान पुरुष मूर्खसे फँस जाते हैं और तेरेको दान, मान आदि भक्ष्य पदार्थ भेंट करते हैं तब तू बहुत प्रसन्न होता है, परन्तु हे मूर्ख ! तेरेमें जो कुछ लेशमात्र पुण्यका अंश होता है उसे भी तू खो देता है, महान पाप उपार्जन करता है क्या इसका भी तुझे भान है ?

तू विचारता है कि अच्छा पक्षी हाथ लगा है, परन्तु पक्षी तो निर्दोष है, शुभ इच्छासे आया है अतएव वह तो जब मौका मिलेगा तभी चला जायगा, परन्तु जब जायगा तब तुझे बहुत कष्ट होगा और तेरी पक्षी पकड़नेकी साधनशक्ति है वह भी उसीके साथ ही साथ चली जायगी। इसप्रकार तुझे लाभके स्थानमें हानि विशेष होती है इसका विचार कर। इसके उपरान्त बाह्य ढोंग बनाये रखनेके लिये तुझे यहां जो जो युक्तियें रचनी पड़ती हैं वह तो एक ओर ही बात है।

स्तवनका रहस्य-गुणार्जन.

भवेद् गुणी मुग्धकृतैर्न हि स्तवै-
र्न ख्यातिदानार्चनवन्दनादिभिः।
विना गुणान्नो भवदुःखसंक्षय-
स्ततो गुणानर्जय किं स्तवादिभिः? ॥२२॥

" भोले जीवोंसे स्तुति किये जानेपर कोई पुरुष गुणवान नहीं हो सकता है, इसीप्रकार प्रतिष्ठा पानेसे तथा दान, अर्चन और पूजन किये जानेसे कोई पुरुष गुणवान नहीं हो सकता है और बिना गुणके संसारके दुखोंका अन्त नहीं हो सकता है, अतएव हे भाई! गुण उपार्जन कर। इस स्तुति आदिसे क्या लाभ है?" वंशस्थ और इन्द्रवंशा (उपजाति)

विवेचन—यह कईवार बताया गया है कि सर्व प्राणियोंकी अभिलाषा दुःखके नाश करने और सुखके प्राप्त करनेकी होती है[1]। जिस सुखके अन्तमें दुःख मिले उस सुखको शुद्ध सुख नहीं कहते हैं। अव्याबाध सुख तो मोक्ष प्राप्त होनेपर ही प्राप्त हो सकता है, अतएव मोक्ष प्राप्त करने निमित्त असाधारण गुण

---

१ हृदयप्रदीप षट्त्रिंशिका—श्लोक १६ वा पढ़ें।

प्रसन्न करने चाहिये । इससे ज्ञात होता है कि इस जीवनकी सफलताके लिये गुण प्राप्त करनेकी विशेष आवश्यकता है ।

कितने ही जीव भोले जीवोंसे स्तुति किये जाने पर प्रसन्न होते हैं " महाराज ! आप तो शान्त रसके समुद्र हैं और कृपा-सिन्धु हैं " आदि आदि श्रवण करके सोचते हैं कि मैं भी कुछ हूँ, परन्तु ऐसा विचार करनेसे वह गुणवान् नहीं हो सकता है कि जिसमें गुण हों, अत गुण प्राप्त करनेका प्रयास कर । वन्दन-नमस्कार मीठे लगते हैं, अच्छे लगते हैं, परन्तु वे परि-णाममें खराब है, फँसानेवाले हैं और तेरे जीवनको निष्फल बनानेवाले हैं । क्रोधपर जय, ब्रह्मचर्य, मानमायाका त्याग, निस्पृहता, न्यायवृत्ति और शुद्ध व्यवहार आदि गुणोंको एकत्र कर और फिर इनकी सुगन्धिको चारों और प्रसार कर ।

गुणयुक्त व्यवहार होने पर तेरे मनमें जो अपूर्व आनंद होगा वह अवर्णित है । इस जन्मको सार्थक बनानेका यह एक मुख्य तथा कभी भी निष्फल न होनेवाला मार्ग है ।

भवान्तरका विचार-लोकरंजन पर प्रभाव.

अध्येषि शास्त्रं सदसद्विचित्रा-
लापादिभिस्ताम्यसि वा समायैः ।
येषां जनानामिह रञ्जनाय,
भवान्तरे ते क्व मुने ! क्व च त्वम् ॥२३॥

" जिन मनुष्योंका मनरंजन करनेके लिये तू अच्छे और बुरे अनेक प्रकारके शास्त्रोंका स्वाध्याय करता है और मायापूर्वक विचित्र प्रकारके आपवादोंसे (कष्टलापादि) खेद सहन करता है वे भवान्तरमें कहा जायेंगे और तू कहां जायगा ? " उपजाति.

विवेचन—यदि तू यह मानता हो कि मैं तो सब जन-रञ्जनके लिये ही करता हूँ और सभारञ्जनके लिये व्याख्यान देता हूँ अथवा कोकशास्त्र, कामशास्त्र आदिका स्वाध्याय करता हूँ अथवा मायायुत व्यवहार और वचनरचना रखता हूँ तो तुझे कहना है कि हे भाई ! ऐसा लोकरंजन कितने समय तक चलने-वाला है ? यहां पांच पचास पुरुष यदि तेरी स्तुति करते हो तो उसमें क्या हो गया है ? सौ वर्ष पश्चात् तू कहाँ जायगा और वे कहां जायेंगे ? अपितु तेरी मृत्युके पश्चात् लोगोंकी तेरे प्रति क्या धारणा होगी क्या तू उसको सुन सकेगा ? अतएव इस सब बाह्य व्यवहारका परित्याग करदे, सच्चे लाभके लिये प्रयास कर और विशेषतया मन, वचन और कायाके व्यापारको एक समान रखनेका प्रयास कर। यदि इसप्रकार करेगा तो बहुत लाभ होगा। अन्यथा थोड़ासा विचार तो कर कि जनरञ्जनसे क्या लाभ है ? तुझे क्षणिक सुखका भी सच्चा भान नहीं है। तू बिना सोचे–समझे दौड़ता रहता है। विचार, जाग्रत हो।

××× १७–२३ इन सात श्लोकोंमे लोकसत्कार और लोक-रञ्जनका वर्णन किया गया है। मनुष्यके मनोविकारोंको देखते हुए यह बहुत निर्बल मनोविकार है और थोड़ासा वास्तविक विचार किया जाय तो इस मनोविकारकी कमजोरी शिघ्र ही दृष्टि-गोचर हो सकती है। वास्तविक रूपसे लोकसत्कार या वन्दन पूजामें कुछ दम (सार) नहीं है, परन्तु यह जीव ऐसी विभाव-दशाको प्राप्त हो गया है कि यदि कोई मनुष्य इसकी प्रशंसा करने लगे तो उसको सुनकर—जानकर बहुत प्रसन्न होता है। उसमें वास्तवमें देखा जाय तो झूठा मान होता है किन्तु फिर भी यह जीव उसका विचार नहीं करता है। छोटी छोटी बातोंमें ही बादशाह बन जाता है और यदि कभी कोई उत्तम काम कर

देता है तो हृदयमें यह विचारने लगता है कि सब आदमी मेरे इस कार्य्यको क्यों कर माने और मेरी इस कार्य्यके लिये सराहना करें । इसप्रकार यह जीव कोई ऐसा कार्य्य नहीं करता है कि जिससे अपना हित हो या यदि कुछ करता है तो उसको भी यों जानता है इस लिये उसको कुछ लाभ नहीं हो सकता है, वह तो एक मानरूप हाथीपर चढ़ कर संसारको मन्द स्थितिवाला समझता है। संसारी जीव भी बहुधा अभिमानी होते हैं इससे यह बेचारा बारम्बार गिर जाता है, फिर उठता है और इस प्रकार बार-बार गिरता उठता अपने जीवनको पूरा कर लेता है।

हे साधु ! तू एक बातका अवश्य विचार कर। तुझे इस समय कितने पुरुष परिचित हैं ? सामान्य पुरुष प्रायः दो हजार पुरुषों से अधिकसे परिचित नहीं होता है। अब इस समयकी जीवित पृथ्वीपर एक अरब और साठ करोड़के करीब पुरुष हैं, उनमेंसे यदि दो हजार पुरुष तेरा आदरसत्कार करे या न करे इसमें क्या दम (सार) है ? तू कौन है ? तू गुणचन्द्र है ? भूल गया। गुणचन्द्र तो इस शरीरको आत्माके सम्बन्धके लिये कहा गया है। तुझे यहाँ कितने समय तक रहना है ? गुणचन्द्र रूपसे यदि तुझे मान मिलेगा तो वह कितने समय तकका है ? फिर तू कहाँ जायगा ? तेरे गुणचन्द्र नामकी प्रतिष्ठा और तेरेमें क्या सम्बन्ध होगा ? इस दृष्टिसे विचार करेगा तो ज्ञान पड़ेगा कि वन्दन, पूजन या लोकसत्कारमें कुछ दम जैसा नहीं है। तो फिर दम किसमें है ? गुणमें—योग्यतामें—कर्तव्यपालनमें है। इस गुणप्राप्तिके प्रयासमें आनन्द है, क्योंकि वृत्ति शांत है, गुणप्राप्तिमें तो अद्भुत आनन्द है और उसके अनुभवमें तो वर्तमान तथा भविष्यमें भी आनन्द है। इसके साथ ही साथ लोकसत्कारके लिये प्रयास, निष्फलता, लोगोंका अभिमान इन

सबका मुकाबला करनेसे जान पड़ता है कि हमारा कर्त्तव्य तो गुण उपार्जन करनेका है, लोकरञ्जन होता है या नहीं इसके जाननेका हमारा काम नहीं है। फलकी इच्छा न रखनी चाहिये। अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिये। गुणकी प्रशंसा तो बहुधा अपनेआप हो जाती है, यदि किसी समय शीघ्रता न हो, प्रशंसा होनेमें देर लगे तो उसके लिये अधीर न होकर धैर्य रक्खे।

यह बहुत आवश्यक बात है जो थोड़ासा विचार करनेसे अपनेआप स्पष्ट हो जाती है, फिर भी बड़े बड़े बुद्धिशाली पुरुष इसमें भूल करते हैं। मनुष्योंके विचारसे किसी कार्य्यमें सहसा संलग्न हो जाना या बाह्यदृष्टिसे उत्तेजित हो जाना अनजानका काम है। हे यति! तेरा प्रयास तो बाह्यात्मा छोड़कर अन्तरात्मभावमें लीन हो परमात्मभाव प्रकट करनेका होना चाहिये, तो फिर तू अभीतक ऐसी बाह्यात्मदशामें क्यों विचरता है? तेरेमें यदि गुण हों तो भी लोकसत्कारकी इच्छा न रखनी चाहिये और यदि गुण न हो तो तू लोकसत्कारकी इच्छा रखनेका अधिकारी भी नहीं है।

परिग्रहत्याग.

परिग्रहं चेद्व्यजहा गृहादे-
स्तत्किं नु धर्मोपकृतिच्छलात्तम्[1]।
करोषि शय्योपधिपुस्तकादे-
र्गरोऽपि नामान्तरतोऽपि हन्ता ॥ २४ ॥

"घर आदि परिग्रहको तूने छोड़ दिये हैं तो फिर धर्मके उपकरणके बहानेसे शय्या, उपधि, पुस्तक आदिका

१ स्वमिति वा पाठः।

परिग्रह क्यों करता है ? विषको नामान्तर करनेपर भी वह मारनेवाला है।"
उपजाति

विवेचन—धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि सब सांसारिक परिग्रहोंका हे मुनि ! तूने त्याग कर दिया है। तूने महान् कष्ट सहन कर इन पैसे और घर महल आदि परके मोहका परित्याग कर दिया है। इस रीतिसे तू संसारसमुद्र तैर जानेकी श्रेणीमें आया है, तो फिर अब तेरे पास जो शय्या, पुस्तक या अन्य उपकरण हैं उनका व्यर्थ परिग्रह क्यों करता है? इस वस्तुके ममत्वरूप परिग्रहका भी त्याग कर दे।

इस प्रसंगपर परिग्रह क्या है और परिग्रह किसको कहते हैं? इनका जानलेना अत्यावश्यक है। उपकरण छोड़ देने या पुस्तकोंके त्याग करनेका यहां प्रयोजन नहीं है। परिग्रहका अर्थ ममत्व है 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' एक वस्तुपर मेरेपनका विचार हो—ममत्व हो—उसके छोड़नेमें खेद हो—इसे परिग्रह कहते हैं। इसप्रकारका ममत्व किसी वस्तुपर न रखना चाहिये। धर्मके उपकरणके नामपर भी सांसारिक राग साधुमें किसी समय हो जाता है। इसे मनुष्य स्वभावकी कमजोरी कहिये या पंचमकालका प्रभाव कहिये या विभावदशाको स्वभावदशामें पलटनेकी स्थितिका आविर्भाव कहो, चाहे जो क्यों न कहो परन्तु यह स्थूल परिग्रह भी सर्वथा त्याज्य है। जो वस्तु धार्मिक क्रियामें साधनरूप हैं वे उतने ही अंशमें रखने योग्य हैं, परन्तु उनपर मेरेपनकी बुद्धि या इसके अधिकारी नियत करनेकी निजकी सत्ता या इसी प्रकारकी कोई दूसरी खटपट सर्वथा त्याज्य है। इस विषयमें यदि किसी प्रकारका अपवाद हो तो वह गुणनिष्पन्न गीतार्थ अधिपतिके लिये है, जिसके विषयमें यहां कुछ भी उल्लेख नहीं किया गया है। इन छ श्लोकोंमें इस

निमित्तके ही वस्त्रपात्रादि रखना तो अत्याचार ही है, और बहुधा संसारकी वृद्धि करनेवाले हैं; यहां तो सबपरसे ममत्व-बुद्धिके परित्याग करनेका उपदेश किया गया है।

धर्मोपकरणपर मूर्च्छा रखना भी परिग्रह है.

येंऽहः कषायकलिकर्मनिबन्धभाजनं,
स्युः पुस्तकादिभिरपीहितधर्मसाधनैः।
तेषां रसायनवरैरपि सर्पदामयै-
रार्त्तात्मनां गदहतेः सुखकृत्तु किं भवेत्? ॥२६॥

"जिसके द्वारा धर्मसाधनकी अभिलाषा हो ऐसे पुस्तकादिके द्वारा भी यदि जो प्राणी पाप, कषाय, कंकास और कर्मबन्ध करते हैं तो फिर उनके सुखका क्या प्राप्ति-साधन हो सकता है? जिस प्राणीकी व्याधि उत्तम प्रकारके रसायन प्रयोगसे भी यदि अधिक बढ़ने लगे तो फिर वह व्याधि किस साधनसे मिट सकती है?" मृदंग[1].

विवेचन—पुस्तक प्रभुके वचनोंका संग्रह है और वह इस कालमें संसार तैरनेका मुख्य साधन है; तिसपर भी कितने ही मुग्ध प्राणियोंके लिये वे भी कर्मबन्धनका कारण होती है। आवश्यकतासे अधिक संग्रह करने और बराबर संभाल न रखनेसे जीवोत्पत्ति होकर उसका नाश हो जाता है अथवा पुस्तक लेनेवालेके प्रति कषायके भाव जाग्रत हो जाते हैं। इसीप्रकार कंकास भी हो जाता है। जैसे पुस्तकके लिये उसीप्रकार अन्य धार्मिक उपकरणोंके विषयमें भी समझलें। अब ऐसे उपकरणों जो संसारनाशके परम साधन हैं यदि उनसे ही संसारकी वृद्धि

---

१ मृदगमें १५ अक्षर होते हैं त. भ. ज. ज. र. त्मौ जौ रो मृदगः – – ⏑ – ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – छंदोनुशासन.

कि जाय तो फिर क्या उपाय किया जाय ? जिस रसायनसे सब प्रकारकी व्याधियोंका नाश हो सकता हो यदि उससे ही व्याधिकी वृद्धि हो तो फिर सुखका अन्य क्या साधन हो सकता है ? अतएव धर्मके उपकरण पर भी ममत्व बुद्धि नहीं रखना चाहिये । उसके लिये अपने आत्माको कष्ट न पहुंचाना तथा किसी पर कपाय न करना चाहिये ।

इसपर कुछ विचार करनेकी आवश्यकता है । इस विषयमें यह ध्यान रखना चाहिये कि एक मात्र ममत्व निमित्त की हुई धारणा शिघ्र ही नष्ट हो जाती है और संसारवृद्धि होती है । इस विषयमें कर्त्ता और अधिक स्पष्ट उपदेश करते हैं जिसपर पाठकोंको मनन करना चाहिये ।

धर्मोपकरणपर मूर्च्छा—उसके दोष

रक्षार्थं खलु संयमस्य गदिता
येऽर्था यतीनां जिनै—
र्वासः पुस्तकपात्रकप्रभृतयो
धर्मोपकृत्यात्मकाः ।
मूर्छन्मोहवशात्त एव कुधियां
संसारपाताय धिक्,
स्वं स्वस्यैव वधाय शस्त्रमधिया
यद्दुष्प्रयुक्तं भवेत् ॥ २७ ॥

" वस्त्र, पुस्तक और पात्र आदि धर्मोपकरणके पदार्थ श्रीतीर्थंकर भगवानने संयमकी रक्षा निमित्त यतियोंको बताये हैं परन्तु जो मन्दबुद्धि मूढ जीव अधिक मोहके वशीभूत हो

कर उनको संसारवृद्धिके कारण बनाते हैं उनको बारम्बार धिक्कार है। मूर्ख पुरुषद्वारा अकुशलतासे काममें लाया हुआ शस्त्र (हथियार) उनके खुदके ही नाशका कारण होता है।"

शार्दूलविक्रीडित.

विवेचन—यह उपदेश अधिक स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। मूर्छा ही परिग्रह है यदि ऐसा सोच लिया जाय तो फिर इस विषयमें और अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। सत्य बात तो यह है कि यह जीव यह नहीं जानता है कि सुख पदार्थ-प्राप्तिमें नहीं है किन्तु संतोषमें है। सर्वांशमें इस हकीकतकी सत्यताको देखते हुए साधुका व्यवहार ऊपरके श्लोकमें जैसा लिखा गया है उसके तद्दन विपरित ही होता है। यहाँ तो भगवानने दीर्घविचार कर रखनेकी आज्ञा प्रधान की हुई उपधि–पात्रां या पुस्तकादि वस्तुको रखनेका उद्देश संयमप्रवृत्तिका ही है; परन्तु वह उसी ममतासे संसारकी वृद्धि करता है, उसमें फँसता है और फिर ऊपर कभी नहीं उठने पाता है। शस्त्रसे दूसरोंको डराया जाता है, हराया जाता है और प्राण भी लिये जाते हैं; परन्तु बन्दुकका उचित उपयोग करना न जाननेवाले यदि बारुद भरकर यदि अपनी ही ओरको निशान लगावे तो तो उससे अपने जीवनसे भी हाथ धो बैठते हैं, इसीप्रकार संसारको नाश करनेके प्रबल साधनरूप धर्मोपकरण पर मूर्च्छा रक्खी जाय तो उससे बहुधा यतिजीवनका ही नाश होता है।

हे मुनि! अनुभवीद्वारा ऊपर लिखित शब्दोंपर बराबर मनन और निदिध्यासन कर। इन चमत्कारी चार लकीरोंमें बहुत ही उत्तम शिक्षाका समावेश किया गया है। बुद्धिमान प्राणियोंके लिये और अधिक कहनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

धर्मोपकरणका भार वहन करानेके दोष.

संयमोपकरणच्छलात्परान्-
भारयन् यदसि पुस्तकादिभि ।
गोखरोष्ट्रमहिषादिरूपभृत्-
तश्चिरं स्वमपि भारयिष्यसे ॥ २८ ॥

"संयम उपकरणके बहानेसे दूसरोंपर तू पुस्तक आदि वस्तुओंका भार डालता है; परन्तु वे गाय, गधा, ऊँट, पाडा आदिके रूपमें तेरे पाससे अनन्तकालपर्यन्त भार वहन करावेंगे।" रथोद्धता

विवेचन—उपकरणके बहानेसे तू दूसरोंपर अनेक प्रकारका भार डालता है, पैसे खर्च करनेका भार, पुस्तक लिखनेवालेके वहां चक्कर लगानेका भार, वस्तुयें तैयार करनेका भार, भार बढ़जाने पर विहारके समय उसको ढोनेका भार, और ऐसे ही अनेक प्रकारके भार तू दूसरोंपर डालता है, और उनके लिये संयमके उपकरणका बहाना ढूंढकर निकालता है। यदि उन वस्तुओंको तू संयमके उपकरणरूपसे ही उपयोगमें लेता होगा, और वे भी तेरे उपयोगसे अधिक न होंगे तो समझना चाहिये कि कदाच ऐसा करनेमें कुछ आपत्ति नहीं है, परन्तु यदि तू उनपर ममत्व रखता हो, मूर्च्छा रखता हो, तो तेरे पर बहुत बुरी बितेगी। मद्रासके पाडा, या बंगालके घोडा, या मारवाडके रेगिस्तानका ऊँट बनकर भार खेंच खेंचकर तुझे बहुत कष्ट भोगना होगा और तब कहीं इसप्रकार तेरा ऋण चुकाना होगा।

संयम और उपकरणकी शोभाकी स्पर्धा

वस्त्रपात्रतनुपुस्तकादिनः,
शोभया न खलु संयमस्य सा ।

आदिमा च ददते भवं परा,
मुक्तिमाश्रय तदिच्छयैकिकाम् ॥२९॥

"वस्त्र, पात्र, शरीर या पुस्तक आदिकी शोभा करनेसे संयमकी शोभा नहीं हो सकती है। प्रथम प्रकारकी शोभा भववृद्धि करती है और दूसरे प्रकारकी शोभा मोक्षप्राप्ति कराती है। अतएव इन दोनोंमेंसे किसी एककी–जिसकी की तुझे अभिलाषा हो उसकी–शोभा कर। अथवा उसके लिये तू वस्त्र, पुस्तक आदिकी शोभाका त्याग कर। हे यति! मोक्ष प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखनेवाला तू संयमकी शोभाके लिये यत्न क्यों नहीं करता है[1]?" उपजाति

विवेचन—शोभा दो प्रकारकी है। बाह्य शोभा और आन्तरिक शोभा। संसारवृद्धिके कारण बाह्य शोभाका परित्याग कर, परिग्रह, ममता आदिका त्याग कर, आन्तरिक शोभाके लिये प्रयास कर। सत्तर प्रकारकी शोभा अथवा चरणसित्तरी और करणसित्तरीकी शोभा करना ही तेरा कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यानमें रखना कि जहां बाह्य शोभा होती है वहाँ अन्तरंग शोभा नहीं होती है, अतः तुझे एकका आश्रय लेना ही युक्त है।

× × २४–२९ इन छ श्लोकोंमें बहुत उपयोगी विषयका समावेश किया गया है। कितने ही व्यवहारी जीवोंका कहना है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्रके साधनको परिग्रह नहीं कहते हैं। सूरिमहाराजका कहना है कि उसका कहना ठीक है किन्तु उसमें कुछ थोड़ासा भेद है। अमुक संयोगोंमें उनको भी परिग्रह कह सकते हैं। यदि संयमके उपकरणोंपर मेरेपनकी

१ अन्तिम दो पद द्व्यक्षर हैं। ता तदत्र परिहाय संयमे, किं यतसे। न यतसे श्रियार्थ्यपि ?।

भावना हो, उनका वियोग कष्टकर प्रतीत हो, इनका उत्तराधिकारी कौन होगा ? इसके निर्णय करनेकी सत्ता अपनेमें होना माना जावे या सार्थरामें करें तो साक्षीभाव उपरान्त स्वामीत्वके किसी भी प्रकारके अधिकार तथा सत्ता रखनेकी अभिलाषा हो, शीघ्र ही वह परिग्रहकी कोटिमें आ जाता है। ये उपकरण साधुपनमें स्थिर करनेकी अभिलाषासे, संयमकी रक्षा करनेकी इच्छासे, और मोहराजापर विजय प्राप्त करनेके लिये शस्त्ररूपसे प्रयोग करनेके इरादेसे रखनेकी आज्ञा है, इसके स्थानमें वे ही जब संसारमें भ्रमण कराने वाले बनजावें तो कितनी भारी हानि होगी ? इसका स्वयं विचार कीजिये। गृह, स्त्री, पैसे आदिका ममत्व छोड़ना बड़ा कठिन है, इन सबका त्याग करके भी फिर एक मात्र पन्ने, पुस्तकपर ममत्व रखना कितनी भारी कमजोरी है ? परन्तु यदि उनपर थोड़ासा विचार किया जाय तो उनका भी त्याग हो सकता है। इसपर पूर्वकालीन महात्माओंके दृष्टान्त लिये जाय तो सब कार्य्य पूरा हो सकेगा और केवल स्वहितनिमित्त अन्तमें हुए पू. आनन्दघनजी और चिदानन्दजीके दृष्टान्तोंका अवलोकन करो मात्रसे भी परिग्रहत्यागका नमूना हृदयपटलपर अंकित होजाता है।

यह तो समझमें भी नहीं आता है कि जो धर्मके नाम पर स्थाने पालकी, या गाड़ी–घोड़े आदि रखते हैं। उनकी भला क्या दशा होगी ? संसारसमुद्रके तट निकट आनेपर भी गर्दनमें पत्थर लटकाकर फिरसे गिरनेवाले ये मूढ़ जीव दश बीस वर्षकी विनश्वर अनियमित सादिबीके लिये अनन्तकाल तक दुःखपहुंचानेवाले संसारकी वृद्धि करते हैं। उनको निम्नस्थ श्लोक पर ध्यान देना चाहिये।

सुखिनो विषयतृप्ता, नेन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्यहो ! ।
भिक्षुरेकः सुखी लोके, ज्ञानतृप्तो निरञ्जनः ॥

इस श्लोकके मननपर संसारके एक महान प्रश्नका आधार है और उसपर विवेचन किया करते समय विचारकी विशेष आवश्यकता है। इसके रहस्यको समझकर तदनुसार संतोष रखनेके लिये यत्न करनेकी बहुत आवश्यकता है, इतना ही नहीं अपितु संसारसमुद्र पार उतरनेका सीधा और सिद्ध उपाय है।

परीषहसहन-संवर.

शीतातपाद्यान्न मनागपीह,
परीषहांश्चेत्क्षमसे विसोढुम् ।
कथं ततो नारकगर्भवास-
दुःखानि सोढासि भवान्तरे त्वम् ? ॥३०॥

"जब कि तू इस भवके थोड़ासा शीत, ताप आदि परीषहोंको भी सहन करनेमें अशक्त है तो फिर भवान्तरमें नारकी तथा गर्भवासके दुखोंको क्योंकर सहन कर सकेगा ?"   उपजाति.

विवेचन—अब भिन्न भिन्न विषयोंपर प्रकीर्ण श्लोकोंमें उपदेश किया जाता है। इसका लक्ष्य मुनीजीवन है और बहुधा एक विषय दूसरे विषयके साथ शृंखलाबद्ध हो ऐसा नहीं होने पर भी इस और आगेके आठ श्लोकोंमें परिसह सहन करनेका मुख्य उपदेश है। हे मुनि! जिसके द्वारा नये कर्मोंके प्रवेश होनेमें बाधा उपस्थित हो उसे शास्त्रकार संवर कहते हैं। विभावदशामें मनोवृति बहुधा विनाशके (अधो) मार्गमें ही गमन करती है, क्योंकि उसपर रागद्वेष आदिका आधिपत्य होता है। इस जीवको प्रतिकूल विषयोंका सामना करना पड़े फिर भी अपने कर्त्तव्य-पर अटल रहना और रागादि शत्रुओंको रोकना संवरका कार्य है और यह विशेषतया परिग्रहोंपर विजय प्राप्त करनेसे ही हो

सकता है। जैन शास्त्रकार ऐसे बाईस परिषह बतलाते हैं, जिन मेंसे कितने ही अनुकूल भी होते हैं। इनका सामान्य स्वरूप इसी अधिकारमें आगे बतलाया गया है। इन परिषहोंके सहन कर लेने पर नवीन कर्मोंकी राशी बन्ध हो (रुक) जाती है और पूर्वोपार्जित प्रबल कर्मोंका क्षय हो जाता है, यह बहुत बड़ा लाभ होता है। हे मुनि ! तेरे जीवनमें यह परीषह–सहन तो बहुत आवश्यक कार्य्य करनेवाला होना चाहिये और स्मरण रखना कि यदि तू उनको यहां प्रसन्नतापूर्वक सहन न करेगा तो कुंभीपाक अथवा गर्भवासके दुःख तो तुझे भोगने ही पड़ेंगे, अपितु यहां तो स्ववश होनेसे केवल मात्र अल्पकाल तक परीषह सहन करने पड़ेंगे तब कि भवान्तरमें इससे नितान्त विपरीत ही दशा होगी।

विनाशी देह–तप जप करना

मुने ! न किं नश्वरमस्वदेह-
मृत्पिण्डमेनं सुतपोव्रताद्यैः ।
निपीड्य भीतिर्भवदुःखराशे-
र्हित्वात्मसात्छैवसुखं करोषि ॥ ३१ ॥

"हे मुनि ! यह शरीररूप मृतपिण्ड नाशवन्त है और अपना नहीं है, तो फिर उसको उत्तम प्रकारके तप और व्रत आदिसे कष्ट पहुंचाकर अनन्त भवोंमें प्राप्त होनेवाले दुःखोंको दूरकर, मोक्षसुखको आत्मसन्मुख क्यों नहीं करता है ?" उपजाति

विवेचन—शरीर उपयोगी है परन्तु कब ? जब कि

१–१८ वे श्लोकके नीचेकी नोटको पढ़ियें।
२–आगे १५ वें श्लोकको देखिये।

इससे धर्मसाधन, उच्च मनोवृत्ति और शुद्ध व्यवहारमय जीवन वहन कर सके। यह नाशवन्त और क्षणिक है, जिसका विवरण गत देहममत्वमोचन नामक पांचवें अधिकारमें हो चुका है। यह तो स्वतः सिद्ध है कि यह अपना नहीं है, यदि अपना हो तो अपने साथ आना चाहिये. परन्तु अनेकों मित्रों, मगे-सम्बन्धियोंके दृष्टान्तोंको देखते हुए प्रत्यक्ष है कि यह तो यहां ही रह जाता है, अतएव वास्तवमें तो यह एक मिट्टीका पिण्ड है। इस लिये इस मिट्टीके पिण्डको धर्मव्यवहारूप चाकपर चढ़ाकर, तप, जप, वृत, ध्यान आदि आकृति देकर, जबतक यह पात्र चले तबतक इसको अपने सच्चे उपयोगमें क्यों नहीं लेते हो? इसका ध्यान रक्खा जायगा तो इस पिण्डसे दुःखोंका अत्यंताभाव होगा और जिससे अनन्त सुख प्राप्त होगा और संसारका प्रसंग ही न रहेगा। व्रत तथा तपादिक करनेसे शरीर स्वस्थ रहता है और परभवमें महान् सुखकी प्राप्ति होती है, इसप्रकार दुगना लाभ होता है।

चारित्रके कष्ट-नारकीतिर्यचके कष्ट.

यदत्र कष्टं चरणस्य पालने,
परत्र तिर्यङ्नरकेषु यत्पुनः ।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता स्थिता,
विशेषदृष्ट्यान्यतरं जहीहि तत् ॥ ३२ ॥

" चारित्रके पालन करनेमें इस भवमें जो कष्ट उठाने पड़ते हैं और परभवमें नारकी और तिर्यच गतिमें जो कष्ट उठाने पड़ते हैं इन दोनोंमें परस्पर रूपसे प्रतिपक्षपन है, अतएव सोच-विचारकर दोनोंमेंसे एकको छोड़ दे।" वंशस्थविल

विवेचन—चारित्र अर्थात् व्यवहार। शुद्ध चारित्र रखनेमें

और आत्मगुणरमणता करनेके अभ्यासकालमें कितना सहन करना पड़ता है, विशेषतया कईबार तात्कालिक लाभकी आहुति देनी पड़ती है, इस चारित्रका जैन परिभाषामें एक अर्थ साधु जीवन भी होता है और उस जीवनको पालनेमें उपाधि त्याग, परिग्रहत्याग, गृहत्याग, स्वादिष्ट भोजनका त्याग, भूमि-शय्या, अप्रतिबद्धविहार, केशोंका लोच आदि अनेक कष्टोंको सहन करने पड़ते है। ये सब बाह्य कष्ट हैं। अब दूसरी ओर नारकी तथा तिर्यचके दुःख प्रसिद्ध हैं। नारकीमें मिलनेवाले कुंभीपाक, वैतरणी आदिके दुःख और जनावरोंको मिलनेवाले बध, बंधन, महाराशिके दुःखोंका अन्यत्र वर्णन करदिया गया है[1]। ये भी कष्ट है। अब चारित्र और परभवके दुःखोंमें परस्पर विरोध है, अर्थात् जहां एक होता है वहां दूसरा नहीं ठहर सकता है। जो यहां चारित्रका पालनकर अनेक प्रकारके कष्टोंको सहन करते हैं वे भविष्य भवमें मनुष्य या देवगतिको प्राप्त होते हैं, और अधिक स्थिरतावाला प्राणी तो मोक्षपदको प्राप्त करता है, जबकि यहाँपर व्यसन सेवन करनेवाले, विषयी, कपट व्यवहारवाले जीवोंको परत्र दुर्गति प्राप्त होती है। हे मुनि! ये दो प्रकारके कष्ट हैं जिनमेंसे एक न एक प्रकारके कष्ट तो सहने ही पड़ेगें, अतएव विवेकपूर्वक विचार करके दोनोंमेंसे किसी एकको ग्रहण करले, यह हमारा कहना है। दोनों प्रकारके कष्टोंमेंसे कौनसे कष्टोंका अधिक जोर है, कौनसे अधिक समय तक होनेवाले हैं और कौनसे शुभराशिकी सम्पत्तीको उत्पन्न करते हैं—इन सब बातोंका विचारकर इन दोनोंमेंसे एक वस्तुका ग्रहण कर, अथवा लोककी भाषामें कहा जाय तो दोनोंमेंसे एक प्रकारके कष्टोंका

---

१ भाग्में—चतुर्गतिदुःखवर्णनको पढ़िये।

त्याग करनेका निर्णय करले ।

प्रमादजन्य सुख-मुक्तिका सुख.

शमत्र यद्बिन्दुरिव प्रमादजं,
परत्र यच्चाब्धिरिव द्युमुक्तिजम्[1] ।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता स्थिता,
विशेषदृष्ट्यान्यतरद् गृहाण तत् ॥ ३३ ॥

" इस भवमें प्रमादसे जो सुख होता है वह एक बिन्दु तुल्य है, और परभवमें देवलोक और मोक्ष सम्बन्धी जो सुख होता है वह समुद्रके सदृश है, इन दोनों सुखोंमें परस्पर प्रतिपक्षीपन है, अतएव विवेकका प्रयोगकर दोनोंमेंसे एकको तू ग्रहण करले । " वंशस्थविल.

विवेचन—इसका भाव उपरके श्लोकसे मिलताझुलता ही है । मद्य, विषय-कषायादिमें सुख अल्पमात्र, अल्पस्थायी और अन्तमें दुःख देनेवाला होता है; जबकि स्वर्ग तथा मोक्षका सुख अनुक्रमसे दीर्घ, अनन्त, चिरस्थायी और वास्तविक सुख है । इन दोनों सुखोंमें परस्पर विरोध है, जहां एक होता है वहां दूसरा नहीं होता । अतएव विवेकपूर्वक विचार करके प्रमाद या स्वर्ग-मोक्षके सुखको प्राप्त करनेका निश्चय कर ।

चारित्रनियंत्रणाका दुःख-गर्भावास आदिका दुःख.

नियन्त्रणा या चरणेऽत्र तिर्यक्
स्त्रीगर्भकुम्भीनरकेषु या च ।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षभावाद्-
विशेषदृष्ट्यान्यतरां गृहाण ॥ ३४ ॥

---

1 द्युमुक्तिगमिति पाठांतरं ।

" चारित्र पालनेमें तुझे इस भवमें नियन्त्रणा उठानी पड़ती है और परभवमें भी तिर्यंच गतिमें, स्त्रीके गर्भमें अथवा नारकीके कुंभीपाकमें नियन्त्रणा (कष्ट, पराधीनपन) सहन करनी होती है। इन दोनों प्रकारकी नियन्त्रणामें परस्पर विरोध है, अतएव विवेकपूर्वक दोनोंमेंसे किसी एकको ग्रहण कर। " उपजाति

विवेचन—दोनोंमेंसे एक न एक प्रकारका कष्ट तो सहन करना ही पड़ेगा। यहां दो प्रकारके दुःखोंमेंसे किसी एकको अवश्य पसन्द करना है Choice between the two evils. नारकी तथा तिर्यंचका कष्ट असंख्य असह्य और चिरस्थायी है, जबकि साधु जीवनमें नियन्त्रणाका कष्ट अल्प, अल्पस्थायी और भविष्यके लिये हितकारक है। इन सबका विचार कर. दोनोंमेंसे किसी एकको ग्रहण करना, परन्तु साथ ही साथ यह भी ध्यानमें रखना कि तात्कालिक सुखसे आकर्षित न होकर परिणाम सुखका विचार करना।

परिषह सहन करनेका उपदेश (स्ववशतामें सुख)

सह तपोयमसंयमयन्त्रणा,
स्ववशतासहने हि गुणो महान्।
परवशस्त्वति भूरि सहिष्यसे,
न च गुणं बहुमाप्स्यसि कञ्चन ॥३५॥

" तू तप, यम और संयमकी नियन्त्रणाको सहन कर। स्ववश रहकर (परिषहादिका दुःख) सहन करना अधिक

१ मत आदिके लिये सहन किया जानेवाला कष्ट तथा तीर्थंकरमहाराज, गुरुमहाराजकी आज्ञाका पराधीनपन।

१ गुणो महान् इति स्थाने शिवं सुखं इति वा पाठ.।

उत्तम है; परवश होनेपर तो अनेकों कठिन दुःख उठाने पड़ेंगे और वे सब निष्फल होंगे।"　　　　द्रुतविलंबित.

विवेचन—तप बारह प्रकारके हैं। छ बाह्य और छ अभ्यंतर। बाह्यतपमें उपवास आदिका समावेश होता है और अंतरंग तपमें प्रायश्चित आदिका, जिनपर पहले ही विवेचन कर दिया गया है। यम पांच हैं। जीववधत्याग, सत्यवचन-उच्चारण, अस्तेय (नष्ट हुआ, पड़ा हुआ, विस्मरण हुआ अथवा फेंका हुआ परद्रव्य नहीं लेना अथवा सर्वथा चार प्रकारके अदत्तका त्याग करना), अखण्ड ब्रह्मचर्य और धनकी मूर्च्छाका त्याग। अर्थात् सारांशमें कहा जाय तो पांच अणुव्रतों और महाव्रतोंका आदर करना यह यम कहलाता है। संयम सत्तरह प्रकारके हैं। उपरोक्त पांच महाव्रतोंका आचरण, चार कषायोंका त्याग, मन, वचन और कायाके योगोंपर अंकुश अगर निरोध और पांच इन्द्रियोंका दमन—ये सत्तरह प्रकारके संयम हैं। इन तप, यम और संयमके पालन करते समय होनेवाले बाह्य कष्टको यन्त्रणा कहते हैं। ये कष्ट तो हैं परन्तु स्ववश और परिणाममें शुभ फलको देनेवाले हैं। इन दुःखोंको भविष्यमें महान् लाभ देनेवाले समझकर सहन किये जाय तो ये भी आनंददायक हैं और मनमें शान्तिका संचार करते हैं। अपितु दूसरी पंक्तिमें जो बात कही गई है वह बहुत आवश्यक है। स्ववशरूपसे सहन करनेमें बहुत लाभ है। भर्तृहरिका कहना है कि—

> अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया,
> वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
> व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः,
> स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधते ॥१॥

चिरकाल तक रहनेपर भी विषय आखिरकार तो जाने ही वाले हैं। मनुष्य यदि उनको अपने आप चाहे न छोड़े तो भी यह तो निर्विवाद सत्य है कि उनका वियोग होना तो अवश्यंभावी है। यदि वे अपने आप जायेंगे तो मनपर दुःखका गहरा प्रभाव डाल जायेंगे, जबकि यदि हम उनका अपने आप परित्याग करदें तो वे अत्यन्त शांति पहुंचाते हैं, यह बात अनुभवसिद्ध है। बुढापेमें इन्द्रियोंके विषय शरीरकी निर्बलताके कारण छोड़ने पड़ते हैं। तब फिर पूर्वकी इच्छाओंके कारण बालचेष्टायें करनी पड़ती है। दृष्टान्तस्वरूप सेव आदिको पीस कर खाना पड़ता है और पानको सरोतेसे काटकर खाना पड़ता हैं। बड़ी उम्रतक विषयोंको परित्याग करनेकी टेव न पड़नेसे ऐसी हास्यास्पद स्थिति हो जाती हैं। अतएव यदि यम प्राप्त होनेसे पहिले ही स्वयमेव विषयोंका परित्याग करदिया जाय तो बहुत आनन्द प्राप्त होता है।

इस मनुष्य भवमें दश, विस, पचीस या पचास वर्ष सयम पालन कर स्ववशपनसे जो आत्मविभूति प्राप्त होती है उसका फल जब चिरकाल तकका स्वर्गसुख, या अनन्तकाल तकका मोक्षसुख होता है तब अनुभवमें आता है। और यदि यहांपर जो गफलत की जाय तो परभवमें परवशपनसे अत्यन्त दुःख सहन करने पड़ते हैं, और लाभ कुछ भी नहीं होता है। इसप्रकार इस भवमें परीषह सहन करनेसे जब अनेक प्रकारके लाभ होते हैं, तब उनको परभवके लिये स्थगित करदेनेसे महान हानिका होना प्रत्यक्ष ही है। इस बातका विचार कर, यहां शुद्ध व्यवहार रखकर, तप, जप, ध्यान, सयम, इन्द्रियदमन आदिके विषयमें बारम्बार वृद्धि करना सर्वथा योग्य है।

परीषह सहन करनेके शुभ फल.

अणीयसा साम्यनियन्त्रणाभुवा,
मुनेऽत्र कष्टेन चरित्रजेन च ।
यदि च्यो दुर्गतिगर्भवासगाऽ
सुखा क्लेस्तत्किमवापि नार्थितम्? ॥ ३६ ॥

" समतासे और नियंत्रणा(परीषह सहन)से होनेवाले थोडेसे कष्टद्वारा अथवा चारित्र पालनेके थोड़ेसे कष्टद्वारा यदि दुर्गतिमें जानेकी और गर्भवासमें रहनेके दुःखकी परंपराका नाश हो जाता हो तो फिर तूने कौनसी इच्छित वस्तुको नहीं पाया ? " वंशस्थविल.

विवेचन—समता प्राप्त करनेके लिये मनोनिग्रह करनेकी आवश्यकता होती है, परन्तु समता आत्मिकधर्म होनेसे ऐसा करनेमें बिलकुल कष्ट नहीं होता है, अपितु सहज स्वरूपमें रहनेसे और इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिका परित्याग करनेसे परम आनन्द और निर्दोष आत्मिक शांति बनी रहती है और संकल्प-विकल्परूप दाहजन्य कष्ट नहीं होता है। इसीप्रकार चारित्र पालनेमें बाह्य कष्ट है, परन्तु आत्मसंतोष अपरिमित है, अतएव यह कष्ट, कष्ट नहीं कहला सकता है। तिसपर भी यदि इसको कुछ कष्ट कहा जाय तो भी यदि इसके द्वारा परभवमें होनेवाले गर्भवास और नरक तिर्यंचकी अनन्त वेदना मिट सकती हो तो हमको और क्या चाहिये ?

शास्त्रकार अनेकों स्थानोंमें बारम्बार कहते हैं कि चारित्र और समतासे दुर्गतिका नाश हो जाता है और मोक्षके अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है। ऊपरके ३२ वें श्लोकमें भी हम इस वचनकी सत्यता देख चुके हैं, इससे यह स्पष्ट है कि चारित्रके कष्टों और नारकी तिर्यंचके कष्टोंमें प्रतिपक्षता है। इसप्रकार

थोड़ीसी क्रिया भी बहुत उपयोगी होती है, अतएव तदनुसार व्यवहार करनेका प्रयास करना चाहिये।

परिषहसे दूर भगनेके बुरे फल

स्यज स्पृहां स्वःशिवशर्मलाभे,
स्वीकृत्य तिर्यङ्नरकादिदुःखम्।
सुखाणुभिश्चेद्विषयादिजातैः,
संतोष्यसे संयमकष्टभीरुः ॥ १७ ॥

"संयम पालनेके कष्टोंसे डरकर विषयकषायमें होनेवाले अल्प सुखमें जो तू सन्तोष मानता हो तो फिर तिर्यंच नारकीके मिलनेवाले दुःखोंको तू स्वीकार करले और स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त करनेकी अभिलाषा छोड़ दे।" उपजाति

विवेचन—उक्त अर्थ व्यतिरेकपनसे कहा गया है। हे साधु[1] यदि तुझे संयममें जिसमें कि कष्ट नहीं है उसमें भी यदि कष्ट जान पड़ते हों और विषयोंके सेवन करनेमें सुख जान पड़ता हो, तो फिर मोक्षकी आशा छोड़ दे, उसकी इच्छा भी छोड़ दे और नारकी तिर्यंच आदिके भयंकर दुःखोंको स्वीकार करले। इस सबका अर्थ स्पष्ट ही है और इसमें ग्रन्थकर्त्ताके हार्दिक भाव झलकते हैं। जीवकी वर्तमान दशाको सुधारनेकी शुभ इच्छासे कटाक्षरूपी कड़वी औषधिका पान कराया गया है, इसे बराबर समझकर इसके आशयके अनुसार व्यवहार करना चाहिये।

परिषह सहन करनेमें विशेष शुभ फल.

समग्रचिन्तार्तिहतेरिहापि,
यस्मिन्सुखं स्यात्परमं रतानाम्।

1 पाठांतर 'संतोष्यते' ऐसा पाठ लगा हो तब 'आत्मा' को कर्ता रूपसे लेकर दूसरोंको उपदेश किया गया है ऐसा समझें।

परत्र चेन्द्रादिमहोदयश्रीः,
प्रमाद्यसीहापि कथं चरित्रे ? ॥ ३८ ॥

" चारित्रसे इस भवमें सब प्रकारकी चिन्ता और मनकी आधिका नाश होता है इसलिये जिसकी उसमें लय लगी हुई हो उसको अत्यन्त आनंदकी प्राप्ति होती है और परभवमें इन्द्रासन तथा मोक्षकी महालक्ष्मी प्राप्त होती है। ऐसा होने-पर भी समझमें नहीं आता कि यह जीव क्यों प्रमाद करता है ? " उपजाति.

विवेचनः—चिन्ता-राज्यभय और चोरभय।

आर्त्ति-अपने तथा दूसरोंके भरणपोषण आदिसे होने-वाला मानसिक कष्ट।

साधुजीवनमें विशेषतया स्वात्मसंतोष (Self-denial) और लभ्य वस्तुका भी इच्छापूर्वक त्याग देखनेमें आता है। इस स्वात्मसंतोष और स्वयं त्यागमें कितना आनन्द है यह हम कई प्रसंगोंपर पहिले देखचुके हैं। इसमें चिंता अथवा अन्य किसी भी प्रकारकी मानसिक उपाधिका अभाव देखा जाता है। इस बड़े लाभके सामने अन्य सब वस्तुयें अल्प हैं, छोटी हैं, व्यर्थ हैं, अगण्य हैं। इस मानसिक सुखके प्राप्त करनेमें चाहे जितना कष्ट क्यों न झेलना पड़े फिर भी इससे पिछे न हठना चाहिये। इस स्थूल सुखके उपरान्त आत्मिक वृत्ति शुद्ध होनेसे नवीन कर्मबन्ध नहीं होता और यदि होता है तो शुभ होता है। प्रथमसे (कर्मबन्धके अभावसे) मोक्षलक्ष्मी प्राप्त होती है, जबकि दूसरेसे (शुभ कर्मबन्धसे) इन्द्र, महर्द्धिक देव आदिकी महालक्ष्मी प्राप्त होती है। इसप्रकार चारित्रसे सर्वत्र आनन्द है। टीकाकारका कहना है कि—

न च राजभय न च चौरभयं,
न च वृत्तिभयं न वियोगभयम् ।
इहलोकसुखं परलोकसुखं,
श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम् ॥ १ ॥

अर्थात् ' साधुजीवनमें न तो राज्यका भय है, न चोरका भय है, न वृत्ति (आजीविका) का भय है, और न वियोगका भय है, इस भवमें भी सुख है और परभवमें भी सुख है— अतएव साधुपन रमणीय है। " अब ऐसी बात है तब हे आत्मा ! तू सर्वप्रकारसे लाभदायक हो ऐसे जीवनके प्राप्त करनेमें अथवा प्राप्त करके उसके निर्वाह करनेमें क्यों प्रमाद करता है ?

× × १०–१८ तकके जो श्लोक बहुत प्रभावशाली है और विशेषतया यति जीवनको उद्देशकर लिखे गये हैं। इसमें परीषह सहन और प्रमादत्यागका विषय मुख्य है। ये बाईस परीसह सहन करनेसे मुनिजीवन सफल हो जाता है। ये बाईस परीषह निम्न लिखित हैं।

समतासे क्षुधा सहन करना ।
समतासे तृषा सहन करना ।
समतासे शीत–ठंडक सहन करना ।
समतासे ताप–गरमी सहन करना ।
समतासे डंस–मच्छरके डंसको सहना
वस्त्र प्रमाणोपेत रखना ।
संयममें अप्रीति न करना ।
स्त्रीसंगका सर्वथा परित्याग करना ।
अप्रतिबद्ध विहार करना ।
अभ्यासके स्थानकी मर्य्यादा रखना ।

किसी भी प्रकारकी शय्याके लिये रागद्वेष न करना ।
समतासे अन्यकृत तिरस्कार सहन करना ।
स्ववध होनेपर भी धर्मत्याग न करना ।
योग्य याचना करते लज्जित न होना ।
याचना करनेपर भी यदि न मिल सके तो भी मनकी समस्थिति बनाये रखना ।
रोगकी पीड़ा समतासे सहन करना ।
डाभ तृणादिकके स्पर्शको बर्दास्त करना ।
शरीरके मलपर जुगुप्सा न करना ।
सत्कार-आदर हो या नही उसकी इच्छा न रखना तथा होनेपर फूल न जाना ।
ज्ञानीपनका अहंकार न करना ।
अज्ञानपनसे विद्या न चढ़े तो भी पढ़नेसे जी न चुराना ।
श्रद्धा दृढ़ रखना ।

इन बाईस परिषहोंमेंसे अनुकूल और प्रतिकूल सर्व प्रकारके परिषहोंको सहन करनेसे महासंवर होता है और उस समयके बीचमें जीव नये कर्म ग्रहण नहीं करता है । ये स्थूल परीषह हैं, इतना ही नहीं परन्तु मानासिक भी हैं । उनका आभास मनोराज्यमें भी उसी प्रबलतासे होता है और इनकी उपस्थितिसे जीवको बहुत वीर्योल्लास होता है । एक एक परिषहका स्वरूप ध्यानमें रखकर विचारनेसे जान पड़ता है कि स्थूल बाधायें सहनेको तैयार होनेसे यह जीव बहुत सुख प्राप्त कर सकता है । साधु जीवनपर लिखे हुए ये विचार अधिकांशमें गृहस्थोंको भी अनुकरणीय है । जो परभव, आत्मा और पुद्गलका भिन्नभाव और प्रत्येककी भिन्न भिन्न सत्ता समझते हो वे ही इस अध्यात्मिक विषयमें आनन्द उठा सकते हैं । इस विषयपर गहरा

विचार करनेकी आवश्यकता है, परन्तु यहाँ इस व्यवहारकी उपस्थिति समझकर ही मध्य योजना की गई है। इस प्रकारके नास्तिक जीवोंको थोड़ेसे कष्ट सहन करके भी सदैवके लिये महान सुख प्राप्त करनेके लिये प्रबल पुरुषार्थ करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। इतना ही नहीं अपितु महालाभदायक भी है। इस 'यतिशिक्षा' के विषयमें बारबार पुनरावर्तन होता है, परन्तु इसमें कुछ दोष नहीं है, क्यों कि इस अनादि मिथ्यात्वासी जीवको शुद्ध उपदेश बारम्बार देने निमित्त महान उद्देश्यसे यह पुनरावर्तन किया गया है, और इसका आशय बहुत गम्भीर होने पर भी शुभ है।

सुखसाध्य धर्मकर्तव्य—प्रकारान्तर

महातपोध्यानपरिषहादि,
न सत्त्वसाध्यं यदि धर्तुमीशः।
तद्भावना: किं समितीश्च गुप्ती-
र्धत्से शिवार्थिन्न मन:प्रसाध्या: ॥ ३९ ॥

"उग्र तपस्या, ध्यान, परीषह आदि सत्त्वसे साधे जा सकते हैं, इनको साधनेमें यदि तू असमर्थ हो तो भी भावना, समिति और गुप्ति जो मनसे ही साधे जा सकते हैं उनको हे मोक्षार्थी! तू क्यों नहीं धारण करता?" उपजाति

विवेचन—दो श्लोकोंमें परीषह सहन करनेका उपदेश किया गया है। छमासादिक तपस्या और महाप्राणायामादिक ध्यान इसीप्रकार बड़े उपसर्ग परीषहों सहन करनेका काम पंचम कालके प्रभावसे अभी जिनमें शारीरिक बल न हो उनके लिये भी रास्ता खुला हुआ है। वे भी यदि चाहे तो लाभ उठा सकते हैं। मनपर यदि अंकुश हो तो उसके अनुसार इन्द्रिय

दमन, आत्मसंयम, योगरुंधन आदि शारीरिक कष्ट रहित महा-विकट कार्य्य भी हो सकते हैं। इसलिये ऊपर कहा गया है कि तेरेसे मासखमण आदि तपस्या, महाप्राणवायुदमन (महाप्राणायाम) आदि ध्यान अथवा स्थूल बाईस परीषह सहन आदि न हो सके तो भी तेरी धर्मबुद्धिसे उत्पन्न हुई संसारकी अनित्यताका ध्यान रखना, तेरे एकत्वपनका विचार करना, शरीरको अशुचिका पिण्ड समझकर उसपरकी ममता कम करना आदि सुप्रसिद्ध बारह भावना निरन्तर भाना तेरा मुख्य कर्त्तव्य है। इसीप्रकार प्रथम अधिकारमें बतलाई हुई मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य ये चारों भावनाओंको निरन्तर रखनेका भी तेरा कर्त्तव्य है। इनके उपरान्त किसी भी वस्तुको ग्रहण करते, छोड़ते, चलते, बैठते, बोलते उपयोग रखनेमें समितिका समावेश होता है, तथा मन, वचन, कायाकी प्रवृत्तिपर अंकुश रखना गुप्ति कहलाता है। इस समिति—गुप्तिके धारण करनेका तेरा मनोबलपर आधार है और यदि तू चाहेगा तो इस विषयमें बहुत कुछ कर सकेगा। इस विषयपर और अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन आगे किया जायगा।

भावना-संयमस्थान-उसका आश्रय.

अनित्यताद्या भज भावनाः सदा,
यतस्व दुःसाध्यगुणेऽपि संयमे।
जिघत्सया ते त्वरते ह्ययं यमः,
[1]श्रयन् प्रमादान्न भवाद्बिभेषि किम् ?॥४०॥

"अनित्यपन आदि सब भावनाओंको निरन्तर रख, जो संयमके (मूल तथा उत्तर) गुण कठिनतासे साधे जा

१–४० वे श्लोकके विवेचनको पढ़िये।
१ ह्ययं यमः इति स्थानेऽसंयमः इति पाठः प्रसिद्धार्थः।

सकते हैं उनके लिये यत्न कर, यह यम (काल) तुझे हड़प कर जानेको शीघ्रता करता है; तो फिर प्रमादका आश्रय लेते हुए तू क्यों संसारभ्रमणसे नहीं डरता है ? " संसारपरिवि

विवेचन—१–इस संसारमें कोइ वस्तु नित्य नहीं है, सर्व नाशवंत हैं, एक मात्र आत्मा नित्य है।

२–इस जीवको जिनवचन सिवाय अन्य किसीका आधार नहीं है। यदि चाहे तो अपनी सत्ता सिद्ध करके अपने पैरोंके बल-पर खड़ा हो सकता है।

३–इस ससारमें भ्रमण करता हुआ जीव कई बार राजा और रंक होता है, भिक्षु तथा इन्द्र होता है, रोगी और निरोगी होता है, इसीप्रकार सम्बन्धमें भी पुत्र हो वह पिता होता है, स्त्री हो वह माता होती है, माता हो वह स्त्री होती है—ऐसी अनेक प्रकारकी विचित्रता होती ही रहती है।

४—यह जीव अकेला आया है, अकेला ही जायगा। इसका कोइ नहीं है, यह किसीका नहीं है और इसके साथ कुछ भी नहीं जायगा।

५—हे आत्मा ! जिसको तू तेरा समझता है, तेरे समझता है, वह न तो तेरा है न तेरे हैं। पौद्गलिक वस्तुयें पराई है, विनाशी है, नाश्य है, इसीप्रकार सगे-स्नेही, स्त्री, पुत्रादि भी तेरे नहीं है, तू सबसे भिन्न है।

६—शरीरपर तुझे अत्यन्त मोह है, परन्तु यह अशुचि-मय है, दुर्गंध वस्तुओंसे यह भरा हुआ है, उसमें एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिससे प्रीति की जा सके। मांस, रुधिर, चरबी, हड्डी और चमड़ी इन सब अपवित्र पदार्थोंसे यह बना हुआ है अतएव शरीरका ममत्व छोड़ दे।

७—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और मन, वचन,

कायाके योगोंसे ही कर्मबंध होते हैं, इन कामोंका शुभाशुभपन समझना और इनके प्रवाहको विचारना आश्रव भावना कहलाती है।

८—इसीप्रकार समिति, गुप्ति, यतिधर्म, चारित्र, परीपह-सहन आदिसे कर्मबन्धमें रुकावट आती है, कर्मका प्रवेशद्वार बन्द हो जाता है। इसके विषयमें विचार करना संवरभावना कहलाती है।

९—इसके उपरान्त आत्मप्रदेशको लगे हुए पुराने कर्मोंको बाह्य अभ्यंतर तप करके नष्ट कर देना, उनका विपाकोदय न होने देना-इस प्रबल पुरुषार्थको निर्जरा कही जाती है। इसकी विचारणाको निर्जरा भावना कही जाती है।

१०—विश्वमण्डलकी रचना, नरकके पाथड़े तथा आन्त-रोंका स्वरूप, मृत्युलोकका प्रदेश, बारह देवलोक, ग्रैवेयक, अनुत्तर विमान और मोक्षका स्थान, उसमें रहनेवाले जीव और उनके सबके साथ अपना सम्बन्ध और उन सर्व स्थानोंमें हुए अनन्त बार जन्म-मरणको विचारना।

११—धर्म जीवको दुर्गतिमें पड़नेसे बचाता है, ऐसा करते समय मनमें अपूर्व आनन्द होता है और किसीको हानि नहीं होती है। यह धर्म, दान, शील, तप और भाव इन चार रूपोंमें अथवा साधुके दश यतिधर्मरूपमें, श्रावकके बारह व्रत तथा इक्कीस गुणोंके रूपमें, मार्गानुसारीके पेंतीस गुणोंके रूपमें, इस-प्रकार अनेक रूपोंमें शास्त्रमें वर्णन किया गया है, उसके कहने-वाले उत्तम पुरुषोंकी दुर्लभताका विचार करना चाहिये।

१२—शुद्ध देव, गुरु और धर्मको पहचानना कठिन है, पहचानकर उनको पूजना, वन्दन करना और आराधना करना यह और अधिक कठिन है, परन्तु यह ही सच्चा कर्त्तव्य है।

इन बारह भावनाओंको निरन्तर रखना। इनके उपरान्त

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य ये चार भावना भी विशेषतया निरन्तर रखना चाहिये। इनका स्वरूप प्रथम अधिकारमें स्पष्ट कर दिया गया है।

हे साधु ! तुझे चरणसित्तरी और करणसित्तरीका बहुत उत्तम प्रकारसे पालन करना चाहिये। इनमेंसे प्रत्येकके सत्तर सत्तर भेद लिखते हुए एक बहुत बड़ा लेख हो जाता है, फिर भी संक्षेपमें इन सत्तर भेदोंका स्वरूप यहां बतलाया जाता है, क्योंकि ये साधुजीवनके लिये बहुत उपयोगी है।

प्रथम चरणसित्तरीके ७० भेद बतलाये जाते हैं[1]।

वयसमणधम्मसंजम, वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
नाणाइतिय तव, कोहनिग्गहाइ चरणमेयं ॥

५ महाव्रत—ये प्रसिद्ध ही हैं।

१० यतिधर्म—ये बहुत उपयोगी है। ये यति जीवन ही हैं।

१ क्षमा धारण करना।
२ अहंकारका त्याग करना।
३ सरलता रखना।
४ लोभका त्याग करना।
५ तपस्या करना।
६ आश्रवकी विरति करना।
७ सत्य धारण करना।
८ धनमें निरतिचारपन रखना।
९ धनममत्वत्याग-धनका त्याग करना।
१० बाह्य ब्रह्मचर्य पालन करना।

---

1 विशेष विस्तारसे इनके सम्बन्धमें जाननेके जिज्ञासुओंको 'प्रवचन सारोद्धार ग्रन्थ' प्रकरण रत्नाकर तीसरा भाग पृष्ठ ११० से ११४ तक पढ़ना चाहिए।

१७ प्रकारके संयम ।

पांच आश्रवका विरमण । नये कर्मबन्ध करानेवाले प्राणातिपातादि पांच महादोषोंसे विराम पाना ।

पांच इन्द्रियोंका दमन, चार कषायोंका त्याग, मन-वचन-कायाके (तीन) दण्डोंसे विरति, ये सतरह प्रकारके संयम हैं। इसके सिवाय अन्य रूपसे भी सतरह भेद गिने जा सकते हैं।

१० प्रकारसे बड़ोंकी सेवा-सुश्रूषा भक्ति।

१ आचार्य, २ उपाध्याय, ३ तपस्वी, ४ नवदीक्षित शिष्य, ५ रोगी साधु, ६ सामान्य साधु, ७ स्थविर, ८ संघ, ९ कूल और १० गण (एक वाचनावाले साधुओंका समुदाय गण कहलाता है। गणके समूहको कूल कहते हैं और कूलके समूहको संघ कहते हैं) इन सबोंको अधिकार और योग्यतानुसार आहार देकर, उनके लिये प्रबन्ध करके या सेवा करके उनके योग्य समाधिसाधन तैयार कर देना वैयावच्च कहलाती है।

९ ब्रह्मचर्य्यगुप्ति—शीलकी नव वाड़ कही जाती है।

१ जिस स्थानपर स्त्री, पशु और नपुंसक हो वहाँ नहीं रहना चाहिये।

२ स्त्रीसे कथा न करना, स्त्रीके सम्बन्ध में बातचीत न करना। स्त्रीके साथ एकले बातचीत न करना चाहिये।

३ स्त्री जिस आसनपर बैठी हो उस आसनपर उसके साथ न बैठना, उसके उठ जानेपर दो घड़ी तक न बैठना चाहिये।

४ स्त्रीके किसी भी अवयवपर घूरकर न देखना। सामान्य रीतिसे देखलिया जाय तो दृष्टि खिंच लेना और उस अवयवकी सुन्दरताके विषयमें चिन्तवन न करना चाहिये।

५ दम्पतीकी कामविकारजन्य वार्ता जिस कमरमें होती हो उसके निकटवाले कमरेमें सोना तथा बैठना न चाहिये।

६ पहले भोगे हुए सांसारिक सुखविलासोंका स्मरण न करना चाहिये।

७ स्निग्ध, मादक वस्तु न खाना, अविकारी भोजन करना चाहिये।

८ अविकारी भोजन भी अधिक न करना, केवल शरीर धारण निमित्त निर्वाह होने जितना ग्रहण करना चाहिये।

९ शरीरको विभूषित न करना।

३ ज्ञानादि तीन।

शुद्ध अवबोध, शुद्ध श्रद्धा और निरतिचार व्यवहार।

१२ तपस्या—छ बाह्य और छ अभ्यन्तर।

१ उपवास करना—नहीं खाना—अनशन। २ कम खाना ऊणोदरिका। कम वस्तुयें खाना—वृत्तिसंक्षेप। ४ विगयत्याग करना—रसत्याग। ५ शरीरको जिस क्रियासे क्लेश हो—कष्ट पड़े वह कायक्लेश। ६ शरीरके अंगोपांगको सकोचकर रखना संलीनता कहलाती है।

१ प्रायश्चित, २ विनय, ३ वैयावच, ४ ज्ञानाभ्यास, ५ ध्यान और ६ उत्सर्ग।

४ कषायत्याग।

ये चरणसित्तरीके ७० भेद हुए।

अब करणसित्तरीके ७० भेद लिखे जाते हैं।

४ पिण्ड, शय्या, वस्त्र और पात्र अकल्पनीय न लेना।

पिण्डविशुद्धिके ४२ दोष रहित आहार लेना।

सोलह दोष पिण्डकी उत्पत्तिको लेकर लगते हैं।

पिण्ड शुद्ध हो फिर भी संयोगवशसे सोलह दोष प्राप्त हो जाते हैं।

दश दोष एपणाके होते हैं । शुद्ध आहारको लेने समय प्रगट शंका आदि दोष ।

(इन बियालिस दोषोंका स्वरूप बहुत विस्तारसे समझना जरूरी है, यहां लिखनेसे ग्रन्थगौरव होता है इससे नहीं लिखा गया है । प्रवचनसारोद्धार–प्रकरणरत्नाकर भा. ३ पृष्ठ १६८ को देखिये । और उपमितिभवप्रपंचा कथा–भाषान्तर प्रस्ताव चोथेका परिशिष्ट)

५ समिति

१ साढे तीन हाथ आगे दृष्टि रखकर, देखकर चलना ।

२ निर्दंभपनसे सत्य और सबको अभिमत हो ऐसा अल्प किन्तु उक्त और हितकारी बोलना ।

३ दोपरहित आहार–पानी ग्रहण करना ।

४ वस्तुओंको लेते–देते प्रमार्जनादिका उपयोग रखना ।

५ लघुशंका (पेशाब), बडीशंका (टट्टी) आदि करते हुए भूमिशोधन करना ।

१२ भावनायें

इसका स्वरूप विस्तारपूर्वक ऊपर आ चूका है ।

१२ साधुकी प्रतिमा

वज्रऋपभनाराच संघयनवाला, धीरजवाला, सत्त्ववंत प्राणीको शास्त्रमें बताये विधि अनुसार मुनिकी बारह प्रतिमाको धारण करनी चाहिये ।

५ इन्द्रियनिरोध

२५ प्रतिलेखना

प्रातः, मध्याह्न और सायं सर्व उपकरणोंकी प्रतिलेखना करना ।

३ गुप्ति—मन, वचन, कायाके योगोंपर अंकुश लगाना अथवा उनको रोकना ।

४ अभिग्रह—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे अभिग्रह नियम करना।

चरणसित्तरी नित्य अनुष्ठान है और करणसित्तरी प्रयोजन पड़नेपर अनुष्ठान है। इन सब साधुके योग्य कर्तव्योंमें तू प्रवृत्ति करना। प्रमादसे समय बहता जाता है, मृत्यु समीप आती जाती है और गया वक्त फिर हाथ नहीं आता है, इसी प्रकार यह मनुष्य देह भी फिरसे प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

योगरूधनकी आवश्यकता.

हतं मनस्ते कुविकल्पजालै-
र्वचोऽप्यवद्यैश्च वपुः प्रमादैः।
लब्धीश्च सिद्धीश्च तथापि वाञ्छन्
मनोरथैरेव हा हा हतोऽसि ॥ २१ ॥

" तेरा मन खराब संकल्पविकल्पसे खेदा हुआ है, तेरे वचन असत्य और कठोर भाषासे सने हुए हैं, और तेरा शरीर प्रमादसे भ्रष्ट हुआ है, फिर पर भी तू लब्धि और सिद्धिकी वाञ्छा करता है। सचमुच! तू (मिथ्या) मनोरथसे खेदा हुआ है।" उपजाति

---

१ प्रथम पंक्तिमें 'हतं मनो मे कुविकल्पजालै' चतुर्थ पंक्तिमें "मनोरथैर्व हा हतोऽस्मि" ऐसा भी पाठ है। इस पाठान्तरमें दूसरे पुरुषको उद्देश कर कहनेके स्थानमें आत्माका ग्रहण कर प्रथम पुरुषमें यह ही पाठ रखा है। यह पाठ भी समीचीन है। इसका अर्थ "मेरा मन कुविकल्पोंसे नष्ट हो गया है, वचन असत्य और कठोर भाषणसे नष्ट हो गये हैं और शरीर प्रमादसे बिगड़ गया है फिर भी लब्धि सिद्धिकी वांछा करते ... मनोरथसे हनन किया गया हूं।" इस प्रकार अर्थ ... समझमें आ जाता है। इसके लिये इस अधिकारके १८ वें श्लोककी टीका देखिये। ऊपर मूलमें जो पाठ रक्खा गया है वे समस्त पाठके ... अनुकूल है इसलिए यह अधिक उपयुक्त है।

विवेचन—'मन साधा उसने सबकुछ साधा' इस महान् नियमकी सत्यता हम चित्तदमन अधिकारमें देख चुके हैं। इसीप्रकार वचन और कायाको निग्रह करनेकी आवश्यकता भी हम देख चुके हैं। इन तीनों योगोंको छोड़कर फिर लब्धि-सिद्धिकी इच्छा रखना तद्दन मिथ्या है, असंभवित है, अविचारी है। ऐसे प्रसंगोंमें लब्धि होनेकी तथा सिद्धि होनेकी अभिलाषा रखना व्यर्थ मनमें क्लेश उत्पन्न करना है, इसका परिणाम कुछ नहीं होता है और खेद होनेसे उलटी आत्मिक अवनति होती है। अतएव तीनों योगोंको स्वतंत्र छोड़कर सिद्धि प्राप्त करनेके व्यर्थ मनोरथ नहीं करना चाहिये। हम जानते हैं कि गौतम-स्वामीको लब्धियें प्राप्त हुई थी।, परन्तु उनका योग वशीकरण इतना उत्तम था कि यदि वीरप्रभुपर राग नहीं होता तो वे परमज्ञान भी शिघ्र प्राप्त कर सकते। हे साधु! योगको वशमें करनेकी परम आवश्यकता है। संसारदुःखका आत्यंतिक नाश और सिद्धि लक्ष्मीका प्रसाद उससे बहुत शिघ्र प्राप्त हो सकता है। इसको ध्यानमें रखकर योगगुप्ति निमित्त निम्न लिखित त्रण श्लोकोंको पढ़।

मनोयोगपर अंकुश—मनोगुप्ति.

मनोवशस्ते सुखदुःखसङ्गमो,
मनोमिलेद्यैस्तु तदात्मकं भवेत्।
प्रमादचोरैरिति वार्यतां मिलच्-
छीलाङ्गमित्रैरनुषञ्जयानिशम्॥ ४२॥

"तुझे सुख-दुःखकी प्राप्ति होना तेरे मनके वशमें है। मन जिसके साथ मिलता है उसके साथ एकाकार-एक-मेक हो जाता है; अतएव प्रमादरूप चोरके मिलनेसे तेरे मनको

रोककर रख, और शीलांगरूप मित्रोंके साथ उसे मिलाकर जोड़।" वशस्थ.

विवेचन—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।" इस सूत्रका रहस्य इस चित्तदमन अधिकारमें देख चुके हैं। कर्मपरम्परा मुमुक्षुका आधार है और बन्धनका कारण मन है, इसलिये मुमुक्षुकी प्राप्ति करना मनके आधीन है। यह एक घटना हुई। इसका यह कारण है कि मन जिसके संसर्गमें आता है वह उसीके सदृश हो जाता है। शास्त्रकार इसको तेलसे उपमा देते हैं। तेल थोड़ा होने पर भी भरे पानीमें डालने पर सर्वत्र फैल जाता है इसीप्रकार संसारसमुद्रके जलमें यदि मनको स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो यह भी दौड़ादौड़ लगाता है। अपितु तेलके साथ जैसे पुष्प रखे जाते हैं उनकी वैसी ही सुगन्धी आने लगती है, चमेलीका इत्तर भी तेलके मिलनेसे ही बनता है, और तेलमें मोगरा, चमेली आदिके मिलानेसे वैसी ही सुगन्धि प्रोद्भित होती है, इसलिये यदि मनको उत्तम वस्तुओंके साथ जोड़नेका प्रयत्न करेगा तो वह भी उत्तम होगा वरना इसका विपरीत ही फल मिलेगा।

तादात्म्य होनेके लिये जलका दृष्टान्त मनन करने योग्य है। जिसप्रकार पानीमें रंग डाला हो तो वह तद्रूप हो जाता है, इसीप्रकार संसारके किसी भी कार्यके साथ यदि मनरूप जलको मिलाया हो तो मन उसके समान हो जाता है। इसीप्रकार शीलांगके साथ यदि मनको मिलाया हो तो वह तद्रूप हो जाता है।

इसप्रकार मनकी सम्बन्धक वस्तुके साथ तादात्म्यरूप प्राप्ति होनेकी ओर ध्यान खेंचकर कहते हैं कि हे यति! वस्तुस्वरूप इसप्रकार है अतएव तेरे मनको प्रमादको प्राप्ति न होने दे, अन्यथा यह प्रमादी हो जायगा। इसको तो शीलांगके साथ

समता, दया, उदारता, सत्य, क्षमा, धीरज आदि सद्गुणोंके साथ मिला देना चाहिये और इस बातको ध्यानमें रक्खे कि यह दूसरी किसी कुसंगतिमें न पड़ सके।

सत्सरत्याग.

ध्रुवः प्रमादैर्भववारिधौ मुने !,
तव प्रपातः परमत्सरः पुनः ।
गले निबद्धोरुशिलोपमोऽस्ति चेत्,
कथं तदोन्मज्जनमप्यवाप्स्यसि ॥ ४३ ॥

"हे मुनि! तू जो प्रमाद करता है उसके कारण संसारसमुद्रमें गिरना तो तेरा निश्चय ही है, परन्तु फिर भी दूसरोंपर मत्सर करता है यह गर्दनमें लटकाई हुई एक बड़ी शिलाके सदृश है; तो फिर तू इसमेंसे किस प्रकार उपर उठ सकता है?" वंशस्थ.

विवेचन—'प्रमादत्याग अधिकारमें हम देख चुके हैं कि प्रमाद करनेसे संसारसमुद्रमें पतन होता है। साधु धर्ममें आत्मजागृति रखना मुख्य धर्म है। जागृतिरहित व्यवहार निंद्य है, हेय है और अधःपात करनेवाला है। आत्मजागृतिसे चूकनेवाले प्रमादके वशीभूत होते हैं अथवा यों कहिये कि प्रमादके वशीभूत हुए प्राणी आत्मजागृति नहीं कर सकते हैं। ये दोनों वचन बराबर सत्य है। साधुको अप्रमत्त अवस्थामें रहनेके लिये इसी कारणसे आज्ञा दी गई है[1] और छद्मस्थपनमें अप्रमत्त दशा इसीप्रकार प्रमत्त दशाकी स्थितिके सम्बन्धमें जो शास्त्रका-

---

१ 'समयं गोयम! मा पमायए' "हे गोतम! समय मात्र भी प्रमाद न कर" यह वाक्य प्रमादका अत्यन्त अनर्थकारीपन बतलानेके लिये ही समयके सदृश सूक्ष्मकालके लिये उपयोग किया है, क्यों कि समय-प्रमाण उपयोग छद्मस्थका होना कठिन है, परन्तु अंतर्मुहूर्तप्रमाण ही होता है।

रका सेव्य है यह यथास्थित है। यहां तो विशाल धर्मवाले प्रमादाचरण–मद्य, विषय कषाय, विकथा और निद्रामें न पड़ जानेका उपदेश है। इन प्रमादोंको करनेवाला जीव अवश्य विकासक्रममें नीचे गिर जाता है और यदि इसके साथ मत्सर–ईर्षा करे तो फिर अधःपात होते समय गर्दनमें बड़ा पत्थर बांधता है, जिसके कारण वह तैरकर कदापि ऊपर नहीं उठ सकता है और बेचारा क्षणिक सुखके लिये अनन्तकाल तक संसारसमुद्रके नीचे २ बैठता जाता है।

यहां मत्सर न करने, पर अवर्णवाद न बोलने, और प्रमाद न करनेका उपदेश है। यह उपदेश साधु जीवनके लिये विशेष उपयोगी है किन्तु दूसरोंके लिये भी यह कम उपयोगी नहीं है।

निर्जरानिमित्त परिषहसहन.

महर्षय· केऽपि सहन्त्युदीर्या–
प्युग्रातपादीन्यपि निर्जरार्थम्।
कष्टं प्रसङ्गागतमप्यणीयोऽ–
पीच्छन् शिवं किं सहसे न भिक्षो ! ॥४४॥

" जब कि बड़े बड़े ऋषि मुनि कर्मकी निर्जरानिमित्त उदीरणा करके भी आतापनादिको सहन करते हैं तो फिर तू जो मोक्षका अभिलाषी है तो तुझको प्राप्त हुए अत्यन्त अल्प कष्टको भी हे साधु ! तू क्यों नहीं सहन करता है ? "

उपजाति

विवेचन—कर्मके उदयकाल आनेके पूर्व ही पुरुषार्थद्वारा आकर्षण कर उसे भोग लेना 'उदीरणा' कहलाती है। (पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करने निमित्त जैसी स्थिति प्राप्त होनेसे पूर्व ही

उनको उदयकर भोगकर आत्मप्रदेशसे छिन्नभिन्न कर देने निमित्त कष्टादि सहन करना ' उदीरणा ' कहलाती है) अद्भूत चारित्रवाले महात्मा लोग आत्मलाभकी प्राप्ति निमित्त कष्ट झेलना चाहते हैं। परमात्मासे प्रार्थना करते हैं कि ' हमको ऐसे कष्ट दो। ' ' विपदः सन्तु नः शश्वत् ' हमको निरन्तर विपत्ति हो–इसप्रकार स्तुति करके भी शुद्ध दृष्टिसे आत्मकल्याण निमित्त विपत्तिको भोगनेवाले, धीर, वीर, पुरुषार्थी मध्यानकालमें नदी की वालुमें आतापना लेते हैं, पोसमासकी कड़ाकेकी सर्दीमें कपड़े रहित नदीके तीर जैसे अति शीतल स्थलोंपर काउस्सग्ग ध्यान लगाते हैं और अन्य अनेकों कष्ट अपने आप इच्छापूर्वक सहन करते हैं। मोक्षप्राप्तिकी इच्छा हो उसे इसप्रकार करनेकी विशेष आवश्यकता है; और हे साधु! तेरी इच्छा तो इसे ही प्राप्त करनेकी है, फिर भी जरासे कष्टके पड़ने पर तू हाय हाय मचाने लगता है अथवा निःसासा डालता है जो तेरे लिये नितान्त-अनुचित है। उच्च स्थिति प्राप्त करने निमित्त कितने ही स्वार्थोंका भी भोग देना पड़ता है, परन्तु इसमें तो ऐसा कुछ नहीं है। आगन्तुक कष्टोंको सहन करनेमें भी तू क्यों पिछे हठता है? इसके स्थानमें ऊँची स्थिति प्राप्त करना तो तेरा स्वार्थ ही है।

× × ४०–४४ इन पांच श्लोकोंमें साधुगुणकी मुख्यता बतलाई गई है। इसमें चरणसित्तरी, करणसित्तरी, भावनाओंकी प्रधानता और मुख्य वृत्तिसे निर्बल शरीरवाले असमर्थके लिये भी तीन गुप्तिका प्रबल साधन बताया गया है। ये अभ्याससे साध्य है, इनमें बाह्य वस्तुकी सामग्री पूर्णपनसे न मिली हो तो भी चल सकता है। अपितु संसारमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है कि जो अभ्याससे सिद्ध न हो सके। धर्मसंग्रहमें कहा गया है कि—

एवं च विरतेरभ्यासेनाविरतिर्जीयते। अभ्यासादेव सर्वक्रियासु कौशल्यमुन्मिलति, अनुभवसिद्ध चेदं, लिखनपठनसंख्यानगाननृत्यादिसर्वकलाविज्ञानेषु सर्वेषामुक्तमपि—

अभ्यासेन क्रियाः सर्वा, अभ्यासात्सकलाः कलाः।
अभ्यासाद् ध्यानमौनादि, किमभ्यासस्य दुष्करम्?॥

" विरतिका अभ्यास डालनेसे अविरतिका पराजय होता है, अभ्याससे सर्व क्रियामें कुशलता प्राप्त होती है, लिखना, पढ़ना, संख्या, गायन, नृत्य आदि सब कला विज्ञान अभ्यासद्वारा होते हैं ये सब विद्वानोंके अनुभवसिद्ध बात है। कहा भी है कि 'अभ्याससे सब क्रियायें हो सकती है, अभ्याससे सब कलायें प्राप्त हैं, अभ्याससे ध्यान, मौन आदि होते हैं। अभ्यासके सामने क्या कठिन है ?' " अतः अभ्यास डालनेकी आवश्यकता है। गुप्तिको जो प्रवचनमाता कही जाती है उसका भी यही कारण है। इसके बराबर पालन करनेसे भगवानकी सब आज्ञाओंका पालन हो जाता है। अब आगेके तेरह श्लोकोंमें मुनिको जो सीधे और आक्षेपरूपसे शिक्षा दी गई है वह बहुत उपयोगी है। वह प्रकीर्ण होनेके साथ ही साथ यथास्थित भी है, अतएव उस पर ध्यान देनेकी विशेष आवश्यकता है।

यतिस्वरूप-भावदर्शन.

यो दानमानस्तुतिवन्दनाभि,
न मोदतेऽन्यैर्न तु दुर्मनायते।
अलाभलाभादि परीषहान् सहन्,

---

१ इसका सामान्य विषय मुनिहितशिक्षा है, अन्य हरेक हकिकतमें इसके अतिरिक्त अन्य कोई समान नहीं है। इन कहावतें (Maxims) कह सकते हैं। २ सहन् इति वा पाठः।

यतिः स तत्त्वादपरो विडम्बकः ॥४५॥

" जो प्राणी दान, मान (सत्कार, स्तुति और नमस्कारसे प्रसन्न न होता हो और इनके विपरितसे (असत्कार, निंदा आदिसे) अप्रसन्न न होता हो, और अलाभ आदि परीषहोंको सहन करता है वह परमार्थसे यति है, शेष अन्य तो वेशविडंबक हैं । " इंद्रवंशा.

विवेचन—कोई पुरुष आदरसत्कार करे, स्तुति करे और कोई तिरस्कार करे, निन्दा करे उन दोनों पर एकसा ही भाव रहे यह यतिस्वरूप है । इसमें भावधर्मका सूक्ष्म आचरण होता है । मानसिक क्षेत्रमें इसप्रकारका उच्च भाव रहता हो और शारीरिक क्षेत्रमें अनुकूल प्रतिकूल सर्व परीषह सहन करनेमें दृढ़ता हो वह ही तत्त्वसे यतिपन है, और यह जिसमें हो वह ही परमार्थसे यति—साधु कहलाता है; शेष अन्य तो वेश—विडंबना करनेवाले हैं । भर्तृहरिके नाटकमें उनका पार्ट करनेवाले खिलाडी अपनेआपमें कितने गुण निष्पन्न कर सकते हैं इस दृश्यके दृष्टांतसे वेशधारीका स्वरूप समझ लेना चाहिये । वेशधारीके लिये तो यह भी एक प्रकारका व्यवहार ही हो जाता है, जिससे फिर धार्मिक जीवनका अन्त आ जाता है । नाटकके खेलका खेलना छोड़कर अपनी शुद्ध दशाको जाग्रत कर । पूर्ण अनुकूल संयोग होने पर भी यदि इस प्रसंगको खो देगा तो फिर पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।

यतिको गृहस्थकी चिन्ता न करनी चाहिये ।

दधद् गृहस्थेषु ममत्वबुद्धिं,

---

१ कहा है कि ' समो य माणावमाणेसु ' " मान और अपमानमें जो समान रहे " इसीप्रकार " नवि तस्स कोई वेसो " जिसके द्वेष करने योग्य कोई भी न हो ।

तदीयतप्त्या परितप्यमानः ।
अनिर्वृतान्तःकरणः सदा स्वै-
स्तेषां च पापैर्भ्रमिता भवेऽसि ॥ ४६ ॥

"गृहस्थपर ममत्वबुद्धि रखनेसे और उनके सुख-दुःखकी चिन्तासे दुःखी होनेसे तेरा अन्तःकरण सर्वदा व्याकुल रहेगा, और तेरे तथा उनके पापसे तू संसारमें भटकता रहेगा।" उपजाति

विवेचन—'यह मेरे श्रावक हैं, ये मेरे भक्त हैं' यह ममत्वबुद्धि है, यह रागका कारण है, मोहको निष्पादन करता है और एक प्रकारका नया व्यापार कराता है। इससे और अधिकता होने पर भक्त—रागी श्रावकोंके सुखदुःखसे ऐसे यतिका मन प्रसन्न होता है अथवा दुःखी होता है। परिणाममें मनमें किसी भी प्रकारकी निर्वृत्ति नहीं रहती है, समताका अन्त होता जाता है और अनेक प्रकारका सावद्य आदेश उपदेश करते समय और गृहस्थके सलाहकारक होते समय साधुपनका नाश होता जाता है। हे यति! ये तेरे रागी हैं और ये दूसरे साधुके रागी हैं ऐसी क्षुद्रबुद्धि रखना यह तेरे जैसे ऊँची श्रेणीके प्राणियोंको शोभा नहीं देता है। उपाध्यायजीका कहना है कि 'यदि तुझसे न रहा जा सके तो मुनिपर राग करना क्योंकि विषकी औषधी विष ही होती है।' इसीप्रकार रागकी औषधी भी मुनि पर राग रखना है।[1] इसके आशयको समझ। श्रावकको जो मुनिपर राग करनेका कहा गया है वह इसलिये है कि निरागी मुनि प्रेमवश भक्ति करते हुए श्रावकोंको शुद्ध मार्ग पर लायेगा। ऐसा ही राग गौतमस्वामीका श्रीवीरप्रभुके प्रति था, परन्तु गुरु-

१ अथवा सर्पके विषकी औषधी सर्पकी मणि ही है।

का राग तो बहुत प्रशस्त होता है; इसके स्थानमें यदि तू मेरे तेरे श्रावक बनाकर और दृष्टिराग कराकर उसके द्वारा निजको तथा उनको अनन्तकाल तक जो संसारमें भटकाता है यह बहुत अनुचित है।

राग कम करनेके दो साधन है, गृहस्थका कम परिचय 'गिहिसंथवं न कुज्जा' गृहस्थका अपरिचय, व्यर्थ बातोंका परित्याग, अभ्याससें चित्तक्षेपन, शास्त्रोक्त रीतिके अनुसार नवकल्पी विहार और एक स्थानपर अशक्ति–रोगादि कारणके सिवाय विशेष न ठहरनेकी टेव यह प्रथम उपाय है, जो बाह्य व्यवहार निमित्त है; और दूसरा उपाय रागका कटुविपाकपन, आत्मपरिणतिकी अस्थिरता आदिकी चिन्तवना करना है।

गृहस्थचिन्ताके फल.

त्यक्त्वा गृहं स्वं परगेहचिन्ता–
तप्तस्य को नाम गुणस्तवर्षे !।
आजीविकास्ते[1] यतिवेषतोऽत्र,
सुदुर्गतिः प्रेत्य तु दुर्निवारा ॥ ४७ ॥

"स्वगृहका त्यागकर अन्यके गृहकी चिन्ताके परितापको सहन करनेवाले हे ऋषि ! तुझे क्या लाभ होनेवाला है ? (बहुत करे तो) यतिके वेशसे इस भवमें तेरी आजीविका (सुखसे) चलेगी परन्तु परभवमें अत्यन्त कष्टदायक

[1] 'आजीविकास्ते' इसप्रकार सर्वत्र पाठ है। जिसका अर्थ शब्दार्थमें लिखे अनुसार हो सकता है, परन्तु सकारकी अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। तेरी आजीवि एसा विशेष अर्थ होता है। 'आजीविका–आस्ते' ऐसा भाव निकल सकता है अर्थात् यतिवेशसें तेरी आजीविका है–चलती है। इसप्रकार अर्थ करनेसें उचित भाव प्रगट होता है।

दुर्गतिको न रोक सकेगा।" उपजाति

विवेचन—तेरे संसारीपनका एक घर था; उसकी चिन्ताको छोड़कर अब श्रावकोंके अनेकों घरोंकी जो तू चिन्ता करता है इसका क्या कारण है? यह 'लेने गई पूत और खो बैठी खसम' वाली बात हुई। तेरा क्या काम है? तुझे क्या लाभ है? इस पेट भरनेको यदि तू मुश्केल समझकर तूने मुनिका वेश धारण किया हो तो तुझे इतना लाभ तो अवश्य होगा कि तुझे इस वेशसे इस भवमें खानेको तो अवश्य मिल जायगा; परन्तु परभवमें महादुर्गतिमें जाना होगा। अपितु पेट भरनेमें कोई विशेषता नहीं है। तेरे समान प्रबल पुरुषार्थी तो एक दिनमें ही सम्पूर्ण वर्षकी आजीविका उपार्जन कर सकते हैं। अतएव व्यर्थ खावके लिये सब कुछ न स्वाहा कर। व्यर्थ गृहस्थचिन्ता करके तू सब खोता जाता है।

तेरी प्रतिज्ञा—तेरा व्यवहार

कुर्वे न सावद्यमिति प्रतिज्ञां,
सदन्नकुर्वन्नपि देहमात्रात्।
शय्यादिकृत्येषु नुदन् गृहस्थान्,
हृदा गिरा वासि कथं मुमुक्षुः? ॥ ४८ ॥

"मैं सावद्य न करुंगा' इस प्रतिज्ञाका तू सदैव उच्चारण करता है, फिर भी शरीरमात्रसे भी सावद्य नहीं करता है और शय्या आदि कार्योंमें तो मन और वचनसे गृहस्थोंको प्रेरणा किया करता है—फिर तू मुमुक्षु कैसे कहला सकता है?"

उपजाति

विवेचन—'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए

---

१ वापि इति वा पाठः।

तिविहं तिविहेणं इत्यादि ' अर्थात् " हे प्रभु ! सर्व प्रकारके सावद्य कार्य्योंका जीवनपर्यंत स्मरण न करूंगा, करनेका आदेश न देऊंगा, और उन सबको मन-वचन-कायासे न करूंगा, न कराऊँगा इतना ही नहीं परन्तु करनेवालेको भी अच्छा न समझूँगा । " ऐसी सख्त प्रतिज्ञा तूने चारित्र ग्रहण करते समय की है, इतना ही नहीं अपितु प्रतिदिन इस प्रतिज्ञाको तू नो बार बोलता है, पुनरावर्तन करता है, दृढ करता है; परन्तु वास्तविकतया देखा जाय तो तू एक मात्र कायासे सावद्य नहीं करता है, (क्यों कि वह साधुके वेशको शोभा नहीं देता है) लोकभय, दिखाव और ऐसे अनेकों बाह्य कारणोंसे तू कायासे विरत रहता है, अन्यथा वचन तथा मनसे तो अनेक प्रकारके आदेश और उपदेश प्रकट या गुप्तरूपसे करता रहता है, कराता है और अनुमोदन करता है ।

इसप्रकार प्रतिज्ञा न पालनेसे जीव मृषावाद बोलनेका भी दोषी होता है । निवृत्तिका सच्चा स्वपरू ध्यानमें होनेपर ही चिंतवनमें भी सावद्यका त्याग हो सकता है । संसारसे विरक्तिभाव जिसको हो गया हो वह प्राणी तो अधिक गुणप्राप्तिकी अभिलाषा रखता है । त्याग किये-छोड़े सावद्य योगोंकी ओर तो वह दृष्टिपात भी नहीं करता है । हे यति ! कई वार प्रकट अन्य शब्दोंमें भी समझा सके ऐसा सावद्य आदेश तेरेसे हो जाता है इसलिये सावधान रहना । तुझे यदि मुमुक्षु बनना हो तो इस हानिकारक प्रणालिकाको बन्द कर देना उचित है ।

प्रकट प्रशस्त सावद्य कर्मोंका फल.

कथं महत्त्वाय ममत्वतो वा,
सावद्यमिच्छस्यपि सङ्घलोके ।

न हेममय्यप्युदरे हि शस्त्री,
क्षिप्ता क्षणोति क्षणतोऽप्यसून् किम्? ॥४१॥

"महत्त्वताके लिये अथवा ममत्वपनसे संघलोकोंमें भी सावद्यकी अभिलाषा रखता है परन्तु क्या सोनेकी छुरीको भी पेटमें मारी जाय तो वह एक क्षणभरमें प्राणका नाश नहीं कर सकती है?"

उपजाति

विवेचन—इस स्थानमें प्रतिष्ठाके लेख खोदे जायेंगे, उनमें मेरा नाम रहेगा, संसारमें प्रसिद्धि होगी—ऐसी कोई यश-कीर्ति मिलनेकी बुद्धिसे, किसी मेरेपनके मोहसे और विशेषतया अज्ञानसे सावद्य कर्मोंका आदेश उपदेश हो जाता है। किसी भी कार्य्यमें यदि थोड़ीसी भी पौद्गलिक आशा रखकर अभिमान या कपट किया तो वह अशुद्ध कर्म ही होता है, फिर चाहें व प्रशस्त हो या अप्रशस्त, परन्तु उन कृत्योंसे पापबन्ध और उनके भयंकर परिणाम अवश्य होते हैं। छुरी हो फिर वे सोनेकी हो या रत्नमंडित हो, परन्तु यदि उसे उदरमें भोंकी हो तो वह अवश्य अन्तड़ियोंको बाहर निकाले बिना नहीं रहती और प्राणान्त कर देती है। इसीप्रकार वस्तुस्वभावके झूठे ख्यालसे कितने ही धर्मके बहानेसे अप्रशस्त आचरण कर अपने आत्माको कष्ट देनेवाले जीव इस निमित्तसे अनन्त संसारकी वृद्धि करते हैं। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि ममता या महत्वताके लिये जो प्रशस्त या अप्रशस्त आचरण किया जाता है वह हानिकारक होता है। उनके अतिरिक्त जो कार्य्य प्रशस्त हेतुसे किये गये हों उनका यहां निषेध नहीं है। सोनेकी छुरीको पेटमें मारी हो तो आतड़ियें निकाल डालती है, परन्तु यदि उसे म्यानमें रक्खी जाय तो वह शोभा देती है और रक्षा करती है। यह दृष्टान्त-

अत्यन्त उपयोगी है। प्राज्ञ धीमान् संत ऐसे सावद्य कार्य्योंसे दूर रहते हैं, उपदेश करते हैं तो भी पौद्गलिक अभिलाषा बिना श्रोताओंके एकान्त लाभकी अपेक्षासे करते हैं। ममत्व और महत्वताके लिये संघके लिये भी किया हुआ सावद्य चिन्तवन आत्मजीवनरूप उदरमें डालनेसे संयम प्राणको हर लेता है। छुरी लोहेकी ही है, परन्तु वह संघलोकके लिये प्रयोग की गयी है इससे सोनेकी मानी गई है। यहां ममत्व और महत्वताको शस्त्र–छुरी माना गया है, उदरको आत्मपरिणति और प्राणको चारित्रजीवन माना गया है।

निष्पुण्यककी चेष्टा, उद्धत वर्तन–अधम फल.

रङ्कः कोऽपि जनाभिभूतिपदवीं त्यक्त्वा प्रसादाद्गुरो-
र्वेषं प्राप्य यतेः कथंचन कियच्छास्त्रं पदं कोऽपि च।
मौखर्यादिवशीकृतर्जुजनतादानार्चनैर्गर्वभाग्–
आत्मानं गणयन्नरेन्द्रमिव धिग्गन्ता द्रुतं दुर्गतौ ॥५०॥

'कोई गरीब–रंक पुरुष लोगोंके अपमानयोग्य स्थानको छोड़कर गुरुमहाराजकी कृपासे मुनिका वेश धारण करता है, कुछ शास्त्रका अभ्यास करता है और किसी पदवीको उपार्जन करता है, तब अपने वाचालपनसे भद्रक लोगोंको वशीभूत करके वे रागी लोग जो दान और पूजा करते हैं उससे स्वयं अभिमान करता है और अपने आपको बादशाह समझता है ऐसोंको वारम्वार धिक्कार है! ये शिघ्र ही दुर्गतिमें जानेवाले हैं। (अनन्ते द्रव्यलिंग भी ऐसी दशामें व्यवहार करनेसे निष्फल हुए हैं।)." शार्दूलविक्रीडित.

विवेचन—संसारिक सर्व भाव अपमानके पात्र हैं। गरीबकुल, अन्यकी अपेक्षा दासपन, परतंत्रता आदि संसारके कारण होने

वाले अनिवार्य सहचारीमात्र हैं। इनका त्याग होना महान् पुण्यका उदय है। गुरुमहाराजकी महान् कृपाके होनेपर ही सदुपदेशरूप धारा इस जीवरूप क्षेत्रमें प्रवाहित होती है जिससे मुनिपनका उद्गम होता है, और उक्त अपमानके स्थानोंका त्याग हो सकता है। ऐसे महान लाभके प्राप्त होनेपर जीव शास्त्राभ्यास करता है, पण्डितपद आदि पदवियें प्राप्तकर पण्डितके नामसे संसारमें प्रसिद्ध होता है और व्याख्यान झाड़ने लगता है। योग्य जीव उपदेश सुनकर दान-शीलादि तथा पूजा-प्रभावनादि धार्मिक कार्य्य करते हैं परन्तु यह जीव बेचारा धर्मक्रियामें भी संसारकी बुद्धि रखता है, अर्थात् सांसारिक भाव-पौद्गलिक भावका त्याग नहीं कर सकता है। इसको उस समय अहंकार आता है कि अहो ! मेरे उपदेशसे ये धर्म करते हैं, मेरी आज्ञाको मानते हैं, मैं बादशाह हूँ आदि।

यही तेरी आज्ञाका पालन करते हैं ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। सिपाही वारंट लेकर आवे तो उसके आधीन होनेवाला प्राणी सिपाहीके हुकमके आधीन नहीं होता है, परन्तु मजिस्ट्रेटद्वारा निकले हुए वारंटके आधीन होता है। इसीप्रकार तेरे पास धर्मका वारंट (जिनेश्वर महाराजके वचनरूप हुकमा और उनसे कहे अनुसार पहना हुआ वेशरूप युनिफोर्म) है उसीके वे आधीन होते हैं, और उसीका आदर करते हैं। इसमें यदि तेरे निजके मानकी मन्यता होती तो ये दोनों अब तेरे पास नहीं थे उस समयकी तेरी पहिली स्थितिका स्मरण कर।"

---

१ अमुक पुलिस (Police) या लश्कर में रहनेवाले द्वारा पहिना जानेवाला एकसा वेष (Uniform)

श्रीउपमिति भवप्रपंचके पीठबंधमें कर्त्ता अपना चरित्र लिखते हैं, उसमें निष्पुण्यक नामक अपना रंक जीव गुरुके प्रसादसे साधुभावको प्राप्त होता है तब फिर अहंकार करके किस प्रकार अधःपतनको प्राप्त होता है इसका स्पष्ट चित्र दिया गया है (मूल पृष्ठ १४१, भाषांतर पृष्ठ १६९ देखें) और वास्तविक हक़ीकत भी यही है। विषयकषायमिश्रित दंभसे चाहे जितनी धर्मकरणी क्यों न की जावे परन्तु उसमें लाभ कुछ भी नहीं है। इससे पुण्यबंध होता है तो वह भी संसार है। अतएव पौद्गलिक फलकी अपेक्षा न रखकर शुद्ध अध्यवसायसे धर्मक्रिया करनी चाहिये। अभिमानसे तो यह जीव अनेक बार धनव्यय करता है, कार्श्य करता है, कष्ट भोगता है, और प्राणान्त उपसर्गोंको भी सहन करता है; परन्तु इसके आशय शुद्ध नहीं है जिससे वैसी फलप्राप्ति नहीं हो सकती है।

चारित्रप्राप्ति-प्रमादत्याग.

प्राप्यापि चारित्रमिदं दुरापं,
स्वदोषजैर्यद्विषयप्रमादैः ।
भवाम्बुधौ धिक् पतितोऽसि भिक्षो !,
हतोऽसि दुःखैस्तदनन्तकालम् ॥ ५१ ॥

" अत्यन्त कष्टसे भी कठिनतासे प्राप्त होनेवाले चारित्रको ग्रहणकर अपने दोषसे उत्पन्न किये विषय और प्रमादके कारण हे भिक्षु ! तू संसारसमुद्रमें गिरता जाता है जिसके परिणाममें तुझे अनन्तकाल तक दुःख भोगना पड़ेगा। "

उपजाति.

विवेचन—ऊपरके श्लोकका भाव यहाँ प्रकट किया गया है। कर्मबन्धनद्वारा तेरे निजके उत्पन्न किये विषयप्रमाद आदि

है और उनका यदि प्रचार होने देगा तो फिर अनन्तकाल तक तुझे दुःख भोगने पड़ेंगे । मुख्य बात यह है कि विषयप्रमाद और तज्जन्य क्रिया भवभ्रमणका ही हेतु है । सुख जीव चाहे जैसा जीवन चलावे तो फिर यदि वह वास्तविकतया अनन्त दुःखसागरमें डूबना चाहे तो उसमें भी कोई विशेषता नहीं है ।

बोधिबीजप्राप्ति—आत्महित साधन.

कथमपि समवाप्य बोधिरत्नं,
　युगसमिलादिनिदर्शनाद्दुरापम् ।
कुरु कुरु रिपुवश्यतामगच्छन्,
　किमपि हितं लभसे यतोऽर्थितं शम्? ॥५२॥

" युगसमिला आदि सुप्रसिद्ध दृष्टान्तोंद्वारा महान् कठिनतासे प्राप्त होनेवाले बोधिरत्न (समकित)को प्राप्त कर लेनेपर शत्रुओंके वशीभूत न होकर कुछ आत्महित कर, कि जिससे मनोवाञ्छित सुखकी प्राप्ति हो । "　　पुष्पिताग्रा

विवेचन—समकित प्राप्त होनेके शास्त्रकार ग्यारह कारण बतलाते हैं अनुकम्पा, अकाम निर्जरा, अज्ञान तप, दान, विनय, अभ्यास, संयोगविभाग, दुःख, उत्सव, ऋद्धि और सत्कार । इस समकितकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है । मनुष्यजन्मकी दुर्लभता बतानेके लिये शास्त्रमें जो दश दृष्टांत बताये गये हैं बहुत प्रसिद्ध हैं । जिनका सम्पूर्ण विवेचन कथासहित इस ग्रन्थमें पहिले हो चुका है । उन दृष्टान्तोंमेंसे युगसमिलाके दृष्टान्तमें

---

१ न, न र, य (१-१) न, ज, ज र, ग (१०-४) प्रत्येक चरणमें अनुक्रमसे ११-१२, १२-१३ अक्षर हैं । ' अपरवक्त्र ' के ऊपर एक गुरु अक्षर रखनेसे ' पुष्पिताग्रा ' होता है । यह विषम वृत्त है । ' यान्ते पुष्पिताग्रा ' छन्दोनुशासन ' अयुजि न युगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ' वृत्तरत्नाकर ।

हमने पढ़ा है कि दोनों हिस्सोंमें अर्धराज प्रमाणका स्वयंभूरमण नामक समुद्र है, उसमें एक दिशामें जोत और दूसरी दिशामें उसकी समिला (जोतमें जोतनेके लिये डालनेकी खीली) डाली गई हो, तो वे तैरते तैरते इतने दूर जाकर इकट्ठे हो, ऐसा होना कठिन है, कभी एक स्थान में आ भी जावे तो भी पास पास आना कठिन है, और पास पास आनेपर भी जुएमें समिला पिरोई जाना तो बहुत ही कठिन है, लगभग अशक्य ही है। कदाच ऐसा होना तो संभव है किन्तु मनुष्यभव प्राप्त होना तो इससे भी अधिक कठिन है और बोधिबीज प्राप्त होना तो इससे भी अधिक कठिन है।

समकित प्राप्तकर यदि फिरसे कामक्रोधादिक शत्रुके आधीन हो जायगा तो और अधिक भटकना पड़ेगा। हे यति! अतएव तुझे तो आत्महित करनेके लिये ही उद्यम करना चाहिये और जबतक तुझे तेरा इच्छित सुख न प्राप्त हो-मोक्ष न मिले-तब तक प्रबल पुरुषार्थ करतेही रहना।

शत्रुओंके नाम.

द्विषस्त्विमे ते विषयप्रमादा,
असंवृता मानसदेहवाचः।
असंयमाः सप्तदशापि हास्या-
दयश्च बिभ्यच्चर नित्यमेभ्यः ॥५३॥

" तेरे शत्रु-विषय, प्रमाद, विना अंकुश प्रवर्तनेवाला मन, शरीर और वचन, सत्तर असंयमके स्थान और हास्यादि ६ हैं। इनसे तू निरन्तर सचेत होकर (भय करके) चलना। "

उपेन्द्रवज्रा.

विवेचन—इस श्लोकमें तेरे शत्रुकी नामावली देकर तुझे

बतलाते हैं, और उनसे सदैव सचेत रहनेका इसमें उपदेश किया गया है शत्रुओंके नामः—

स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये इन्द्रियोंके मुख्य पांच अथवा उत्तरभेदरूप २३ विषय हैं।

मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा ये पांच प्रमाद हैं।

मन, वचन और काया के संवर रहित व्यापार।

सयमके सत्तर स्थान पर अभाव अथवा अनुपयोग असयम।

पांच महाव्रत, पांच इन्द्रियोंका दमन, चार कषायों का त्याग और तीन योगोंका रुधन, ये सत्तर सयमके भेद हैं। इसका अभाव असंयम कहलाता है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगप्सा ये ६ नोकषाय हैं, कषायको उत्पन्न करनेवाले हैं और ससारकी वृद्धि करनेवाले हैं। इसीप्रकार स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये तीनों भी नोकषाय हैं और ससारकी बहुत वृद्धि करनेवाले हैं।

ये सब महाशत्रु हैं जिनमेंसे कई मित्र भावसे दुश्मनी करनेवाले हैं और जीवको आकुलव्याकुल कर डालते हैं। इनसे सावध रहनेकी बहुत आवश्यकता है। नाम देनेका भी यही कारण प्रतीत होता है कि यह जीव इनको पहचानकर, भय रखकर इनसे सचेत रहे।

सामग्री–उनका उपयोग.

गुरूनवाप्याप्यपहाय गेह–
मधीत्य शास्त्राण्यपि तत्त्वताञ्चि।
निर्वाहचिन्तादिभराद्यभावे–
ऽप्यूपे न किं प्रेत्य हिताय यत्नः ? ॥५४॥

"हे यति! महान् गुरुकी प्राप्ति हुई है, घरबारको छोड़ा, तत्त्व प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थोंका अभ्यास किया और निर्वाह करने आदि चिन्ताओंका भार हट गया, फिर भी परभवके हितके लिये यत्न क्यों नहीं करता है?"

उपजाति.

विवेचन—हे साधु! तुझे सद्गुरुकी प्राप्ति हुई है, तूने घरबार छोड़ दिये हैं, पैसे छोड़े, स्त्री छोड़ी और सबसे अधिक द्रव्यानुयोगकी फीलासोफीका तुझे ज्ञान मिला है, इसीप्रकार इन सबसे अधिक तेरी भरणपोषणकी चिन्ता दूर हो गई है, तेरे व्यापार करनेकी, अर्जियें लिखनेकी, दवा देनेकी, नाम लिखनेकी, हिसाब करनेकी, खटपट करनेकी, राज्य चलानेकी ऐसी किसी भी प्रकारकी चिन्ता नहीं रही है इसीप्रकार तेरे पुत्रपुत्रियोंके लालनपालनकी, पढ़ानेकी या विवाह करनेकी चिन्ता नहीं है, स्त्रीके लिये न गहने घड़वाने हैं न साड़ियें खरीदनी हैं, न घर बनवाने हैं न उनकी मरम्मत करानी है—ऐसी किसी भी प्रकारकी उपाधि नहीं है, फिर भी तू संसारमें—विषयकषायमें—लीन रहता है यह तेरी महान् भूल है। संसारमें डूबनेके साधन—निमित्तोंको तूने दूर कर दिये हैं फिर भी संसारमें फँसता जाता है यह तेरे दीर्घदर्शीपनकी कमी है। तू यह सब कुछ जानता है फिर भी परभवका हित हो वैसा प्रयास क्यों नहीं करता है? तू दोनो भवोंको बिगाड़ता है, अतएव विचार कर जाग्रत हो और कार्य्य सिद्धिके मार्गपर आजा।

संयमकी विराधना न करना,

विराधितैः संयमसर्वयोगैः,
पतिष्यतस्ते भवदुःखराशौ।

शास्त्राणि शिष्योपधिपुस्तकाद्या,
भक्ताश्च लोकाः शरणाय नालम् ॥ ५५ ॥

" संयमके सर्व योगोंकी विराधना करनेसे तू भव भव दु खके फेरमें पड़ेगा तब शास्त्र, शिष्य, उपधि, पुस्तक और भक्तलोग आदि कोई भी तुझे शरण देनेमें समर्थ न होंगे।"

उपजाति

विवेचन—संयमके सत्तर भेदकी विराधनाका क्या फल होगा यह हम ऊपरके श्लोकों में कई बार पढ़ चुके हैं। दुर्गति गमन और अनन्त भ्रमण ये संयम विराधनाके अनिवार्य फल हैं। यह निर्विवाद बात है, तब फिर तेरा क्या आधार है? क्या तूने इसका कभी विचार किया है? मानो कि तूने बड़े २ आचारांगादि सूत्र पढ़े होंगे, अनेकों शिष्योंको इकट्ठा किया होगा, या उपधिका संग्रह किया होगा, या पुस्तक-पन्नोंका भंडार किया होगा, या तुझे नमन करनेवाले अनेकों श्रावक तेरे माफिक होंगे, परन्तु दुर्गतिमें जाते समय इनमेंसे कोई भी तुझे साथ न दे सकेंगे, तेरी सहायता न करेंगे, अपितु जितने ही तो तुझे गिरते हुएको और धक्का देंगे। इसप्रकार तुझे कोई भी सहायता देनेमें समर्थ नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि तुझे संयम गुणकी विराधना न करनी चाहिये। पराई वस्तुकी आशा रखना निरर्थक है। पुद्गल तथा परजीव इस जीवकी सहायता नहीं कर सकते हैं। यह जीव अकेला ही है, अतएव परभवके लिए ऐसे अवलम्बनकी खोज करनेके स्थानमें ऐसा प्रसंग ही न आने पावे ऐसा कार्य्य कर। तात्पर्य्य यह है कि साधुपनमें संयम पालनेका तेरा जो कर्तव्य है उसको समझकर तदनुसार चलकर आत्माको अनन्त दुःखराशिमें पड़नेसे बचा।

संयमसे सुख-प्रमादसे उसका नाश.

यस्य क्षणोऽपि सुरधामसुखानि पल्य-
कोटीर्नृणां द्विनवतीं ह्यधिकां ददाति।
किं हारयस्यधम! संयमजीवितं तत्,
हा हा प्रमत्त! पुनरस्य कुतस्तवाप्तिः? ॥५६॥

" जिस (संयम) का एक क्षण (मुहूर्त)[1] भी बानवें क्रोड़ पल्योपमसे अधिक समयतक देवलोकके सुखको देता है, ऐसे संयम जीवनको हे अधम! तू क्यों हार जाता है? हे प्रमादी! तुझे फिरसे इस संयमकी प्राप्ति कैसे होगी?" वसंततिलका.

विवेचन—टीकाकार लिखते हैं कि संयमजीवनका एक क्षण भी मनुष्यको देवलोकके सुख बानवे क्रोड़ पल्योपमसे अधिक समयतक देता है।

सामाइयं कुणंतो, समभावं सावओ य घडिय दुगं।
आउं सुरेसु बंधइ, इत्तियमित्ताइं पलियाइं॥
बाणवइ कोडीओ, लक्खागुणसट्ठि सहसपणवीसं।
नवसय पणवीसाए, सतिहा अडभागपलियस्स॥

" सामायिक करते समय श्रावक दो घड़ीतक समभावमें रहता है तब वह इतना देवताका आयुष्य बांधता है। बानवे क्रोड़, उनसठ लाख, पचीस हजार नो सो पचीस और तीन आठवन भाग (९२५९२५९२५ $\frac{3}{8}$) पल्योपमका देवायु बांधता है" इति प्रतिक्रमणसूत्रवृत्तौ.

एक क्षणमात्र चारित्र पालनेसे इतने कालतक देवताका महा सुख प्राप्त होता है। इस सुखका ख्याल आना भी कठिन

---

[1] मुहूर्त-दो घड़ि

है। एक दिनमात्रका चारित्र पालकर कितने ही जीव अनन्त काल तक अनन्त सुख भोग चुके हैं जिनके दृष्टान्त शास्त्रमें सुप्रसिद्ध हैं। ऐसा सुख कब मिल सकता है? जब सामायिक बराबर पाला हो, विराधना न की हो तब ही यह सुख प्राप्त हो सकता है, और इसी कारणसे शास्त्रकार भावस्तवसे अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष प्राप्ति कहते हैं।

सामायिक अर्थात् समताका जिसमें लाभ हो। साधु अपना सम्पूर्ण समय सामायिकमें ही व्यतीत करता है। पढ़नेवालेको आश्चर्य होगा परन्तु साधु खाते, पीते और विहारादि प्रत्येक क्रिया करते समय भी सामायकमें ही हैं, कारण कि सर्व कालमें वे आत्मिक उन्नति और संयम पालनेके उपायमें ही लगे रहते हैं, एक क्षयमात्र सामायिकमें होनेसे तो ऊपर कहे अनुसार स्थूल सुख मिलता है। ऐसा महान ऊंच प्रकारका साधुजीवन तुझे प्राप्त हुआ है। अब यदि थोड़ासा प्रमाद करके जो तू आलस्यमें समय व्यतीत करेगा या विषयकषायमें प्रवृत्ति करेगा तो अनन्त संसारकी वृद्धि होगी। ऊपर कहे अनुसार महान् लाभ न होगा और तत्पश्चात् संयमकी प्राप्ति होना भी कठिन होगा।

संयमका फल–ऐहिक आमुष्मिक–उपसंहार.

नाम्नापि यस्येति जनेऽसि पूज्यः,
　शुद्धात्ततो नेष्टसुखानि कानि।
तत्संयमेऽस्मिन् यतसे मुमुक्षो-
　ऽनुभूयमानोरुफलेऽपि किं न?॥ ५७॥

"संयमके नाममात्रसे भी जो तू लोकोंमें पूज्य है तो यदि यह संयमगुण शुद्ध हो तो कौनसा इष्ट फल तुझे न मिल

सके ? जिसे संयमके महान् फल प्रत्यक्ष अनुभवमें आये हैं उस संयमके लिये हे यति ! तू यत्न क्यों नहीं करता है ? "

उपजाति.

विवेचन—गम्भीर आशयवाला यह श्लोक उसके अधिकारियोंको वहुत मनन करने योग्य है। हे मुनि ! तुझे वस्त्र, पात्र, आहार भेट करने के लिये मनुष्य वाध्य करते हैं, तेरी वन्दना करते हैं, पूजा करते हैं, नमस्कार करते हैं और सत्कार करते हैं, इस सबका क्या कारण है ? तू संयमवान् है, ऐसे नाममात्रसे ही तुझे इतना महान् मान मिलता है। जो राजा अथवा सेठो गवर्नरोंके सामने सिर झूकाते हुए भी विचार करते हैं वे तेरे पास पंचांग प्रणाम करते हैं, यह सब संयमके लिये है। कितने ही अप्रमाणिक व्यौपारी पैसे पैदा करलेते हैं परन्तु वे प्रगट रूपसे प्रमाणिक बने रहें तब ही ऐसा कर पाते हैं। यदि स्पष्टरुपसे कह दे कि " मैं अप्रमाणिक हुं " तो उसका व्यवहार नहीं चल सकता है। इसीप्रकार संयमके महान् गुण तेरेमें हैं ऐसा समझकर तुझे लोग नमस्कार-पूजन करते हैं। ऐसे गुण यदि वास्तवमें तेरेमें होंगे तो तुझे अत्यन्त लाभ होगा। संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है कि जो संयमवालेको अलभ्य हो। यह सच है कि संयमवानको इच्छा नहीं होती, परन्तु मोक्षसुख तो उसको भी इष्ट है और वह सुख भी संयमसे प्राप्य है। ऐसे संयमके फलको विचार कर मुमुक्षु जीव शान्त चित्तसे आदरणीय होता है उसीको आदरते हैं। इस अगत्यकी हकिकत पर साधुजीवनका आधार है अतएव प्रत्येक अधिकारीको इस विषयपर शान्तिके समयमें एकाग्रचित्तसे लाखों वक्त विचार करना चाहिये। संसारकी दृढ़ भावना छुटनेका और स्वकर्त्तव्य पुरा करनेका द्वार यह विचार खोल देगा।

इसप्रकार यह यतिशिक्षाधिकार पूरा हुआ। यह अधिकार बहुत उपयोगी है। वेशमात्रसे गर्व न करना, लोकरंजनकी प्रवृत्ति नहीं करना, आत्मजागृति का शुद्ध दृष्टिबिन्दु हृदयमावना सन्मुख सर्वदा रखना, मन, वचन, कायाके योगोंकी शुभ प्रवृत्ति करना, लोक सन्मानसे आत्मिक गुणों पर होनेवाला प्रभाव प्रमादसे होनेवाला अधःपात, किसी वस्तुपर मूर्छा न रखनेका उपदेश, परिग्रह किसको कहते हैं उसका शुद्ध स्वरूप, उपाधि, वस्त्र-पात्र पर मूर्छा न करनेका सबल कारण, विषय प्रमादका त्याग, भावना करनेका फल, संयमगुणका स्वरूप, उसके पालनेका फल, उसके विरोध करनेका दुष्ट विपाक, समिति और गुप्तिका स्वरूप, साधुधर्ममें सुख, उसकी समानता, सावद्य कृत्य और मुनिकृत्य आदेशका परस्पर सम्बन्ध, अन्तमें संयमसे होनेवाला स्थूल सुख, और *संयमके नाममात्रकी ओर लोगों का पूज्यभाव*-आदि बातें अल्प शब्दोंमें भी बहुत जोर दे देकर इसके योग्य जीवके मनपर प्रभाव डालनेवाली हैं और मुमुक्षु भव्यजनोंको भी शुद्ध गुरुकी पहचानके लिये और विशेष गुणप्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न करनेके लिये उनके स्वरूपको जाननेकी विशेष आवश्यकता है इसलिये उनके लिये भी यह बात उपयोगी है।

इस अधिकारमें अनेकों बातोंका समावेश किया गया है। इससे अन्य सब अधिकारोंसे यह अधिकार बड़ा होगया है, किन्तु वस्तुकी गम्भीरताको देखते हुए कुछ अधिक लिखा नहीं जान पड़ता है। अपितु इसमें लिखे प्रत्येक श्लोकपर बहुत विवेचन किया जा सकता है, क्योंकि आशय बहुत गम्भीर है, ऐसा होनेपर भी अधिकारीकी उच दृष्टिको देखकर और विषयके साथ पाठकोंको विशेष परिचय होगया है इसलिये यहां कम विवेचन किया गया है। ग्रन्थका यह विभाग-बहुत गहरे भावसे लिखा

गया है। एक तो यतिवर्ग विद्वान वर्ग है, उनके लिये इतना विवेचन ही यथोचित है। जो योग्य होनेपर भी रास्तेसे हठ गये हैं उनको मार्गपर लानेके लिये इतने शब्द काफी है। जो संयमके रास्तेपर आये ही नहीं हैं वे भी इसमें रहे सुख तथा परिणामकी ओर लक्ष्य रख सके ऐसी योजना ग्रन्थकर्त्ताने रखी है और उस योजनापर लक्ष्य रखकर ही विवेचन किया गया है। विवेचन पढ़नेपर इस वर्गके मनमें भय उत्पन्न हो जाता है और वह संयमके सन्मुख होते ही रुक जाता है ऐसा न होने देनेके लिये विशेषतया ध्यानमें रखा गया है; परन्तु चौथा वर्ग जो वक्र होकर अपने दुष्ट आचरणका बचाव करता है, संयमधारी होनेपर भी गृहस्थी से भी विशेषतया इन्द्रियोंको स्वतंत्र छोड़ देते हैं और साधुके वेशमें आजीविका ही चलाते हैं वे सामान्य उपदेशसे कभी भी नहीं सुधर सकते हैं। उन पर चाहे जितने वाक्प्रहार क्यों न किये जाय किन्तु वे सब व्यर्थ हैं। इनके लिये कहीं कहीं पर कठोर शब्दोंका प्रयोग किया गया है किन्तु उनसे यदि वह सचेत होकर सुधर सके तो ग्रन्थका उद्देश्य पूरा हो; फिर भी ग्रन्थकर्त्ताने अपने कर्त्तव्यपालन निमित्त उनके लिये अत्यन्त कठोर शब्दोंका प्रयोग नहीं किया है और विवेचनमें भी इस बात पर बहुधा लक्ष्य रखा गया है।

इस जीवको ऐसा प्रतीत होता है कि मुनिमार्ग बहुत कठिन है। इसका यह कारण है कि जीवका अनादि अभ्यास इन्द्रियोंका सुख भोगना और मनको निरंकुश छोड़ देना हो गया है। प्रसंगके उपस्थित होनेपर यह जीव प्रमाद तथा कषाय करने से नहीं चूकता है। पर्वत पर चढ़ना कठिन है इसीप्रकार गुण-स्थान प्राप्त करनेमें प्रबल पुरुषार्थकी आवश्यकता होती है। यह

पुरुषार्थ जब तक न हो तबतक यह मार्ग कठिन जान पड़ता है, परन्तु एक बार रागद्वेष और संसारका सच्चा स्वरूप जान लेने पश्चात् और आत्मिक तथा पौद्गलिक भावोंके अन्तरको जान लेनेके पश्चात् संसार कड़ुवा विषके समान प्रतीत होता है। इस-प्रकारके ज्ञानगर्भित वैराग्यवाला जीव कभी भी सांसारिक भावों-को नहीं चाहते हैं, थूके हुएको नहीं चाटते और वस्तुतः उनपर दुर्गच्छा रखते हैं। जो इस स्वरूपको भलिभांति न समझे हो अथवा समझकर पतीत हुए हो वे कभी कभी विषयादिकके आधीन हो जाते हैं, पैसे रखते हैं, स्त्री सम्बन्ध करते हैं और धर्मके झूठे बहानेसे यांत्रिक व्यवहार जैसे त्याज्य कार्योंको भी करते हैं। यह सब संसार है। इसमें वस्तुस्थितिका सच्चा ज्ञान नहीं, बोध श्रद्धा भी नहीं, और संप्रदायके प्रचलित रिवाजोंका अनुसरण भी नहीं। इसप्रकारकी चेष्टा क्वचित देख कर मुनि-मार्ग पर अप्रीतिभ करना चाहिये। यह मार्ग बहुत उत्तम है इतना ही नहीं परन्तु सर्वोत्तम है, समतामय है, मोक्षसुखकी प्रसादी है और सब क्लेशोंका नाश करनेवाला है। इस मार्गमें आत्म-कल्याणकी ओर लक्ष्य रख कर जितना प्रयास किया जाय उतना ही लाभ होता है और जिसे लाभका क्षय नहीं होता। अपितु जो इस मार्गको न आदर सकते हो उनको भी ऐसे गुरुओंके प्राप्त करनेकी इच्छा रखना चाहिये और उसकी ओर शुभ दृष्टि रखना चाहिये। इच्छा रखनेसे और प्रयास करनेसे इच्छित वस्तुकी योग्य समयमें प्राप्ति होती है।

जो दुनियाके व्यवहारोंसे पर रहकर दुनियाको उपदेश देते हों उनके सम्बन्धमें अभिप्राय प्रगट करते उस प्रकारकी शैली होनी चाहिये। जो धार्मिक विषयों पर बड़े २ भाषण देते हों, दुनियाकी नजरमें कामक्रोधादिकसे मुक्त समझे जाते हों, वे भी

यदि प्राकृत पुरुषके समान विषयांध अथवा इन्द्रियवश हो जाय तो उनका व्यवहार माफ करने योग्य न होगा, और ऐसे क्षुल्लक मनुष्योंको तो समुदाय शीघ्र ही दूर कर डालता है; फिर भी कितनी वार मनुष्य प्रगट हक़ीकतमें भी सराग दृष्टिके कारण भूल करते हैं। डोरा चिट्ठी करनेवाले, छड़ी पुकरावनेवाले, रेलमें यात्रा करनेवाले, स्त्री सम्बन्ध करनेवाले अथवा वाड़ी गाड़ी रखनेवाले अथवा ऐसे यति गोरजी या साधु धर्मके नाम पर काली टीकी लगानेवाले होते हैं। उनको जो रागसे सन्मान मिलता है वह अनिष्ट है। ऐसा व्यवहार तो सामान्य पुरुषके लिये भी हास्यप्रद होता है अतः ऐसे व्यवहारवालेको दूर करनेमें विलम्ब न होना चाहिये। विशेषतया साधुओंको अपने वर्तनको उच्च बनानेकी चिन्ता रखनी चाहिये। उनका व्यवहार अन्य संसारी जीवोंके व्यवहारसे बहुत ऊँचा होना चाहिये। स्थूल बाबतोंमें ही नहीं परन्तु मानसिक विचारों और कषायादिककी मन्दतामें भी वे ऊँच भूमिका पर होने चाहिये। इस बात पर सम्पूर्ण अधिकार में वारंवार जोर दिया गया है। जमानेका रंग बदलता जाता है। इसलिये प्रपंच, अज्ञान और इन्द्रियवशताका त्याग कर नये जमानेके अनुसार शुद्ध उपदेश करनेकी बहुत आवश्यकता है।

साधुओंके व्यवहारकी उत्तम शैली होनी चाहिये, फिर भी आजकल अभिमानसे हुआ समुदाय भेद और योग्यता न होनेपर भी पदवीके लिये लोभ कई स्थानोंमें देखा जाता है। मुनिसुन्दरसूरि इस स्थितिको पांचवे आराका भाव कहते हैं। इससे अधिक क्या कहें ? समयकी आवश्यकताको समझ कर, अन्दरका विक्षेप दूर कर धर्मप्रभावना करने निमित्त साधुओंको उद्यत होना चाहिये। तिस पर भी काल महात्म्य कहो या ग्रह ऊलटे

कहो या चाहे जो कहो, परन्तु साधुजीवनके पाससे जिस स्पष्ट उपदेशकी और वर्तनकी आशा होती है वह उस वर्गके बुद्धिशाली भी नहीं समझ सकते हैं । व्यर्थ समुदाय भेद अब छोड़ देना चाहिये और शास्त्रोक्त नियत्रणाओंको कायम रख शासनके सामान्य हित निमित्त एकसा उद्यम करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेकी बहुत आवश्यकता है । इस विषयमें साधु बहुत कुछ कर सकते हैं । धार्मिक उन्नति होनेपर पुण्यबलकी जागृति होगी जिससे सामान्य स्थिति भी सुधर जायगी । साधु आदि धर्मके सरक्षण कार्य्यमें बहुत कुछ कर सकते हैं इसका यह कारण है कि उनको ससारकी उपाधि नहीं, भरणपोषणकी चिन्ता नहीं, पुत्रपुत्रियोंका विवाह करना नहीं, परहाट चलाने नहीं और मनको अन्यत्र रोकना पड़े ऐसा कोई कार्य्य नहीं और न किसी की परवाह ही है ।

इस अधिकारमें कभी कभी पुनरावर्तन हुआ है । विषयकी गंभीरता और गहनताको देखकर प्रेरणा करनेके लिये ऐसा करना युक्त है । प्रत्येक विषयपर प्रसगानुसार नोट लिखे गये हैं इसलिये उपसहारमें अब और विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

इस यतिशिक्षा उपदेश में बहुत कुछ कहा गया है । हे यति ! मनुष्यभव आदि सयोग मिलने पश्चात् और ससारसे निकलनेका ऐसा उत्तम द्वार प्राप्त होने पश्चात् भी यदि तू उचित लाभ न उठायगा तो फिर तुझे हाथ मलने पड़ेंगे । इसभवमें थोड़ेसे समय तक मनपर अंकुश रख इन्द्रियोंके विषय तथा कषायोंको छोड़ देगा तो फिर तुझे महान् सुख प्राप्त होगा, दुःखका नाश होगा और परवस्तुका आशीभाव मिट जायगा । हे साधु ! तेरा जीवन समिति और गुप्तिमय है । ये अष्टप्रवचन माता है और इनको पालनेके लिये प्रयत्न करना तेरा मुख्य कर्तव्य है । विशेष

विस्तारसे संयमके सत्तर भेद और चरणकरणसित्तरीको पालना तेरा साध्यबिन्दु है ।

हे श्रावक ! साधुमार्ग ऐसा कठिन नहीं है कि तू चाहे तो न बना सके । मनपर थोड़ा अंकुश रख, वस्तुस्थितिका जरा विचार कर, और तेरा क्या है और तुझे क्या करना चाहिये इसका बराबर विचार कर । फिर देख कि संयममें क्या कठिनता है ? गुण प्राप्त करनेके लिये गुणी पुरुषके चरणोंकी सेवा करना तेरा काम है । देशविरति जीव सर्वविरति गुणप्राप्त करनेकी इच्छा रखे तब ही उनका देशविरति गुण बना रह सकता है ऐसा शास्त्रकारोंका उल्लेख है । तू साधुपर प्रेम रख और बन सके तो वैसा जीवन बना । यह लेख साधुओंकी परीक्षा निमित्त लिखा हुआ होनेसे श्रावकोंको उतना उपयोगी नहीं है कि जितना साधुओंको ऊंची हदपर चढ़ने और आत्महित विचारनेके लिये उपयोगी हो; परन्तु श्रावक भी साधुके वेषके समान अपने श्रावक-पनका व्रत उच्चारणादिके वेशकी कल्पनाका विचार करे तो उनको भी अपनी आत्माको ऊंची हदपर चढ़ाने निमित्त यह लेख अक्षरशः उपयोगी सिद्ध होगा । इसप्रकारका जीवका अनादि स्वभाव होनेसे जीव दूसरोंके सरसव जैसे दूषणको मेरुके समान देखनेको हजारों नेत्रवाला हो जाता है, परन्तु अपने मेरु जैसे दूषणको सरसवके समान भी न देखनेवाला होनेसे इसके लिये उसको एक नेत्र मिला हो ऐसा भी मालूम नहीं होता है । समकित, देशविरति या सर्वविरतिके गुण दिनपरदिन विशेष प्राप्त करने निमित्त सर्व भव्यजीवोंको उन सब गुणोंके उत्सर्ग मार्गमें बहुधा यह ही विचार होता है कि हमारे हृदयकी स्थिति कैसी है ? दूसरे जीव समकितवंत, देशविरतिवंत या चारित्रवंत हैं या नहीं इसकी परीक्षा उनके बाह्य आचरणोंपरसे ही करनी

चाहिये । अन्यथा अल्प ज्ञानदशाके कारण अपने लिये अपवाद मार्ग से विचार करते सर्व अपने आत्माको गुणनिरुपम मानते और दूसरोंके लिये उत्सर्गमार्गानुसार परीक्षा करते दूसरोंका हृदय विशिष्ट ज्ञान सिवाय छद्मस्थको गम्य न होनेके कारण कोई भी दूसरे गुणी न जानपड़े, ऐसा होनेपर भी स्वयं अभिमानी हो सर्व गुणियोंको अवगुणी समझ, उनकी अवज्ञा कर बोधिबीज अनन्तकाल तक न मिल सके ऐसा परिणाम ला देते हैं, इसीलिये अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी महाराजने वचननिर्युक्तिमें रहनेका स्थान, विहार आदि बाह्य अनुष्ठानपर दृष्टि डाल कर साधुपनकी परीक्षा करनेको लिखा है । वहांपर वे महात्मा इतना दावेके साथ कहते हैं कि कदाचित् अभव्यादिकके शुद्ध आचरणको देखकर उनको शुद्ध मान कर जो शुद्धिसे भारी भाव सहित वंदन किया जाय तो वन्दन करनेवालेको किसी प्रकारकी हानि न होकर विशेष लाभ ही होता है[1] ।

इस जमानेमें इस उपरोक्त विचार निरन्तर ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता होनेसे इतना अधिक विवेचन किया गया है । सदैव बाह्य आचरण कालानुसार प्राप्त हुई संघयण आदि सामग्रीके अनुसार ही हो सकता है । यह अपने व्यक्तित्व पर अपनी इसका विचार करनेसे शीघ्र ही अनुभवमें आ सकता है । यदि शास्त्रके प्रत्येक वचन सुपरिणाममें अनुभव न किया जाय तो वह शास्त्र शस्त्ररूप बन कर, प्राणीको अपनेमें गुणीपनका अहंकार

---

१ इस दृष्टिबिन्दुमें और गुरुशुद्धि अधिकारके दूसरे तीसरे श्लोकमें वर्णित दृष्टिबिन्दुमें लेशमात्र भी विरोध नहीं है यह शब्दोंको अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये, क्योंकि वन्दन करनेवालेका परोक्षमें प्रश्न हुआ हुआ है और वह साधुपन आदि यथार्थ साधुके रूपमें ही देखता है और ऐसा होनेसे वन्दन करनेवालेको शुद्ध फलकी प्राप्ति हो सकती है और होती है ।

करा कर, दूसरे गुणियोंमें गुणिपनकी कमी होना बतला कर उनकी अवज्ञा और अपने उत्कर्षद्वारा अनन्त कालचक्र तक संसारमें भटकाता है।

मुनि जीवन एकान्त परोपकारपरायण है। इसमें आलसरूप निवृत्ति नहीं है, परन्तु विशुद्ध प्रवृत्तिगर्भित निवृत्ति है और तेरे सर्व पुरुषार्थको उचित मार्ग देकर परोपकार करनेकी तेरी वृत्तिको मार्ग बतलावे ऐसा परम विशुद्ध यह मार्ग है। इस मार्गका एक क्षण भी असंख्य वर्षोंतक उत्कृष्ट सुख देता है और इसका नाम भी वन्दन नमस्कार स्तुति कराता है।

हे यति ! इस अधिकारमें कड़वी औषधि बतलाई गई है, परन्तु देनेवाले वैद्यके अन्तरंग आशयको समझनेका प्रयत्न करना। संसारत्याग यतिजीवन है। वेश बदलना सच्चा संसारत्याग नहीं है, परन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादि अन्तरंग शत्रुओंका नाश करना संसारत्याग है। इस छोटीसी बातको ध्यानमें रखकर यदि तेरेसे किसी दूसरेका उपकार न हो सके तो न सही, परन्तु तू तेरे आत्माकी तो कुछ हानि न कर। परनिंदा, मत्सर, ईर्षा, माया आदि सुप्रसिद्ध अठारह पापके स्थानोंका त्याग करना और तेरा क्या कर्त्तव्य है उसका अहर्निश विचार करना, इसीप्रकार तेरे योग्य आवश्यक पडिलेहणादिक क्रियामें सावधान रहना। यदि तेरेमें शक्ति हो तो ज्ञानसे परोपकार करना; लोगोंको उपदेश कर या लेख लिख कर इस जमानेको तथा आनेवाले जमानेको उपकृत करना। इस जमानेको तेरे जैसोंसे निःस्पृह उपदेश सुननेकी बहुत आवश्यकता है। सांसारिक जीवन प्रवृत्तिमय हो जानेसे धार्मिक अभ्यास कम होता जाता है और ऐसे समयमें यदि तेरी ओरसे कोई असाधारण चमत्कारी असर हो ऐसा उपदेश होगा तो अनेकों पुरुषोंको

ज्ञानक्रियाकी प्रवृत्तिद्वारा उसका लाभ मिल सकेगा और उस लाभसे तेरे आत्माको भी लाभ होगा। तू येन केन प्रकारेण तेरी पक्तिके यतियोंको अपने कर्त्तव्यका भान कराना। यदि यह होगा तो फिर जिस हेतुसे तेरा प्रयास है वह अवश्य पूर्ण होगा।

इस अधिकारमें किसी स्थानपर कठिन शब्दोंका प्रयोग किया गया हो तो क्षमा करना। जिसप्रकार हो सके वैसे थोड़ा लिखनेका प्रयास किया गया था फिर भी प्रसंगके बलसे कुछ अधिक लिख दिया गया हो तो अन्तःकरणसे क्षमा याचना है। तुम्हारे अन्तःकरणमें हेमचन्द्राचार्य जैसी अद्भुत ज्ञानशक्ति, हीरविजयसूरि जैसी अद्भुत उपदेशशक्ति और हरिभद्रसूरि जैसा दृढ़ शासनराग बढ़े ऐसी अन्तःकरणकी प्रार्थना है। साधुजीवनको अन्तःकरणसे नमस्कार है और जैसा तैसा लिखनेपर भी उस जीवनकी ओर बड़ा भाव और विशेष बहुमान रखनेका कर्त्तव्य निरन्तर ध्यानमें रक्खा गया है तथा है।

इति सविवरणो यतिशिक्षोपदेशनामा त्रयोदशोऽधिकारः॥



दरणीय हैं ।" इसप्रकारकी बुद्धि रखना इसमें तो वक्त मिथ्यात्वका अभाव है। गीतार्थपर निष्ठा रखना और गुणवान को परतंत्रपन रखना इसमें दोष नहीं है, क्योंकि सर्व जीवोंका बुद्धिवैभव विशाल नहीं होता है।

अनाभिग्रहिक—सर्व देव वन्दना करने योग्य हैं, कोई भी निन्दा करने योग्य नहीं हैं। इसीप्रकार सर्व गुरु और सर्व धर्म अच्छे हैं। ऐसी सामान्य वाणी। आलस करके बैठ रहना और सत्यकी परीक्षा न करनेकी वृत्ति दूसरा मिथ्यात्व है। इसमें स्वर्ण तथा पीतल, हीरा तथा काच दोनोंको जो समान समझा जाता है यह मिथ्याभाव है।

आभिनिवेशिक—धर्मका स्वयं यथार्थ स्वरूप समझता हो, फिर भी किसी प्रकारके दुराग्रहसे प्ररूपना विपरीत करे। अहंकारसे नया मत स्थापित करने तथा चलाने निमित्त अथवा वन्दन नमस्कारादि प्राप्त करने निमित्त कई दुर्भवी जीव इसप्रकारके मिथ्यात्वका सेवन करते हैं।

सांशयिक—शुद्ध देव, गुरु और धर्म सच्चे हैं या झूठे ऐसी शंकाका होना। सूक्ष्म अर्थका संशय तो साधुको भी होता है, परन्तु वे तो तत्त्व केवलीगम्य इस अन्तके निर्णय पर रहते हैं, इससे यह मिथ्यात्वरूप नहीं परन्तु सच्चे समाधानको जाननेकी अभिलाषा है। १ देव आदि तत्त्वके लिये शंका सांशयिक मिथ्यात्व कहलाता है। २ उसके स्वरूपके लिये शंका होना शंका। ३ उसके जाननेकी इच्छा वह जिज्ञासा और उसके कार्य्यभूत होता प्रश्न वह आशंका।

अनाभोगिक—विचारशून्य एकेन्द्रिय जीवको अथवा विशेष ज्ञानसे रहित जीवोंको होता है।

जो जो कर्मबन्ध होते हैं वे वे भोगने पड़ते हैं (उदय

समयके प्राप्त होने पर) इन बन्धके होनेका कारण मिथ्यात्व–अविरति–कषाय और योग ये चार हैं। इसके ५७ भेद हैं। इन सत्तावन बंधके कारणोंको समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसमें प्रथम ५ प्रकारके मिथ्यात्व हैं जिनको ऊपर पढ़ चुके हैं। अब शेष तीन हेतुओंका विस्तार बतलाया जाता है।

बारह अविरति—पांच इन्द्रिय और मनका संवर न करना, और छकाय जीवका वध करना ये बारह प्रकारके अविरति कर्मबन्धनके हेतु हैं।

कषाय—संसारका लाभ। ये पचीस हैं। इन पर विषय-कषाय द्वारमें उचित विवेचन हो चुका है। क्रोध, मान, माया, लोभ इनमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद हैं। उत्कृष्ट पन्द्रह दिवस तक रहते हैं और देवगति प्राप्त कराते हैं वे 'सञ्ज्वलन', उत्कृष्ट चार महिने चले और मनुष्यगति प्राप्त करावे वे 'प्रत्याख्यानावरण', उत्कृष्ट वर्षभर चले और तिर्यंचगति प्राप्त करावें वे 'अप्रत्याख्यानी' और उत्कृष्ट यावज्जीव चले और नरकगति प्राप्त करावे वे 'अनन्तानुबंधी' ये अनुक्रमसे यथाख्यात चारित्र, सर्वविरति, देशविरति और समकितगुण प्राप्त नहीं होने देते हैं। ये सोलह भेद हुए। इनमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन नो नो कषायोंको मिलानेसे पचीस कषाय होते हैं। ये कर्मबन्धके प्रबल हेतु हैं।

योग पंद्रह हैं—मनोयोग के चार भेद हैं—

१ सत्यमनोयोग—सच्चा विचार करना।

२ असत्यमनोयोग—झूठे विचार।

३ मिश्रमनोयोग—जिस विचारमें कुछ बातें सच्ची और कुछ झूठी हों।

४ असत्यामृषामनोयोग—इसमें सामान्य विचार। झूठे तथा सच्चेके भेद रहित। चालु प्रवाह। (जैसे घडा झरता है, पर्वत जलता है, नदी वहती है)

वचनयोगके चार भेद हैं : सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, मिश्रवचनयोग और असत्यामृषावचनयोग। इनका अर्थ उपरोक्तानुसार है।

१ तैजस कार्मणकाय—जब जीव एक गतिसे दूसरी गतिमें जाता है तब उसके अनादिकालसे साथ रहनेवाले भवमूल नामसे प्रख्यात दोनों (तैजस और कार्मण) शरीर साथ होते हैं, जिसमेंसे तैजससे अगले भवमें आहार ले उनको पचा सकता है और कार्मणसे नई नई अवस्था पानेके साथ साथ नये पुद्गल ग्रहण कर सकता है।

२ औदारिकमिश्र—अगले भवसे जीव अपने साथ तैजस कार्मण लाता है वे और औदारिक शरीरका आरम्भ किया है परन्तु निष्पत्ति नहीं हुई हो तो वह औदारिकमिश्र कहलाता है। इसीप्रकार वैक्रिय और आहारकके लिये भी समझना।

३ औदारिक—जिस शरीरके पुद्गल स्थूल हैं उसीप्रकार प्राय: अस्थि, मांस, रुधिर और चरबीमय भी होते हैं।

४ वैक्रियमिश्र—दृश्य होकर अदृश्य होना, भूचर हो कर खेचर होना, बड़े होकर छोटे होना, ऐसी अनेक प्रकारकी क्रियाये करनेवाले सात धातुरहित शरीर वैक्रिय कहलाता है। उसका आरम्भ होनेपर भी जहांतक समाप्ति न हुई हो वहांतक वैक्रियमिश्र कहलाता है।

५ वैक्रिय—ऊपर बताया शरीर पूर्ण होनेपर वैक्रिय कहलाता है।

६ आहारकमिश्र—चौदह पूर्वको जाननेवाले महापुरुष

किसी सूक्ष्म शंकाको दूर करने निमित्त केवली महाराजके पास भेजनेको जो शरीर तैयार करे (जो केवल शुद्ध और शुभरूप ही होता है) उसके समाप्त होनेके पहिलेकी दशा ।

७ आहारक —ऊपरोक्त शरीरकी संपूर्ण अवस्था ।

ऊपर जो सात प्रकारके शरीर बतलाये गये हैं उनके सम्बन्धी जीवका जो जो प्रयत्न हो उस उस नामका योग समझना चाहिये । जिसप्रकार हम अभी औदारिक और तैजस-कार्मणके लिये प्रयत्नवाले हैं । यह बात ध्यानमें रखें कि तैजस बिना कार्मण और कार्मण बिना तैजस नहीं होता है–इत्यादि कारणोंके कारण तैजस कार्मणको शरीररूपसे भिन्न न गिन कर योगरूपसे इकट्ठे कर एक ही गिने गये हैं ।

इन ५७ बंध हेतुओंका संवर किया हो तो कर्मबंधकी प्रणालिका बन्ध हो जाती है और पहलेके बंधे हुए कर्मोंका क्षय होनेसे जीव स्वतंत्र अनवधि सुखकी प्राप्ति करता है । इस अधिकारमें योगनिरोध और इन्द्रियदमनपर विशेषतया विवेचन किया जायगा । मिथ्यात्वविषे विवेचन इस अधिकारमें हो गया है, अविरतिके सम्बन्धमें इन्द्रियदमन, मनोनिरोध और दयाके लिये पहले भलीभांति लिख देनेसे विशेष लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है । कषायके लिये विषयकषाय अधिकारमें लिख दिया गया है इसलिये यहांपर बंधहेतुओंमेंसे योगपर खास विवेचन है जो बहुत मनन करने योग्य है ।

मनोनिग्रह–संवृत्तमनस्त्व

मनः संवृणु हे विद्वन्–
　संवृतमना यतः ।

याति तन्दुलमत्स्यो द्राक्,
सप्तमीं नरकावनीम् ॥ २ ॥

" हे विद्वन् ! मनका संवर कर, क्यों कि तन्दुलमत्स्य मनका संवर नहीं करता है तो वह शिघ्र ही सातवीं नरकमें जाता है ।"　　अनुष्टुप्.

विवेचन—मनःसंवर-मनोनिग्रह अधिकार (नवमाँ) इसी ही विषय पर लिखा गया है । यहां अधिक स्पष्ट शब्दोंमें मनोनिग्रह करनेकी चेतावनी दी जाती है । सर्व योगोंमें मनोयोग-का रुंधन अधिक कठिन है परन्तु वह उतना ही अधिक लाभ-दायक है । यदि मनोयोगका निरोध न किया जाय और मनको चाहे जैसे भटकने दिया जाय तो वह महापापबन्ध कराता है । तंदुलमत्स्य मनके वेगसे ही महातीव्र पापबन्ध करता है जिसका दृष्टान्त शास्त्रप्रसिद्ध है । यह तंदुलमत्स्य बड़े विशाल मगर-मच्छोंकी आंखकी भॉपनीमें गर्भजपनसे उत्पन्न होता है । अंतर्मुहूर्त[1] गर्भमें रहता है और फिर उसकी माता मगरमच्छकी भॉपनीमें ही उसका प्रसव करती है । गर्भज होनेसे उसको मन होता है । उसका शरीर तंदुल (चांवल) जैसा होता है, और उसका आयुष्य अंतर्मुहूर्तका होता है । मगरमच्छकी आहार लेनेकी रीति विचित्र होती है । वह बहुतसा पानी मुँहमें भर लेता है और ऐसा करनेसे असंख्य मच्छलियें उसके मुँहमें प्रवेश करती है । फिर जो उसके मुँहमें जाली (दांतोंकी पंक्ति) होती है उसके द्वारा उस पानीको पिछा निकाल देता है, परन्तु इस जालीके छिद्र बड़े होनेसे असंख्य छोटी छोटी मच्छलियें निकल जाती हैं । इस समय दुर्ध्यानी तंदुलमत्स्य आँखकी भॉपनीमें बैठा बैठा

---

१ अंतर्मुहूर्तके अनेकों भेद होनेसे छोटे छोटे अनेकों अन्तर्मुहूर्त मिल कर भी अंतर्मुहूर्त काल ही कहा जाता है ।

विचार करता है कि यदि मैं इस मगरमच्छके स्थान पर हूँ तो इसमेंसे एक भी मच्छलीको न निकलने दूँ। ऐसे दुर्ध्यानमें ही नरकायु बांध कर मरकर तैंतीस सागरोपमकी अवधिवाले सातवीं नरकमें उत्पन्न होता है। उक्त पाप तदन मानसिक है, फिर भी उसकी वृत्ति बहुत खराब होती है। मनपर अंकुश न होनेवालेकी यह ही दशा होती है। जो सम्पूर्ण दिन ग्रामकी बातें करते हों, बुराई करते हों उनको इस छोटीसी घटनासे बहुत कुछ समझनेका है। स्त्रियोंको भी विकथा त्याग करनेका विशेषतया विचार करना चाहिये, ऐसा यह दृष्टान्त बताता है। अपितु जिस प्रकार मनसे महापापबंध होता है उसीप्रकार इसका संवर करनेसे महान लाभ होता है इसके लिये अब पढ़िये।

मनोवेग-प्रसन्नचन्द्र.

प्रसन्नचन्द्रराजर्षे-र्मनः प्रसरसंवरौ।
नरकस्य शिवस्यापि, हेतुभूतौ क्षणादपि ॥३॥

"क्षणमात्रमें प्रसन्नचन्द्र राजर्षिके मनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति अनुक्रमसे नरक और मोक्षका कारण हुई।" अनुष्टुप

विवेचन—मनका वेग अत्यन्त है। शुभ अध्यवसायकी धारा जब मानसिक राज्यद्वारा आत्मकुञ्जपर पड़ती है उस समय इस परका मेल एकदम गायब हो जाता है, दूर हो जाता है, हट जाता है और जीव अल्प समयमें अपने शुद्ध स्वरूपमें आ जाता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षिका चरित्र शास्त्रप्रसिद्ध है। उसको भी यही हुआ था। मेतार्यमुनि, चन्द्रावतंसिमत्र, गजसुकुमाल आदि अनेक महापुरुष मनोराज्यपर अंकुश प्राप्त कर

---

१ तंदुलमत्स्य तथा प्रसन्नचन्द्र राजर्षिकी हकीकत इस ग्रन्थमें अधिकारमें लिखी गई है, फिर भी याद करानेके उसका यहां पुनरावर्तन किया गया है।

शुभगतिके भागी हुए हैं । धनविजयगणि प्रसन्नचन्द्र राजर्षिके चारित्रका वर्णन करते हैं उसके अनुसार यहां सारांशमें लिखा जाता है ।

क्षितिप्रतिष्ठित नामक एक नगर था । विचित्र प्रकारकी शोभासे सम्पूर्ण विश्वको वह अपनी ओर आकर्षण करता था । अनेक दुकानों, बाजारों आदिसे वह नगर बहुत शोभित था । प्रसन्नचन्द्र नामक राजा वहां राज्य करता था । विशाल भुजाबलवाले ये महाराज शत्रुदमनमें कुशल और न्यायके नमूने थें । इनकी प्रजा हर प्रकारसे आनंदित थी । राज्यसुख भोगते थे उस समय श्रीवीरपरमात्मा एक समय उस नगरके बाहर समवसरे राजा यह समाचार सुन कर वन्दन करने निमित्त गया । संसारके अस्थिर भावके स्वरूपको सुन कर राजाको वैराग्य उत्पन्न हुआ, संसारवासना उड गई और अन्तरदृष्टि जाग्रत हुई । बाल्यावस्थाके पुत्रको राज्यपर स्थापन कर उसने दीक्षा ग्रहण की । अभ्यास करने पर गीतार्थ हुए और राजर्षिके नामसे प्रसिद्ध हुए । एक बार धर्मतत्त्वका चिन्तवन करते और शुभ भावना करते वे राजर्षि राजगृह नगरके बाहर कायोत्सर्ग ध्यानमें रहे । उस समय वीरपरमात्मा समीपवर्ती भागमें समवसर्ये, उनको वन्दन करनेके लिये नगरनिवासियोंके झुण्डके झुण्ड जाने लगे । उन लोगोंके समूहमें क्षितिप्रतिष्ठितपुरके दो वणिक थे । ये दोनों पुरुष बातें करते करते श्रीवीरप्रभुको वन्दना करनेको जा रहे थे, इतनेमें उन्होंने अपने पहिलेके राजाको देखा इस लिये वृद्ध वणिक बोला, " अहो ! राज्यलक्ष्मीका त्याग कर इस राजर्षिने तपलक्ष्मीको स्वीकार किया है इससे यह धन्यात्मा हैं, भाग्यशाली है । " दूसरा वणिक बोला " अरे जाने दे ! इस मुनिने धन्यवाद देने जैसा कौनसा कार्य किया है ? इसको

तो बताइना देना चाहिये क्योंकि इसने दीक्षा ली उस समय इसका पुत्र बहुत बालवयका था, मवरहित था, परन्तु इस बातका विचार किये बिना ही इसको राज्यभार दे स्वयंने व्रत ले लिया इससे कृतकृत्य हो गया। अब इसके सगेसंबंधी बेचारे बालकको हैरान करते हैं, सम्पूर्ण शहरमें उपद्रव करते हैं और लोगोंमें अभद्रा हो रही है इसलिये इस मुनिके तो सामने भी न देखना चाहिये।" ऐसा वार्तालाप करते करते वे तो कर्णपथसे दूर चले गये, परन्तु उनकी बात सुन कर राजर्षि ध्यानभ्रष्ट हो गये। वह क्रोधसे लाल लाल हो गये और संसारसे एक बार निवृत्त हुआ मन पिछा संसारमें भटकने लगा, आर्तध्यान गायब हो गया और विचार हुआ कि—अहो! अहो! मेरे जीवते ही मेरे पुत्रकी ऐसी दशा क्यों कर हो सकती है? ऐसे विचारसे मनमें उसके विरोधियोंके साथ युद्ध करना प्रारम्भ किया।

इसप्रकार मुनिमहाराजके मनमें प्रचण्ड युद्ध चलने लगा उस समय वीरप्रभुका परमभक्त श्रेणिक नृपति उनको वन्दना करने चला। मार्गमें मुनिको देख कर वन्दना की, परन्तु मुनिने उसकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखा। श्रेणिकने विचार किया कि यह मुनि इस समय शुक्लध्यानारूढ होंगे। श्रेणिक प्रभुके निकट गया, सविनय नमस्कार किया, धन्दनाकी आज्ञा सुनी। तत्पश्चात् पूछा "हे भगवन्! जिस स्थितिमें मैंने प्रसन्नचन्द्र राजर्षिको वन्दना की यदि उसी स्थितिमें वह मृत्युको प्राप्त हो तो उन्हें कौनसी गति प्राप्त होवे?" भगवानने उत्तर दिया—"सातवीं नरकमें जावे।" श्रेणिकराजा यह उत्तर सुन कर अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हुआ।

अब प्रसन्नचन्द्र राजाका क्या हाल हुआ इसे देखिये। वे तो मनमें बड़ा युद्ध मचाने लगे। बड़े समरांगणमें सर्व शत्रुओंको

मार डाला, परन्तु फिर एक प्रधानशत्रु बच रहा। इस समय सब शस्त्र नष्ट हो गये, हाथमें तरवार तक न रही, फिर भी क्षत्रियवीर न डरा। दृढ साहस रख कर सिरके टोपसे इसे मार डालूंगा ऐसा विचार किया। अब अपने सिरपरके टोपको उतारनेके लिये हाथ ऊपरकी ओर बढ़ाया और सिरपर हाथ फेरा तो केश लुंचित सिर जान पड़ा। मुनिवीर सचेत हुआ, ज्ञानदृष्टि जाग्रत हुई, विपर्यासभाव नष्ट हुआ और संवेग प्राप्त हुआ। विचार किया कि 'अरे जीव! तू यह क्या करता है? किसका पुत्र और किसका राज्य? बिना सोचे विचारे तूने प्रथम व्रतका भंग किया'। ऐसे शुद्ध अध्यवसायमें ध्यानारूढ होने पर भी स्व आचरणकी निन्दा करने लगे और अतिचार आलोचने लगे। मनसे बांधे कर्मोंको मनसे ही नष्ट कर दिये और सातवीं नरकके लिये जो सामग्री एकत्रित की थी उसे बिखेर दी। अब वीरप्रभुको श्रेणिकने थोड़ेसे समय पश्चात् फिरसे प्रश्न किया कि "हे परमात्मन्! वह राजर्षि यदि अब मृत्युको प्राप्त हो तो कहां जायगा?" प्रभुने उत्तर दिया कि "अनुत्तर विमानमें देव हो" श्रेणिकको इस उत्तरसे अधिक आश्चर्य हुआ इससे इसका कारण पूछा। मनोराज्यका स्वरूप, उसकी शक्ति, उसको वशमें करनेसे होनेवाली अनन्त गुणोंकी प्राप्ति आदिको प्रभुने समझाया। उस समय देवदुंदुभिका नाद हुआ। श्रेणिकने पूछा कि "हे प्रभू! यह दुंदुभि क्यों बजती है?" प्रभुने कहा कि "हे श्रेणिक राजा! उस राजर्षिको केवलज्ञान प्राप्त हुआ है।" श्रेणिकराजाने यह हकिकत देख कर मनका वेग कितना बलवान होता है इसको बराबर समझा।

इस दृष्टान्तसे मनोराज्यकी वेगवाली भावना समझाई गई है। इस अगत्यके विषयमें वारंवार पर्यालोचन करनेकी आवश्य-

कता है। मनका बधारण भी जानने योग्य है, जिसके लिये निम्नस्थ दो श्लोकों पर मनन करें।

मनकी अप्रवृत्ति-स्थिरता.

मनोऽप्रवृत्तिमात्रेण, ध्यानं नैकेन्द्रियादिषु।
धर्म्यशुक्लमनः स्थैर्य-भाजस्तु ध्यायिन: स्तुम:॥४॥

" मनकी प्रवृत्ति न करनेमात्रसे ही ध्यान नहीं होता है, जैसे कि एकेन्द्रिय आदिमें (उनके मन न होनेसे मनकी प्रवृत्ति नहीं है) परन्तु ध्यान करनेवाले प्राणी धर्मध्यान और शुक्लध्यानके कारण मनकी स्थिरताके भाजन होते हैं उनकी हम स्तुति करते हैं। " अनुष्टुप्

विवेचन—श्रीअध्यात्मोपनिषद् (योगशास्त्र)के पांचवें प्रकाशमें अनुभवी योगी श्रीमान् हेमचन्द्रसूरि कहते हैं कि पवन-रोध आदि कारणोंसे प्राणायामका स्वरूप अन्य दर्शनकारोंने बताया है वह बहुत उपयोगी नहीं है, वह तो कालज्ञान और शरीर आरोग्य निमित्त जानने योग्य है। ऐसा कह कर इसके पश्चात् उसका स्वरूप हेमचन्द्रसूरि महाराज आगे बताते हैं। वे कहते हैं कि यह बहुत लाभ नहीं पहुंचाता है इसका यह कारण है कि इसमें मनकी प्रवृत्ति भी नहीं होती है। ऐसी प्रवृत्ति न करना यह तो मनको नाश करनेके समान है। एकेन्द्रियादिक तथा विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है, परन्तु इससे उनको कोई लाभ नहीं होता है, परन्तु मनको बराबर उपयोगमें लानेके लिये इसमें स्थिरता प्राप्त करनेकी आवश्यकता है। मनकी प्रवृत्तिके प्रवाहको अटकानेमें कुछ लाभ नहीं है; परन्तु उसको सद्ध्यानमें लगाना, उसीमें रमण कराना, और उसीके सम्बन्धकी प्रेरणा करना और प्रेरणाद्वारा स्थिरता प्राप्त कराना यह आवश्यक है।

'हठयोग' जैनशास्त्रके मतानुसार कम लाभदायक है। काय-
योगपर इससे जरा अंकुश लगता है, परन्तु मनके व्यापारको
समझ कर उसको सद्ध्यानमें जोड़ देनेकी रीति सर्वत्र अनुसरण
करने योग्य है। मनको स्वाधीन करनेकी भी आवश्यकता है
किन्तु वह अवस्था परत्वे है। ध्येय चार प्रकारके हैं। पिंडस्थ
(जिसकी पार्थिव, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्रभू ऐसी
पांच प्रकार धारणा होती है), पदस्थ (नवकारादि), रूपस्थ
(जिनेश्वर महाराजकी मूर्त्ति) और रूपातीत (शुद्ध स्वरूप,
अखण्ड आनन्द चिद्घनानंदरूप, परमात्मभाव प्रकाश)। इस
ध्येयमें मनको लगा देना ध्यान कहलाता है और ऐसा कर
मनको स्थिर बनाना योगका मुख्य अंग है। इसीलिये जैन-
शास्त्रकार ध्यानका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि 'रागाइ विर-
हणासहं झाणं' रागादिको दबानेमें समर्थ हो उसे ध्यान कहते
हैं। ध्यान चार प्रकारके हैं; उनमें आर्त्त और रौद्र ये दुर्ध्यान हैं।
यहां धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानों की व्याख्या प्रस्तुत है। इनका
स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। इनके हरेकके शास्त्रकार चार भाग करते
हैं। धर्मध्यानके चार भेदोंसे प्रथम भेद 'आज्ञाविचयध्यान'का
है। सर्वज्ञके वचनोंमें परस्पर विरोध नहीं है ऐसा समझ कर
उनकी चिन्तवना करना—उनकी खूबी समझना यह प्रथम ध्यान
है। इसके पश्चात् 'अपायविचयध्यान' आता है। इसमें राग,
द्वेष, कषाय किस किस प्रकारके दुःखको उत्पन्न करते हैं इसका
विचार करना चाहिये, और पापकार्योंसे पिछा हठना यह धर्म-
ध्यानका दूसरा भेद है। तीसरा भेद 'विपाकविचयध्यान' है।
कर्मका बन्ध और उदय विचारना; उनका साम्राज्य, तीर्थंकर,
चक्रवर्ती जैसों पर भी उसकी चलनेवाली शक्ति, और जगतका
व्यवहार कर्मविपाकसे ही चलता है इस सम्बन्धका विचार

करना धर्मध्यानका तीसरा भेद है। चौथा 'संस्थानविचय-ध्यान' है। इसमें लोकका स्वरूप विचारना है। चौदह राज-लोक, उत्पत्ति, स्थिति और लयवाले जीव अजीवादिक छ द्रव्य-युक्त लोकाकृतिकी चिन्तवना करना। इसीप्रकार शुक्लध्यानके चार भेद हैं (पृथक्त्ववितर्कसविचार, एकत्ववितर्कअविचार, सूक्ष्मक्रिय और उच्छिन्नक्रिय)। इस ध्यानकी हकीकत अधिक सूक्ष्म है। इस ध्यानका स्वरूप योगशास्त्रसे जान लें। यहां कह-नेका तात्पर्य यह है कि ऐसे धर्म और शुक्ल ध्यानमें मनको लगाकर स्थिरता प्राप्त करनेसे महालाभ होता है।

चित्त स्थिरता प्राप्त करने का उपाय यही है कि मनको सदैव शुद्ध ध्यानमें लगाये रखना। उक्त ध्यानसे प्राणीको इन्द्रि-योंसे अगोचर आत्मसंवेद्य सुख होता है।

सुनियंत्रित मनवाले पवित्र महात्मा.

सार्थं निरर्थकं वा यन्मनः सुध्यानयन्त्रितम्[1]।
विरतं दुर्विकल्पेभ्य· पारगास्तान् स्तुमे यतीन् ॥५॥

" सार्थकतासे अथवा निष्फल परिणामवाले प्रयत्नोंसे भी जिनका मन सुध्यानकी ओर लगा रहता है और जो खराब विकल्पोंसे दूर रहते हैं ऐसे–संसारसे पार पाये हुए यतियोंकी हम स्तुति करते हैं।" अनुष्टुप्

विवेचन—कोई भी प्राणी कार्यके परिणामके लिये उत्त-रदायी नहीं है। उसे अच्छा परिणाम होगा यह विचारकर कार्य्य करना चाहिये। ऐसे शुभ ध्यानसे किये हुए कार्य्योंका परिणाम खराब नहीं होता है, परन्तु कदाच खराब होवे तो भी

---

[1] सद्ध्यान इति वा पाठ.।

कार्य्य करनेवालेको पापका अनुबन्ध नहीं होता है। अपने क्षयोपशम अनुसार उसे दीर्घदृष्टिसे देखना चाहिये। जो सदैव अच्छे कार्य्य करनेके मनोरथ करते हैं और खराब संकल्प नहीं करते वे ही सच्चे भाग्यशाली हैं।

'सार्य' अर्थात् शुभ परिणामवाला कार्य्य। इस हेतुसे ही परिणामके लिये बहुत चिन्ता न करनेका शास्त्रमें कहा है।

" भवन्ति भूरिभिर्भाग्यैर्धर्मकर्ममनोरथाः ॥
फलन्ति यत्पुनस्ते तु तत्सुवर्णस्य सौरभम् ॥ १ ॥ "

धर्मकार्य्य करनेके मनोरथ ही महाभाग्यसे होते हैं और यदि वे शुभ फल दे तो ऐसा समझे मानों सोनेमें सुगन्धिका संचार हो गया।

मन खोटे विचार कर कितने ही प्रकारके पापोंको उपार्जन करता है यह हम चित्तदमन अधिकारमें देख चुके हैं। कल्पना-शक्तिपर जबतक सुनियंत्रित तर्कशक्तिका अंकुश न हो तबतक सुकानरहित वहाणके समान मनोविकाररूप पवनसे यह आत्मा संसारसमुद्रमें अस्तव्यस्तपनसे झोला खाता रहता है और थोड़ासा झपट्टा लगनेपर एक दिशाकी ओर झुक जाता है और फिर पिछा दूसरी दिशामें आता है। अतएव आर्त्त, रौद्रादि दुर्ध्यानको उनके यथार्थ रूपमें समझकर छोड़ देना चाहिये और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानको ध्याना चाहिये।

वचनअप्रवृत्ति–निरवद्य वचन.

वचोऽप्रवृत्तिमात्रेण, मौनं के के न बिभ्रति।
निरवद्यं वचो येषां, वचोगुप्तांस्तु तान् स्तुवे ॥६॥

" वचनकी अप्रवृत्तिमात्रसे कौन कौन मौन धारण

नहीं करते हैं ? परन्तु हम तो जो वचनगुप्तिवाले प्राणी निरवद्य वचन बोलते हैं उनकी स्तवना करते हैं।" अनुष्टुप्

विवेचन—वचनसंवर—अनेक कारणोंसे वचनकी प्रवृत्ति नहीं होती है: एकेन्द्रियपनमें स्वाभाविक अभाव ही इससे विरुद्ध है, इसके उपरान्त दो इन्द्रियोंसे पञ्चेन्द्रिय तकके तिर्यंच स्पष्ट मनसे बोल नहीं सकते हैं, रोग, समाक्षोभ अथवा गुंगेपनसे मनुष्य भी नहीं बोलते हैं, परन्तु इससे कुछ काम नहीं होता है। बोलनेकी शक्ति होने पर भी निरवद्य वचन बोलनेमें सच्ची खूबी है। वचनगुप्ति धारण की हो, भाषापर अंकुश हो और बोले तब सत्य, प्रिय, मित और पथ्य वचन ही बोले उसे निरवद्य वचन कहते हैं। अशक्तिमान् यदि साधु बन जाय तो उसमें कोई अनोखी बात नहीं है, शक्ति हो फिर भी बिना कारणके न बोले, गंभीरता रखे और बोले तब भी विचार करके बोले, प्रमाणोपेत और आवश्यकतानुसार ही बोले उसे संयमवान् कहते हैं।

निरवद्यवचन-वसुराजा

निरवद्यं वचो ब्रूहि, सावद्यवचनैर्यतः।
प्रयाता नरकं घोरं, वसुराजादयो द्रुतम् ॥७॥

"तू निरवद्य (निष्पाप) वचन बोल, क्योंकि सावद्य वचन बोलनेसे वसुराजा आदि घोर नरकमें गये हैं।" अनुष्टुप्

विवेचन—ऊपर लिखे अनुसार निरवद्य—पापरहित—वचन बोलनेकी आवश्यकता है। निरवद्य वचनोंमें सत्य, प्रिय और पथ्य इन तीनों गुणोंका समावेश होता है। वचन सत्य होनेपर भी यदि अप्रिय हो तो वे निरवद्य नहीं कहला सकते अपितु वचन बोलते समय जिसको वे कहे जाय उसको वे हित करने-

वाले होने चाहिये । सावद्य वचन बोलनेसे भाषापर अंकुश नहीं रहता है, दुनियामें बोझ नहीं पड़ता और अपने विचार गंभीर नहीं रह सकते हैं, बोलते समय मनमें क्षोभ रहता है और फिर मस्तिष्क चक्कर खाता रहता है तथा चिन्तापूर्ण रहता है । निरवद्य वचन बोलनेवालेकी शुभ गति होती है । 'नरो वा कुंजरो वा' इतना गर्भित वचन बोलनेसे धर्मराज भी इतने अंशमें धर्मसे भ्रष्ट हुए । अतः सत्य बोलना, पूरापूरा सत्य बोलना, और सत्य सिवाय कुछ न बोलना, ये तीनों सूत्र बराबर स्मरण रहें । किसी खास बातको लेकर सच बोलेंगे तो सुननेवाला पुरुष न समझ सकेगा, परन्तु इसे शुद्ध सत्य भाषा नहीं कह सकते हैं । ऐसे प्रसंगपर हम कई बार जानते भी हैं कि श्रवण करनेवाला पुरुष झुठे अर्थमें ही समझ सकता है परन्तु ऐसा न करना चाहिये । वसुराजा असत्य बोलनेसे नरकको प्राप्त हुआ । जिस सत्य वचनपर सम्पूर्ण संसारका आधार है वह तो स्पष्टतया सत्य ही होना चाहिये । वसुराजाका दृष्टान्त बोधदायक होनेसे टीकानुसार यहां लिखा जाता है ।

पृथ्वीपर विख्यात शुक्तीपुर नामक नगरी थी । इस नगरीमें महातेजस्वी अभिचन्द्र नामक राजा राज्य करता था । उसके सत्यवादी वसु नामका एक पुत्र था । यह वसु बाल्यावस्थासे ही महाबुद्धिशाली था और सत्य वचनोच्चारके गुणके लिये प्रसिद्ध हो गया था । उसके पिताने उसे क्षीरकदंबक नामक कलाचार्यके पास अभ्यास करनेको रक्खा । उसके साथ उसके गुरुका पुत्र पर्वत और एक नारद नामक ब्रह्मचारी अभ्यास करता था । गुरुकी तीनो शिष्योंपर अपूर्व प्रीति थी और अत्यन्त ध्यानपूर्वक अभ्यास कराते थे ।

एक समय गुरु सोते हुए थे उस समय दो चारण मुनि बातें करते करते आकाशमें आ रहे थे। उनकी बातचीतसे गुरुने समझा कि तीन शिष्योंमेंसे दो नरकमें जायेंगे और एक स्वर्गमें जायेगा ऐसा वे कह रहे थे। इस बातको सुनकर गुरुको अत्यन्त खेद हुआ। इन तीनोंमेंसे कौनसा भाग्यशाली स्वर्गमें जायगा इसकी परीक्षा करनेके लिये गुरुने उन तीनोंको एक साथ अपने पास बुलाये और प्रत्येकको जौ के आटेका बनाया हुआ बनावटी एक एक मुर्गा देकर कहा कि जिस स्थानपर कोई न देखते हो वहां जाकर इसका वध करआओ। वसु और पर्वतने तो एकान्त स्थानपर जाकर मुर्गोंको मार डाला। महात्मा नारद भी नगरके बाहर गया और एक निर्जन एकान्त स्थान ढुंढा। चारों दिशाओंमें दृष्टि डालकर विचार करने लगा कि गुरुने कोई न देखता हो वहां इस मुर्गेको वध करनेकी आज्ञा दी है, परन्तु यहां तो यह स्वयं (मुर्गा) देखता है और मैं भी देखता हूं, ये खेचर आकाशमें उड़ते हुए देखते हैं और लोकपाल देखते हैं तथा दिव्यचक्षुसे ज्ञानी महाराज भी देख रहे हैं। अतएव ऐसा एक भी स्थान नहीं है कि जहां कोई भी न देखता हो इसलिये गुरुकी आज्ञाका यही मतलब है कि मुर्गेको न मारना। गुरु बड़े दयालु हैं और उन्होंने ऐसी हिंसाकी आज्ञा दी हो ऐसा असमव है। ऐसा विचारकर मुर्गेको बिना वध किये वापीस लाया और उसको न मारनेका कारण गुरुजीसे कहा। गुरुके मनमें निश्चय हुआ कि नारद स्वर्गमें जायगा। गुरुने कहा ' बहुत अच्छा है। ' थोड़ी देरके पश्चात् पर्वत और वसु आये और गुरुसे कहा कि निर्जन वनमें कोई न देख सके वहां हमने मुर्गोंका वध किया है। गुरुने कहा कि ' हे मूर्खानन्दो ! तुम स्वयं देखते थे तो क्यों मारा ? ' कलाचार्यके मनमें बहुत खेद हुआ कि ये दोनो शिष्य नरकमें

जावेंगे। वसु राजाका पुत्र है और पर्वत मेरा नीजका पुत्र है इन दोनोंके लिये किया हुआ परिश्रम व्यर्थ होगा और प्रियपुत्र तथा उससे भी प्रिय वसु नरकमें जायगा अतएव अब इस घरमें (संसारमें) रहनेमे क्या सार है ? इसप्रकार वैराग्यभाव होने पर उसने संसारका त्याग कर दिया। अब पिताके दीक्षा ले लेनेपर पर्वत गुरुके स्थानपर अभ्यास कराने लगा। नारद वहांसे चला गया और उसके थोड़ेसे समय पश्चात् अभिचन्द्र राजाने व्रत ग्रहण किया अतएव वसुको उसकी गादीपर बिठाया गया। वसुराजाने बहुत उत्तम प्रकारसे राज्य किया और न्याय तथा धर्मसे और अपने शुद्ध व्यवहारसे जगतमें प्रसिद्ध हुआ। संसारमें सत्यवादी प्रसिद्ध हुआ और इस पदवीको बनाये रखनेके लिये वह सत्य ही बोलता रहा।

इसप्रकार बहुतसा समय व्यतीत हुआ। एक समय एक बड़ा कौतुक हुआ। एक शिकारी जंगलमें पशुपर बाण फेंक रहा था, किन्तु उसके बाण बीचमें ही रुकने लगे। शिकारी इसका कारण न समझ सका इसलिये उस स्थानपर जाकर हाथ फेरा तो स्फटिककी शिला दिख पड़ी, वह इतनी पारदर्शक थी कि बिना हाथ लगाये यह नहीं जान पड़ता था कि वह स्फटिक शिला ही थी। इस शिकारीने उस शिलाको देखकर विचार किया कि यह शिला तो महाभाग्यवान राजा वसुके ही योग्य है। वसुराजाके निकट जाकर एकान्तमें उससे सब वृत्तान्त कहकर उसने वह शिला भेट की। राजा बहुत प्रसन्न हुआ और शिकारीको बहुतसा पारितोषिक दिया। फिर राजाने चतुर शिल्पकारोंको बुलवाकर उनके पास बैठकर उस स्फटिक शिलाकी सुन्दर वेदिका बनवाई और तत्पश्चात् प्रच्छन्नरूपसे उन शिल्पकारोंका वध करवा डाला। उस वेदिकापर सिंहासन रक्खा, जिस

से देखनेवालेको ऐसा भान पड़े कि सत्यके प्रभावसे वसुराजाका सिंहासन आकाशमें अधर रहता है। लोगोंमें सर्वत्र बात फैल गई कि सत्यके प्रभावसे देवतागण राजाके पास रहते हैं और उसकी सेवा करते हैं। सिंहासनके प्रभावसे कितने ही राजा उसके वशीभूत हो गये और उसकी कीर्ति दशों दिशाओंमें अधिकसे अधिक फैलने लगी।

अब नारद एक बार इस शहरमें आया। वह पर्वतसे मिलने गया उस समय पर्वत शिष्योंको ऋग्वेद पढ़ाता था। उसमें यह बात आई कि 'अज' से यज्ञ करना। पर्वतने उस ऋचाका अर्थ समझाते हुए कहा कि 'अज' अर्थात् बकरोंका बलिदान कर यज्ञ करना। इस समय नारद समीप ही बैठा हुआ था। उसने कहा कि "भाई पर्वत! ऐसा झूठा अर्थ क्यों करता है? गुरुने तो हमको सिखाया था कि 'न जायते इति अज' बोनेसे न उगें ऐसा तीन वर्षका धान्य (शालि) ऐसा 'अज' शब्दका अर्थ होता है, इस बातको तू किस प्रकार भूल गया है? ऐसा झूठा अर्थ करना अयुक्त है, पापबन्ध करानेवाला है और परभवमें दुर्गतिमें लेजानेवाला है।" पर्वत बोला "तुम्हारा कहना झूठ है। गुरुने हमको ऐसा अर्थ कभी नहीं बतलाया था। अपितु "निघण्टु" में 'अज' शब्दका अर्थ बकरा होता है" नारदने उत्तर दिया, 'भाई पर्वत! शब्दकी अर्थघटना मुख्य और गौण दो प्रकारकी है, उनमेंसे गुरुने हमें गौण अर्थ बतलाया था। गुरु धर्मोपदेष्टा थे, श्रुति (वेद) धर्ममय है, इसलिये तू गुरु और वेदके विपरीत कह कर पापको एकत्र न कर।" पर्वतने उत्तरमें आक्षेप करके कहा "गुरुने तो 'अज' अर्थात् बकरा ऐसा कहा था और गुरुके कहे शब्दार्थके विपरीत कह कर तू पापको एकत्र करता है। इस

विषयमें मै यह प्रतिज्ञा करता हूं कि इसमें जो हार जाय उसे अपनी जिह्वा कटा देनी चाहिये और इस शब्दका अर्थ हमारा सहपाठी वसुराजा जो कहेगा उसके अनुसार माना जायगा। ” नारदने यह सब अंगीकार किया क्योंकि सत्यवादीको क्षोभ नहीं होता है ।

अब पर्वतकी माताने एकान्तमें पर्वतको कहा कि ' यद्यपि मैं घरके कामकाजमें रक्त रहती थी फिर भी मुझे अच्छी प्रकार ध्यान है कि ' अज ' शब्दका अर्थ तेरे पिताजीने तीन वर्षका पुराना धान्य (शाली) कहा था, इसलिये तूने बिना सोचे-विचारे जिह्वा कटानेका पण किया है। ” पर्वतने कहा, “ अब मैंने तो जो कुछ कह दिया है वह नहीं कहा, नहीं कहा जा सकता, अतएव तुमको अच्छा जान पड़े इसप्रकार इसका निवारण कीजिये । माताको पुत्रका स्वभाविकतया प्रेम हुआ इसलिये वह हृदयमें दुःखी होती हुई वसु राजाके निकट गई। पुत्रके लिये माता क्या “ हे माता ! आपके दर्शनसे आज क्षीरकदंबक गुरुके दर्शन नही करती है ? हुए। आपको में क्या भेट करूं तथा आपके लिये क्या करुं ? सो मुझे फरमाइये । ” इसप्रकार वसुराजाने उससे कहा । माता बोली, “ वत्स ! मुझे पुत्रभिक्षा दो। हे पुत्र ! बिना पुत्रके धनधान्य किस कामके हैं ? ” वसुराजाने कहा, ' माता ! यह क्या बोलती हो ! पर्वत तो मेरे पाल्य और पूज्य है, गुरुपुत्रको गुरुतुल्य मानना ऐसी श्रुतिकी आज्ञा है। आज यमराजने कौनसा पाना खोला है कि जो मेरे भाईको मारनेके लिये तैयार हुआ है। इसलिये हे माता ! तुम जो बात हो शिघ्र कहो। ” फिर पर्वतकी माताने नारदका आगमन, ' अज ' शब्दकी व्याख्याके लिये हुआ वादविवाद, पर्वत तथा नारदकी तकरार, जिह्वा छेदनका पण और वसुराजा-

द्वारा दी हुई साक्षी—यह सब बात कह सुनाई। फिर कहा कि 'तेरे पास न्याय कराने आवे उस समय हे भाई! पर्वतकी रक्षा करनेके लिये 'अज' अर्थात् बकरा ऐसा कहना। बड़े पुरुष प्राणसे भी दूसरोंपर उपकार करते हैं तो फिर वाणीसे करे इसमें तो विशेषता ही क्या है?" वसुराजा बोला, "हे माता! मिथ्या वचन मैं क्यों कर बोलूं? प्राणका नाश होने पर भी सत्यव्रती पुरुषको कभी भी असत्य नहीं बोलना चाहिये तो फिर गुरुकी वाणीको अन्यथा करनेके लिये झुठी साक्षी देना तो बहुत ही खराब है।" "भाई तेरे तो गुरुपुत्रसे भी सत्यव्रतका आग्रह अधिक है तो ठीक है! मेरा भाग्य!" इतना कहकर गुरुपत्नीने हुंकार मुख किया, तब राजा डरसे भर आया। उसने उसके वचनको अंगीकार किया। गुरुपत्नी प्रसन्न होकर अपने घर लौटी।

अब नारद और पर्वत राजसभामें आये। सभामें अनेक सभ्य, विद्वान् और माध्यस्थ्य वृत्तिवाले सज्जन विराजमान थे। राजा स्फटिककी वेदिके प्रभावसे अधर दिखनेवाले सिंहासनपर आरूढ था। राजाने गुरुपुत्र और सहपाठी नारदका आदर सत्कार किया। नारद और पर्वतने अपना पक्ष स्थापित किया, और राजाका परिणामप्रमाण (Decision) अंगीकार किया; सत्यकी महिमा बतलाई और राजाको सत्य भाषण करनेको कहा। यह सब बात कहनेपर भी मानो उसने सुना ही न हो, अपने सत्यवादीपनकी प्रसिद्धिके कारण अपने शिरपर आये हुये महान् कर्तव्यका ख्याल मानो क्षणभरके लिये दूर चला गया हो इस प्रकार गुरुपत्नीके वचनोंको मान्यकर वसु राजाने न्याय किया कि "गुरुने 'अज' शब्दका अर्थ बकरा सिखलाया था।" इस

असत्य शब्दके उच्चारण करते ही देवतागण उसपर कोपायमान होगये और जिस स्फटिक वेदिकापर वह बैठता था उसके टुकड़े टुकड़े होगये। राजा भूमिपर गिर पड़ा, उसपर सिंहासन पड़ा और वसुमती (पृथ्वी) का नाथ वसुराज मृत्युको प्राप्त हो वसुमतीके नीचे गया। अब भी वह नारकीकी महावेदनाको सहता है।

जिन वचनोंपर संसारका प्रवाह चलता हो अथवा भविष्यमें चलनेका सम्भव हो उन वचनोंको तो बहुत विचारकर निकालना चाहिये। सत्य वचन बोलनेकी महत्ता इस कथासे स्पष्टतया समझी जा सकती है।

दुर्वाचाका भयंकर परिणाम.

इहामुत्र च वैराय, दुर्वाचो नरकाय च।
अग्निदग्धाः प्ररोहन्ति, दुर्वाग्दग्धाः पुनर्नहि ॥८॥

"दुष्ट वचन इस लोक और परलोकमें अनुक्रमसे वैर कराते हैं और नरक गति प्राप्त कराते हैं, अग्निसे जला फिर उगता है परन्तु दुष्ट वचनसे जले हुएमें फिरसे स्नेहांकुर नहीं फूटता है।" अनुष्टुप्.

विवेचन—इस श्लोकमें दो बातोंका समावेश है। इस लोक और परलोकमें दुर्वचनका क्या फल होता है यह बतलाया गया है। दुर्वचनसे इसलोकमें वैर उत्पन्न होता है और परलोकमें नरक गति प्राप्त होती है। इस लोकके आश्रित फलके सम्बन्धमें विशेष रीतिसे समझनेके लिये कहते हैं कि—धान्य बोनेसे उगता है, परन्तु यदि वह धान्य जल गया हो तो बीज नष्ट हो जाता है इसलिये नहीं उग सकता है; परन्तु कोई कोई कठोर बीज जल जाने पर भी उग जाता है, परन्तु जो दुर्वचनसे जले

हुए होते हैं उनके हृदयमें फिरसे प्रेमके अंकुर कभी नहीं आने पाते हैं। अनुभवी जानते हैं कि वचनवाण हृदयमें शस्त्रके समान काम करता है और एकबार लगने पर वह फिर कभी नहीं भुले जा सकते हैं। अतएव व्यर्थ बोलनेकी आदतको बन्द कर देना चाहिये। कितने ही पुरुष अपनी विद्वत्ता बतानेके लिये अकारण भी अप्रस्तुत बोलते रहते हैं जिससे वे अपनी लघुताका परिचय देते हैं। विशेषतया न तो व्यर्थ बोलना चाहिये और न कडुवा।

तीर्थंकर महाराज और वचनगुप्तिकी आदेयता.

अत एव जिना दीक्षाकालादाकेवलोद्भवम्।
अवद्यादिभिया ब्रयुर्ज्ञानत्रयभृतोऽपि न ॥ ९ ॥

"इसलिये यद्यपि तीर्थंकर महाराजको तीनों ज्ञान होते हैं फिर भी दीक्षाकालसे लगाकर केवलज्ञान प्राप्त होने तक पापके भयसे वे कुछ भी नहीं बोलते हैं।" अनुष्टुप्

विवेचन—सावद्य बोलनेसे अनिष्ट फल होता है इसलिये तीर्थंकर महाराज भी छद्मस्थ अवस्थामें मौन धारण करते हैं। बड़े ज्ञानीको भी इतना भय रहता है इस पर विचार करनेकी आवश्यकता है। यहां तो आपसमें आम यह हुआ और वीसुवियस (Vesuvius) ज्वालामुखी पहाड़ फटा, पार्लियामेन्ट (Parliament) में ऐसा वादविवाद हुआ और राज्यमें ऐसी खटपट हो रही है, ऐसी ऐसी बातें करके व्यर्थ समयको बरबाद किया जाता है। वर्तमान इतिहासको जानना एक अलग बात है, परन्तु फिर उसके सम्बन्धी बातें कर विचार प्रगट कर व्यर्थ कर्मबन्ध क्यों करना ? शास्त्रकार एक व्यवहारिक वचन कहते हैं कि "बहुत बोलनेवाला बकवादी" इसमें सब बातोंका सार आ जाता है।

कायसंवर—कछुओंका दृष्टान्त.

कृपया संवृणु स्वाङ्गं, कूर्मज्ञाननिदर्शनात् ।
संवृतासंवृताङ्गा यत्, सुखदुःखान्यत्राप्नुयुः ॥१०॥

"(जीवपर) दया लाकर तेरे शरीरपर संवर कर, कछुएके दृष्टान्तानुसार शरीरका संवर करनेवाला और न करनेवाला अनुक्रमसे सुख दुःखको भोगता है।" अनुष्टुप्.

विवेचन—कायसंवर—मन और वचनकी प्रवृत्ति जिस-प्रकार हानिकारक है उसीप्रकार कायाकी प्रवृत्ति भी यदि सावद्य हो तो अनन्त संसारका परिभ्रमण कराती है। काययोगकी प्रवृत्ति करना हो तो भी शुभ हेतुसे करना। निष्फल और हानिकारक प्रवृत्तिके संवर करनेकी बहुत आवश्यकता है। हठ-योग आदिसे जो शरीरपर विजय प्राप्त होता है वह तो एक मात्र आरोग्यादिक ऐहिक लाभके लिये ही होता है। जैनशास्त्रकार इसको बहुत महत्त्वदायक नहीं बतलाते हैं। एक स्थानपर दो कछुऐ जा रहे थे। इतनेमें वहां पर कोई हिंसक जानवर आया उसको देखते ही दोनों कछुओंने अपने पैर और सिर अन्दर ले लिये। फिर वह जानवर दूर खड़ा रह कर उनके पैरों और सिरोंको बाहर निकालनेकी राह देखने लगा। थोड़े समय पश्चात् एक कछुएने घबरा कर अपने पैर तथा सिरको बाहर निकाला कि शिकारी जानवरने उसे पकड़ कर मार डाला। दूसरे कछुएने बहुत समय होने पर भी पैर तथा सिरको बहार नहीं निकाला अतएव अन्तमें थक कर शिकारी जानवर चला गया।

इन दोनों कछुओंमेंसे जिसने अपने अंगोपांग छिपाकर रक्खे उसने सुख पाया और दूसरेने दुःख पाया इसलिये कायाके संवरकी भी अत्यन्त आवश्यकता है।

कायाकी अप्रवृत्ति—कायाका शुभ व्यापार.

कायस्तम्भान्न के के स्युस्तरुस्तम्भादयो यताः ।
शिवहेतुक्रियो येषां, कायस्तांस्तु स्तुवे यतीन् ॥११॥

" एक मात्र कायाके संवरसे वृक्ष, स्तम्भ आदि कौन कौन संयमी न हो सके ? परन्तु जिसका शरीर मोक्षप्राप्ति निमित्त क्रिया करनेको उद्यत होता है ऐसे यतिकी हम स्तुति करते हैं । "　　अनुष्टुप्

विवेचन—ऊपर वचनयोगके लिये कहा इसीप्रकार कायाकी अप्रवृत्ति मात्रसे कुछ लाभ नहीं होसकता है, परन्तु आवश्यकता तो यह है कि कायाकी प्रशस्तप्रवृत्ति होनी चाहिये अर्थात् उसके द्वारा शुभ क्रिया—अनुष्ठान करने चाहिये ! इसप्रकार मन—वचन—कायाके योगकी प्रवृत्ति सम्बन्धी उपयोगी उपदेश किया गया है । अब पांच इन्द्रियोंके संवरकी बात कही जाती है।

श्रोत्रेन्द्रिय संवर

श्रुतिसंयममात्रेण, शब्दान् कान् के त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ॥ १२ ॥

" कानके संयममात्रसे कौन शब्दोंको नहीं छोड़ता ? परन्तु इष्ट और अनिष्ट शब्दोंपर रागद्वेष छोड़दे उसे मुनि समझना चाहिये । "　　अनुष्टुप्.

विवेचन—ऊपरकी संयम दो प्रकारसे आता है । चउरिन्द्रिय तक श्रोत्रेन्द्रिय होती ही नहीं है उनको तथा बहेरेको स्वभावसे ही श्रोत्रसंवर होता है । कृत्रिम संयम कानमें अंगुली डाल कर या कपड़ा आड़ा लगाकर किया जाता है । इसप्रकार बाह्य संयमसे इन्द्रियोंका संयम तो अनेकप्रकार होता है, परन्तु इस प्रकारके कर्माधीनपनसे हुए बाह्य संयमसे कुछ लाभ नहीं होता

है, परन्तु एक ओर वायोलीन, हारमोनियम, पियाना अथवा बेण्ड, मृदंग, दिलरुबा आदिकी कोमल ध्वनि चलती हो और एक ओर कुत्तेका भौंकना, बेसुर और भैंसासूर जैसे आवाजमें चलता हुआ गायन, अथवा गधेका रेंगना चलता हो इन दोनोंको सुनकर मनमें कुछ भी प्रेम तथा खेद उत्पन्न न हो, समभाव रहे इसीमें सचमुच महत्त्व है, यह ही मुनिपन है और ऐसी समवृत्तिवाले प्रकृष्ट जीवको वृद्धि पाते देर नहीं लगती है।

श्रोत्रेन्द्रियको वशमें न रखनेसे हिरन बहुत दुःखी होता है। शिकारी जब जाल फैलाता है तब हिरनको उसमें फँसानेके लिये बांसुरी बजाता है। सुन्दर स्वरसे आकर्षित होकर इन्द्रिय-परवश हिरन शिकारीके धोखेमें आ जाता है। सुननेकी लयमें उसे अपनी दूसरी अवस्थाका भान नहीं रहता है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि "जीवितव्यको अशाश्वत जान कर, मोक्ष-मार्गके सुखको शाश्वत जान कर और आयुष्यको परिमित जान कर इन्द्रियभोगसे विशेषतया निवृत्त रहना।" (इन्द्रिय पराजयशतक)

चक्षुरिन्द्रियसंवर.

चक्षुः संयममात्रात्के, रूपालोकांस्त्यजन्ति न।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ॥ १३ ॥

"एक मात्र चक्षुके संयमसे कौन रूपप्रेक्षण नहीं छोड़ता ? परन्तु इष्ट और अनिष्ट रूपोंमें जो रागद्वेष छोड़ देते हैं वे ही सच्चे मुनि हैं।" अनुष्टुप्.

विवेचन—तेइन्द्रिय तकके सब जीव चक्षुरहित होते हैं, परन्तु पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंचमें भी कितने ही अन्धे होते हैं, परन्तु इसप्रकारके संयमसे क्या ! इसीप्रकार आंखें मींच

कर बैठ रहे जिससे भी क्या ? इससे कोई महालाभ नहीं होता है, कदाच थोड़ा बहुत लाभ हो भी तो वह किसी हिसाबका नहीं है, परन्तु जब सुन्दर स्त्रीका रूप देखे, उसकी हँसगति और सुन्दर मुख, हृदय विस्तार और कदली जंघा देख अथवा नाटक या कुदरतका सुन्दर दृश्य देखे उस समय तथा जब कुष्ट, दुर्गंध और रोगसे बिगड़े शरीरवालेको देखे तब दोनों पर समदृष्टि रखे तब ही चक्षुरिन्द्रियका संवर होना कहला सकता है। इसीका नाम सचमुच सयम है। बाह्य संयम तो कईवार होता है, हो जाता है। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि "उन्हीं पुरुषोंको धन्य है, उन्हींको हम नमस्कार करते हैं कि जिन पुरुषोंके हृदयमें आधी आंखोंसे देखनेवाली अर्थात् कटाक्ष नेत्रोंसे देखनेवाली स्त्री नहीं खटकती है।" (इन्द्रियपराजयशतक)

चक्षुरिन्द्रियका संयम न करनेसे पतंगिया बहुत दुःख उठाता है। दीवाके रूपसे आकर्षित होकर चक्षुरिन्द्रियके परवश होकर उसमें अपनी आहुती देकर अपने प्यारे प्राणोंसे हाथ धो बैठता है।

घ्राणेन्द्रियसंवर.

घ्राणसंयममात्रेण, गन्धान् कान् के त्यजन्ति न।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ॥१५॥

"नासिकाके संयममात्रसे कौन गंधोंको नहीं छोड़ता ? परन्तु इष्ट और अनिष्ट गन्धोंमें रागद्वेष छोड़ देते हैं वे ही मुनि कहला सकते हैं।" अनुष्टुप्.

विवेचन—ऊपर लिखे अनुसार ही है। सेंट, लवेन्डर, अत्तर या सुगन्धी पदार्थोंकी गन्ध आनेसे राग न हो और विष्ठा आदिकी दुर्गंधसे द्वेष न हो तब घ्राणेन्द्रियका संवर हुआ सम-

झना चाहिये। इष्ट और अनिष्ट वस्तुपर समभाव रखना संवर है। जो इन्द्रिय भोगमें लिप्त नहीं रहते, गृद्धिभाव या आसक्ति नहीं रखते वे ही सच्चे संयमवान् हैं। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि "गीला और सूखा ऐसे दो मिट्टीके गोले दिवार पर फेंके, वे दोनो गोले दीवार पर लगे। इन दोनोंमेंसे जो गिला गोला था वह दीवार पर चिपक गया और सूखा गोला नहीं चिपका। इसीप्रकार इन्द्रियभोगमें लंपटी और दुर्बुद्धि पुरुष संसाररूप दीवारमें चिपक जाते हैं और जो कामभोगसे विराम पा चुके हैं वे सूखे गोलेकी तरह संसाररूपी दीवार पर नहीं चिपक सकते हैं।" (इन्द्रियपराजयशतक) यहां आकर्षण रागद्वेपजन्य समझना चाहिये। दीवारतक पहुंचनेतक तो दोनों-की गति एकसी होती है किन्तु फिर स्थित्यंतर हो जाती है।

कमलकी सुगन्धीसे आकर्षित होकर भ्रमर उसमें आसक्त हो जाता है और लहरमें आकर उसमें बैठा रहता है; जानता है कि सूर्यके अस्त होने पर कमल बन्द हो जायगा और स्वयं बन्दी हो जायगा, फिर भी अभी उड़ता हूँ, अभी उड़ता हूँ ऐसे विचार ही विचारके और आसक्तपनमें पड़ा रहता है। अन्तमें सायंको कमल बन्द हो जाता है और निर्दोप होने-पर भी इन्द्रियपरवश भ्रमर सुगंधके लोभसे उसमें बन्द हो जाता है। प्रभातमें निकलनेकी आशा रखता है किन्तु इतने में कोई हाथी आता है तो उस कमलको तोड़ कर खा जाता है। इस-प्रकार वह अपने निजके प्राणोंको अर्पण करता है।

रसेन्द्रियसंवर.

जिह्वासंयममात्रेण, रसान् कान् के त्यजन्ति न।
मनसा त्यज तानिष्टान्, यदीच्छसि तपःफलम् ॥१५॥

" जीह्वाके संयममात्रसे कौन रसोंको नहीं छोड़ता है ? हे भाई ! जो तू तपके फल मिलनेकी अभिलाषा रखता हो तो सुन्दर ज्ञान पढ़नेवाले रसोंको छोड़दे । "   अनुष्टुप्

विवेचन—व्यवहारमें भी कहावत है कि " जिसकी दाढ़ ढिली उसका प्रभु रूठा " संसारमें अनन्त भवपर्यंत भटकानेवाली यह इन्द्रिय है । अच्छा खानेके विचारमें और योग्य साधन तैयार करनेमें, अच्छा खानेके पदार्थ एकत्र करनेमें और अन्तमें अच्छा खानेमें यह जीव धन्य समझता है । दुनियामें खा पीकर आनन्द माननेवाले धर्म भी प्रचलित हैं । खाने पीनेमें ही मोक्ष माननेवाले जीह्वाके लालची, जीव मनुष्य भवका सचा साध्यबिन्दु क्या है उसे भूल जाता है । अपितु इस आहारस पोषणसे इन्द्रियतृप्ति नहीं होती है, अनन्त बार मेरुपर्वतके ढेरसे भी अनन्तगुणा भोजन खानेपर भी जीवको तृप्ति नहीं होती है । इसलिये रसनेन्द्रियको वशमें करनेके लिये असाधारण प्रयास करनेकी आवश्यकता है । इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि " यदि तू संसारसे डरता हो और मोक्षप्राप्तिकी अभिलाषा रखता हो तो इन्द्रियोंको जीतनेके लिये असाधारण पुरुषार्थ कर । (श्रीमद्यशोविजयजी इन्द्रियजयाष्टक)

मच्छलियोंको पकड़नेके लिये मच्छलिमार लोहेका कांटा पानीमें डालता है, परन्तु उसके साथ मिष्ट आटेकी पिंडीको बांधता है । रसमाके लालचसे मच्छलि उसे खानेको आती है उसे खाते खाते कांटेमें छिद जाती है । इसीप्रकार अनेकों अन्य पक्षी भी खानेके लालचसे जालमें फँस जाते हैं । शास्त्रकार सब इन्द्रियोंसे रसनेन्द्रियको जीतना बहुत कठिन बतलाते हैं ।

' अक्खाण रसणी कम्माण मोहणी तयाण बह बेय बमचय ।

गुत्तीण य मणगुत्ती, चउरो दुक्खेहिं जिप्पंति ॥ १ ॥' इन्द्रियोंमें रसनेन्द्रिय, कर्ममें मोहनीयकर्म, व्रतोंमें ब्रह्मचर्यव्रत और गुप्तिमें मनोगुप्ति ये चार अधिक कठिनतासे जीती जा सकती है।

स्पर्शनेन्द्रियसंयम.

त्वचः संयममात्रेण, स्पर्शान् कान् के त्यजन्ति न।
मनसा त्यज तानिष्टान्, यदिच्छसि तपः फलम् ॥१६॥

" चमड़ीको स्पर्श न करनेमात्रसे कौन स्पर्शका त्याग नहीं करता ? परन्तु यदि तुझे तपका फल पाना हो तो इष्ट स्पर्शोंका मनसे त्याग कर।" अनुष्टुप्.

विवेचन—संसारमें सबसे अधिक भटकानेवाली यह इन्द्रिय है। इसका विशेष आविर्भाव स्त्रीसंयोगमें होता है। इसको छोड़नेका खास महत्त्व बतानेके लिये एक खास श्लोक दिया गया है। सुन्दर स्त्री तथा बालकके गालके स्पर्शसे मनमें राग न हो, जिसकी चमडीपर कुष्ट जैसी व्याधि हो अथवा डंस, मच्छर, ताप या शीतके अनिष्ट स्पर्शसे मनमें द्वेष न हो यह स्पर्शनेन्द्रियका संयम कहलाता है, अन्य सब व्यर्थकी बातें हैं।

स्पर्शनेन्द्रियके परवश होकर हस्ति महादुःख उठाता है। हाथीको जब पकडना होता है तब एक गहरा गड्ढा खोदकर उसपर तृण बिछाकर मिट्टीसे ढक देते हैं। गड्ढेके सामने कागजकी सुन्दर हथिनीको रंगकर खडी कर देते हैं। इसपर आसक्त हुआ हाथी उसको भोगनेके लिये शिघ्रतासे भगता जाता है उस समय उनके बीचमें तृणसे ढके खड्डेमें गिर जाता है। फिर कितने ही दिन उसे भूखा रक्खा जाता है, पिटा जाता है और सदैवके लिये बन्दी बना लिया जाता है, अर्थात् सदैवके लिये परवश हो जाता है। इस सब दुःखका कारण स्पर्शनेन्द्रिय परवशपन है।

वस्तिसंयम.

वस्तिसंयममात्रेण, ब्रह्मके केके न बिभ्रते।
मन.संयमतो धेहि, धीर! चेत्तत्फलार्थ्यसि॥ १७॥

"मूत्राशयके संयममात्रसे कौन ब्रह्मचर्य धारण नहीं करता है? हे धीर! यदि तुझे ब्रह्मचर्यके फलकी अभिलाषा हो तो मनका संयम करके ब्रह्मचर्यका पालन कर।" अनुष्टुप्.

विवेचन—स्पर्शनेन्द्रियके विषयमें स्त्रीसंयोगका विषय महा गृद्धिका कारण है। इसलिये इसका विशेष मनन करनेके लिये इसकी व्याख्या एक अलग श्लोकमें कीगई है। इससे यह न समझे कि यह पाचों इन्द्रियोंसे भिन्न है, यह तो स्पर्शनेन्द्रियका एक विभाग है। यह इन्द्रिय कितनी भयंकर है कि शास्त्रकार कहते हैं कि अन्य इन्द्रियोंके विषयोंको भोगते हुए तो केवलज्ञान होना संभव है। सुगन्ध लेते, सुस्वर सुनते, रूप देखते और उत्तम पदार्थ खाते समय तो यदि आत्मस्वरूप विचारे और पौद्-गलिक भावका त्याग विचारे तो केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु स्त्रीसंयोग करनेपर ऐसा कदापि नहीं हो सकता है। एकान्त दुर्ध्यान हो, सात धातुकी एकत्रता हो और महाक्लिष्ट अध्यवसाय हो तब ही स्त्रीसंयोग हो सकता है। इसप्रकार एकान्त अधःपात करनेवाली स्पर्शनेन्द्रिय कुछ मामूल नहीं है, परन्तु गुह्येन्द्रियका बलात्कारद्वारा संयम करना पड़े तो उससे कुछ लाभ नहीं होता है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तो नपुंसकवेद है परन्तु यह पुरुषवेदसे अधिक कठिन है, वे तथा नारकीके जीव और कृत्रिम नपुंसक वेश तथा अन्य यदि ब्रह्मचर्यका पालन करे तो उसमें कुछ लाभ नहीं है, परन्तु सन्मुरन रंभा तथा

उर्वशी आकर खड़ी हो, प्रार्थना करती हो, अपने पास पैसे तथा शक्ति हो, स्थान एकान्त हो और अन्य सब बातोंकी अनुकूलता हो फिर भी यदि मनपर संयम रहे तब ही सचमुच मुनिपन प्राप्त हो सकता है। परस्वाधीनपन आदि कारणोंसे तो कई बार अधमको भी ब्रह्मचारी रहना पडता है, परन्तु इससे अधमकी इच्छा शान्त नहीं होती है। यही दशा इस जीवकी भी है।

स्त्रीके लिये शास्त्रकारोंने बहुत कुछ कह दिया है (ऐसा ही स्त्रियें पुरुषके प्रति समझलें) इस विषय पर विचार करनेसे जीव शुद्ध स्वरूपको स्वयं समझ सकता है। इसी ग्रन्थके स्त्रीममत्वमोचन अधिकारमें बहुत विस्तारपूर्वक इसका स्वरूप समझानेका प्रयत्न किया गया है; अतः विद्वानोंको स्त्रीसंयोग करते समय विचार करना चाहिये। इस संयोगकी सत्ता कैसी प्रबल है और दृढ सत्त्ववंत महात्मा उस सत्ताको उसके पुष्कल प्रबल कारण होने-पर भी किसप्रकार जड़मूलसे नाश कर देते हैं यह सिंहगुफा-वासी मुनि और स्थूलभद्रजीके दृष्टान्तसे समझमें आ सकता है। चार मास तक स्वादिष्ट मिष्टान्न खाकर वेश्याके घर रहने-पर भी गुरुने उनके कार्य्यको महान दुष्कर बतलाया। और चार मासके उपवास करके प्राणांत भयमें रहकर आत्मजागृति रखने-वाले सिंहगुफावासीका कार्य्य मात्र दुष्कर बतलाया गुरुके इस निष्पक्षपातपनको जो पंडित समझ गये हैं वे मूत्र, मांस, रुधिर और चमड़ेकी थेलीपर रागांध बन कर संसारकूपमें गिरनेसे बच गये हैं। इस स्पर्शनेन्द्रियके वशीभूत होकर इलायचीपुत्र नाटककार बना, इसीके वशीभूत होकर बेनातट नगरका राजा इलायपुत्रकी मृत्युकी बाट जोहने लगा, इसीके वशीभूत हो-कर ' मयबं जा सा सा ' वाली स्त्री पांचसौ पुरुषोंके साथ भोग करनेपर भी असंतोषी रहती थी, इसीके वशीभूत होकर ब्रह्मदत्त

भक्ति सात्विकी मार्गमें रहता रहता भी "पारुदत्ता, पारुदत्ता" ऐसा पुकारा करता है, इसीके वशीभूत होकर रावनने अपने दश मस्तक और महा ऋद्धिको रणमें खोई, इसीके वशीभूत हुआ जीव एक मांबापसे उत्पन्न हुए सगे भाईके साथ झगडा करता है, इसीके वशीभूत होकर विवेकहीन हो जाते हैं, अन्धे बन जाते हैं, अनेक पापोंको करते हैं और सारांशमें कहा जाय तो क्षणिक सुखके लिये मनुष्य जन्ममें जिस महालाभका उपार्जन कर अनन्त सुख प्राप्तकर सकते हैं उस सबको खो बैठते हैं।

इस आवश्यक विषयपर रचे हुए अनेको विद्वानोंके अनेकों ग्रन्थ लभ्य हैं। सारांशमें जाननेवाले जिज्ञासुओंको 'इन्द्रियपराजयशतक' 'शृंगारवैराग्यतरंगिणी' और 'शीलोपदेशमाला' इन तीनों ग्रन्थोंका स्वाध्याय करें। यहां विस्तारके भयसे विशेष उल्लेख नहीं किया, परन्तु इतना तो पुनरुक्ति करके कहा जाता है कि हे बंधुओं ! तुमको कौनसा सुख है और वह कहां है ? इसके सचे स्वरूपको समझनेकी कोशिष करो। प्राकृत पुरुषोंकी अवगणनाके पात्र प्रवाहपर चले जानेकी अनादि पद्धतिको छोड दो। अनन्त गुण तुम्हारे आत्मामें ही भरे हुए हैं, उनको प्राप्त करनेके लिये दूसरोंके पास जानेकी आवश्यकता नहीं है, केवल उनके प्रगट करनेकी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना और ऐसा न हो सके तो स्पर्शेन्द्रियका भलीभाँति संयम रक्खे बिना इन गुणोंका प्रगट होना कठिन है। अतः अपनेको (आत्माको) पहचानने और पराया (पुद्गलका) छोडना इस सामान्य प्रवित होनेवाले सूत्रानुसार व्यवहार करना योग्य है।

---

१ जैन प्रबोधप्रकाश भाग १ व २ प्रकरणरत्नाकर भाग २

समुदायसे पांचो इन्द्रियोंके संवरका उपदेश.

विषयेन्द्रियसंयोगाभावात्के के न संयताः ।
रागद्वेषमनोयोगाभावाद्ये तु स्तवीमि तान् ॥१८॥

" विषय और इन्द्रियोंके संयोग न होनेसे कौन संयम नहीं पालता है ? परन्तु राग-द्वेषका योग जो मनके साथ नहीं होने देते उन्हीकी में तो स्तवना करता हूं । " अनुष्टुप्.

विवेचन—मधुरस्वर, सुन्दर रूप, सुगन्धित पुष्प, मिष्ट पदार्थ और सुकोमल स्त्री-ये पांच विषय हैं । ये इन्द्रियोंको न मिल सके अर्थात् कानको सुस्वर न मिले, आँखको सुरूप न मिले, रसनाको अनुकूल पदार्थ न मिले, इत्यादि; तब तो, वृद्ध-नारी पतिव्रता ' जैसी दशा होती है, परन्तु यह आत्मसंयम नहीं कहला सकता है । इन्द्रियोंके प्रिय विषयोंपर राग न हों और अप्रिय विषयोंपर द्वेष न हों, वह ही वास्तविक संयम है । वास्तविकतया त्रिकालिक वस्तुस्वरूपको विचारते हुए कोई भी वस्तु प्रिय या अप्रिय है ही नहिं, क्यों कि यदि स्वाभाविकतया कोई वस्तु अप्रिय हो तो वह सदैव अप्रिय ही रहनी चाहिये, परन्तु अवलोकन करने पर इससे विरुद्ध ही अनुभव होता है । नीम कडुवा होता है इसलिये रसनाको अप्रिय जान पड़ता है, परन्तु बिमार होने पर व्याधिका नाश करता है और तिर्यंच उसे आनन्दसे खाते हैं । अतएव किसी वस्तुका प्रिय और अप्रिय होना मनकी मान्यतापर ही निर्भर है एसा सिद्ध होता है और बहुधा तो इसके ग्रहण करनेवाले व्यक्तिके मनके चलन विचलन स्वभावपर ही उसका आधार है । इसलिये नीतिकारका कहना है कि—

न रम्यं नारम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि ।
प्रियत्वं वस्तूनां भवति च खलु ग्राहकवशात् ॥

' कोई भी वस्तु प्रकृतिसे सुन्दर या असुन्दर नहीं है, सुन्दर तथा असुन्दरपन वस्तुके ग्राहकपर आधार रखता है । ' इसलिये अब जो प्रश्न उठता है वह वस्तुपर नहीं परन्तु अपने निजके मनकी स्थितिपर आधार रखता है इस मनके अनुकूल इन्द्रियोंका जय करना यह प्रबल पुरुषार्थ है और इसीलिये इन्द्रियसंयम हमारा कर्त्तव्य है । थोड़ासा आत्मवीर्य्य जागृत कर मनमें सच्चे नियमसे कार्य्यतत्र वहन करनेका दृढ संकल्प किया जाय तो इन्द्रियविषय उपभोगका मार्ग अंकित हो जाय और एक बार ऐसा अभ्यास थोड़ेसे समय तक रखा जाय तो फिर वह नैसर्गिक प्रवाह हो जायगा । इस प्रकारके आत्मशुद्ध प्रवाहमें रमण करनेवाले–इन्द्रियोंको शुभ मार्गमें प्रवृत्त करनेवाले महात्माओंकी हम स्तुति करते हैं ।

कषायसंवर–करट और उत्करट

कषायान् संवृणु प्राज्ञ !, नरकं यदसंवरात् ।
महातपस्विनोऽप्यापु, करटोत्करटादयः ॥ १९ ॥

" हे विद्वान् तू कषायका संवर कर । उसका संवर नहीं करनेसे करट और उत्करट जैसे महातपस्वी भी नरकको प्राप्त हुए हैं । "

अनुष्टुप्

विवेचन—मिथ्यात्वत्याग और योगसंवर निमित्त कह चुके, अब कषायसंवरके लिये कुछ शब्द कहे जाते हैं । इस विषयपर पूरा अधिकार पहिले लिख दिया गया है, इससे अब और यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है[1] । इस सब बातका

---

1 " कषायत्याग " नामक छट्ठा अधिकार पढ़े ।

सार यह है कि कषायका त्याग करना, उनके (कषाय) करनेका प्रसंग उपस्थित होनेपर भी न करना और आत्मिक चिन्तवना करते रहना चाहिये। कषाय ही संसारका लाभ है तथा संसारकी वृद्धि करनेवाला है। इसकी वृद्धि होने देनेसे महान् हानि होती है। कषायसे अनेको जीव दुर्गतिको प्राप्त हुए हैं जिसके दृष्टान्त इस ग्रन्थके सातवें अधिकारमें योग्य स्थानपर बतलाये गये हैं। करट और उत्करट मुनिका दृष्टान्त जाननेलायक है इसलिये यह यहां दिया जाता है।

करट और उत्करट नामके दो भाई थे। ये दोनों सगे भाई नहीं थे किन्तु मासी मासी के लडके थे। वे दोनों अध्यापकका काम करते थे। एक बार उनको संसारसे वैराग्य उत्पन्न हो गया इसलिये उन्होंने व्रत ग्रहण किया। वे बहुत तपस्या करने लगे। पृथ्वीतलपर विहार करते करते वे कुणालानगरीमें चौमासा करनेके लिये आये और ग्राममें फिर कर किलेके पास एक खाइमें बैठकर घोर तपस्या करने लगे। वर्षात होगी तो ये साधु बह जावेंगे ऐसा विचारकर क्षेत्रदेवताने वर्षातको कुणाला नगरीमें नहीं बरसने दिया, उसको रोकदी। उस नगरीको छोडकर आसपास बहुत अच्छी वर्षा हुइ। गांवके मनुष्य इसका कारण जान गये इसलिये वे मुनियों को अन्तःकरणसे श्राप देने लगे और अन्तमें सब लोग एकत्र होकर मुनियोंपर यष्टि–मुष्टि आदिका प्रहार करके उनको ग्रामसे बहार निकाल दिये। इस समय लोगोंके किये ताडनतर्जनसे गुस्से होकर वे मुनि बोले।

करट–'वर्ष मेघ! कुणालायां' हे वर्षा! तू कुणालामें बरस।

उत्करट—' दिनानि दशपंच च ' पन्द्रह दिनतक बरस।

करट—' मुशलप्रमाणधाराभिः ' मूसलाधार पानी बरसे।

उत्कट—' यथा रात्रौ तथा दिवा ' जैसे दिनमें वरसे वैसे ही रातमें भी वरसे।

वर्षा शीघ्र आरम्भ हुई और मूसलाधार कुणालामें पन्द्रह दिन तक वरसा, वरसने लगी थोड़ीसी भी न ठहरी, जिससे सम्पूर्ण ग्राममें पानी ही पानी भर गया और इसलिये सब लोग बहने लगे। बड़ा भारी संहार हुआ। इस महापापका प्रायश्चित किये बिना, ही पापको काटे बिनाही, तीसरे वर्षमें वे दोनों साधु साकेतपुर नगरमें कालके ग्रास हुए और सातवी नरकमें काल नामक नरकावासमें बत्तीस सागरोपमके आउखे उत्पन्न हुए।

महाक्रोधका यह परिणाम हुआ ! क्षणिक क्रोधके लिये असंख्य वर्षोंतक नरकके महान दुःखोंको सहना पड़ता है। इसीप्रकार सनत्कुमारको मानसे, मल्लिनाथजीको मायासे और धवल–मम्मण–सागरसेठ आदिको लोभसे महादुःख भोगने पड़े। इन सब दृष्टान्तोंपर विचारकर कषायका संवर करना चाहिये। बंध हेतुमें इसका मुख्य स्थान है इसको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है।

क्रियायंतकी शुभयोगमें प्रवृत्ति होनी चाहिये इसके कारण,

यस्यास्ति किंचिन्न तपोयमादि,
ब्रूयात्स यत्तत्तुदतां परान् वा।
यस्यास्ति कष्टासमिद तु किं न,
तद्भ्रशभी. संवृणुते स योगान् ॥ २० ॥

" जिसके पास तपस्या यम आदि कुछ भी नहीं है वे तो यदि चाहे जैसा भाषण करे अथवा दूसरोंको कष्ट पहु-

चावें, परन्तु जिन्होंने अत्यन्त कष्ट उठाकर तपस्यादिकको प्राप्त किया है वे इसके नाश हो जानेके भयसे योगका संवर क्यों नहीं करते हैं ? "　　　　इन्द्रवज्र.

विवेचन—अनन्तकालसे मिथ्यात्वके प्रवाहमें बहता हुआ प्राणी चाहें जो कुछ भी क्यों न बोले ? मन-वचन-कायाके अशुभ योगोंकी प्रवृत्तिद्वारा चाहे जिसको कष्ट क्यों न पहुँचावे, दुःख दें, पीड़ा पहुंचावे या चाहे सो भी क्यों न करे वह उसके लिये उचित ही है। उसको अधिक सुख प्राप्त नहीं हुआ है, प्राप्त करनेकी उसकी इच्छा भी नहीं है और प्रयास भी नहीं है; परन्तु जो घोर तपस्या करते हैं, महापच्चख्खान करते हैं, और अन्य उसी प्रकारके असाधारण प्रयाससे विरति धारण करते हैं उनकों तो योगका अवश्य संवर करना चाहिये; चाहे जितना पौद्गलिक भोग क्यों न देना पड़े तो भी वैसा करनेमें अपनी सर्व शक्तिका उपयोग करना चाहिये। ग्रन्थकर्त्ता आश्चर्य्य प्रगट करते हैं कि इसप्रकार तपस्यादिक करनेपर भी उसके नाश होनेका भय होतो योगका संयम करना चाहिये ऐसा जानते हुए भी इसके अधिकारी जीव योग संवर क्यों नहीं करते हैं ? अत्यन्त प्रयाससे प्राप्त किये विरति गुणका नाश हो जायगा। परिश्रम निष्फल होगा और परिणाममें पश्चात्ताप होगा; अतएव योग संवर कर।

मनयोगके संवरकी प्रधानता.

भवेत्समग्रेष्वपि संवरेषु,
　परं निदानं शिवसंपदां यः।
त्यजन् कषायादिजदुर्विकल्पान्,
　कुर्यान्मनः संवरमिद्धधीस्तम् ॥ २१ ॥

" मोक्षलक्ष्मी प्राप्त करनेका बड़ेसे बड़ा कारण सब प्रकारके संवरोंमें भी मनका संवर है ऐसा समझकर समृद्ध बुद्धिवाले कषायसे उत्पन्न हुए दुर्विकल्पोंका त्यागकर मनका संवर करें। "　　उपजाति.

विवेचन—सुख प्राप्त करना सर्व प्रवृत्तियोंका हेतु है। इसमें भी मोक्षसुख प्राप्त करनेकी इच्छा उत्कृष्ट होती है, क्योंकि यह अनन्त सुख है। तब फिर पिछली बात तो मन समझपर ही आकर ठहरती है। संवर करना मोक्षप्राप्तिका परम उपाय है, इसमें भी मन संवर करना सर्वोत्कृष्ट साधन है। " मन जीता उसने सब कुछ जीता " और ' मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ' इस प्रबल सूत्रपर रचा हुआ मानवराज्य यदि मनकी प्रवृत्तिपर आधार रक्खे तो इसमें कोई विचित्रता नहीं है। मनपर बड़ा आधार है, इसमें भी जब कषायसे होनेवाले संकल्पविकल्प त्याग कर दिये हो तब मनमें जो शांति, प्रेम, मैत्रीभाव उत्पन्न होते हैं उसका अपूर्व आनंद तो अनुभवी ही जान सकते हैं। इसका सारांशमें व्याख्या करना हो तो इतना ही कहा जा सकता है कि, छ खण्डके अधिपति चक्रवर्तीका सुख भी मनके सुखके सामने गिनतीमें नहीं, हिसाबमें नहीं और अधिक स्पष्टतया कहा जाय तो इसके सामने कुछ भी नहीं है। इसलिये हे बन्धुओ! वारवार सूचना है, प्रेरणा है, उपदेश है कि मनको सुधारो, खराब विचार करनेसे रोको, कषायजन्य दुर्ध्यान और दुर्विकल्पोंका त्याग कराओ और शुभ विचारोंकी ओर प्रवृत्ति कराओ अन्तमें ध्यानधारा धारण कर, कर्मकी नीर्मरा कर, नीचेके श्लोकमें लिखा हुआ सुख प्राप्त करो, अथवा उसके प्राप्त करनेके अधिकारी बनो।

निःसंगता और संवर–उपसंहार.

तदेवमात्मा कृतसंवरः स्यात्,
निःसङ्गताभाक् सततं सुखेन ।
निःसङ्गभावादथ संवरस्तद्,
द्वयं शिवार्थी युगपद्भजेत ॥ २२ ॥

" ऊपर कहे अनुसार जिसने संवर करलिया हो उसकी आत्मा शिघ्र ही विना किसी प्रयासके ही निःसंगताका भाजन हो जाती है, अपितु निःसंगताभावसे संवर होता है; अतएव मोक्षके अभिलाषी जीवको इन दोनोंको साथही साथ भजना चाहिये । "

उपजाति.

विवेचन—मिथ्यात्वका त्याग किया हो, अविरति दूर की हो, कषायको शक्तिहीन करदिया हो और योगका रुंधन किया हो तो फिर ममत्वभाव स्वाभाविकतया ही कम हो जाता है । ममत्वके[1] घटनेसे संसारके साथ जो दृढ वासना होती है वह भी कम होती है और वासनाके कम होनेसे विषयके साथ एकाकार वृत्ति होनेसे रुकती है, अन्तमें वासना भी नष्ट हो जाती है और ममता भी नष्ट हो जाती है, उसके जानेसे मोह गया और मोह जानेसे भवभ्रमण गया और भवभ्रमणके जानेसे मानो अव्याबाध मोक्षसुख मिला ।

कितने ही जीवोंको प्रथम मोहत्याग होता है, वैराग्य निमित्तके प्राप्त होनेसे स्त्रीपुत्रादि परका प्रेम कम होता है, जिसके पश्चात् ऐसी जागृति होती है, काया, वचन और मनके योगोंकी प्रशस्त प्रवृत्ति होती है और कषाय शक्तिहीन होते हैं । इसप्रकार

१ पुत्र, स्त्री, धन, आदि पर ममत्वरहितपन ।

समतासे निःसंगता और निःसंगतासे संवर प्राप्त होता है। किस जीवको कौनसा मार्ग अनुकूल होगा इसके लिये एक सामान्य नियम नहीं कहा जा सकता है, इसका आधार पुरुष, काल, स्थान और संयोगोपर है। अमुक प्राणीको कौनसा मार्ग अनुकूल होगा वह स्वयं विचार कर समझलें। अधिक उत्तम मार्ग यह है कि योगादिकका संवर करना और ममताका त्याग करना ये दोनों कार्य्य साथ ही साथ करने चाहिये। दोनोंसे महालाभ है और दोनों ऐसे हैं कि एक साथ ही हो सकते हैं।

× × ×

इसप्रकार मिथ्यात्वादिनिरोध और संवरोपदेश अधिकारकी समाप्ति हुई। इस अधिकारमें भी हद की गई है। एक गांवमें परदेशसे आनेवाले मालपर जकात लेनेका ठहराव हुआ। वह गांव बन्दर न था परन्तु एक बड़ा शहर था। अनेक प्रकारका व्यापार, अनेक व्यौपारी और अनेक दुकाने होनेसे उनका कहां सम्बन्ध रक्खे, किसप्रकार रक्खे, कितने देखरेख करनेवाले रक्खे, इस विचारसे अधिकारी घबरा गये, फिर एक पुरुषने युक्ति बतलाई कि शहरमें प्रवेश करनेके नाके पकड़ो और वहां चौकी रक्खो। इस युक्तिसे पांच या छः पुरुष रखनेसे सम्पूर्ण ग्राम पर अमल हो गया। इसीप्रकार पाप-पुण्यकी अनेक प्रकृतियाँ, उनके विचित्र स्थान और उनको रोकनेकी महान कठिनता विचारने पर भी समझमें नहीं आ सकती है। अतः यहां नाके बतलाये गये हैं इनको पकड़ कर अधिकार जमानेसे सम्पूर्ण कर्मपुरपर साम्राज्य चल सकेगा।

ये नाकारूप चार बपरेतु बतलाये-मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इनकी अवतरण वाटिकाओंको देखा जाय तो

सत्तावन हेतु होते हैं। मिथ्यात्वपर विशेष विवेचन न कर उसके त्याग करनेका ही उपदेश किया गया है, कारण कि इस ग्रन्थके अधिकारी बहुधा मिथ्यात्वी हों न हों इसीलिये इसपर विशेष विवेचन न करके योगके महत्त्वपूर्ण विषयको हाथ में लिया गया है। उनमें मनोनिग्रह, वचननिग्रह, कायानिग्रह और अंतरंगमें इन्द्रियदमनके लिये जो विचार प्रगट किये गये हैं वे बहुत ही उपयोगी हैं। मनकी अप्रवृत्ति और मनोनिग्रह इन दोनोंमें बहुत वैमनस्य है। मनके व्यापारोंको छोड देना, उसको कोई कार्य्य नहीं करने देना और हठयोग करना यह शास्त्रशैलीसे विपरीत है, इससे यथोचित लाभ नहीं होता है। कितने ही प्राणी इस मार्गमें कार्य्य करके लाभ उठाना चाहते हैं। इससे शारीरिक आरोग्यता या कालज्ञानादि अल्प लाभ होता है, परन्तु प्रयासके परिणाममें कुछ लाभ नहीं होता है। मनके संबंधमें करने योग्य कार्य्य यह है कि मन जब कुमार्गमें जाता हो तब उसके परिणामोंका विचार कर उसको पिछा फेरना, कुविचार न करने देना, परन्तु उसकी शुभ प्रवृत्तिपर अंकुश लगानेकी आवश्यकता नहीं है। शुभमें प्रवृत्ति और अशुभमें निवृत्ति यह ही महायोग है और इसीके लिये धर्म शुक्लादि ध्यानका विस्तार है। "मैं कब ३२ दोष रहित आहार करुंगा ? कब पौद्गलिक भावका त्याग कर आत्मिक तत्त्वमें रमण करुंगा ?" आदि आदि शुभ मनोरथ करने भी प्रशस्त मनोयोगकी आचरणामें ही गिने जाते हैं। इसीप्रकार वचनयोग और काययोग निमित्त समझें। वचन और कायाकी प्रवृतिको सदैव रोकना आवश्यक नहीं है, परन्तु इनके प्रवृत्तिकी रुख बदल देना हमारा मुख्य कर्त्तव्य है। काययोगके लिये जो इन्द्रिय संवरका उपदेश किया गया है वह भी इतना ही उपयोगी है। यह एक सामान्य नियम

है कि जहांतक बाह्य इन्द्रियों पर अंकुश नहीं लगाया जाता है तबतक मनका वशमें होना कठिन है, और जबतक मन पर अंकुश न लगाया जाय तबतक इन्द्रियोंपर अंकुश लगाना भी कठिन है। इसप्रकार मन और इन्द्रिय एक दूसरेपर प्रभाव डालते हैं, अतः इन दोनोंका दमन करनेके लिये असाधारण आत्मवीर्य स्फुरित करनेकी आवश्यकता होती है। यह कार्य अशक्य नहीं परन्तु अनुभव होनेवालेको विषम प्रतीत होता है, अन्यथा जब ऐसा करने की टेव पड़ जाती है तब तो इन्द्रिय विषयोंका भोग उच्छिष्ट भोजन सदृश प्रतीत होने लगता है।

इसप्रकार योगरुंधनके प्रयासके साथ ही साथ कषायोंको जीतनेकी भी आवश्यकता है। अन्तरंग शत्रुओंमें कषाय प्रबल शत्रुओंका कार्य्य करते हैं इसलिये उनके लिये भी पुरुषार्थकी आवश्यकता है। योगरुंधन और कषायविजयके साथ साथ चलने पर ही निरविच्छिन्न स्वाभाविकतया प्राप्त होसकता है। इसप्रकार बन्धहेतु शिथिल होते जाते हैं, कम होते जाते हैं और अन्तमें नष्ट हो जाते हैं।

इस जन्ममें धन, स्त्री, पुत्र पाना कठिन नहीं हैं। कितने ही पुरुषोंको जो कठिन ज्ञात पड़ते हैं यह उनकी झूठी धारणा है। ये वस्तुयें अनादिकालसे मिलती रहती है इनकी प्राप्तिके लिये प्रयास करना व्यर्थ है, इतना ही नहीं परन्तु यह संसारभ्रमण करानेवाला है। इनमें फँसा हुआ प्राणी अपने कर्त्तव्यका भान भूल जाता है और मानदशाकी ओर आकर्षित हो जाता है। इसको एकान्तमें बैठकर आत्मचिन्तवन करनेका भान नहीं होता है। पिछली गाथामें नि ष्पगमाव प्राप्त करनेके लिये किया हुआ उपदेश बहुत मनन करने योग्य है। विशेष बात तो यह है कि

अनन्तकाल तक प्रयास करनेपर भी जो न मिल सका वह यहाँ बताया गया है। योगरुंधन, कषायविजय और मिथ्यात्वनिरोध करनेका प्रयास करना चाहिये। जो इस पथके पथिक बन आत्मिक कार्य्य करेंगे वे सुखी होंगे और अन्तमें घोर संसार समुद्र तैर कर उसका अन्त देख सकेंगे।

इति सविवरणो मिथ्यात्वादिनिरोध-संवरोपदेशनामा
चतुर्दशोऽधिकारः ॥



पंचदशः शुभवृत्तिशिक्षोपदेशाधिकारः



चित्तदमन, वैराग्यउपदेश और यतिशिक्षा कह कर गत अधिकारमें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगके निरोध करनेका उपदेश किया और प्रसगवश संवर करनेका गर्भित उपदेश दिया गया। अब यह बतलाया जाता है कि वृत्ति किस प्रकारकी होनी चाहिये। अमुक प्रवृत्तिकाके बन्द होने पर यंत्रकी शक्तिका उपयोग करनेके लिये नवीन प्रवाहोंको ढुंढने चाहिये, अन्यथा शक्तिका क्षय होता है अथवा अस्तव्यस्त दिशामें चली जाती है। इस अधिकारमें जो वृत्ति-वर्णन बताया गया है उनमेंसे बहुतसे साधुयोग्य है और कई श्रावकके योग्य है। पाठकोंको अपने योग्यताके प्रमाणमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। यह अधिकार विशेषतया साधुको उद्देश कर लिखा गया है। प्रत्येक श्लोकके प्रसगपर विवेचन किया गया है।

आवश्यक क्रिया करना.

आवश्यकेष्वातनु यत्नमाप्तो-
दितेषु शुद्धेषु तमोऽपहेषु।
न हन्त्यभुक्तं हि न चाप्यशुद्धं,
वैद्योक्तमप्यौषधमामयान् यत् ॥ १ ॥

" आप्त पुरुषोद्वारा बतलाये शुद्ध और पापोंको नाश

---

१ आमवामहमिति पाठान्तर रोमहरणक्षममित्यर्थः ॥

करनेवाले आवश्यकोंको करनेका यत्न कर; क्योंकि वैद्यकी बतलाई औषधि न खाई हो अथवा (खानेपरभी यदि) अशुद्ध हो तो वह रोगका नाश नहीं कर सकती है।"　　उपजाति.

विवेचन—आवश्यक अर्थात् अवश्य करने योग्य नित्य-कर्म अथवा अधिक स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाय तो साधु और श्रावकका कर्त्तव्य नित्यक्रिया। ये ६ हैं। (१) सामायिकः—दो घडी तक स्थिर चित्तसे स्थिर आसनपर समता रखकर शांत स्थान-पर आत्मिक जागृति करना। इसमें अभ्यास, तत्त्वचिन्तवन, ध्यान और जापमेंसे अपनी शक्तिअनुसार कर्त्तव्य है। यह श्रावकके लिये है और साधुके लिये इतना भेद है कि वे निरन्तर सामायिक दशामें ही रहते हैं। (२) चतुर्विंशतिजिन स्तवन—संसार पर महाउपकार करनेवाले, महाप्रभावक परमात्माकी नामादि रूपसे स्तुति। (३) वन्दन—गुरु आदि बड़े पुरुषोंको वन्दना करनी। (४) प्रतिक्रमण—सम्पूर्ण दिन या रात्रि सम्बन्धी, पन्द्रह दिन, चार मास या वर्ष सम्बन्धी कार्य्य, उचार या चिन्तवनसे हुए दोष, फरमाये हुए कार्य्यका अनुमोदन, किये असद्वर्तनो सम्ब-न्धी दोषोंके लिये अन्तःकरणसे पश्चात्ताप करना। न करने सम्बन्धी जो विचार करना चाहिये उसको न किया हो तो उसके सम्बन्धी विचार करना, ये सबसे अधिक उपयोगी आवश्यक है। इसके हेतुको बताते हुए श्रावक प्रतिक्रमणसूत्रमें कहते हैं कि 'निषेध किये हुए कार्योंको किये हो, आदेश किये कार्योंको न किया हो, जीवादिक पदार्थोंपर श्रद्धा न की हो, और धर्मविरुद्ध प्ररूपणा की हो इन सबके लिये क्षमा याचना करना प्रतिक्रमण है। (५) कायोत्सर्ग—देहका उत्सर्ग करना, त्याग करना अर्थात् उसके सम्बन्धी बाह्य व्यवसायको कम कर अंदरसे आत्मजागृति

करना और (६) पचक्खाण–स्थूल पदार्थोंका भोग कम करना, वहन बन्द करना और भरसक त्यागभाव रखना।

ये छ आवश्यक सर्व जैनियोंके लिये अवश्य करनेके हैं, शास्त्रप्रणीत हैं, परमात्माके मुखसे निर्दिष्ट हुए हुए हैं और स्वतः निर्दोष हैं। अपितु ये स्वय निर्दोष ही नहीं है किन्तु भवरोग मिटाने निमित्त औषधरूप है। इनके औषधपनकी शक्ति सर्वज्ञप्रणीत है और अनुभवगम्य है। औषधि बनानेवाले वैद्य चाहे जितना विद्वान् क्यों न हो परन्तु व्याधिका नाश तो उनकी बनाई हुई औषधीको खानेसे ही होता है, केवल मात्र नाम जाननेसे कार्य्य नहीं हो सकता है। इसीप्रकार आवश्यकरूप औषधी खानेसे ही भवरोग मिट सकता है। अपितु खाने पर भी यदि वह औषधी शुद्ध न हो तो व्याधि दूर नहीं हो सकती है इसके लिये भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। अनेक प्राणियोंपर उपयोग करनेके पश्चात् और अतीन्द्रिय चक्षुसे उसका लाभ प्रत्यक्ष दृष्टिमें आनेके पश्चात् ही वह बतलाई गई है और इसके बनानेवाले सर्व प्रकारका विचार कर सके ऐसी स्थितिमें थे, इसलिये यह औषधी, फूट निकलेगी या व्याधिको बढ़ायेगी इसकी भी चिन्ता न करनी चाहिये।

आवश्यक क्रियाकी बहुत आवश्यकता है। इससे आत्मा बहुत निर्मल रहता है, पुराने पाप धीरे धीरे छोड़ता जाता है, नवीन ग्रहण नहीं करता है इससे वह धर्म सन्मुख रहता है और उसकी आन्तरवृत्ति जागृत रहती है। आवश्यक क्रिया सम्बन्धी दोषोंको जाननेकी आवश्यकता है। सामायिकके ३२ दोष, कायोत्सर्गके १९ दोष आदि क्रियामार्गके ग्रन्थोंसे पढ़ें और उनके त्याग करनेका प्रयास करें। दोषरहित आवश्यक महाफल देते हैं, और यह स्थिति अभ्याससे प्राप्त है। अतएव

यहस्थिति प्राप्त न हो तब तक शुभ दशामें रहे; परन्तु सदोष क्रिया करनेसे क्रिया न करना ही उत्तम है—ऐसी विपरीत वृत्ति नहीं रखना चाहिये।

इस श्लोकमें सर्वज्ञ भगवानका वैद्यके साथ, आवश्यक क्रियाका औषधीके साथ और व्याधिका भवपर्यटनके साथ उपमान उपमेय सम्बन्ध है।

तपस्या करना.

तपांसि तन्वाद्विविधानि नित्यं,
मुखे कटून्यायति सुन्दराणि।
निघ्नन्ति तान्येव कुकर्मराशिं,
रसायनानीव दुरामयान् यत् ॥ २ ॥

"शुरूमें कडुवे लगनेवाले परन्तु परिणाममें सुन्दर दोनों प्रकारके तप सदैव करने चाहिये। वे कुकर्मके ढेरको शीघ्र नष्ट कर देते हैं, जिसप्रकार रसायण दुष्ट रोगोंको दूर कर देती है।" उपजाति.

विवेचन—तप दो प्रकारके होते हैं—१ बाह्य, २ अभ्यंतर। न खाना (अनशन), कम खाना कम पदार्थोंको खाना, रसका त्याग करना, कष्ट सहन करना और अंगोपांगको संकोच कर रखना यह बाह्य तप कहा जाता है। किये हुए पापोंके लिये प्रायश्चित करना, बडोंका विनय करना, बालवृद्धग्लानका वैयावृत्य करना, अभ्यासादि करना, ध्यान करना और कायाका उत्सर्ग करना यह आंतरतप है। इन सब तपोंको करते हुए कष्ट झेलने पड़ते हैं, कुछ आकरा भी लगता है परन्तु अनादिकालसे आत्माके साथ जो कर्मसमूह लगा हुआ है यदि उसको एकदम दूर करना हो, भोगे सिवा उसका त्याग करना हो, जैन परि-

भाषामें कहा जाय तो कर्मकी ' निर्जरा ' करनी हो तो इसका यह उचित मार्ग है । इसमय सात या आठ कर्म बान्धनेवाला जीव भोगते समय सब कर्मोंको विपाकोदय होनेपर ही भोगे ऐसा कोई नियम नहीं है, इसलिये यदि तपस्या कर आत्मप्रदेशसे भोगकर कर्मको नष्ट कर देवे तब ही इसके कटुक विपाकोदयसे छुटकारा मिल सकता है । तपस्या करना कुछ कडुवा जान पड़ता है, क्यों कि इसमें स्थूल भोगोंका त्याग करना पड़ता है इसलिये वह प्रारम्भमें आकरा लाग पड़ता है, अपितु अभ्यन्तर तपमें एकाकार वृत्ति रखनी पड़ती है स्थिरता रखनी पड़ती है, जिनसे कुछ कठिनता पड़ती है परन्तु यह प्रारम्भमें ही आती है, इसका परिणाम बहुत अच्छा है और बादमें अभ्यास पड़नेके पश्चात् अभ्यासके प्रारम्भमें मालूम होनेवाली कठिनाइया भी गायब होजाती है ।

जिस इन्द्रियदमनके लिये चौदहवे अधिकारमें बहुत अच्छीतरहसे कहा गया है और जिससे महान् लाभ होसकता है उन इन्द्रियदमनका परम साधन तप ही है । इसप्रकार तपस्यासे महालाभ होता है जैसे रसायण खाते समय, कई खानेके पदार्थोंका त्याग करनेसे कठिनता मालूम होती है, परन्तु शरीरमें जानेके पश्चात् दुःसाध्य जान पड़नेवाली व्याधियोंको भी मिटा देती है । इसीप्रकार यदि सुगुरुरूप सुवैद्यद्वारा बतलाइ हुइ तपरूप रसायण शास्त्रानुसार विधि अनुसार अपथ्यका त्याग कर भक्षण की जाय तो इस संसारी जीवका कर्मरोग सुसाध्य होकर नष्ट होजाय और परिणाममें उसको अनन्त सुखकी प्राप्ति हो ।

ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि तप कुकर्मका नाश करता है इतना ही नहीं परन्तु कुकर्मकी राशिकाभी नाश करता है । इसकी ओर विशेषतया ध्यान आकर्षित किया जाता है । सहज लाभ हो तो

यह एक सामान्य बात गिनी जाय परन्तु यह तो अत्यन्त लाभ है।

शीलांग-योग-उपसर्ग-समिति-गुप्ति.

विशुद्धशीलाङ्गसहस्रधारी,
भवानिशं निर्मितयोगसिद्धिः ।
सहोपसर्गांस्तनुनिर्ममः सन्,
भजस्व गुप्तीः समितीश्च सम्यक् ॥ ३ ॥

"तू (अठारह हजार) शुद्ध शीलांगोंको धारण करनेवाला बन, योगसिद्धि निष्पादित बन; शरीरपरकी ममता छोड़ कर उपसर्गोंको सहन कर, समिति और गुप्तिको भलिभांति धारण कर।" इन्द्रवज्र.

विवेचन—(१) शीलांग अर्थात् चारित्रके अंग। इसके यतिधर्म सहित अठारह हजार भेद होते हैं जिसका इस ग्रन्थमें अन्यत्र सविस्तर वर्णन किया गया है। यहां साधुका क्या कार्य्य है यह बतलाते हुए उसका स्मरणमात्र कराया जाता है। (२) मन, वचन, कायाके योगोंको वशमें करले और इनके साधनरूप अष्टांग योगकी साधना कर। योगरुंधनका कितना माहात्म्य है यह चौदहवें और नवमें अधिकारमें सविस्तर देखलें। संसारसमुद्रमेंसे ऊँचे आनेका परम साधन योगरुंधन ही है। (३) शरीरपरकी ममता छोड़ दे और परीषह तथा उपसर्गोंको यथाशक्ति सहन कर। शरीर क्या है? कैसा है? किसका है? और इसका स्वभाव क्या है? यह हम देहममत्वमोचन नामक इसी ग्रन्थके पांचवें अधिकारमें देख चुके हैं। (४) समिति और गुप्ति धारण कर शुद्ध व्यवहार रखना।

---

१ तेरवें अधिकारके २-३ श्लोकोंको देखिये। २ तेरहवें अधिकार के २-३ श्लोकोंके विवचनको देखिये।

इस श्लोकमें शुभप्रवृत्ति किस प्रकार रखी जा सकती है इसका मार्ग दिखाने निमित्त नाममात्र निर्देश किया गया है। यह सम्पूर्ण श्लोक मुख्यतया मुनिमहाराजको उद्देश कर लिखा गया है। इस सम्पूर्ण अधिकारमें यह ही रीति ग्रहण की गई है। चौदह अधिकारोंको पढ़लेनेवाला इस अधिकारको आसानीसे ही समझ सकता है अतएव मूल ग्रन्थकर्त्ताने इनपर विशेष विवेचन करना योग्य नहीं समझा है।

स्वाध्याय-आगमार्थ-भिक्षा आदि.

स्वाध्याययोगेषु दधस्व यत्नं,
मध्यस्थवृत्त्यानुसरागमार्थान् ।
अगारवो भैक्षमटाविषादी,
हेतौ विशुद्धे वशितेन्द्रियौघः ॥ ४ ॥

" सज्झाय ध्यानमें यत्न कर, मध्यस्थ बुद्धिसे आगमके अर्थका अनुसरण कर, अहंकार त्याग कर, भिक्षा निमित्त फिर, इसीप्रकार इन्द्रियोंके समूहको वशमें करके शुद्धहेतुमें विषवाद रहित बन।" उपजाति

विवेचन—ऊपरके श्लोकमें जैसे नामनिर्देश किया गया है उसीप्रकार यहां भी साधुको उद्देश कर शुभ प्रवृत्ति निमित्त विशेष कार्योंके नाममात्र बतलाये गये हैं।

(१) हे यति! तू स्वाध्यायमें काल निर्गमन कर। तुझे व्यर्थ बातें करना या पंचायत करना शोभा नहीं देता है, क्योंकि इससे भाषासमिति और जीवरक्षाका अभाव होनेसे तुझे सावद्य उपदेश और सावद्य चिंतवनका ख्याल भी नहीं आ सकता है। अभ्याससे ज्ञानदृष्टि जागृत होती है और परोपकार करनेका प्रबल साधन मिलता है। अपितु तुझे योग धारण करना चाहिये।

आगमका ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये उद्देश समुद्देश अनुज्ञानुरुप अनुष्ठान करने चाहिये। योग धारण करनेकी आवश्यकता शास्त्रमें बतलाई गई है । इसकी क्रियाको देखते हुए इससे योगसिद्धि और मन–वचन–कायाके योगोंपर भी अच्छा अंकुश लग सकता है । (२) आगममें बतलाये भावोंको मध्यस्थ बुद्धिसे ग्रहण कर। कदाग्रह कर खींचखाच कर आगमका अर्थ करना छोड़ दे और तेरा शुद्ध दृष्टिबिन्दु हृदयचक्षु सन्मुख निरन्तर रख कर शुद्ध प्ररूपणा कर। (३) तुझे नृपादिकृत सत्कारका, उत्तम पदार्थ मिलनेका तथा आरोग्यताका अहंकार नहीं करना चाहिये[1] । इनके लिये अहंकार करनेसे कितने दुःख उत्पन्न होते हैं यह हम कषायमोचन द्वारमें पढ़ चुके हैं। (४) तेरे मनमें भी विषाद पैदा न कर। खेदसे आत्मतत्त्व क्षीण होता है और संसारभावकी वृद्धि होती है।(५) इन्द्रियोंके समूहको वशमें कर। ये कितना दुःख देती हैं यह हम चौदहवें और दशमें अधिकारमें पढ़ चुके हैं, तथा इनको वशमें करनेसे कितना आनंद प्राप्त होता है यह भी उन्ही स्थानोंपर देख चुके हैं। (६) शुद्ध हेतुके लिये भिक्षा ग्रहण करनेको पर्यटन कर। साधु मधुकरी वृत्ति रखता है अर्थात् जिसप्रकार मधुमक्षिका एक पुष्पसे दूसरे पुष्पपर बैठ कर (उस फूलके दिखावको बिना बिगड़े) उनमेंसे मधु चूसती है इसीप्रकार साधु शास्त्रोक्त गौमुत्ररेखादि आकारानुसार भिन्न भिन्न गृहोंमेंसे, भाररूप हुए बिना, शुद्ध आहार लेकर, जो मिले उसमें ही सन्तोष रख कर, बैठ रहते हैं। इनका आहारपानी शुद्ध हेतुके लिये ही होता हैं, शरीरका

---

१ जैनपरिभाषामें ये अनुक्रमसे ऋद्धि, रस और शातागारव कहलाते हैं।
२ चौदहवें अधिकारके १२ वें श्लोकसे १८ वे श्लोक तक देखिये; तथा दशवें अधिकारके १४ वे श्लोकको देखिये ।

पोषण करनेके लिये आहार नहीं होता, परन्तु धर्मकार्य्यमें शरीर उपयोगी हो सके इस शुद्ध हेतुसे शरीरको भाडेके रूपमें आहार देनेका उसका आशय होता है.

उपदेश-विहार.

ददस्व धर्मार्थितयैव धर्म्यान्,
सदोपदेशान् स्वपरादि साम्यान्[1]।
जगद्धितैषी नवभिश्च कल्पै
र्ग्रामे कुले वा विहराप्रमत ! ॥ ५ ॥

" हे मुनि ! तू धर्म प्राप्त करनेके हेतुसे ऐसे धर्मानुसार उपदेश कर कि जो स्व और परके सम्बन्धमें समानपन प्रतिपादन करनेवाले हों। तू संसारकी भलाईकी इच्छा रख कर, प्रमाद रहित होकर, ग्राम अथवा कुलमें नवकल्पी विहार कर। " उपजाति

विवेचन—(१) हे साधु ! उपदेश करना यह तेरा धर्म है। तेरे उपदेशमें तीन गुण होने चाहिये। (अ) उपदेश निष्पाप होना चाहिये अर्थात् उसमें सावद्य आचरणकी आज्ञा या सूचना नहीं होनी चाहिये। (ब) वह उपदेश धर्मप्राप्तिके एकान्त हेतुसे ही किया हुआ होना चाहिये; और उस उपदेशको करते समय किसी भी प्रकारका स्वार्थ न होना चाहिये, केवल पारमार्थिक हेतुसे ही वह उपदेश करना चाहिये। (क) वह उपदेश अपनी तथा दूसरोंकी आत्मिक और पौद्गलिक वस्तुओंपर समभाव उत्पन्न करनेवाला होना चाहिये। यह उद्धतापूर्ण या स्वोत्कर्ष

१ 'साम्यात्' ऐसा पाठ है। अपने पक्ष और दूसरोंके पक्षको और रागद्वेषकी वृत्तिको छोड कर उपदेश करना।

बतानेवाला न होना चाहिये । सुननेवालेको मणि और पत्थरपर, लवंडर और विष्टापर समभाव उत्पन्न हो ऐसा यह होना चाहिये । ये उपदेशके प्रधान गुण हैं । इनके अन्तर्गत अनेकों विषयोंका समावेश हो जाता है । दृष्टान्तरूपसे विषय सर्व-सामान्य होना चाहिये, अंगित द्वेषबुद्धिसे अमुक व्यक्तिपर आक्षेपरूपसे कुछ भी न बोलना चाहिये, भाषा प्रौढ होनी चाहिये, वचनपद्धतिसर और विचार नियमसर एकके बाद एक कुदरती तौरसे अनुसरण करने योग्य होने चाहिये, विषयकी प्रौढताके साथ साथ शास्त्रोक्त दृष्टान्तोंसे संकलितभाव होना चाहिये, भाषा श्रोताओंको प्रिय हो परन्तु हितकारी होनी चाहिये, प्रसंग उपस्थित होनेपर दुर्गुणोंके कटु फल समझानेवाली होने-पर भी निरन्तर सत्य होनी चाहिये, दलील न्यायसर और कदा-ग्रहका अभाव दर्शानेवाली होनी चाहियें इत्यादि ऐसे अनेकों गुण उपदेशमें होने चाहिये । सारांशमें कहा जाय तो श्रोताओंके मनपर ऐसी छाप पड़नी चाहिये कि मानो वे श्रवण करते समय किसी अपर व्यवहारमें सम्मिलित हो गये हैं और उनका चालु व्यवहार विलीन हो गया है, ऐसा प्रभाविक उपदेश पत्थरको भी पीगला सकता है ।

(२) साधुको नवकल्पी विहार करना चाहिये । कार्तिक पूर्णिमासे अषाढ शुद्ध चौदश तक आठ महिनोंमें आठ विहार और चोमासाका एक विहार, इसप्रकार नौ विहार तो अवश्य करने चाहिये । इनमें कभी प्रमाद न करें और संसारका हित दृष्टि सन्मुख रक्खे । यह सब साधुओं—यतियोंके लिये उपयोगी है । खास अभ्यास, रोग, वृद्धावस्था अथवा शास्त्रका अपूर्व-लाभ-होनेवाले शास्त्रोक्त कारणके सिवाय एक स्थानपर साधुको नहीं रहना चाहिये । एक स्थानपर रहनेसे बहुत हानि होती है ।

सबसे बड़ी हानि गृहस्थके प्रतिबंधकी होती है। मेरे श्रावक या मेरा पक्ष ऐसा हो जाता है और इस कालमें चलते प्रवाहके समान यह अमुक साधुका उपाश्रय ऐसा भी हो जाता है। नगरमें रहनेकी आज्ञा प्रदान करनेवाले स्थविरकल्पका धीरे धीरे अत्यंत दुरुपयोग किया जाता है। विहार करनेसे उपदेशका लाभ सर्व ग्रामोंके पुरुषोंको मिल सकता है, करने योग्य कार्य पूर्ण हो सकते हैं, और जीवन सफल हो जाता है। एक स्थानपर रोगादि कारणोंके अतिरिक्त संयमनिर्वाह योग्य अन्य क्षेत्र होनेपर भी बहोत वक्त रहना शास्त्राज्ञासे विरुद्ध है, अनुचित है और परिणाममें प्रत्यक्षरूपसे संसारकी वृद्धि करानेवाला है।

इस श्लोकमें एक अत्यन्त अगत्यके प्रश्नको हल किया गया है। साधु जीवनमें निवृत्ति प्रधान है या प्रवृत्ति प्रधान है। साधुको एकान्त पर बैठकर कुछ न करना ऐसा यह उद्देश नहीं है और ऐसी निवृत्तिकी स्थिति प्राप्त करनेसे पहिले अप्रमत्त प्रवृत्ति करनी पड़ती है। अतएव, यह प्रशस्त प्रवृत्ति है और वास्तविक रीतिसे कहा जाय तो यह निवृत्ति ही है। उपदेश देना, सभायें भरना, कर्तव्य बतलाना, विहार करना, ग्रन्थ रचना, अभ्यास करना, आवश्यक क्रियायें करना, योग धारण करना, आदि प्रशस्त प्रवृत्ति ही है और साधु जीवनको वर्धन करनेका हेतु बहुधा इस प्रशस्त प्रवृत्तिपर ही निर्भर है। कई वार प्रवृत्ति शब्दसे ही घबराकर लोग इसके विरुद्ध आवाज उठाते हैं परन्तु बहुत विचार करनेके पश्चात् निर्णय होता है कि जैन शास्त्रमें निवृत्तिहेतुक प्रशस्त प्रवृत्ति भी विशेष आदरणीय है। अधिकार विशेष प्राप्त हो जानेपर क्या कर्तव्य है यह अधिकारी स्वयं ढूंढ निकालते हैं।

स्वात्मनिरीक्षण परिणाम.

कृताकृतं स्वस्य तपोजपादि,
शक्तीरशक्तीः सुकृतेतरे च ।
सदा समीक्षस्व हृदाथ साध्ये,
यतस्व हेयं त्यज चाव्ययार्थी ॥ ६ ॥

" तप, जप आदि तूने किये हैं या नहीं, उत्तम कार्य और अनुत्तम कार्योंके करनेमें शक्ति अशक्ति कितनी है इन सब बातोंका सदैव तेरे हृदयमें विचार कर । तू मोक्षसुखका अभिलाषी है इसलिये करनेयोग्य (हो सके ऐसे) कार्योंके लिये प्रयत्न कर और त्यागने योग्य कार्य्योंका परित्याग कर । "

उपजाति.

विवेचन—आत्मविचारणा करनेसे अनेकों लाभ होते हैं । स्वयं कौनसा कार्य्य करता है इसका ख्याल आता है और उनमेंसे कौनसे कार्य्यका त्याग करना, कौनसा ग्रहण करना आदिके सम्बन्धमें विचार होता है । परिणाममें कार्य्यरेखा अंकित करनेका निश्चय हो जाता है और शुद्ध वर्तन होनेका निमित्त प्राप्त हो जाता है ।

हे प्राणी ! तू तप, जप आदि अर्थात् पूजा, प्रभावना, स्वामिवात्सल्य (एक ज्यौनार ही नहीं, परन्तु उससे स्वधर्मी लोगोंका उत्कर्ष हो ऐसे उपाय वत्सल भावसे विचारना और तदनुसार योजना करनी) आदिमेंसे क्या क्या कर सकता है और क्या क्या नहीं कर सकता है इनका विचार कर । यह श्रावकके लिये कहा गया है । साधुके लिये उसने कितने लोगोंको उपदेश दिया, उसने स्वयं पठन-पाठन कितना किया, कब किया, उससे शासन उद्योत कितना हुआ, इसका

विचार कर और क्यों नहीं कर सकता है इसपर ध्यान दे। शरीरकी अशक्ति है या मनकी कमजोरी है इसे ढूंढ निकाल। अपितु सुकृत्य और दुष्कृत्यमें तेरी शक्ति और मन कितने प्रवृत्त होते हैं, उनमें तेरी क्या स्थिति रहती है, तू किस तादात्म्य वृत्तिसे उत्तम कार्य्य करता है और कितने अंतरसे खराब कार्य्य करता है, या तेरे सम्बन्धमें इसके विपरीत ही होता है अर्थात् उत्तम कार्य्य ऊपर ऊपरसे करता और खराब काम तादात्म्य वृत्तिसे करता है, इन सब बातोंको तेरे हृदयमें विचार कर। अपितु कितने सुकृत्यमें या अपकृत्यमें तेरी शक्तिका व्यय होता है इसका भी तू विचार कर।

इसप्रकार आत्मनिरीक्षण कर जागृत हुए जीव अनेक पापोंमेंसे स्वाभाविकतया ही छूटकारा पा सकते हैं अथवा पाप-कार्य्योंसे बचनेका उसे प्रबल निमित्त प्राप्त हो जाता है। इसलिये आत्मविचारणा कर जो साध्य कार्य्य प्रतीत हो उसीमें तुझे लक्ष देना और उन्हीकी सिद्धिके लिये प्रयास करना चाहिये, और जो त्याग करने योग्य कार्य्य जान पड़े उनका त्याग कर देना चाहिये। कहनेका यह तात्पर्य है कि आत्मविचारणा करके फिर हाथपर हाथ धरकर न बैठ रहना चाहिये, परन्तु फिर जो करने योग्य या तजने योग्य जान पड़े उनको करना तथा त्याग करना चाहिये। चौदह नियमोंको इसी धारणा अनुसार धारण करनेका शास्त्रकार उपदेश करते हैं और उनमे जिसप्रकार स्थूल पदार्थोंपर अंकुश लगता है उसीप्रकार आन्तर प्रवृत्तिपर अंकुश लगानेके लिये आत्मजागृति बहुत उपयोगी है और इसीसे चौदह नियमोंपर अंकुश आता है। इनका उपयोग साधुजीवन और श्रावकजीवनमें एकसा ही है।

परपीडावर्जन-योगनिर्मलता.

परस्य पीडापरिवर्जनात्ते,
त्रिधा त्रियोग्यप्यमला सदास्तु ।
साम्यैकलीनं गतदुर्विकल्पं,
मनोवचश्चाप्यनघप्रवृत्तिः ॥ ७ ॥

"दूसरे जीवोंको तीनों प्रकारकी पीड़ा न पहुंचानेसे तेरे मन, वचन, कायाके योगोंकी त्रिपुटी निर्मल होती है, मन एक मात्र समतामें ही लीन हो जाता है, अपितु वह उसका दुर्विकल्प छोड़ देता है और वचन भी निरवद्य व्यापारमें ही प्रवृत्त रहता है।" उपजाति.

विवेचन—मानसिक, वाचिक और कायिक हिंसाका यथाधिकार त्याग करनेके मूल सिद्धान्तपर ही जैनधर्मकी रचना है। 'अहिंसा परमो धर्मः' यह सूत्र सर्व संयोगोमें सत्य है और इन सिद्धान्तोपर बंधा हुआ धर्म ही इस नामके योग्य है यह जैनी वर्तनसे तथा दलीलसे सिद्ध कर सकते हैं। आत्मव्यतिरिक्त किसी भी प्राणीको कष्ट पहुंचाना, दूसरोंसे पहुंचवाना, अथवा पहुंचानेवालेको सहायता करना, या उस कार्यकी प्रशंसा करना या उसकी पुष्टि करना यह सर्व वर्ज्य है और इसके मना करनेसे मन, वचन और कायाके योग बहुत निर्मल हो जाते हैं। जैनाचार्य किसी भी कार्यकी तरतमता, शुभत्व अशुभत्व, उसके हिंसाके साथके संबन्धसे ही करते हैं। जिस कार्यमें जितनी अल्प हिंसा होती है वह कार्य उतने ही अंशोमें अधिक उत्तम होता है।

हिंसाके सम्बन्धमें यह स्मरण रहे कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि करना ये (भाव) भी हिंसा ही है, क्योंकि इनमें आत्मगुणका घात होता है। बाह्य हिंसा और अन्तरंग

हिंसाके त्याग होनेपर ही समता और क्षमारूप महागुण प्राप्त होते हैं और फीर गुणश्रेणीकी ओर वृद्धि पाते विलम्ब नहीं होता है। समतारहित किसी भी कार्य्यको शास्त्रकार व्यर्थ समझे इतना ही नहीं अपितु कितनी ही बार व्यर्थसे भी अधिक खराब समझते हैं, जबकि समतायुक्त कार्योमें एक इस प्रकारका अद्वितीय आनन्द आता है कि उसे अनुभवसे ही जाना जा सकता है। हिंसाका त्याग होनेपर मनमेंसे सर्व प्रकारके कुत्सित विकल्प दूर हो जाते हैं, क्योंकि दुर्विकल्पोंका कारण हिंसा ही है। जब यह समझ लिया जाय कि दूसरोंका मन दुखाना भी हिंसा है और उसके त्याग करनेके उपाय ग्रहण किये जावे तब संकल्पोंका बलविस्तार नष्ट हो जाता है। इसप्रकार हिंसाका परित्याग करनेसे मनयोगकी शुद्धि होती है और वचनप्रवृत्ति भी निरवद्य हो जाती है इसका कारण उपरोक्तानुसार है।

ग्रन्थकर्त्ताने मनयोग और वचनयोगकी शुद्धिका स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन कर दिया है, इन दोनोंकी शुद्धिसे कायभोगशुद्धि सुसाध्य है, इसलिये इसका स्पष्टतया वर्णन नहीं किया गया है, परन्तु और सम्बन्धसे समझले। श्रीमद् यशोविजयजी वाचक मौनाष्टकमें लिखते हैं कि—

सुलभं वागनुच्चारमौनमेकेन्द्रियेष्वपि।
पुद्गलेष्वप्रवृत्तिस्तु योगानां मौनमुत्तमम्॥

"वाणीका अनुच्चाररूप मौन तो एकेन्द्रियके लीये भी सुलभ है, परन्तु योगोंका पुद्गलके सबन्धमें अप्रवृत्तिरूप मौन ही उत्तम है।" यह भाव बराबर हृदयमें रखना चाहिये।

भावना-भावमलय

मैत्रीं प्रमोदं करुणां च सम्यक्,

मध्यस्थतां चानय साम्यमात्मन्[1] !।
सद्भावनास्वात्मलयं[2] प्रयत्नात्,
कृताविरामं रमयस्व चेतः ॥ ८ ॥

"हे आत्मन् ! मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थताकी उत्तम रीतिसे अभिलाषा रख, और (उसके द्वारा) समताभाव प्रगट कर। प्रयत्नद्वारा सद्भावना रख कर आत्मलयमें विना किसी रुकावटके (तेरे) मनको क्रीड़ा करा।"

विवेचन—१ मैत्रीभाव, प्रमोदभाव, करुणाभाव और माध्यस्थभावको सदैव तेरे हृदयमें स्थान दे। ये चार भावनाएं बहुत उपयोगी हैं, इस में आत्मरमण करनेसे परम साध्य पदार्थ अनुभवगोचर होता है और मनको परम शांति प्राप्त होती है। इसके सूक्ष्मस्वरूपको प्रथम अधिकारमें बतानेका प्रयास किया गया है[3]। यह भावना शुभवृत्तिका मुख्य अंग है।

२—भावना करते करते शुद्ध समताका उदय होता है। यह समता आत्मिक गुण है और स्थिरता इसका पाया है। ज्ञान, ध्यान, तप और शीलयुक्त मुनि भी, समतायुक्त मुनि जितना गुण निष्पादन नहीं कर सकते है। इसप्रकार जब वाचकवर्य उमास्वातिजी और श्री यशोविजयजी कहते हैं तब समताके लाभकी पराकाष्ठा समझमें आती है।

३—इसप्रकार शुभ प्रवृत्ति करते करते जब समता प्राप्त हो जाती है तब जीव आत्मजागृति करता है, उसको सांसारिक सर्व कार्य्य तुच्छ प्रतीत होते हैं, उसका मन आत्मपरिणतिमें दौड़ता है, उसको सर्व दिशा प्रफुल्लित जान पड़ती है।

---

१ सात्म्यमिति पाठान्तरं आत्मना सहैकीभावमित्यर्थः। २ स्वाप्तलयमिति वा पाठः संप्राप्ततन्मयस्वभावं यथास्यात्तथेत्यर्थः। ३ प्रथम अधिकारके १३ से १६ श्लोक तक देखिये।

परन्तु आत्मरमण ही कार्य आन पड़ता है। शुभध्यानधाराओंकी वर्षा होने लगती है तब आत्मलय होती है और उस समय जो आनन्द प्राप्त होता है वह वचनअगोचर है। आत्मरमण करनेके लिये प्रबल पुरुषार्थकी आवश्यकता है और मन जब उसकी ओर प्रवृत्त हो जाता है तब उसे बाह्य वस्तुओंका भान नहीं रहता है। ऐसे आत्मरमणमें अन्यत्र कहीं अल्पमात्र भी रुके बिना प्रवृत्ति कर अर्थात् निरन्तर आत्मरमणताके कार्यमें उद्युक्त बन।

मोहके सुभटोंका पराजय

कुर्यान्न[1] कुत्रापि ममत्वभावं,
न च प्रभो रत्यरती कषायान्।
इहापि सौख्यं लभसेऽप्यनीहो,
ह्यनुत्तरामर्त्यसुखाभमात्मन्! ॥ ९ ॥

"हे समर्थ आत्मा! किसी भी वस्तुपर ममत्वभाव न रख, इसीप्रकार रति अरति और कषाय भी न कर। जब तू वांछारहित हो जायगा उस समय तो अनुत्तर विमानमें रहनेवाले देवताओंका सुख भी तुझे यहां ही प्राप्त होगा।" इन्द्रवज्रा

विवेचन—शुभवृत्तिके साधनोंका विशेष वर्णन कराते हुए कहते हैं कि—१ हे चेतन! तेरा जो है उसे तेरे पास रख। देह तेरा नहीं, पुत्र तेरे नहीं, स्त्री तेरी नहीं और धन तेरा नहीं है। इन चारोंका ममत्व यहां महान् कष्टदायक ही है इतना ही नहीं परन्तु परभवमें भी महान् दुःख देनेवाला है। जो वस्तुएं तेरी

१ कुर्या न इति वा पाठो ममा विरध्या त्वयं । २ विशेष हकीकतके लिये इस ग्रन्थके दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें अधिकारको देखिये ।

नहीं है उनको तेरी मान कर उनमें क्यों तल्लीन रहता है ? तेरा आत्मा मोहमदिरामें मस्त होकर सत्यासत्यका विवेक भूल जाता है, इसलिये उस स्थितिको तिलाञ्जली दे, ममत्वभावका त्याग कर दे ।

२–३ तू सुन्दर वस्तुको देखकर खुश मत हो और अप्रिय वस्तुको देखकर नाराज भी न हो । कोई भी वस्तु स्वयं खराब या अच्छी नहीं होती हैं, इसमें तेरी मान्यता ही झूठी है । इस झूठी मान्यतापर अवलंबित विचार तुझे हैरान करते हैं, अतएव रति अरतिका विचार ही छोड़ दे । फिर तुझे ऊपर आठवें श्लोकमें बताये अनुसार अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा ।

४–संसारमें भ्रमण करानेवाले कषायोंको तुझे छोड़ देना चाहिये, इनका स्वरूप हम सातवें अधिकारमें देख चुके हैं ।

ये सब मोहराजाके सुभट हैं, इन्होंने तेरे पर विजय प्राप्त करनेको आक्रमण किया है; इसलिये यदि तू इसको अपने पर आक्रमण न करने देगा तो तुझे लाभ होगा और यदि तू उनको जीत लेगा और मारकर भगा देगा तो तुझे महान् सुखकी प्राप्ति होगी; क्यों कि यदि कषाय और ममत्व चले जायंगे तो तू निःस्पृह बन जायगा । कहा है कि—

परस्पृहा महादुःखं, निःस्पृहत्वं महासुखम् ।
एतदुक्तं समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

निःस्पृह वृत्ति बड़ेसे बड़ा सुख है । अनुत्तर विमानके देवोंको सबसे अधिक सुख है, क्यों कि न तो वहां स्वामि सेवक भाव ही है और न कामविकारसे होनेवाली शारीरिक तथा मानसिक विडंबना ही । वह सुख तुझे प्राप्त होगा । अरे ! हम तो कहते हैं कि तुझे उनसे भी और अधिक सुख प्राप्त होगा, कारण कि निःस्पृह जीवनपर दुःख असर नहीं करता है और दुःख भी

कदाच ही होता है। इसीलिये शुद्ध चारित्र पालते हुए अखण्ड-रूपसे एक वर्ष व्यतीत होजानेपर चारित्रवानको अनुत्तर विमानके देवताओंसे भी अधिक सुख प्राप्त होना आगमकार बतलाते हैं। दुःख और सुख भी मनोकल्पित है इसलिये तुझे महान लाभ होगा इसका ध्यान रखना।

आत्मा अनन्तज्ञानवाला और अनन्तवीर्यवान है। वीर-प्रभुके जैसा बल, अभयकुमार जैसी बुद्धि, हेमचन्द्राचार्य्य जैसा श्रुतज्ञान, कयवना शेठके जैसा सौभाग्य और गजसुकुमाल जैसी समता शक्तिरूपसे सब आत्मामें भरी हुई है। पुरुषार्थ कर उसको प्रगट करनेकी ही आवश्यकता है। इसी हेतुसे यहां आत्माको 'समर्थ' शब्दसे सम्बोधित किया गया है। शुभ प्रवृत्तिके स्थान यहां बतलाये गये हैं और किंचित् फल भी निर्दिष्ट किये गये हैं।

उपसंहार-शुद्धप्रवृत्ति करनेवालेकी गति

इति यतिवरशिक्षा योऽवधार्य व्रतस्थ-
श्चरणकरणयोगानेकचित्तः श्रयेत।
सपदि भवमहाब्धिं क्लेशराशिं स तीर्त्वा,
विलसति शिवसौख्यानन्त्यसायुज्यमाप्य॥१०॥

"यतिवरोंके सम्बन्धमें (उपरोक्तानुसार) बताई हुई शिक्षा जो व्रतधारी (साधु और उपलक्षणसे श्रावक) एकाग्र चित्तसे हृदयमें धारण करते हैं और चारित्र तथा क्रियाके योगोंका पालन करते हैं वे संसारसमुद्ररूप क्लेशके कुण्डको एकदम तैर कर मोक्षके अनन्त सुखमें तन्मय हो कर आनन्द करते हैं।"

विवेचन—इसप्रकार तीर्थंकर महाराजाओं, गणधरों और पूर्वाचार्योंने सूचना की है। वे इस जीवपर एकान्त उपकार

करनेकी निःस्पृहवृत्ति रखते थे, इसलिये इस जीवको शुभ मार्गानुसारी बनानेके लीये किसी विषयमें कहना बाकी नहीं रक्खा है। ऐसे परमोपकारी महात्माओंके शब्द लक्ष्यमें रखकर जो प्राणी चारित्र और क्रियामें उद्यत हो जाता है वह प्रभुका आज्ञांकित सेवक कहलाता है। इस उपदेशसे साधुको अपने योग्य और श्रावकको अपने योग्य उपदेश ग्रहण करना चाहिये। इस नियमके अनुसार जो प्राणी चरणकरण गुणोंका अनुसरण करते हैं वे अल्पकालमें ही संसारसमुद्रको लांघ जाते हैं और जिस मोक्षसुखका वर्णन करना भी अशक्य है उसका अपने आत्माके साथ 'अनंत' शब्दसे योग कराते हैं अर्थात् अनन्तकाल तकके लिये उस सुखको प्राप्त करते हैं। एक तो महासुख हो और वह भी फिर अनन्तकालतकके लिये हो तो फिर इसमें विचार करनेका भी कोइ अवकाश नहीं रहता है। इसको प्राप्त करनेके लिये भरसक प्रयास करना ही कर्त्तव्य कहलाता है।

× 　　×　　×

इसप्रकार शुभवृत्ति नामक पन्द्रहवां अधिकार समाप्त हुआ। इस अधिकारमें वृत्ति अर्थात् वर्त्तन अथवा प्रवृत्ति यह अर्थ समझनेका है। शुभ प्रवृत्तिके अनेक प्रसंग इसमें बतलाये गये हैं। उन सबका विषयके साथ सामान्य सम्बन्ध है, परन्तु एक दूसरेके साथ विशेष सम्बन्ध नहीं है। इस अधिकारमें मुख्यतया उपदेश साधुके लिये है, परन्तु कीतनी ही बातें श्रावकके लिये भी उपयोगी है। प्रवृत्तिके विषयोंका प्रथकरण श्लोकोमें ही किया है अतएव यहां पुनरावर्तन करनेकी कोइ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। शुभ प्रवृतिकी अनेक हकीकते हैं, वे सब यहां नहीं बतला सकते हैं इसलिये बहुत आवश्यक विषयोंका ही वर्णन किया गया है। इन सबपर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

आवश्यक क्रियाकी आवश्यकता प्रथम ही बतलाई गई है और वह वर्तमानयुगके लिये बड़े कामकी है। अप्रशस्तवृत्ति बढ़ती जाती है और धर्मसाधन अल्प होते जाते हैं, इसलिये सदैव आवश्यक क्रिया अवश्य करनी चाहिये। जैसे सदैव पत्रिका (News-paper) पढ़नेवालेको पांच दिन पत्रिका न मीले तो दिशा शून्यसा जान पड़ता है, इसीप्रकार आवश्यक क्रियामें रटण होजाना चाहिये। तपश्चर्या भी इतनी ही उपयोगी है। जमाना जब पापबन्धनके अनेक कार्य्य सीखता है तब छोड़नेके ये प्रबल साधन मन्द होते जाते हैं यह खेद करने योग्य है। शास्त्राभ्यासका भी इसी विषयमें समावेश होता है यह *विशेषतया* ध्यानमें रक्खे।

इसके पश्चात् साधुको अनियत विहार करनेका उपदेश कीया गया है। विहारके विषयके सम्बन्धमें श्रावकोंको भी वर्षके कुछ दिन वाणी महाराजके सीमे अर्पण कर धार्मिक विषयपर विवेचन–भाषण करना, ध्यान देना चाहिये यह उपलक्षणसे समझ लेना चाहिये। आत्मनिरीक्षणकी सूचना तो बहुत ही उपयोगी है। इससे अपने सब कार्य्योंपर अधिकार जमता है और कोई भी कार्य्य बिना विचारे नहीं होता है, अथवा हुआ हो तो भी भविष्यमें न होनेके लिये निश्चय करनेका प्रसंग प्राप्त होता है। अठारह पापस्थानोंके लिये यदि प्रतिदिन आत्मनिरीक्षण हो तो अपूर्व लाभ होना निश्चय *ही* है। इस शुभ प्रवृत्तिका मुख्य उद्देश मन, वचन और कायाको शुभ रास्तेमें प्रवृत्त करनेका प्रयास करना ही है। और इस हेतुपर भी ध्यान अवश्य दीया गया है। जबतक मनमें विचार भिन्न, वचन भिन्न, और वर्तन तीसरे ही प्रकारका हो तबतक सब व्यर्थ है। त्रिपुटीको तीन रास्तेपर नहीं चलाना चाहिये। इन तीनोंमें भी मनको

वशीभूत करनेकी विशेष आवश्यकता है । ये ज्यों ज्यों वशमें होता जाता है त्यों त्यों कर्मबन्धमें बहुत भिन्नता होती जाती है। यह जब निर्मल होता है तब आत्मप्रदेशमेंसे शुभ भावना उठती है, शुभ भावनासे आत्मलय होता है, आत्मलयसे केवलज्ञान प्राप्त होता है और उसके बाद ही मुक्ति प्राप्त होती है । मुक्ति प्राप्त करना ही कर्त्तव्य है और यह ही प्राप्तव्य है । हेय, ज्ञेय, उपादेयका स्वरूप समझ कर स्वानुकूल क्रियामें प्रवृत्ति रखना यह हमारा काम है, परिणाम सुलभ है और इस भवमें भी अनुभव-गोचर है । एक बार कार्य करो और फीर शुभ फल प्राप्त होगा इसे निश्चय समझो । ये शुभवृत्ति रखनेके जो शिक्षापाठ दिये गये हैं वे हृदयपटपर अंकित करलेने योग्य हैं ।

इति सविवरणः शुभवृत्तिशिक्षोपदेशनामा
पञ्चदशोऽधिकारः ।



अथ षोडशः साम्यसर्वस्वाधिकार.



स सम्पूर्ण ग्रन्थके दोहनरूप एक प्रधानतत्त्व-साम्य-समता सर्वस्व ही है इस विषयपर उपसंहार करते संक्षिप्त विवेचन किया जाता है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थका क्या उद्देश है, साध्यबिन्दु क्या है, प्रयोजन क्या है, इन सबको ग्रन्थकार बतलाते हैं। दूसरे रूपसे देखा जाय तो यह अधिकार प्रशस्ति जैसा है। समताके विषयमें यहां जो विचार बतलाये गये हैं वे संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण हैं। मनोनिग्रह, ममत्वत्याग और शुभवृत्ति ये सब समतामें परिसमाप्ति पाते हैं, इसलिये यह द्वार सर्व द्वारोंपर शिखर चढानेवाला है। समताके रहस्यको धारण करनेके लिये यहां दिग्दर्शन कराया गया है।

समताका फल-मोक्षप्राप्ति

एवं सदाभ्यासवशेन सात्म्य,
नयस्व साम्यं परमार्थवेदिन्।
यतः करस्था. शिवसंपदस्ते,
भवन्ति सद्यो भवभीतिभेत्तु. ॥ १ ॥

"हे तात्त्विक पदार्थके जाननेवाले! इसप्रकार (ऊपर पन्द्रह द्वारोंमें कहे अनुसार) निरन्तर अभ्यासके योगसे समताको आत्माके साथ जोड़ दे; जिससे भवके भयको भेदनेवाले तुझे मोक्षसम्पत्तियें एकदम हस्तगत हो सके।" उपजाति.

विवेचन—कुछ ममत्वभावको छोड़ कर, कुछ कषायको छोड़ कर, कुछ योगोंकी निर्मलता करके और कुछ स्वात्मलय करके शुभवृत्ति धारण करना यह हम पन्द्रहवें अधिकारमें पढ़ चुके हैं। इन सब प्रशस्त प्रवृत्तिका हेतु समताकी प्राप्ति करना ही है। इसलिये इस सम्पूर्ण ग्रन्थमें जो जो साधन बतलाये गये हैं उन सबका साध्य समताप्राप्ति ही है। यदि तुझे सम्पूर्ण ग्रन्थ पढ़ने पर कोई परमार्थ समझमें आया हो तो वह यह समता ही है। " प्रणिहन्ति क्षणार्धेन, साम्यमालम्ब्य कर्म तत्। यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः ॥ १ ॥ " अर्थात् जो कर्म करोडों जन्म तक तीव्र तपस्या करनेपर भी नहीं तोड़े जा सकते हैं वे ही समताका अवलंबन करनेसे एक क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं। तेरा साध्य समता होनी चाहिये। उसका आत्माके साथ संयोग करानेके लिये निरन्तर अभ्यासकी आवश्यकता है यह भी हम सम्पूर्ण ग्रन्थ में येन केन प्रकारेण देख चुके हैं। अब समता प्राप्त करना निष्फल नहीं है, यह साध्य और साधन दोनों हैं। सुखका आदर और दुःखका त्याग यह सब प्रवृत्तियोंका परम कार्य्य है। समतासे जो सुख मिलता है वह अवर्णनीय है, कारण कि अन्य सब सुख पिछेसे दुःख देते हैं, परन्तु सुखमय समतासे होनेवाला मोक्षसुख तो अनन्त है। इस परम साध्य-बिन्दुको दृष्टिमें रख कर समता प्राप्त करने—समता धारण करनेका यहां उपदेश है। मोक्षसुख अनिर्वचनीय है। मोक्षमंदिर पर चढ़नेके लिये चौदह पगथियें (गुणस्थान) हैं, इनके उपर आरोहण करनेके लिये यहां दादर बतलाई जाती है। इस मन्दिरका घण्टा बजानेके लिये गुणस्थानपर आरोहण करनेका पुरुषार्थ उचित है। हे बन्धुओं! एक बार तद्दन निरुपाधि, निजस्वरूपमें लीनता, अजरामरत्व, दोड़ादोड़का अभाव और अखन्ड शान्ति

तथा स्थिरताका खयाल करो। यदि इसमें कुछ प्रामण्य जान पड़े तो इसके प्रबल कारण समताको प्राप्त करनेका अभ्यास करो और उसको प्राप्त करनेके लिये इस सम्पूर्ण ग्रन्थमें बतलाये हुए भिन्न भिन्न विषयोंपर ध्यान दो। दृढ़ प्रयत्न, दृढ़ निश्चय, और चालु अनुसरण अवश्य इच्छित परिणाम लावेंगे और मोक्षमन्दिरमें *तुम्हारे नामके घंटे बजेंगे परन्तु इसके लिये उठो, उद्यम करो।* स्मरण रहे कि इस समय जैसा अवसर है, जैसी जोगवाई है, जैसा समय और जैसी अनुकूलता फिर बार बार मिलना कठिन होगा।

अविद्या त्याग यह समता बीज

त्वमेव दुःख नरकस्त्वमेव,
त्वमेव शर्मापि शिव त्वमेव।
त्वमेव कर्माणि मनस्त्वमेव,
जहीह्यविद्यामवधेहि चात्मन्॥ २॥

"हे आत्मन! तू ही दुःख, तू ही नरक, तू ही सुख और मोक्ष भी तू ही है। अपितु तू ही कर्म और मन भी तू ही है। अविद्याको छोड़ दे और सावधान होजा।"

इन्द्रवज्रा

विवेचन—हे आत्मन्! तू ही दुःख है कारण कि दुःखको निष्पादन करनेके लीये जीन कर्मोंकी आवश्यकता होती है, उनको तुने ही किये हैं। दुःखके साधनको भी तूही तैयार करता है और दु खसुखकी सची-झूठी कल्पना भी तू ही करता है। इसी नियमानुसार नरक भी तू ही है। अपितु दुःख को सहन करने-

१ 'अविद्यां पामन्तो भवजो' अर्थात् भवभ्रम त्याग करे अर्थात् भवाटका त्याग करे। इससे भी अविद्या अधिक उचित अर्थ बतलानेवाला है।

वाला और समझनेवाला भी तू ही है सुखके लिये भी तू ही अधिष्ठाता और विवेकवान है। तेरी न्यूनाधिक समझके अनुसार तू अमूक लगनीको सुख मान बैठा है वह भी तू ही है और यदि प्रबल पुरुषार्थ करे तो सर्व सुखदुःखका अत्यंताभाव करके मोक्षमन्दिरमें चिरकाल तक आनंद भोगे वह भी तू ही है। अतएव वास्तविक रूपमें कहा जाय तो मोक्ष तेरा है अर्थात् तू ही मोक्ष है। न्यायके एक नियमानुसार धर्म और धर्मीमें अभेद है। नमक खारी है। यहां खारापन धर्म हुआ और नमक धर्मी हुआ। यहां खाराश और नमक ये भिन्न नहीं है इसलिये धर्म और धर्मीका अभेद हुआ; इसीप्रकार जीव अपने आप संवृत और असंवृत है, फीर भी पर्याय और पर्यायीमें उपरके नियमानुसार अभेद है।

इसी नियमानुसार कर्मका करनेवाला और मनको प्रेरनार भी तू ही होनेसे तू कर्म और मन भी तू ही है।

जैन शास्त्रमें आत्मापर ही सब कुछ आधार है। इसकी न तो कोइ सहायता करता है न इसे बाहरकी सहायताकी अपेक्षा ही रहती है। इसकी अखंड स्थितिमें यह शुद्ध, अक्षय, अविनाशी, नित्य है। कर्मके सम्बन्धसे इसकी शुद्ध दशापर तह जम गये हैं, इन तहोंको हटानेके लीये प्रबल पुरुषार्थ प्रगट करना चाहिये और इसके लिये असाधारण उद्योग करना चाहिये। यह आत्मा अनन्त शक्तिमान् है। यह धारे तो पर्वतको भी तोड सकता है और वीर परमात्मा जितना ज्ञान और ऋद्धि प्राप्त कर सकता है इसके लीये हम पहले देख चुके हैं की "अप्पा नइ वेयरणी, अप्पा में कूडसामली। अप्पा कामदूघा धेणु, अप्पा मे नंदनं वनं ॥ १ ॥" यह सिद्धान्तका वाक्य है और शीघ्र समझमें आने योग्य है। इसमें कहा है कि आत्मा कामधेनु है, और आत्मा नन्दनवन है। इससे काम लेना जानते हो

तो यह सर्व इच्छित सुख (स्थूल और मानसिक) देती है। ये सब हैं यह बात तो सच है किन्तु यह बतलाकर दिखाने की सब तेरेमें हैं।

इसको बतलानेके लिये अविद्याका त्याग कर। अज्ञानसे अंधेके समान दशा होती है। यह जीवन लगभग अपेक्षा ही होता है, इसलिये अविद्याका त्याग करके तेरे योग्य कर्तव्योंमें दत्तचित्त होजा। शास्त्रकारका कहना है कि "अज्ञानं खलु भो कष्टं, क्रोधादिभ्योऽपि तीव्रपापेभ्य ॥" क्रोधादि तीव्र पापोंसे भी अज्ञान महाकष्ट पहुंचानेवाला है। जबतक अज्ञानका नाश नहीं होगा तबतक साम्य दृष्टिगोचर नहीं होगा। इसलिये हे भाई! तू जागृत हो, खड़ा हो, पुरुषार्थ प्रगट कर, वीर्य प्रगट कर।

सुखदुःखके मूल—समता ममता.

निःसङ्गतामेहि सदा तदात्मं-
न्नर्थेष्वशेषेष्वपि साम्यभावात्।
अवेहि विद्वन्! ममतैव मूलं,
शुचां सुखानां समतैव चेति ॥ ३ ॥

" हे आत्मन! सर्व पदार्थोंपर सदैव समताभाव रख कर निःसंगपन प्राप्त कर। हे विद्वन्! तू जानलेना कि दुःख-का मूल ममता ही है और सुखका मूल समता ही है। "

उपजाति.

विवेचन—हम कह चुके हैं कि सुखदुःख, मोक्ष या नरक ये आत्मा ही है, क्यों कि इसका उपादान कारण आत्मा ही है। इस आत्मामें जो समभाव रक्खा जाय तो यह अपना असल स्वरूप प्रगट करके इच्छित अर्थ प्राप्त कर सकती है। इस सम-ताको प्राप्त करनेके साधन तथा मार्ग इस ग्रन्थमें बतलाये गये

हैं। इसप्रकार समताभाव जब प्राप्त होता है तब फिर निःसंग-वृत्ति प्राप्त होनेका मार्ग मिलता है। पौद्गलिक सर्व वस्तुयें और भाव अर्थात् घर, सम्पत्ति, पलंग आदि पदार्थ और कषायादि भावोंसे दूर रहना, उनका सम्बन्ध छोड़ना यह निःसंगता कह-लाती है। इस बातको लक्ष्यमें रख कर इसे साध्यबिन्दु बनाना चाहिये।

अब सुखका मूल क्या है और दुःखका मूल क्या है? यह चन्द शब्दोंमें बतलाया जाता है। सर्व जीवोंपर समभाव, सर्व वस्तुओंपर समभाव हो, राजा या रंकपर, धनवान या निर्धन-पर, अथवा इसप्रकारके विरोध बतलानेवाले दो शब्दोंसे प्रद-र्शित किसी भी व्यक्तियुगलपर तथा कोई भी पदार्थयुगलपर निश्चित आकर्षण या दूरी गमन न हो यह समता है और यह ही सर्व सुखोंका मूल है। एक तो समता रखनेवाले पर दुःख नहीं पड़ता है और दूसरा उसे दुःख दुःख रूप नहीं लगता है। इसप्रकार समता रखनेवाला प्राणी दोनों प्रकारके संयोगोंमें आत्म-हित साध सकता है। दूसरी ओर देखा जाय तो सब दुःखों-का कारण ममता है। यह घर मेरा है, यह स्त्री मेरी है, यह पुत्र मेरा है इस मेरेपनसे ही दुःख होता है। अपने आपको साक्षीभाव माननेवाले वीर धुरंधर घरको धर्मशाला समझते हैं और परिवारको मेले तुल्य गिनते हैं। यह स्पष्ट है कि ममतासे ही दुःख होता है। इसको शास्त्रकार मोहजन्य बतलाते हैं और मोहको सब कर्मोंमें शास्त्रकार राजाका पद देते हैं। सर्व कर्मोंमें उसकी शक्ति भी अधिक होती है और स्थिति भी अधिक होती है। इस मोहराजाको वशमें करनेके लिये धर्मबोधकर मंत्री जैसे सत्यवक्ता महात्माओंके संगकी बहुत आवश्यकता है। इस संगतिसे संसारस्थिति समझमें आ जाती है। जिससे उसके

त्याग करनेका विचार होता है, विचारसे कार्य्य होता है, कार्य्यसे समतागुण प्राप्त होता है और समतासे निःसंगता प्राप्त होती है, जिनके होनेपर वैराग्यशतककारके कथनानुसार गायन और विलाप, नृत्य और विडम्बना, आभूषण और भार, कामभोग और दुःखके साधनोंमें उसको कुछ भिन्नता नजर नहीं आती है।

ममता और समताकी यह फिलॉसॉफी बहुत ध्यानमें रखने योग्य है। समताका यह भाव नहीं है कि बैठ रहें यह ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट हुआ ही होगा। इन्द्रियोंकी शुभ प्रवृत्ति कराकर अपने जीवनको धर्ममय कर देना यह दुःषम कालानुसार स्वअधिकारानुसार 'समता'का प्रथम आदरणीय लक्षण है।

समताकी वानगी फलप्राप्ति

स्त्रीषु धूलिषु निजे च परे वा,
सम्पदि प्रसरदापदि चात्मन्।
तत्त्वमेहि समता ममतामुग्,
येन शाश्वतसुखाद्वयमेषि ॥ ४ ॥

"स्त्रीपरसे और धूलपरसे, अपनेपरसे और दूसरोंपरसे, सम्पत्तिपरसे और विस्तृत आपत्तिपरसे ममता हटा कर हे आत्मन्! तू समता रख, जिससे शाश्वत सुखके साथ ऐक्य हो।" उपजाति

विवेचन—ममताका ही उपदेश विशेष स्पष्ट कीया जाता है। हे आत्मन्! यदि तुझे मोक्षसुखके साथ ऐक्य करना हो, अभेद करना हो, एकाकार वृत्ति करनी हो तो मैं कहता हूं वैसे तू समभाव प्राप्त कर। यह समभाव तेरा सर्वस्व है, यह ही तुझे दुःखमेंसे छुडानेको शक्तिमान् है और अध्यात्म ग्रन्थका यह ही प्रथम पदसे उपदेशका विषय है।

तुझे जब स्त्रीपर और धूलपर, अपनेपर और परायेपर समभाव होगा तब ही समझेगा कि तेरा आरा निकट आ पहुंचा है। अभी तो एकाएक खबर मीली है कि हे भाई ! तेरा लडका गिर पडा है, सख्त चौट लगी है, रुधिरकी धारायें बह नीकली है आदि। इन शब्दोंके सुनने पर इस जीवके घबराटका पार नहीं रहता है। चाहे जितने कामोंमें भी क्यों न फँसा हो किन्तु उन सबको ज्यों का त्यों छोडकर एक ओर वैद्योंको बुलानेके लीये आदमी दौडायगा और दूसरी ओर वह स्वयं भी उस स्थानपर शिघ्रातिशीघ्र पहुंचनेका प्रयास करेगा। मार्गमें उसके हृदयमें कीतने प्रकारके संकल्पविकल्प उठते रहते हैं यह पाठक स्वयं विचार करे। आधे मार्गको तय करनेपर सूचना मीलती है कि यह तो दूसरोंका लडका था। जो की गिर पडा है। " अहो ठीक हुआ " ये उद्गार नीकल पडेंगे। यह सब क्या बतलाता है ? जबतक अपने लडके और पराये लडकेमें इतना भेद रहता है तबतक यह नहीं कहा जा सकता है कि हमे समभाव प्राप्त हो गया है। जब अपने तथा परायेके पुत्रकी ओर एकसा प्रेमभाव अथवा उदासीनता रहे (परन्तु अपने लडकेपर प्रेम और दुसरेके लडकेपर धिक्कार नहीं) तब ही समता प्राप्त होती है और तब ही निःसंगता प्राप्त होती है और अन्तमें अजरामर सुख भी तब ही प्राप्त होता है।

जिसप्रकार अपने तथा परायेपर समभाव रखनेकी आवश्यकता है उसीप्रकार संपत्ति और विपत्तिके प्रसंगोंपर भी मनकी स्थिरता बनाइ रक्खे तो ही समता प्राप्त होना कहा जा सकता है। इस विषयपर अन्यत्र बहुत कुछ लिखदिया गया है इससे यहां विस्तार करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

समताके कारणरूप पदार्थोंका सेवन कर

तमेव सेवस्व गुरु प्रयत्ना,
　　दधीष्व शास्त्राण्यपि तानि विद्वन् ! ।
तदेव तत्त्वं परिभावयात्मन् !,
　　येभ्यो भवेत्साम्यसुधोपभोग. ॥ ५ ॥

" उसी गुरुकी सेवा कर, उसी शास्त्रका अभ्यास कर और हे आत्मन् ! उसी तत्त्वका सु चिन्तवन कर कि जिससे तुझे समतारूप अमृतका स्वाद मिल सके । " 　उपजाति

विवेचन—गुरुमहाराजकी सेवा करना ठीक है परन्तु उसका हेतु क्या है ?, इसीप्रकार शास्त्राभ्यास करना भी उत्तम है और तत्त्वचिन्तवन करना भी उत्तम है; परन्तु ये सब कारण हैं, इनका कार्य्य समताकी प्राप्ति ही है । अन्यथा तो अभ्यास अभ्यासमें ही रहता है और सेवासे कुछ विशेष लाभ नहीं होता है । इसीलिये प्रशमरति प्रकरणमें कहा गया है कि—

दृढतामुपैति वैराग्यभावना येन येन भावेन ।
तस्मिन् तस्मिन्कार्यः कायमनोवाग्भिरभ्यासः ॥

जिन जिन भावोंसे वैराग्यवासना दृढ हो, वैराग्य भावोंका पोषण हो उन उन भावोंके लिये मन, वचन और कायासे अभ्यास करना चाहिये ।

समता ही सर्वस्व है यह बतलाया गया और इस श्लोकमें उसे उत्पन्न करनेवाले और बनाये रखनेवाले भावोंको विशेष आमद करनेका और अभ्यास करनेका उपदेश करके समताभावको सदैव बनाये रखनेका उपदेश किया गया है ।

उसी गुरुकी सेवा करनी चाहिये कि जिससे समताभावका पोषण हो सके, इस शब्दसे यह ध्वनित हुआ कि जिस

गुरुके पास मोजमजेके लिये सांसारिक बातें होती हो, खटपट रहती हो, कषायकी वृद्धि होती हो उसके पास जानेका परिचय किञ्चित्मात्र भी न रक्खे ।

शास्त्राभ्यासमें भी बहुत ध्यान रखनेकी आवश्यकता है । जो शास्त्र विषयकषायको बढ़ानेवाले हो, जिनमें इस संसारके सब प्रकारके पौद्गलिक सुखभोग लेनेका उपदेश हो, जिनमें पर जीवको कष्ट पहुंचाकर भी अपने लिये सुख प्राप्त करनेका कथन हो, इन शास्त्रोंको पढ़नेकी अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिये । जिन शास्त्रोंके पढ़नेसे संसारका स्वरूप बराबर समझमें आ जाय और मनको समता प्राप्त होसके उन्हीं शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये । इसीप्रकार तत्त्वचिंतवन निमित्त भी समझ लेवें ।

यह ग्रन्थ समतारसकी वानगी.

समग्रसच्छास्त्रमहार्णवेभ्यः,
समुध्धृतः साम्यसुधारसोऽयम् ।
निपीयतां हे विबुधा ! लभध्व
मिहापि मुक्तेः सुखवर्णिकां यत् ॥ ६ ॥

" इस समता अमृतका रस बड़े बड़े समग्र शास्त्रसमुद्रोंमेंसे उध्धृत किया गया है । हे पंडितो ! तुम इस रसका पान करो और मोक्षसुखकी वानगी यहींपर चखो । "

इन्द्रवज्रा.

विवेचन—समतासुखका स्वरूप बतलाते हुए ।

श्रीमद् चिदानंदजी महाराज कहते है कि—

जे अरि मित्त बराबर जानत, पारस और पाषाण ज्युं होई;
कंचन किच समान अहे जस, नीच नरेश में भेद न कोई ।

मान कहा अपमान कहा मन, ऐसो विचार नहीं तस होई;
राग नहि अरु दोस नहि चित्त, धन्य अहे जगमें जन सोई ॥१॥
ज्ञानी कहो ज्यु अज्ञानी कहो कोई, ध्यानी कहो मनमानी ज्यु कोई;
जोगी कहो भावे भोगी कहो कोई, जाकु जस्यो मन भावत होई।
दोषी कहो निरदोषी कहो, पिंड पोषी कहो को औगुन ओई;
राग नहि अरु रोस नहि जाकु, धन्य अहे जगमें जन सोई ॥२॥
साधु सुसंत महंत कहो कोई, भावे कहो निरगंथ पियारे;
चोर कहो चाहे ढोर कहो कोई, सेवक्रो कोउ जान दुम्हारे।
विनय करो कोउ ऊचे बैठाव ज्यु, दूरथी देख कहो कोउ जारे,
धार सदा समभाव चिदानंद, लोक कहावत सुनत नारे ॥३॥

यह है समता का लक्षण। समताके लीये कहा है कि 'उपशम सार छे प्रवचने, सुजस वचन ये प्रमाणो रे'[1] समता ही शास्त्रका सार है।

संसारसुखमें सुख जैसा कुछ भी नहीं है। चाहे जैसा कार्य्य क्यों न हो किन्तु सुख तो जब उसमें समता होवे तब ही होता है। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि—

समता विन जे अनुसरे, प्राणी पुण्यना काम।
छार ऊपर ते लींपणु, झांखर चित्राम॥

धार्मिक कार्योंमें समता होनेपर ही सुख प्राप्त हो सकता है। मोक्षमें भी समताका ही सुख है। वहां लडके लडकियोंका पालनपोषण या मालकी लेनदेन, देखाव करनेका बाह्य रंग और अभ्यरंग कपटवृत्ति आदि कुछ नहीं होती है। स्थिरता ही समता है और मोक्षमें स्थिरता ही चारित्र है। मोक्षसुखमें जो

१ अढारह पापस्थानोंमें छट्ठे क्रोध पापस्थानकी सज्झाय।

आनंद है उनकी बानगी यदि यहां चखना हो तो वह समता-प्राप्तिसे ही प्राप्य है।

ग्रन्थकर्त्ताने कितना विचारपूर्वक यह ग्रन्थ लिखा है वह इस श्लोकद्वारा जाना जा सकता है। अनेक शास्त्रोंका दोहन करके यह ग्रन्थ लिखा गया है। शांतरसात्मक ग्रन्थका दोहन कर-निकाला हुआ रस जिस समय पान किया जाता है उस समय मन खिल उठता है, अनिर्वचनीय सुखका अनुभव करता है और प्रफुल्लित होता है। इस प्रकार जब समतारसका अनुभव करता है, रसाधिराजका सेवन करता है अर्थात् जब ममताका त्याग कर समताको ग्रहण करता है तब ऊपरोक्तानुसार मोक्षसुखकी बानगी इस मनुष्य जन्ममें भी प्राप्त कर सकता है। आधि, व्याधि, उपाधिका त्याग, कषायका विरह और स्वात्मसंतोष जहां सब एक साथ एकत्र हो जाय वहां फिर क्या बाकी रहता है?

प्रिय वांचक! थोड़ासा एक बार अनुभव करना। इस ग्रन्थके पढ़नेका यही एक फल है। आत्मदर्शन करना हो, दुःख-का सर्वथा नाश करना हो तो इस ग्रन्थको दस बीस बार पढ़ना, विचारना और समझना। ग्रन्थकारने जो विचार बतलाये हैं वे दृढ़ विचार किये पश्चात् सिद्ध किये हुए विचार ही हैं। प्रथम दृष्टिसे सामान्य जान पड़नेवाले विषय भी अत्यन्त गंभीर हैं। इस सुखका अनुभव होने पर तुझे इसमें अपरिमित आनंद प्राप्त होगा और तब फिर और अधिक कुछ कहनेकी आवश्यकता न होगी।

कर्ता, नाम, विषय, प्रयोजन.

शान्तरसभावनात्मा,
मुनिसुन्दरसूरिभिः कृतो ग्रन्थः।
ब्रह्मस्पृहया ध्येयः,
स्वपरहितोऽध्यात्मकल्पतरुरेषः ॥ ७ ॥

" शान्तरस भावनासे भरपूर अध्यात्म ज्ञानके कल्प-वृक्ष (अध्यात्मकल्पद्रुम) ग्रन्थकी श्रीमुनिसुन्दरसूरिने अपने और परायेके हितके लिये रचना की है इसका ब्रह्म (ज्ञान और क्रिया) प्राप्त करनेकी इच्छासे अध्ययन करें । " गीति

विवेचन—इस ग्रन्थका कर्ता कौन है यह पहिले ही बतला दिया गया है । श्रीसोमसुन्दरसूरिके शिष्य मुनिसुन्दरसूरि महाराज इस ग्रन्थके कर्ता हैं । उनका जो कुछ चरित्र प्राप्य हुआ है वह इस ग्रन्थके प्रारम्भमें दिया गया है । वे सहस्राव धानी होकर असाधारण बुद्धिबल रखते थे । जनसमूहपर अनेक उपकार करनेमें अहर्निश तत्पर रह कर वे शांतरसकी वर्षा बरसाते थे ।

इस ग्रन्थका नाम जो अध्यात्मकल्पद्रुम रक्खा गया है, यह नाम कितने अशतक सार्थक है यह हम उपोद्घातमें पढ़ चुके हैं और ग्रन्थका अध्ययन करनेसे यह विषय स्फुट हो गया । इस श्लोकमें कर्ता तथा ग्रन्थका नाम बतलाया गया है ।

इस ग्रन्थका क्या विषय है यह भी यहां बतलाया गया है । यह ग्रन्थ शान्तरसकी भावनावाला है । यह रस हृदयको कितना निर्मल करता है और इसको क्यों रसकी व्याख्यामें रखना चाहिये, इतना ही नहीं अपितु इसको क्यों ' रसाधिराज ' कहा गया है इसके लिये हम भूमिकामें निरूपण किया हुआ विवेचन पढ़ चुके हैं ।

ग्रन्थ रचनेका क्या प्रयोजन है यह भी यहां स्पष्ट होता है । ब्रह्म अर्थात् ज्ञान और क्रिया अथवा परमात्मस्वरूपसे प्रगट हुआ शुद्ध आत्मस्वरूप मोक्षके अभिलाषी प्राणीयोंको उसके प्राप्त करनेके लिये अभ्यास करना चाहिये । इस प्रयोजनको बतलाते हुए यह भी बताया गया है कि इसके अधिकारी कौन हैं ।

ग्रन्थकर्त्ता सदैव परहित करते हैं। इस गुणसे ही पंडित होते हैं, फिर भी परहित और स्वयंके आत्महित ही होनेसे इसीप्रकार शान्तरसप्रधान जीवनवालेका अवश्य कर्त्तव्य होनेसे, सूरिमहारा-जने यह ग्रन्थ स्वपरहित निमित्त बनाया है। इसी महत्वाके पद्धतिनिर्दोषपर चल कर और इसीप्रकारकी अभिलाषासे प्रेरित होकर यहां कुछ विवेचन करनेका प्रयास किया गया है। इस कार्यमें कहांतक सफलता मिली है यह देखनेका कार्य लेखकका नहीं हैं, परन्तु शुद्ध हृदय रखनेका तथा शुभकारी भावोंको प्रगट करना इसका कर्त्तव्य है। सूरिमहाराजने इस ग्रन्थरचनामें अपनी शक्तिका अनन्त सदुपयोग किया है ऐसा हमारा अनुमान है (इसके लिये उपोद्घात पढ़े) यह ग्रन्थ अध्यात्मज्ञानका कल्पवृक्ष है, पाठक यदि खूब करे तो फल पास ही रहता है, परन्तु निज मनुष्की भावना भी सात्विक रह कर तु यह कल्पवृक्ष सिद्ध ही देगा।

उपसंहार.

इममिति मतिमानधीत्य चित्ते
रमयति यो विरमत्ययं भवाद् द्राक् ।
स च नियतमतो रमेन चास्मिन्
सह भववैरिजयश्रिया शिवश्रीः ॥ ८ ॥

"जो बुद्धिमान् पुरुष इस ग्रन्थका अध्ययन कर इसको चित्तमें रमण कराते हैं वे अल्पकालमें ही संसारसे विरक्त हो जाते हैं और संसाररूप शत्रुके जयकी लक्ष्मीके साथ मोक्षलक्ष्मीकी क्रिड़ा अवश्य करते हैं।" [1]गीति.

विवेचन—इस ग्रन्थके अध्ययन और रमण (निदिध्या-

1 गीति छंदमें अनुक्रमसे १२-२०-१२-२० मात्रा होती है।

मन) पर यहां ध्यान आकर्षित किया गया है। जो प्राणी इस ग्रन्थका अभ्यास कर अनुभवको जाग्रत रखते हैं वे सर्व वाञ्छित पदार्थोंको प्राप्त कर सकते हैं। एक मात्र अभ्यास किसी कामका नहीं है। अभ्यासका सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों होते हैं। संसारमें खराबसे खराब पुरुष भी अभ्यासवाले ही होते हैं, और कई बार बिना योग्यताके अभ्यासका दिखावा करनेसे ढोंग भी होता है। वस्तुतस्वे सार यह है कि जो अभ्यास करके उस अभ्यासको चित्त में धारण कर लेते हैं, मनके साथ मिला देते हैं और चित्तमें रमण कराते हैं वे ही वाञ्छित सुख अवश्य प्राप्त कर सकते हैं। लोक (Locke) नामक अंग्रेजी विद्वान्का कहना है कि एक मिनिट पढ़ो और उस पर पन्द्रह मिनिट विचार करो। इसप्रकार जिनको मनन करनेकी आदत पड़ जायगी वे ही प्राणी सच्चा सार ढूंढ सकेंगे। मनन किये बिना आत्मजागृति नहीं हो सकती, पढ़ा हुआ विषय अन्तरंगमें थोड़ासा भी प्रभाव डाले बिना ऊपर ऊपरसे चला जाता है। मनकी आदत पड़नेपर ही वस्तुका रहस्य समझमें आ सकता है, वरना कुएके मुंह परके पत्थरके सदृश जिस पर की तमाम दिन पानी गिरते रहने पर भी पांच मिनिट पानी गिरना बन्द होता है कि पानी रहित हो जाता है इसीप्रकार मनन रहित अभ्यास अन्तरंगमें नहीं पैठता है।

इसप्रकार मनन किया जाय तो संसारशत्रुकी जयलक्ष्मी और मोक्षलक्ष्मी दोनों बहनोंके रूपमें इस जीवके साथ वरमाला आरोपण करे। यह प्राप्त करनेकी ही हमारी अभिलाषा है। अर्थाभिया इस सांकेतिक शब्दसे ग्रन्थकर्त्ताका नाम ध्वनित होता है।

× × ×

इसप्रकार साम्यसर्वस्वाधिकार नामक सोलवां और

अन्तिम अधिकार पूर्ण हुआ। इसमें ग्रन्थके सर्व विषयोंका दोहन कर सार वतलाया गया है। जो हैं वे सब समतामें ही आकर समाते हैं। समताके सुखके आगे इन्द्र और चक्रवर्तीका सुख भी अल्प कहा गया है तो फिर इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि यह सुख उत्कृष्ट-सुख है। इस समताके प्रभावसे मोक्ष तकका सुख अंगुलीके टोंअपर नाचने लगता है। इससे और अधिक क्या कहें? सर्व जीवोंपर समभाव रखना, सर्व वस्तुपर समभाव रखना, पौद्गलिक वस्तुपर राग द्वेष नहीं करना और यह समझना कि रागद्वेष पौद्गलिक ही हैं, दोषवान् प्राणीपर भी करुणा रखनी और गुणवन्तको देखकर अन्तःकरणमें प्रमोद लाना और स्वयं गुण प्राप्त करनेकी शुभ इच्छा रखना यह ही इस जीवनका मुख्य हेतु है, जीवनप्राप्तिका परम साध्यबिन्दु है और प्राप्त जोगवाइका सदुपयोग है। इसप्रकारका जीवन समता-मय जीवन कहलाता है। इसकी अनुपस्थितिमें इस भवको एक चक्रके समान समझे। अनादी संसारकी घटनामें पचास, साठ या अस्सी वर्ष कुछ अधिक नहीं हैं। इतनेसे समयमें अनेक प्रकारके तोफान कर सम्पूर्ण संसारमें हलचल मचाना अथवा अप्रमाणिक आचरण करना, और पापकर्मोंसे भारी हो जाना यह वस्तुस्वरूपका अज्ञान, जड़ता और एकान्त मूर्खाइ है। अनन्त शक्तिशाला यह आत्मा शुभ प्रवृत्तिसे यदि चाहे तो अभी भी इस जीवनके पश्चात् नो वर्षमें मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यह जीव विना कारण ही अनेकों दुःख सहन करता है, इस सबका हेतु और कारण समझ कर मूल विषयपर आ जाना चाहिये और तीसरे श्लोकमें कहा है कि ममता सर्व दुःखोंका मूल है और समता सब सुखोंका मूल है। इसे अच्छी प्रकार समझ ले। इसके लीये क्रोधाग्निको शम जलसे शान्त करना,

विवेक वज्रसे मानपर्वतको छेदना, सरलता औषधिसे मायाशल्यका निवारण करना और संतोष रूप जांगुलिमन्त्रसे लोभ भुजंगमको वशमें करना चाहिये। इन कषायोंपर जय प्राप्त करना और विषयोंको छोड़ देना यह समताप्राप्तिका उपाय है। यह समता सम्यग्दृष्टि तत्त्व जिज्ञासुके मनमें सर्वस्व है, इसकेलिये चिन्तामणिरत्न या कामधेनुका भोग छोड़ना पड़े तो भी उसके लीये ये कुछ समताके आगे तिणकेके सदृश है।

इसप्रकार मुनिसुन्दरसूरि महाराजद्वारा रचा हुआ श्री अध्यात्मकल्पद्रुम यहां सम्पूर्ण होता है। इसमें समताका विषय मुख्य है। इसकी पुष्टिमें अनेक उपयोगी विषयोंपर प्रसंगवश वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ कितना उपयोगी हुआ है इसके सम्बन्धमें विशेष हकीकत विवेचनमें प्रत्येक प्रसंगपर कही गई है। और कुछ हकिकत उपोद्घातमें भी बतलाई गई है। इस ग्रन्थको पढ़कर समतारस प्राप्त कर, जीवनमें धार्मिक प्रवृत्ति बढ़ा कर, अमन्द समाधिसुखका अनुभव कर, अविच्छिन्न सादि अनन्त सुख प्राप्त करना चाहिये यह लेखककी अन्त करणकी प्रार्थना और इच्छा है।

इति सविवरणः साम्यसर्वस्वनामा षोडशोऽधिकारः
श्रीशान्तरसभावनास्वरूपोऽध्यात्मकल्पद्रुमाभिधो
ग्रन्थो जयश्रीयुक्तश्रीमुनिसुन्दरसूरिभिः कृतः
सविवरणः समाप्तः। इतिशम्

